बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

प्रधान संपादक
गिरीश्वर मिश्र

अतिथि संपादक
कृष्ण कुमार सिंह

संपादक
अशोक मिश्र

हिंदी के नामवर

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन
अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक
अंक : 50 (जुलाई-सितंबर 2016) ISSN- 2348-4586
प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

संपादकीय संपर्क :
संपादक बहुवचन
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र)
मो. संपादक- 09422386554, 7888048765 ईमेल- bahuvachan.wardha@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी : राजेश कुमार यादव
ईमेल- rajeshkumaryadav97@gmail.com फोन- 07152-232943, मो. 09975467897

© **संबंधित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित**
प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें :
प्रचार प्रसार : सुरेश कुमार यादव
फोन : 07152-232943, मो. 09730193094, ईमेल- s.ujala80@gmail.com

बिक्री और प्रसार कार्यालय :
प्रकाशन विभाग, **महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय**
गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र) भारत
फोन : 07152-232943, फैक्स : 07152-230903

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट **महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय** के नाम से, जो वर्धा में देय हो, ऊपर लिखित बिक्री कार्यालय के पते पर भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।

इस अंक का मूल्य रु. 100/-
अंक : रु. 75/-, वार्षिक शुल्क रु. 300/-, द्विवार्षिक शुल्क रु. 600/- व्यक्तिगत
संस्थाओं के लिए वार्षिक शुल्क रु. 400/-, द्विवार्षिक रु. 800/- (डाक खर्च सहित)
विदेश में : हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड
समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड
आवरण : देवप्रकाश चौधरी

BAHUVACHAN
A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI
PUBLISHED BY: MAHATMA GANDHIANTARRASHTRIYA HINDI VISHWAVIDYALAYA
GANDHI HILLS, POST-HINDI VISHWAVIDYALAYA, WARDHA-442001 (MAHARASHTRA) INDIA.

मुद्रक : क्विक ऑफसेट ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन : 011-22824606, मो. 9811388579)

अनुक्रम

अतिथि संपादक की बात/ मेरी भी आभा है... 05

आंखिन देखी

बनारस के नामवर भाई/ *रामदरश मिश्र* 09
नामवर सिंह : जैसा मैंने जाना/ *निर्मला जैन* 12
नामवरजी से बहुत कुछ सीखा/ *विश्वनाथ त्रिपाठी* 20
आलोकदर्शी चिंतक नामवरजी/ *गिरीश्वर मिश्र* 24
नामवर सिंह की संगत में/ *खगेंद्र ठाकुर* 27
कुछ दूर और मेरा बोझ उठा/ *नंदकिशोर नवल* 33
अद्‌भुत सहनशक्ति/ *विश्वनाथ प्रसाद तिवारी* 73
मेरे लिए नामवरजी/*मैनेजर पांडेय* 78
कुछ पुरानी यादें और बातें/ *प्रयाग शुक्ल* 82
राज बढ़ै महराज/ *वागीश शुक्ल* 88
अनूठे हैं नामवरजी/ *रामबहादुर राय* 93
नामवर की आंखें खुली हैं, खुली रहेंगी/ *राजेन्द्र राजन* 97
...और अध्यक्षता करेंगे नामवर सिंह.../ *रणजीत साहा* 104
सरस्वती पुत्र को प्रणाम/ *हरिवंश* 115
हिंदी का सौभाग्य/ *संतोष भारतीय* 121
ज्ञानलोचन/ *अरुण कमल* 123
नामवरजी पर कुछ टीपें : पुरानी डायरी से/ *लीलाधर मंडलोई* 126
अपने नामवरजी : 'ऊपर हिम था, नीचे जल था'/ *अनामिका* 130
मेरे लिए नामवरजी/ *रामबक्ष* 136
नामवरजी के साथ-साथ/ *राजेंद्र प्रसाद मिश्र* 139
हमने नामवर को देखा/ *सदानंद शाही* 144
लोकतांत्रिक परंपरा के प्रकाश स्तंभ/ *अरुण कुमार त्रिपाठी* 148
नामवर जैसा कम्यूनिकेटर दूसरा नहीं/*मुकेश कुमार* 154
वचन सुनत नामवर मुस्काना/*अनंत विजय* 158
नामवरजी की चारित्रिक विशेषता है साहस/ *कृपाशंकर चौबे* 162
नामवर एक नदी का नाम/ *प्रियदर्शन* 168
हिंदी आलोचना का रुख मोड़ते नामवरजी/ *अशोक मिश्र* 172

मूल्यांकन

नामवर विफलताएं/ *अशोक वाजपेयी* 176
कुछ बातचीत, कुछ टिप्पणियां/ *पी.एन. सिंह* 183
नामवर सिंह की उपन्यासालोचना/ *रविभूषण* 199
कहानी समीक्षा और नामवर सिंह/ *बलराज पांडेय* 224
एक निर्मुक्त बौद्धिक ड्रोन/ *रामशरण जोशी* 229
नामवरजी के कंट्रीवाइड क्लास रूम से : तनिक नोट्स/ *गौतम सान्याल* 234
नामवरी आलोचना वाया कत्था गुने चूना/ *रामाज्ञा शशिधर* 247

पुनि पुनि देखिय

नामवर सिंह की कविता के बहाने/ *राजेश जोशी* 254
नामवर सिंह का छायावाद विमर्श/ *दयाशंकर* 257
नई कहानी पहली बार स्वीकृत होती है..../ *ए. अरविंदाक्षन* 266
नए प्रतिमानों की ऐतिहासिक आवश्यकता/ *रघुवीर चौधरी* 272
मैं कठघरे में खड़ा एक मुजरिम हूं/ *कमलानंद झा* 277
नब्बे के नामवर के नौ रत्न/ *बलराम* 285
दूसरी परंपरा : विरोध नहीं विकल्प/ *मनोज कुमार सिंह* 291
दूसरी परंपरा की खोज से एक मुठभेड़/ *अमरेन्द्र कुमार शर्मा* 299

हिंदी क्षितिज के पार

नई आलोचना के शिल्पकार/ *सीताकांत महापात्र* 314
नामवर सिंहजी को जोहार/ *भालचंद्र नेमाड़े* 316
नामवरजी और मैं / *कपिल कपूर* 319
नामश्रेष्ठ नामवर सिंह/ *प्रतिभा राय* 320
नामवर की महत्ता/ *हरीश त्रिवेदी* 323
In Search of the other Tradition or the Importance
of being Namvar/ *HarishTrivedi* 332
कन्नड़ पाठकों की दृष्टि में नामवर सिंह/ *टी.आर. भट्ट* 341

जीवन क्या जिया

नामवर सिंह : अब तक क्या किया, जीवन क्या जिया/ *भारत यायावर* 345
हिंदी रचनाशीलता की दुनिया व्यापक है- नामवर सिंह (शशिकांत से संवाद) 355
नामवरजी की डायरी के पन्ने
पुत्री समीक्षा को लिखे पत्र
छायाचित्रों में नामवर

अतिथि संपादक की बात

मेरी भी आभा है....

मात्र बाईस वर्ष की अवस्था में, बी.ए. के विद्यार्थी के रूप में लिखित 'हिंदी समीक्षा और आचार्य शुक्ल' नामक आलोचनात्मक लेख के साथ नामवर सिंह ने हिंदी आलोचना में कदम रखा था। उस लेख में उन्होंने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की कुछ मान्यताओं को टक्कर दी थी, उनकी तीखी आलोचना की थी। आकस्मिक नहीं है कि उनका पहला लेख आचार्य शुक्ल पर केंद्रित है। जरूर कोई ठोस कारण होगा। कारण बताते हैं स्वयं नामवरजी- 'वे मेरी परंपरा हैं। एक परंपरा के रूप में मेरे अंदर हैं- अंदर रहे हैं। मुझे विरासत में मिले हैं- ऐसा भी नहीं। मैंने उन्हें साधना से अर्जित किया है। इसीलिए मेरा उनसे टकराव भी है। एक प्रकार का 'आत्मसंघर्ष'।' हिंदी के सबसे बड़े आलोचक से टकराने का साहस और आत्मसंघर्ष के रूप में उसकी स्वीकृति। नामवरजी के आलोचना कर्म को समझने की दिशा में यह महत्वपूर्ण सूत्र माना जा सकता है।

लगभग सत्तर वर्षों से जारी नामवरजी की आलोचना-यात्रा में कई मोड़ आए हैं। कई पड़ाव भी। किंतु विराम नहीं। 'अपनी परंपरा को अपने अंदर लिए' चलनेवाले आलोचक ने न केवल हिंदी बल्कि संपूर्ण भारतीय साहित्य और विचार जगत में अपनी असाधारण जगह बनायी है, अभूतपूर्व प्रतिष्ठा हासिल की है। 'भूषा और भाषा' (डॉ. लोहिया का मुहावरा) दोनों स्तरों पर नामवरजी अपनी परंपरा को आत्मसात् कर चले हैं। उनके व्यक्तित्व और रचना-कर्म पर यह बात समान रूप से लागू होती है। यही उनकी साहित्यालोचना का प्रस्थान-बिंदु है।

1952 ई. में 'आलोचना' के इतिहास विशेषांक में नामवर सिंह का लेख 'इतिहास का नया दृष्टिकोण' प्रकाशित हुआ था। इस लेख से उन्हें अपार संभावनाशील आलोचक के रूप में प्रतिष्ठा मिली। यहां उन्होंने पहली बार हिंदी साहित्य के इतिहास को समझने-समझाने के लिए द्वंद्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद की प्रमुख मान्यताओं का विलक्षण ढंग से उपयोग कर आचार्य शुक्ल एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के इतिहास-ग्रंथों की शक्ति एवं सीमा पर तर्कसंगत रूप से विचारकर आगे की दिशा का संकेत किया। साहित्य के इतिहास-दर्शन पर हिंदी में ऐसा धारदार निबंध कोई दूसरा नहीं लिखा गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि युवावस्था की चढ़ती लहर में लिखे गए उनके दोनों आलोचनात्मक निबंधों में तुलना और विश्लेषण की क्षमता एवं वैचारिक संतुलन विस्मयकारी है। प्रतिभा की इस कौंध की उपेक्षा न तब संभव थी, न आज। वह सिर चढ़कर बोलती है।

पचास के दशक में नामवरजी की पांच पुस्तकें प्रकाशित हुईं। 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग' तथा 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' नामक शोध-ग्रंथ। 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां', 'छायावाद' एवं 'इतिहास और आलोचना' नामक आलोचनात्मक पुस्तकें। स्मरणीय है कि शोध और आलोचना

दोनों की सार्थकता उन चीजों को देखने दिखाने में है जिन्हें पहले देखा-दिखाया न गया हो या देखा-दिखाया गया हो तो साफ-साफ नहीं। इस अर्थ में महत्वपूर्ण शोधकार्य और सर्जनात्मक आलोचना एक तरह का आविष्कार ही है। नामवरजी की उपर्युक्त पांचों पुस्तकें अपने विषय की श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं।

नामवरजी की आलोचना का दायरा व्यापक है। साठ के दशक में प्रकाशित पुस्तकें 'कविता के नये प्रतिमान' एवं 'कहानी : नई कहानी' इसका प्रमाण हैं। समकालीन कहानी-संबंधी प्रखर निबंधों के संकलन 'कहानी : नई कहानी' से हिंदी में पहली बार कहानी समीक्षा की एक पद्धति सामने आई। तत्वों के आधार पर नहीं, अखंड इकाई के रूप में कहानी को पढ़ने-समझने की अनुशंसा परवर्ती कहानी आलोचना की दिशा के निर्धारण में बहुमूल्य साबित हुई। इसी तरह 'कविता के नए प्रतिमान' से वे समकालीन कविता के गंभीर विश्लेषक और व्याख्याता के रूप में प्रतिष्ठित हुए। सूक्ष्म पर्यवेक्षण तथा अचूक पहचान की क्षमता से संपन्न। इनके साथ ही अस्सी के दशक में प्रकाशित 'दूसरी परंपरा की खोज' तथा 'वाद विवाद संवाद' नामक पुस्तकें हिंदी आलोचना की श्रेष्ठ उपलब्धि हैं।

नामवर सिंह हिंदी के सर्वाधिक सुपठित और जिंदादिल आलोचक हैं। उनकी आलोचना पढ़ते समय व्यक्ति नामवर को भूलना संभव नहीं। विषय के विवेचन-विश्लेषण के बीच-बीच में उनकी विनोदप्रियता और जिंदादिली की झलक मिलती रहती है। अपनी आलोचना में वे पाठकों से संवाद करते चलते हैं। यही कारण है कि वह एकरस नहीं होती। उनकी आलोचना पाठकों को आतंकित नहीं करती बल्कि साथ लेकर चलती है। उनकी आलोचना के संबंध में एक और बात बहुत महत्वपूर्ण है। वह है उनकी रसग्राहिका शक्ति। इसी के बल पर वे रचना की तह में पेंचकश की तरह प्रवेश करते हैं और निकलते हैं उसी चीज के साथ जो वास्तव में वहां मौजूद रही हो। एक सांस में आकाश-पाताल एक कर देनेवाले आलोचक नामवरजी से इस संबंध में कुछ सीख सकें तो उनका और हिंदी आलोचना दोनों का भला होगा।

बहुपठित आलोचक नामवर सिंह अप्रतिम विद्याप्रेमी हैं। 'पुस्तक पकी आंखें' और नसों में समायी ज्ञानपिपासा। उनके अध्ययन की परिधि में हिंदी तथा अन्य देशी-विदेशी भाषाओं के साहित्य के साथ समाज विज्ञान के सारे विषय शामिल हैं। इन विषयों की नई से नई प्रवृत्तियों, अवधारणाओं से उनका गहरा परिचय है। इसके प्रमाण उनके लेखन के साथ ही उनके व्याख्यान हैं जो प्रबुद्ध जनों को भी वैचारिक ऊष्मा से भर देते हैं। ध्यान देने की बात है कि वे अपनी बात अपनी ही 'भाषा' में करते हैं। अन्य विषय उन पर हावी नहीं हो पाते हैं। मार्क्सवाद में उनकी आस्था है, लेकिन उसकी जड़ताओं पर वे बराबर प्रहार करते हैं। जीवन के यथार्थ को 'खुले नैन' देखने वाले लोगों को ही यह सिफत मिलती है।

विश्वविद्यालय के माननीय कुलपति प्रो. गिरीश्वर मिश्र की प्रेरणा 'बहुवचन' के इस अंक के मूल में है। उनके सुझाव और परामर्श बड़े उपयोगी रहे हैं। समय की सीमा के साथ-साथ मुझे अपनी सीमा का भी बोध है। संतोष इस बात का है कि हिंदी की कई पीढ़ियों के रचनाकारों, आलोचकों, अध्यापकों तथा विचारकों का रचनात्मक सहयोग प्राप्त हुआ। हिंदी के अलावा उड़िया, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी के अंतरराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त रचनाकारों, आलोचकों (सीताकांत महापात्र, प्रतिभा राय,

भालचंद नेमाड़े, रघुवीर चौधरी एवं हरीश त्रिवेदी) ने संस्मरणात्मक तथा मूल्यांकनपरक लेख लिखे हैं। अंग्रेजी के एक लेख को छोड़कर सारी रचनाएं अप्रकाशित हैं और विशेष रूप से इसी अंक के लिए लिखी गयी हैं। विश्वविद्यालय के माननीय कुलाधिपति, भारतीय काव्यशास्त्र तथा अंग्रेजी के प्रतिष्ठित विद्वान प्रो. कपिल कपूर का आलेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मैं इन सबका हृदय से आभारी हूं।

अंक की सारी सामग्री पांच खंडों में व्यवस्थित की गई है- *आंखिन देखी, मूल्यांकन, पुनि पुनि देखिय, हिंदी क्षितिज के पार और जीवन क्या जिया*। पांचवें खंड में नामवरजी का संक्षिप्त जीवनवृत्त तथा उनके रचनाकर्म का कालक्रमानुसार विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। 1952 ई. में लिखित उनकी डायरी के कई पृष्ठ तथा उनके कुछ दुर्लभ चित्र अंक के आकर्षण हैं। नामवरजी के प्रिय शिष्य शैलेश कुमार (वित्त मंत्रालय में कार्यरत वरिष्ठ अधिकारी) ने मनोयोगपूर्वक ये दोनों चीजें उपलब्ध करवायीं। मैं उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूं। नामवरजी की बेटी डॉ. समीक्षा ठाकुर ने नामवरजी के कुछ पत्र (अब तक अप्रकाशित) तथा अपने बनाए चार स्केच उपलब्ध करवाए हैं। उन्यासी वर्ष की अवस्था में 'बेटू' को संबोधित नामवरजी के ये पत्र इस खंड में चार चांद लगाते हैं। समीक्षाजी को साधुवाद। 'बहुवचन' के संपादक अशोक मिश्र ने मनोयोग से कार्य किया है और निरंतर सहयोग किया है। वे धन्यवाद के पात्र हैं।

नामवरजी स्वस्थ रहें, शतायु हों। इसी शुभकामना के साथ.....

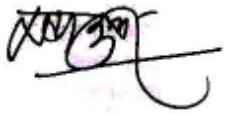

(कृष्ण कुमार सिंह)

आंखिन देखी

- रामदरश मिश्र
- निर्मला जैन
- विश्वनाथ त्रिपाठी
- गिरीश्वर मिश्र
- खगेंद्र ठाकुर
- नंदकिशोर नवल
- विश्वनाथ प्रसाद तिवारी
- मैनेजर पांडेय
- प्रयाग शुक्ल
- वागीश शुक्ल
- रामबहादुर राय
- राजेन्द्र राजन
- रणजीत साहा
- हरिवंश
- संतोष भारतीय
- अरुण कमल
- लीलाधर मंडलोई
- अनामिका
- रामबक्ष
- राजेंद्र प्रसाद मिश्र
- सदानंद शाही
- अरुण कुमार त्रिपाठी
- मुकेश कुमार
- अनंत विजय
- कृपाशंकर चौबे
- प्रियदर्शन
- अशोक मिश्र

बनारस के नामवर भाई

रामदरश मिश्र

बनारस की याद आती है तो अपने उन मित्रों की याद आ जाती है जिनके साथ वहां मेरी साहित्यिक यात्रा होती रही और उसे नई दीप्ति प्राप्त होती रही। उन मित्रों में नामवर भाई की साहित्यिक छवि विशिष्ट रही। गोष्ठियां होती थीं- कभी यहां, कभी वहां, कभी इनके घर, कभी उनके घर। नोंक-झोंक होती थी, वैचारिक टकराहटें भी होती थीं किंतु समग्रतः बड़ा ही जीवंत परिदृश्य होता था। अग्रजों में शंभूनाथ सिंह और त्रिलोचन होते थे, बाद के साहित्यकारों में नामवरजी, ठाकुर प्रसाद सिंह, शिव प्रसाद सिंह, विष्णु स्वरूप, विश्वनाथ त्रिपाठी, शुकदेव सिंह आदि होते थे। हम साहित्यकारों की वह बहुत प्यारी दुनिया थी।

नामवर भाई अच्छे कवि तो थे ही, चिंतक भी थे। वे शंभूनाथ सिंह के शिष्य कवियों में थे। उनके साथ कवि-गोष्ठियों और कवि-सम्मेलनों में जाते थे, अपने मधुर कंठ से कविताएं पढ़ते थे। वे कविताएं नामवर भाई के गहरे प्रकृति-प्रेम की गवाही देती थीं। मुझे विश्वास है कि नामवर भाई यदि कविताएं करते रहे होते तो समकालीन बड़े कवियों में उनकी गणना होती किंतु न जाने उन्हें क्या सूझी कि धीरे-धीरे कविता से आलोचना की ओर अग्रसर होते गए। वैसे शुरू से ही उनमें समीक्षात्मक प्रतिभा लक्षित हो रही थी। मैं उनकी राय को बहुत महत्व देता था और उन्हें अपनी कविताएं सुना कर उनकी प्रतिक्रिया जानना चाहता था। वे बहुत प्यार से सुनते थे और अपने सुझाव देते थे। इस संदर्भ में तीस जनवरी का प्रसंग याद आ रहा है। मैं शाम को उनके 'लाज' पर गया हुआ था। उन्हें अपनी एक नई कविता 'जग में मैं सबका आभारी, सबने जीवन को दान दिया' सुनाई। वे उस पर अपनी राय दे रहे थे कि एक मित्र दौड़े हुए आए और बोले- 'नामवर भाई, गांधीजी शाट डेड।' हम दोनों चौंक गए और सन्नाटे में आकर बाहर निकल पड़े। सड़क पर रुदन की धारा बह रही थी।

नामवर भाई बहुत अध्ययनशील हैं, तब भी रहे। पुराने से लेकर नए साहित्य तक उनकी अध्ययन-यात्रा चलती रहती थी। नए से नए साहित्य के अध्ययन से वे गुजरते रहते थे। तत्कालीन नए विशिष्ट रचनाकारों से उनका संबंध बना था। मुझे याद आ रही है लखनऊ यात्रा। लखनऊ विश्वविद्यालय में अंतर्विश्वविद्यालय कविता-प्रतियोगिता थी। हमारे हिंदी विभाग ने नामवरजी को तथा मुझे इसमें भाग लेने के लिए भेजा। मैं बी.ए. फाइनल में था और नामवर भाई एम.ए. प्रथम वर्ष में थे। रास्ते भर नामवर भाई 'तार सप्तक' पढ़ते और गुनते गए जबकि मैंने इस पुस्तक का नाम भी नहीं सुना था।

नामवर भाई मार्क्सवादी विचारधारा के हो गए थे। अतः हिंदी के प्रगतिशील लेखकों और कम्युनिस्ट नेताओं से उनके सरोकार बन गए थे। एक बड़ी लेखकीय दुनिया के बीच उनका आना-जाना लगा हुआ था। सन 50-51 के आस-पास मैं भी मार्क्सवाद की ओर उन्मुख हुआ लेकिन उसे अपनी दृष्टि बनाया, किसी दल में शरीक नहीं हुआ। तब भी नहीं हुआ अब भी नहीं हुआ। सहज भाव से अकेला चलता रहा।

नामवर भाई के विचारात्मक लेख छपने लगे। उनके निबंधों की एक पुस्तक आई। फिर 'छायावाद' पर एक अच्छी पुस्तक आई। यानी कि कविता से नाता टूट गया और आलोचना से गहरे जुड़ गए।

ऐसे ही यात्रा चलती रही। सन 50 में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी आ गए। हम दोनों उनके प्रिय शिष्य बने। नामवर भाई एम.ए. द्वितीय वर्ष में थे और मैं एम.ए. प्रथम वर्ष में। हम दोनों ने अपने-अपने समय में एम.ए. प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया। अतः जब हम दोनों पी-एच.डी. करने लगे तब हमें अध्यापन कार्य दिया गया। बाद में और भी कई लोग जुड़ गए। कहने की आवश्यकता नहीं कि नामवरजी बहुत अच्छे शिक्षक रहे हैं। तब भी थे और उनकी कक्षाएं भरी होती थीं। दूसरी कक्षाओं के छात्र भी वहां चले जाते थे। वे विद्वान तो थे ही, अच्छे वक्ता भी थे। वे कक्षा में विनोद भी करते थे। नामवर भाई बहुत विनोदी व्यक्ति हैं। जब वे ज्ञान-गरिमा-दर्प से मुक्त होकर सहज मनुष्य होते हैं तब खूब विनोद करते हैं, हंसते-हंसाते हैं। तब उनका साथ अत्यंत प्रिय और जीवंत हो उठता है।

हम दोनों पी-एच.डी. करने की प्रक्रिया में कक्षाएं लेने लगे थे। गुरुवर द्विवेदीजी ने हम दोनों के लिए यू.जी.सी. से लेक्चररशिप की मांग की थी। कुछ मास बाद विजयशंकर मल्ल ने मुझसे कहा- 'द्विवेदीजी कुछ परेशान हैं। उन्होंने दो प्रवक्ता- पद की मांग की थी, एक की ही स्वीकृति मिली।' मैं तुरंत गुरुदेव के पास गया और कहा- 'पंडितजी नामवरजी हर तरह से मुझसे सीनियर हैं। यह पद उन्हें ही दिया जाए।' पंडितजी बोले- 'तुमने मेरा संकट हल कर दिया। मैंने तो दोनों को एक साथ रखा था। मेरा संकट यह था कि किसे हां कहूं किसे ना कहूं।' उन्होंने तुरंत मेरे लिए एक सौ रुपये की स्कालरशिप की संस्तुति कर दी।

सन 1956 में सयाजीराव विश्वविद्यालय बड़ौदा में मेरी नियुक्ति हुई। नामवर भाई का बधाई का पत्र मिला। बहुत अच्छा लगा। मैं आठ साल गुजरात में रहा। वहां से जब भी बनारस जाने का अवसर मिला नामवर भाई के यहां ठहरा। वहां दोनों भाइयों का मुझे अद्‌भुत प्यार मिला। वहां मुझे अपने घर जैसा ही लगा। काशीनाथ तो इंटर में मेरे शिष्य रहे। वे इस संबंध को बड़ी शिद्‌दत से निभाते रहे।

विश्वनाथ त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'व्योमकेश दरवेश' में लिखा है कि नामवरजी को रामदरश मिश्र की कविताएं पसंद नहीं थीं। मुझे कभी इस बात की चिंता नहीं रही कि स्वनामधन्य आलोचक मेरी रचनाओं को पसंद करते हैं या नहीं। मैं अपनी कविताओं, कहानियों, उपन्यासों तथा अन्य विधाओं की रचनाओं को लेकर बहुत भरा-पूरा अनुभव करता हूं और वे स्तरीय हैं यह विश्वास मेरे सर्जक को उजास देता रहता है। फिर भी मुझे याद है कि नामवर भाई ने अपने प्रारंभिक लेखों में मेरी कुछ कविताओं का उल्लेख किया है। और सन 62 में जब मेरा काव्य-संग्रह 'बैरंग बेनाम

चिट्ठियां' आया तो नामवर भाई ने उस पर मुझे एक बहुत अच्छी चिट्ठी भेजी थी और कहा था कि इन अच्छी कविताओं पर मैं अवश्य लिखूंगा। यह मेरा स्फूर्जित संकल्प है। उसी चिट्ठी में केदारनाथ सिंह की कुछ पंक्तियां थीं- 'बहुत दिनों बाद ऐसी ताजा कविताएं पढ़ने को मिली हैं।' नामवर भाई ने 'पानी के प्राचीर' पर भी एक बहुत अच्छी चिट्ठी लिखी थी। हां अब कुछ नहीं लिखते। तो भी क्या? उनसे कहने कौन जाता है कि लिखें? लिखे बिना भी मैं मैं हूं।

वह बहुत प्रीतिकर समय यात्रा थी। मैं अहमदाबाद से दिल्ली आ गया और माडल टाउन में किराए के मकान में रहने लगा। कुछ दिनों बाद नामवर भाई भी माडल टाउन आ गए। बहुत खुश हुआ कि अब निरंतर इनका साहचर्य प्राप्त होगा। वे अकेले हैं। अतः कभी-कभी मुझे भी उनका सत्कार करने का अवसर मिलेगा। महीना बीत गया। वे मॉडल टाउन के अनेक घरों में आते-जाते रहे। मेरे पड़ोस में भी आए किंतु मैं उन्हें याद नहीं आया। मेरे स्वाभिमान को बहुत धक्का लगा। सरस्वतीजी ने एक बार उनसे पूछ भी दिया- 'मेरे यहां आप क्यों नहीं आते?'

'क्या बताऊं सरस्वतीजी, समय नहीं मिलता, व्यस्तता बढ़ गई है।'

सरस्वतीजी कहां माननेवाली। बोली-'हां नामवर भाई, मेरे यहां आने का समय आपके पास कहां है? किंतु वहां तो आप निरंतर जाते रहते हैं जहां रस मिलता है।' नामवर भाई मुस्कुराकर रह गए।

मुझे और सरस्वतीजी को प्रतीत हुआ कि ये हमें अपना नहीं मानते। हमारा स्वाभिमान आहत हो उठा। मुझे याद आया- एक बार डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने मुझसे कहा था- 'नामवर सिंह के यहां क्यों ठहरते हो?'

मैंने पूछा, क्यों क्या हुआ?'

'लोग बुरा मानते हैं।'

मैंने कहा 'पंडितजी, मैं तो यहां से निष्कासित होकर गुजरात चला गया हूं। यहां के लोगों के बुरा मानने की परवाह क्यों करूं? नामवरजी मेरे मित्र हैं। उनके घर जाकर घर जैसा अनुभव करता हूं।' शर्माजी चुप हो गए थे। वही नामवर भाई माडल टाउन में आए हुए हैं और मेरे घर की याद उन्हें नहीं आई।

धीरे-धीरे लग गया कि रामदरश मिश्र के लिए नामवर सिंह बनारस के नामवर सिंह नहीं रहे- और नामवर सिंह के लिए रामदरश मिश्र बनारस के रामदरश मिश्र नहीं रहे। वाह री दिल्ली।

फिर भी जब-जब मेरे परम प्रिय शिष्य रघुवीर चौधरी और महावीर सिंह चौहान ने हम दोनों को किसी संगोष्ठी में भाग लेने के लिए अहमदाबाद बुलाया तब-तब वहां हमारी प्रेम-वार्ता हुई और कुछ समय के लिए लगा कि बनारस हमारे साथ हो लिया है।

●

जैसा मैंने जाना

निर्मला जैन

नामवर सिंह अपने ढंग के अकेले और विलक्षण आलोचक हैं जिनके कथित का वजन उनके लिखित की तुलना में कहीं अधिक है। वही उनकी अक्षय ख्याति का आधार भी है। हिंदी की शैक्षिक दुनिया में उनका प्रवेश 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग' शीर्षक पुस्तक से हुआ। जहां तक मेरी जानकारी है इसका आधार उनका शोध-कार्य था। अपने विद्यार्थी जीवन में हमने इस विषय पर उसे एकमात्र प्रामाणिक पुस्तक के रूप में जाना और परीक्षा की तैयारी में उसका उपयोग किया। बाद में बात आयी-गयी हो गई। यह बात सन 1954-56 के बीच की है। आलोचना के क्षेत्र में वह शुक्लोत्तर बृहत्रयी(आ.ह.प्र.द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ. नगेन्द्र) के दबदबे का दौर था। डॉ. रामविलास शर्मा की ख्याति प्रगतिशील आलोचक के रूप में हो चली थी और डॉ. देवराज भी किसी हद तक अपनी जगह बना चुके थे। बाकी अधिकांश लोग 'इत्यादि' की गिनती में उल्लेखनीय समझे जाते थे।

इस दौरान, नामवरजी गाहे-बगाहे दिल्ली आते थे-एकाध दिन के लिए। 1951 में एम.ए. करने के बाद गुरु-कृपा से काशाी हिंदू विश्वविद्यालय में शोधार्थी की हैसियत से कुछ कक्षाएं पढ़ाने के लिए मिल जाती थीं, पर नियमित स्थायी नौकरी के अभाव में आर्थिक तंगी तो रहती ही होगी। सुना गया कि गुरुदेव की लानत-मलामत और डांट-फटकार के चलते उन्होंने लगभग छः वर्ष लगाकर पी-एच. डी. की डिग्री भी हासिल कर ली थी। शायद 57 या 58 में। काशी हिंदू विश्वविद्यालय में इसी दौरान उन्होंने पार्टी टिकट पर चुनाव लड़ा और हारे। परिणामस्वरूप जैसी-तैसी 1959 में अस्थाई नौकरी से भी हाथ धोना पड़ा। यह दुर्घटना उन्हीं के साथ नहीं, गुरुवर आ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के साथ भी घटित हुई। कारण अलग थे जिनका जिक्र डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'व्योमकेश दरवेश' में विस्तार से किया है।

बहरहाल, नामवरजी की नियुक्ति जल्दी ही सागर विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में हो गयी। पर टिकना वहां भी नहीं हुआ। वर्ष पूरा होते होते कुछ प्रवादों के कारण उनका कन्फरमेशन नहीं हुआ और एक बार फिर वे बेकारी, यानी आर्थिक तंगी की गिरफ्त में आ गए। लगभग पांच वर्ष बाद जब 1965 में उनकी नियुक्ति 'जनयुग' के संपादक के रूप में हुई, तब तक उन्होंने अपनी वाग्मिता और 'छायावाद' पर अपनी आरंभिक पुस्तक से अच्छी ख्याति अर्जित कर ली थी। साहित्यिक बिरादरी उनकी आर्थिक तंगहाली से बेखबर नहीं थी। न ही इस बात से कि उन्होंने इस संकट-काल को बड़े स्वाभिमान और सब्र से गुजारा था। लिहाजा एक सम्मानित पद पर उनकी नियुक्ति की खबर का सबने स्वागत ही नहीं किया, इस बात की उम्मीद भी की कि उनके यहां आने से साहित्यिक

माहौल में कुछ सरगरमी, कुछ उत्तेजना पैदा होगी।

दिल्ली में नामवरजी पहले भी आते तो रहे थे, पर कुछ इस तरह कि उनके आने और लौटने के समाचार अक्सर साथ-साथ ही मिलते थे- 'आए भी वो, गए भी वो' वाली शैली में। ऐसे मौकों पर वे विश्वनाथ त्रिपाठी या फिर देवीशंकर अवस्थी के घर में ठहरते थे। ठहरना भी क्या, अपना झोला भर सामान मेजबान के घर में रखकर नगर भ्रमण के लिए निकलते तो बकौल देवीशंकर अवस्थी वापसी तभी होती जब पहने हुए कपड़े धुलने लायक हो जाते।

विश्वनाथ त्रिपाठी उस समय मॉडल टाउन में रहते थे-दूसरी मंजिल पर एक छोटे से दो कमरों के फ्लैट में। ऐसे में गुरु स्थानीय मेहमान को यथासंभव सुख-सुविधा से रखने में भार तो पड़ता ही होगा, पर उनके बारे में श्रीमती त्रिपाठी का कहना था कि वे बड़े नामालूम तरीके से अपने मेजबान की छोटी सी गृहस्थी में ऐसे खप जाते थे कि उनका होना अखरता नहीं था। यह बात अलग है कि उनसे मिलने वालों की संख्या में खासी वृद्धि हो जाती थी। संभव है कि यह साहित्यिक चहल-पहल उनके मेजबानों को रास आने लगी हो। इस पर रोशनी तो वे ही डाल सकते हैं।

शहर में उनके मित्रों-कद्रदानों की कमी कभी नहीं रही। मॉडल टाउन से नई दिल्ली के विनय नगर तक-सुरेश अवस्थी, नेमिचन्द्र जैन, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा जैसे तमाम परिचित थे उनके। आलम यह था कि घूमते फिरते जहां जा निकले वहीं महफिल जम जाए। उनकी संगत लोगों को बहुत सुखद लगती थी। लंबी बेकारी से पैदा होने वाली आर्थिक तंगहाली की छाया तक उनके व्यक्तित्व पर कहीं नहीं दिखायी पड़ती थी। खद्दर का कुछ कम उजला, मुसा-तुसा कुर्ता-धोती उन पर बहुत सहज लगता था।

दिल्ली के साहित्यिक माहौल का उस समय अपना अलग रंग था। मिलने-जुलने के कई ठौर ठिकानों पर साहित्यकर्मियों की तीन-पीढ़ियां अपने-अपने ढंग से सक्रिय थीं। घरों-दफ्तरों के अलावा जनपथ के काफी हाउस जैसे सार्वजनिक स्थलों के तमाम ठिकानों पर लोग बतरस के लिए शाम को प्रायः इकट्ठा होते। साहित्यिक मसलों के अलावा, तमाम अच्छी बुरी खबरें यहां जन्म लेती, बनती-बिगड़तीं और फिर अनेक संस्करणों में प्रसारित होती। विष्णु प्रभाकर जैसे वरिष्ठ भी अजमेरी गेट के पास कुंडेवालान मोहल्ले के अपने निवास से रोज इस बतकही में शामिल होने के लोभ से कनाट प्लेस तक पदयात्रा करके पहुंचते रहे।

शहर में नामवरजी की इसी आवाजाही के दौरान कविवर सुमित्रानन्दन पंत का वृहत काव्य 'लोकायतन' प्रकाशित हुआ। उस समय पंतजी की प्रतिष्ठा अपने चरम पर भले न रहीं हो, पर उनकी किसी रचना को अनदेखा तो किया नहीं जा सकता था। जाहिर है 'लोकायतन' पर भी आए दिन परिचर्चाओं का आयोजन किया जाने लगा। दिल्ली के चेम्सफोर्ड क्लब में एक ऐसी ही प्रायोजित गोष्ठी में जाना हुआ। साथ में मेरे मित्र कवि भारत भूषण अग्रवाल थे। संयोग से नामवरजी भी उस आयोजन में बड़ी तटस्थ सी मुद्रा में आ निकले। निश्चित कार्यक्रम के अनुसार डॉ. नगेन्द्र सहित शहर कई स्वनामधन्य साहित्यप्रेमियों को भागीदारी के लिए आमंत्रित किया गया था। सबके प्राण संकट में। सराहते किसी से बने नहीं और आलोचना कोई करना न चाहे। लेखक की हैसियत और मौके की नजाकत-दुहू भांति असमंजस। अंत में संचालक ने सहसा नामवरजी से भी कुछ कहने का आग्रह किया। उन्होंने जो कहा, उसके बारे में इतना ही याद है कि वह बेहद तर्कसंगत पर मारक

कुछ ऐसा कि जिससे दुराग्रह की शिकायत की न जा सके और उसके बाद कहने को जैसे कुछ बचा ही न रहे। उनकी वाग्मिता से दिल्ली में यह मेरा दूसरी बार साबका था।

मैं उनसे मिलकर अपने डी.लिट. के शोध-विषय के बारे में चर्चा करना चाहती थी, पर भारतजी ने बताया कि वे अगले दिन ही लौटने वाले हैं, अतः बात उनकी अगली दिल्ली-यात्रा के लिए स्थगित हो गयीं। भारतजी की सलाह से यह जिम्मेदारी अजित कुमार को सौंपी गयी, क्योंकि वे खुद मॉडल टाउन निवासी तो थे ही, नामवरजी के मेजबानों के मित्र भी थे। उन दिनों नामवरजी सर्वसुलभ यायावरी मुद्रा में रहते थे। अगली बार आए तो अजितजी की मार्फत प्राप्त मेरे निमंत्रण को सहज स्वीकार कर लिया। तय हुआ कि वे नयी दिल्ली की परिक्रमा से लौटते हुए सीधे मेरे घर आएंगे। पता अजितजी ने उन्हें समझा दिया था और मॉडल टाउन से खुद मेरे यहां यथासमय पहुंच गए।

इस प्रसंग से पहले एक और संदर्भ में मैंने नामवरजी को सुना था। 1964 में श्रीकांत वर्मा ने 'हिंदी कहानी' पर गांधी सन्निधि में दो दिवसीय संगोष्ठी का आयोजन किया था। नामवरजी को उसका समापन भाषण देना था। उन दिनों मैं किसी बीमारी से उबर रही थी, और खुद ड्राइव करके जाने की स्थिति में नहीं थीं। आयोजन में जाने की मेरी उत्कंठा देखकर जैन साहब ने प्रस्ताव रखा कि वे मुझे अंतिम सत्र के लिए वहां उतारकर अपने किसी काम के लिए आगे बढ जाएंगे और वापसी में मुझे ले लेंगे। वे लौटे तो नामवरजी का भाषण जारी था। जैन साहब चुपचाप पीछे की पंक्ति में बैठ गए और आयोजन की समाप्ति पर मुझे साथ लेकर लौटने लगे।

मितभाषी जैन साहब, ठीक-ठाक हिंदी पढ़-लिख भी नहीं सकते थे। कुछ देर की चुप्पी के बाद सहसा बोले, 'मेरी समझ में आ गया। तुम इस मीटिंग में आने के लिए क्यों इतनी 'कीन' थी। मैं जब 'हाल' में घुसा तो सामने देखकर लगा कि ये मुसी-तुसी मैली सी पोशाक वाले गंवार से श्रीमानजी क्या बोल रहे होंगे, पर मैं तो दंग रह गया। कमाल का बोलते हैं भई ये....क्या नाम है इनका? वे अटके तो मैंने जोड़ा- 'नामवर सिंह'। खास बात इस प्रसंग में यह थी कि नामवरजी के भाषण का अधिकांश जैन साहब की समझ में आ गया था। इस घटना से उनके मन में भी नामवरजी के प्रति सम्मान का भाव पैदा हो गया।

यह घटना उस समय की है, जब लंबी बेकारी के बाद भी नामवरजी के तेवर में कोई खम नहीं आया था। 1960 के चार साल बाद वे दिल्ली आए थे-कविता में प्रगति की वापसी का ऐलान करते हुए। नए कवियों को यह बात गवारा नहीं हुई। अजितजी जैसे मृदु स्वभाव वाले कवि तक ने खिन्न होकर लिखा-

फिर चार साल बाद यहां आए नामवर
'कविता बदल गई है' यों फरमाए नामवर
'कब से'? 'यही सन साठ से'-सन्नाए नामवर
'सठिया गए हैं' सुन के ये भन्नाए नामवर।

जाहिर है बात नामवरजी को नागवार हुई, पर ऐसी बातों से आपसी संबंधों में फर्क नहीं पड़ा। लिहाजा बात जब मेरे घर पर मिलने की हुई तो सब बड़े उत्साह से तैयार हो गए। मौसम बेहद गर्म था उस दिन। शाम को अजित दम्पति तो समय से पहुंच गए पर नामवरजी नदारद। मैंने बड़े मन से उनके आवभगत की तैयारी की थी। घड़ी की सुइयों के खिसकने के साथ सबकी बेकली बढ़ रही

थी। उस समय न मोबाइल की सुविधा थी न ठीक ठीक यह जानकारी कि वे आएंगे कहां से। डेढ़ घंटा इंतजार करते-करते मन में शक पैदा होने लगा कि ठाकुर साहब गच्चा दे गए।

उस समय मैं लखनऊ रोड के निकटवर्ती इलाके में, दस-बारह फ्लैट्स की एक प्राइवेट कॉलोनी में रहती थी। बाद में उसके सामने दिल्ली की पहली बहुमंजिला इमारत 'रिवीयरा अपार्टमेंट्स' नाम से बनी थी। कम लोग जानते थे इस कॉलोनी को। इसलिए अक्सर हमारा पता पूछने पर लखनऊ रोड की तरफ भटक जाते थे। मुझे शक होने लगा, तो अजितजी की प्रतिक्रिया हुई कि उस स्थिति में नामवरजी ढूंढ-ढांढ़कर वापिस लौट गए होंगे और इसका पता तो मॉडल टाउन लौटने पर ही लगेगा। इसी कशमकश के बीच जैन साहब ने सुझाव दिया कि वे अजितजी को साथ लेकर गाड़ी से लखनऊ रोड का चक्कर लगा आएं। सुझाव के अनुरूप दोनों निकले क्योंकि अजितजी का कहना था कि बात नामवरजी से एकदम निश्चित रूप से तय हुई थी, अतः संभावना उनके भटक जाने की है।

गाड़ी कॉलोनी के मुख्य द्वारा के करीब पहुंची ही थी कि देखा सामने से नामवरजी चले आ रहे है-पसीने से लथपथ, झुंझलाए से। दुर्घटना वही हुई थी जिसकी आशंका थी। काफी भटकने के बाद वे उस विशाल फाटक के भीतर इस संकल्प के साथ घुस रहे थे कि यदि यह भी ठीक नहीं हुआ, तो वे वापस लौट जाएंगे। बहरहाल, ऐसा हुआ नहीं। वे आए-अपनी झुंझलाहट को छिपाने का प्रयत्न करते हुए और हम लोग क्षमा मांगकर उन्हें प्रकृतिस्थ करने में जुट गए।

उनके सहज होने में समय नहीं लगा। बस हुआ इतना ही कि समय खिसककर भोजन का हो गया था। तो अंततः हम सबने एक साथ चाय के बाद रात्रि भोज भी किया। वे सहज हुए तो पारिवारिक परिचय और नाना प्रसंगों के बीच बात मेरे डी.लिट के प्रस्तावित विषय पर होने लगी तो उन्होंने मुझे 'छायावाद' पर मुकुटधर पाण्डेय के लेखों की जानकारी देते हुए आश्वस्त किया कि वे बनारस से लौटकर लेखों की प्रति मुझे भेज देंगे।

शाम बड़े सहज-प्रसन्न पारिवारिक माहौल में गुजरी। विदा करते समय मैंने पीछे चलते अजितजी से धीरे से पूछा कि क्या नामवरजी लेख सचमुच भेज देंगे? अजितजी ने अपनी प्रफुल्ल शरारती मुद्रा में उत्तर दिया, 'अगर वे इतनी गर्मी में डेढ़ घंटे तक पैदल घूमकर आपका घर ढूंढ़ सकते हैं तो लेख भी आ ही जाएंगे।' और लेख सचमुच आ गए-एक ही सप्ताह में-मेरे काम के सफलतापूर्वक खत्म होने की शुभकामना के संक्षिप्त प्यारे से पत्र के साथ। यह मेरे साथ उनके संबंधों की शुरुआत थी।

कुछ ही समय गुजरा होगा कि शहर में शोर मचा कि नामवरजी दिल्ली आ रहे हैं-पूरे पांच वर्ष की फाकामस्ती के बाद 'जनयुग' के संपादक होकर। कहना न होगा कि इस खबर से प्रसन्नता मुझे भी बहुत हुई। उन्होंने अविलंब पहुंचकर संपादक का दायित्व संभाल लिया। अस्थायी डेरा डाला, अवस्थीजी के यहां और किराए के मकान की तलाश शुरू हो गयी। पगार खर्चे-गुजारे लायक थी-शायद सात सौ रुपये माहवार। कुछ ही दिन बीते होंगे कि राजकमल प्रकाशन की मालिक श्रीमती शीला संधू ने उनके सामने प्रकाशन के साहित्यिक सलाहकार का पद सम्हालने का प्रस्ताव रख दिया। दो हजार रुपए माहवार पर। जाहिर है प्रस्ताव आर्थिक दृष्टि से भी आकर्षक था और मन लायक। उस समय उनसे अच्छा-खासा परिचय हो गया था, तो उन्होंने मुझसे खुद इस बात की चर्चा की। यह बात जरूर उस समय समझ में नहीं आयी कि वे दो साल के अनुबंध से ही शुरुआत क्यों करना

चाहती हैं। वे खुद पढ़ी-लिखी थीं पर हिंदी साहित्य में उनकी गति प्राथमिक शिक्षा के विद्यार्थी की सी थी।

नामवरजी ने बड़े उत्साह से प्रस्ताव स्वीकार कर लिया उस समय उनके संबंधों के बारे में या फैसलों में दखल देने लायक मेरे संबंध नहीं थे उनसे। आश्चर्य जरूर हुआ कि अखबार और प्रकाशक दोनों उनकी इस दोहरी भूमिका को निभाने के फैसले पर रजामंद कैसे हो गए। हुआ वही जिसकी मुझे आशंका थी। कुछ ही दिनों के बाद, शीलाजी ने दोनों भूमिकाओं में से एक के चुनाव का सवाल उठा दिया। 'जनयुग' से मिलने वाली पगार के सहारे घर की व्यवस्था चल नहीं सकती थी। नामवरजी ने अपना धर्म संकट मुझसे बयान किया। शीलाजी से उस समय मेरा मात्र देखा-देखी का परिचय था। संबंधों में प्रगाढता बाद की बात है।

मेरा मानना था कि किसी भी व्यापारिक संस्थान की तुलना में पार्टी समर्थित अखबार का ठिकाना ज्यादा भरोसेमंद होगा। पर नामवरजी ने फैसला राजकमल के पक्ष में कर लिया। एक कारण तो आर्थिक रहा ही होगा। दूसरा शायद यह था कि राजकमल के प्रतिनिधि के रूप में उनका संपर्क देश भर के तमाम बड़े रचनाकारों से जिस रूप में पड़ने वाला था, उसकी कल्पना मात्र से उनमें महत्त्व बोध हुआ होगा। तात्कालिक लाभ की दृष्टि से किया गया यह फैसला उन्हें दो साल पूरे होते ही भारी पड़ गया।

यह बात अलग है कि इस दौरान पूरे शहर में उन्होंने अपनी उपस्थिति बड़े प्रभावी ढंग से बना ली थी। किसी के घर की बैठक हो या कोई सार्वजनिक आयोजन हर मौके पर वे अपनी उपस्थिति दर्ज करते-लगभग निर्णायक टिप्पणियों से हस्तक्षेप करके। यहां तक कि डॉ. नगेन्द्र ने भी विश्वविद्यालय के आयोजनों में उन्हें आमंत्रित करना शुरू कर दिया। सिलसिला कुछ आगे बढ़ा तो डॉ. नगेन्द्र ने एक दिन उन्हें अपने घर पर आमंत्रित करके उनके सामने अपनी उस योजना में सहयोग देने का प्रस्ताव रख दिया जो बाद में डॉ. सुरेशचन्द्र गुप्त के सहयोग से हिंदी साहित्य के विद्यार्थियोपयोगी इतिहास के रूप में पूरी की गयी। जाहिर है ऐसी किसी योजना में भागीदारी करना नामवरजी की रुचि से दूर तक मेल नहीं खाता था। फिर भी उन्होंने शिष्टतावश जानना चाहा कि उनके सह-लेखक कौन होंगे। उत्तर में जो सूची सामने आई, उसे देखकर उनका रहा-सहा सब्र जवाब दे गया। फिर भी बड़ी विनम्रता से उन्होंने इतना ही कहा कि सूची अच्छी-खासी है जिसके बीच उनकी कोई खास उपयोगिता नहीं होगी। बेहतर होगा कि वे उन्हीं विद्वानों से योजना पूरी करा लें। डॉ. साहब प्रस्ताव के नाम पर आदेश ही दिया करते थे, जिनकी अस्वीकृति को वे अपना अपमान समझते थे। कल्पना कर सकती हूं कि उन्होंने मन-ही-मन कहा होगा-'समझता क्या है ये अपने को?' और गांठ बांध ली होगी।

नामवरजी उठे और वापसी में लपककर मेरे घर आए। परेशान थे आते ही बोले, 'आज आपके गुरुजी नाराज हो गए।' और सारी घटना सुना दी। मुझे समझ में आ गया कि दोनों के संबंध में फांक पैदा हो गई। गोकि सही नामवरजी ही थे। उस संगत में उनको शामिल करने का कोई औचित्य नहीं था। कुछ और छोटी-मोटी घटनाओं से यह समझने में समय नहीं लगा कि दोनों की स्वाभाविक बनत में इतना फर्क है कि आपस में पटरी नहीं बैठने वाली।

इन घटनाओं के अलावा उनके आपसी संबंधों में कटुता पैदा करने वाला सबसे महत्वपूर्ण प्रसंग

साहित्य अकादेमी के पुरस्कार से संबद्ध था। भारतभूषण अग्रवाल की नामसमझी से डॉ. नगेन्द्र के मन में साहित्य अकादेमी के पुरस्कार को पाने की लालसा पैदा हो गयी। वर्ष वही था, जिसमें मुक्तिबोध का बड़ी कारुणिक स्थिति में देहावसान हुआ था। समसामयिक साहित्यिक बिरादरी की हार्दिक इच्छा थी कि पुरस्कार मरणोपरान्त उन्हें ही दिया जाए। चाहते नामवरजी और भारतभूषण अग्रवाल भी यही थे पर वैसा हुआ नहीं। भारतजी ने अपनी भूल की कीमत अदा की और फैसला डॉ. नगेन्द्र के पक्ष में हो गया। इतना ही नहीं उन्हें यह जानकारी भी हो गयी कि नामवरजी उनके विरुद्ध मुक्तिबोध के पक्ष में सक्रिय थे। दोनों के संबंध में गहरी दरार पड़ गयी-इस हद तक कि उन्हें हम लोगों के साथ उनके मेलजोल पर भी एतराज होने लगा।

इधर नामवरजी अक्सर पुरस्कार प्रसंग को लेकर भारतजी पर निशाना साधने लगे। उनकी व्यंगोक्तियों से आजिज आकर एक दिन ठहाका लगाते हुए भारतजी ने नामवरजी को जवाब दिया, 'आप भी लिख दीजिए किताब तो आपको भी दिलवा दूं।' उनके सुर में नामवरजी के लिए चुनौती, खीज और मसखरी का मिलाजुला अंदाज था। कहीं न कहीं नामवरजी की काहिली पर यह विश्वास भी कि न किताब लिखी जाएगी न यह संकट पैदा होगा। यह संवाद चलती गाड़ी में संपन्न हुआ तो मेरे मुंह से औचक वाक्य निकला, 'तो भारतजी, बात पक्की रही?' और उसी हंसोड़ मुद्रा में मित्रवर बोले, 'एकदम पक्की, पर किताब लिखें तो नेताजी'। उन्हें पूरा भरोसा था कि 'न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेगी।' पर तभी अचानक जैन साहब जो प्रायः ऐसे प्रसंगों में धीरश्रोता की भूमिका में मंद-मंद मुस्कुराया करते थे, एकदम मुखर हुए : 'नामवरजी, अब तो आप लिख ही दीजिए।' नामवरजी प्रतिक्रिया में एकदम गंभीर हो गए और बात टल गयी।

पर न बात टली और न उतनी सहजता से पुस्तक लिखी गयी, जैसा कुछ समय पहले नामवरजी ने एक बातचीत में संकेत रूप में कह दिया कि उसकी रचना साहित्य अकादेमी पुरस्कार के लिए की गई थी। दरअसल पुरस्कार तो बहाना भर था। उसके बहाने उन्हें घेर कर मित्रों को जैसा दबाव बनाना पड़ा उसके ब्यौरे पर कम से कम एक अध्याय तो लिखा ही जा सकता है। वह फिर कभी। फिलहाल इतना ही कि नामवरजी बिना किसी दवाब के लिख ही नहीं सकते। दवाब कैसा भी हो, पर कुछ होना चाहिए। मसलन बेकारी काल के दौरान लिखी गयी रचनाओं-'छायावाद', 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां' और लेख-संकलन 'इतिहास और आलोचना' के पीछे किसी हद तक आर्थिक जरूरत रही होगी। इसी तरह 'दूसरी परंपरा की खोज' गुरुवर द्विवेदीजी के प्रति श्रद्धा अर्पित करने के मनोभाव से लिखी गयी। 'नयी कविता के प्रतिमान' के रचना-प्रसंग में अकादेमी-पुरस्कार का प्रसंग तो रहा ही, पर उसके अलावा मित्रों का दवाब और जाने-अनजाने डॉ. नगेन्द्र के साथ कई प्रसंगों को लेकर इस बीच जो मतभेद पैदा हो गए थे, उनका हिसाब चुकता कर लेने की दमित इच्छा भी काम कर ही रही होगी। यह उस पुस्तक के पूर्वार्ध से स्पष्ट है। कारण जो भी रहे, 'नई कविता के प्रतिमान' लिखी भी गयी और भारतजी ने साहित्य अकादेमी पुरस्कार से उनको नवाजे जाने का वायदा भी निभाया।

इन्हीं सब प्रसंगों के बीच दो साल बीते और शीलाजी ने अनुबंध के हवाले से उन्हें राजकमल से मुक्त कर दिया और नामवरजी फिर बेकारी की गिरफ्त में। आर्थिक संकट से मुक्ति के लिए जो व्यवस्था बनी, उससे मित्र-संबंधों के निर्वाह में कोई बाधा नहीं आयी। हमारे घर से तो संबंध सड़क

से आर-पार वाला हो ही गया। राजेन्द्र-मन्नू के और अजित कुमार के परिवारों से भी भौगौलिक फासला पूर्ववत बना रहा। नतीजतन मित्र-मंडली की बैठकबाजी में कोई अंतर नहीं आया। अतः सबने मिलकर उनके बनारस-वापसी के विकल्प को रद्द करा दिया।

नामवरजी के पास अब समय ही समय था। उम्मीद बंधी कि शायद वे कुछ सार्थक लिखेंगे-पढ़ेंगे। पर वैसा हुआ नहीं। मैं उन दिनों अपने डी.लिट् के शोध-प्रबंध पर काम कर रही थी। जब कोई समस्या सामने आती, नामवरजी से उसे सुलझाने में और विषय से संबद्ध पुस्तकों के बारे में भी उनसे लगातार जानकारी मिलने लगी। यहीं नहीं मित्रों के बीच जब भी किसी साहित्यिक मसले पर बहस होती निर्णायक वचन तो अन्ततः नामवरजी ही बोलते थे। हर मौके और विषय पर औरों को कायल करने का अद्‌भुत कौशल विकसित कर लिया था उन्होंने इसका सबसे बड़ा कारण था उनका पढ़ाकू होना। ज्ञानार्जन जैसे उनका व्यसन था। वे जिस कदर अपनी जानकारी को अपडेट किए रहते थे, वह औरों के बस की बात नहीं थीं। ज्ञान के इस अकूत लगभग ग्लोबल भंडार का कब, किसे मात देने के लिए कैसा प्रयोग किया जा सकता है, इस कौशल को उन्होंने कुछ इस तरह विकसित कर लिया था जिसमें लिखकर डॉ. रामविलास शर्मा और वक्ता के रूप में स्व. डॉ. विजयदेवनारायण साही के अलावा कोई और उन्हें मात नहीं दे सका।

बेकारी के इस दूसरे दौर के बाद, 1970 में उनकी नियुक्ति जोधपुर विश्वविद्यालय में और कुछ ही वर्ष बाद जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्रोफेसर और अध्यक्ष के रूप में हो गयी। अंततः जीवन में स्थिरता भी आयी और शिक्षा और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में कुछ कर दिखाने का अवसर भी। पर देर आयद दुरुस्त आयद की मानसिकता से उन्होंने हाथ में आए इस अवसर को कुछ कर दिखाने की चुनौती के रूप में नहीं लिया। अगर आज उनसे सवाल पूछा जाए कि उन्होंने विभाग का निर्माण करने की या अच्छी संख्या में मेधावी शिष्य मंडल तैयार करने की दिशा में क्या उल्लेखनीय या ऐतिहासिक काम किया तो उत्तर बहुत संतोषप्रद नहीं होगा। जबकि साहित्य के शिक्षक के रूप में बहुत कम लोग उनकी बराबरी का दावा कर सकेंगे। साहित्य-शिक्षा उनके लिए एकांगी हो ही नहीं सकती थी। अपने विद्यार्थियों को साहित्य के माध्यम से उन्होंने ज्ञान और जीवन के न जाने कितने रूपों से जीवन जीने की कला से अवगत कराया होगा। इसका अनुमान उनके संपर्क में आने वाले लोग सहज ही लगा सकते थे। अपनी इस क्षमता को वे खुद भी भलीभांति पहचानते थे। सोचने की जरूरत है कि अपनी वक्तृत्व-शक्ति के प्रति इस गहन आत्मविश्वास या आत्ममुग्धता ने ही तो कहीं उनमें लेखनी के बजाय वाणी पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति तो पैदा नहीं की।

उनकी आलोचना में अक्सर जिस अवसरवाद या अंतर्विरोध की शिकायत की जाती है उसका कारण भी तो कहीं लेखनी पर वाणी को तरजीह देना नहीं था क्योंकि कहे-हुए में हेर-फेर करना जितना आसान होता है वैसा लिखे हुए में नहीं। लिखने का अर्थ है कमिटमेंट। इस प्रसंग से एक घटना याद आ रही है। अपने उत्कर्ष काल में एक बार नामवरजी किसी विषय पर बड़े सहज आत्मविश्वास से धारा प्रवाह भाषण दे चुके, तो श्रोताओं के बीच से प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी स्व. डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने खड़े होकर, बड़ी विनम्रता से उन्हें याद दिलाया कि कुछ ही समय पहले वे अपने एक भाषण में उसके ठीक उलटी बात कह चुके हैं। नामवरजी ने बड़े अविचलित स्वर में उत्तर दिया :

'कहा तो मैंने उस दिन भी यही था जो आज कहा है, पर आप जैसे योग्य शिष्य ने उसका उलटा अर्थ समझ लिया तो मैं क्या कर सकता हूं? जाहिर है इसके बाद कहने सुनने को कुछ नहीं रह गया। गोकि पूरी सभा समझ गयी थी कि नामवरजी ने सिर्फ वाक्-चातुरी से बात का रुख पलट दिया था। जाहिर है लिखे हुए के संदर्भ में ऐसा करना संभव नहीं होता। पर नामवरजी के लेखन को लेकर भी प्रायः ऐसे अंतर्विरोधों की चर्चा तो की ही जाती रही है। पर दिलचस्प बात यह है कि ऐसी तमाम आपत्तियों के बावजूद लोग उनकी वाणी का लोहा मानते है। कहा जाए कि ऐसी व्यापक स्वीकृति आलोचना में शायद ही किसी और को मिली हो। तरह-तरह की तमाम शिकायतों के बावजूद। लोग किसी भी सभा-समारोह में उनकी उपस्थिति को आयोजन की सफलता का निर्णायक मानते हैं। वैचारिकता का सहज और सर्जनात्मक विनियोग ही उनकी वक्तृताओं को इतना प्रभावी बनाता है।

लंबे समय तक उन्होंने जो कहा-सुना, उसका अधिकांश संकलित-संपादित करने का दुस्साध्य कार्य कुछ समय पहले डॉ. आशीष त्रिपाठी ने और प्रकाशन राजकमल प्रकाशन ने किया है। चार खंडों में इस सामग्री को एकत्रित करके, किसी हद तक उसे विषयवार समबद्ध रूप देने की इस साधना के लिए वे साधुवाद के पात्र हैं। जाहिर है जो जिस रूप में सामने है उसमें विद्वान वक्ता की सहमति और सहयोग तो सम्पादक को मिला ही होगा। अब समग्र नहीं तो वाचिक का अधिकांश पाठकों के बीच है-कलमबंद रूप में। और लिखना अपने को 'कमिट' करना है। देखना अब यह है कि वाग्मिता के इस लिखित संस्करण में पाठक-शोधार्थी, विद्वान-वाकपटु आलोचक के तथाकथित अंतर्विरोधों को खोजने की चुनौती स्वीकार करेंगे या नहीं। यही नहीं क्या इनके बीच से उस आलोचक व्यक्तित्व की कोई मुकम्मल तस्वीर सामने आ सकेगी जिसने अपने ज्ञान-समृद्ध, प्रत्युत्पन्नमतित्व और वाक्-कुशल प्रतिभा के आधार पर आलोचना के क्षेत्र में अपनी विशिष्ट पहचान ही नहीं बनायी, आलोचना का एक नया ढब, नया रास्ता दिखाया-गंभीर वैचारिकता से संपन्न सर्जनात्मक पठनीय आलोचना का रास्ता।

●

नामवरजी से बहुत कुछ सीखा

विश्वनाथ त्रिपाठी

डॉ. नामवर सिंह हिंदी के समकालीन आलोचकों में अग्रगण्य हैं। केवल अग्रगण्य नहीं- वे अनेकानेक कारणों से हिंदी जगत के जीवित मिथक भी बन गए हैं। उनसे संबंधित अच्छी-बुरी-सच्ची या कल्पित किंवदंतियां प्रचलित हैं। उनका कवि-रूप उतना विदित नहीं है। यह थोड़ा आश्चर्य का भी विषय है। कम-से-कम उनकी कविताओं का संकलन तो प्रकाशित हो ही जाना चाहिए था। जिन लोगों ने उनकी कविताएं पढ़ी या सुनी हैं वे कहते हैं कि उनका कवि रूप उनके आलोचक रूप से कम महत्वपूर्ण नहीं है। आलोचक रूप बहुत विवादास्पद है, कवि रूप नहीं। मुझे उनका कवि रूप उनके आलोचक या अध्यापक से कम श्रेष्ठ नहीं लगता। कविता सुनाने का उनका ढंग भी प्रभावशाली है। कंठ बंधा-सधा है, जिसे गोल्डेन वायस कहें। नामवरजी सुकंठ हैं। बहुत अच्छे गायक हैं। कविताओं का एक जमाने में गाकर पाठ भी करते थे। जिन लोगों ने काव्य-पाठ सुना है वे कहते हैं- मंच लूट लेते थे। मैंने एकध-बार सुना है। मंच पर से नहीं, बैठक में। कंठ काशीनाथ का भी बुरा नहीं है।

लेकिन आलोचक की बात!

आलोचक का काम क्या है? यहां ज्यादा बहस में पड़ने का अवकाश नहीं है। अब तक मेरी समझ में यही आया है कि आलोचक प्रधानतः साहित्य का नया पाठ प्रस्तुत करता है। उसी पाठ में सभ्यता समीक्षा समाहित होती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने तुलसी, सूर, जायसी, घनानंद आदि का पाठ प्रस्तुत किया। हमें बताया कि इन कवियों को कैसे पढ़ना चाहिए। उनका आस्वाद कैसे ग्रहण करना चाहिए। केशवदास को भी पढ़ना बताया। यह पाठ जितना अधिक व्यापक और टिकाऊ होता है, आलोचक का स्थान वैसा ही तय होता है। कालजयी कविता, कथा ही नहीं होती, आलोचना भी कालजयी होती है या हो सकती है। इसी तरह आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर, चंदबरदाई, अद्दहमाण और कालिदास का नया पाठ प्रस्तुत किया। लोग आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के आलोचना साहित्य पर विचार करते समय उनकी पुस्तक 'कालिदास की लालित्य योजना' पर विचार नहीं करते। यह अनुचित है। द्विवेदीजी हिंदी पाठकों को कालिदास पढ़ना बताते हैं, जिसका प्रभाव हिंदी पाठकों की रस-ग्रहण क्षमता पर पड़ेगा। इसी तरह डॉ. रामविलास शर्मा का निराला और तुलसीदास विषयक कार्य। मुक्तिबोध का 'कामायनी' पर। इस क्रम में डॉ. नामवर सिंह ने समकालीन साहित्य का सर्वाधिक पाठ प्रस्तुत किया है। निर्मल वर्मा, अमरकांत, कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा आदि का। इस कार्य की प्रक्रिया में उन्होंने विष्णु प्रभाकर और निर्गुण साहित्य का निरस्कार नहीं किया, बल्कि उसका भी नया पाठ ही प्रस्तुत किया। मुक्तिबोध, धूमिल, विनोद कुमार शुक्ल

का भी। समकालीन रचनाकारों को इतना अधिक महत्व इसके पहले कब दिया गया था? वे विवाद का विषय इतना अधिक कब बने थे? यह नामवरजी की आलोचकीय प्रतिभा का प्रमाण है और उन्हें हिंदी समाज ने उचित ही इतना भरपूर सम्मानित किया है। वे- उनका साहित्य और व्यक्तित्व दोनों विवादास्पदता से परे नहीं है। यह विवादास्पदता उनकी ख्याति में कुछ न कुछ जोड़ती ही है, घटाती नहीं।

उनका अध्यापक रूप विख्यात एवं विदित है। मुझे भी उनकी कक्षा में बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। डॉ. रामलाल त्रिपाठी, केदारनाथ सिंह, रवींद्रनाथ श्रीवास्तव आदि के साथ। इस पर कभी अलग से बात होनी चाहिए क्योंकि वह शुरू हो जाएगी तो खत्म नहीं होगी। इतना जरूर कह देना चाहिए कि उस समय काशी विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, श्री पद्मनारायण आचार्य, श्री विजयशंकर मल्ल, पं. करुणापति त्रिपाठी जैसे दिग्गज अध्यापक थे। उनके बीच किसी नए अध्यापक का नामवर सिंह जैसा अध्यापकीय यश प्राप्त करना दुस्साध्य था।

नामवरजी का एक और रूप। जिन लोगों को उनका यह रूप देखने का सौभाग्य मिला है, बैठकी में गप्प लगाने वाला है। वह उनके व्यक्तित्व का सर्वाधिक विलक्षण और मोहक रूप है। जिन लोगों ने ऐसी बैठकों में हिस्सा लिया है वे उनके इसी रूप से सबसे ज्यादा प्रभावित हुए हैं। इन बैठकों में शामिल होने वालों की संख्या बहुत बड़ी है, हर नगर, कस्बे में ऐसे लोग हैं और शायद ही कोई ऐसा हो जो लेखक, कवि, कहानीकार, आलोचक या कुछ ऐसा ही न बन गया हो। नामवरजी का यही रूप है जिसे एक सचल आलोचक कहना चाहिए। हिंदी की अनेक किताबें, लेख, गोष्ठियां, विवाद इन्हीं बैठकों में प्रस्तावित और आयोजित हुई हैं। यहीं पर चाय, काफी, पान (तद्भव पान ज्यादा, तत्सम पान कम- तत्सम पान बनारसी प्रवृत्ति नहीं, वहां अधिक से अधिक विजया। तत्सम पान दिल्ली में आने के बाद की आजमाइश है, फरमाइश है।) बनारस में नामवरजी जो पढ़ते थे, और वे अद्वितीय पढ़ाकू हैं, उनमे ंसे कई चीजें पढ़कर सुनाते थे। लोकार्क कुंड में किराए का वो घर था उसकी सबसे ऊपर की मंजिल पर छोटे से कमरे में नामवरजी ने अगरबत्ती जलाकर हमको और केदारनाथ सिंह को- पता नहीं कितनी रचनाएं पढ़कर सुनाई-समझाई होंगी। केदारनाथ सिंह उनके मित्र थे- छात्र तो संयोग से हो गए थे। छात्र 'मैं' ही था। और नामवरजी का बड़प्पन कि धीरे-धीरे मैं छात्र के साथ-साथ उनका मित्रवत् भी हो गया। उनकी आत्मीयता का सौभाग्य मिला। मुझे काशी में आचार्य द्विवेदी, डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र और डॉ. नामवर सिंह जैसे गुरु मिले। केदारनाथ सिंह जैसा सहपाठी, सहचर और शुभचिंतक मिला।

मैं भी नामवरजी की सोहबत में आकर लिखने लगा। पहली बार नामवरजी से मिलने उनके घर लोलार्क कुंड गया तो मुझे 3 घंटे इंतजार करना पड़ा। नामवरजी ने ही समय दिया था। लेकिन वे शिवप्रसाद सिंहजी से मिलने उनके कमरे (गुर्टू हॉस्टेल) चले गए। शिवप्रसादजी के पुत्र की मृत्यु हो गई थी। काशीनाथ सिंह मिले। वे भी लगातार मुझे समझाते रहे। काशीनाथ संबंध निर्वाह करने और सहनशीलता में लासानी हैं। मेरे विचार से नामवरजी का अनुज होने से उनको लाभ कम नुकसान ज्यादा हुआ है। मेरा बहुत ख्याल रखते हैं। खैर नामवरजी मिले तो बोले जैसे यमराज ने नचिकेता को तीन वचन दिए थे वैसे ही मैं आपका ध्यान रखूंगा। और नामवरजी ने उसका पालन किया है।

मैंने देखा वे अपनी पत्नी का बहुत ध्यान रखते हैं। देवता कहते थे वे भाभीजी को। भाभीजी

स्वाभिमानिनी थीं। सांवली, सलोनी, मृदु भाषिणी थीं। लेकिन दबकर रहने वाली नहीं थीं। नामवरजी ने मेरी बहुत सहायता की। कई प्रकार से। आर्थिक सहायता की। मेरे खाने-पीने का भी ध्यान रखते थे। मेरी कविताओं के बारे में अच्छी बात कहकर। 'आलोचना' में छापकर मुझे आलोचक (?) बना दिया। गोष्ठियों में ले जाकर वक्ता भी। मैं बोल नहीं पाता था। लेकिन करत-करत अभ्यास से काम चलाऊ वक्ता भी हो गया। कागज के दोनों ओर लिखता था। हाशिया नहीं छोड़ता था। नामवरजी ने कहा- कागज के एक ही ओर लिखा कीजिए। और हाशिए छोड़कर लिखिए। ठीक करने और छापने में ठीक रहता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का इंटरव्यू लेने को कहा। मैंने इंटरव्यू लिया। उसे नहीं छापा। एक रिव्यू लिखने को कहा। मैंने रिव्यू लिखी, नहीं छापा। मुझसे कहा- आप कभी न अच्छी रिव्यू लिख पाएंगे, न इंटरव्यू ले पाएंगे। रिव्यू छोटी दौड़ होती है, आप मैराथन दौड़ते हैं। इंटरव्यू में आप औपचारिक बने रहते हैं।

जो इंटरव्यू आचार्य द्विवेदी का मैं नहीं ले पाया वह मनोहर श्याम जोशी ने लिया जो आचार्य द्विवेदी से लिया गया सर्वोत्तम इंटरव्यू है। नामवरजी ने मुझसे कहा है- बाबू विश्नाथ परशादजी, (बैठकी में वे मुझे इसी नाम से संबोधित करते हैं।) जब संपादक के रूप में कभी मुझे देखा जाए तो यह ध्यान न रखा जाए कि मैंने किसको छापा। इस बात का ध्यान रखा जाए कि मैंने किसको नहीं छापा।

नामवरजी से मैंने क्या सीखा? जो सीखा वह बहुत कुछ है। सिर्फ लिखाई-पढ़ाई में नहीं। छोटी-छोटी बातें भी। सामान्य जीवन-आचरण की। उनमें से कुछ यहां दर्ज करता हूं।

खाना जल्दी-जल्दी नहीं खाना चाहिए। जल्दी-जल्दी खाने से गैस बनती है। खाने में दाल जरूर होनी चाहिए। सत्तू भी खाइए तो ऐसा मजा लेकर खाइए मानो हलवा खा रहे हैं।

विरोध करने वाले से बात करना बंद मत कीजिए। संबंध बनाए रखिए। पता नहीं कब क्या काम पड़ जाए। और बड़ी बात यह कि बात करते रहेंगे तो झगड़ा होगा ही न। बात बंद करने पर मारपीट हो सकती है।

पान खाने पर तंबाकू लग जाए या सुपारी लग जाए तो चार-पांच इलाइची मुंह में झोंक लीजिए। पान खानेवाले को इलाइची जेब में जरूर रखनी चाहिए।

सूखा कत्था (भिगोया हुआ, लेकिन पानी डालकर तैयार न किया हुआ) लगाकर पान मत खाइए। बहुत तेज लगता है। एक बार नामवरजी को यह झेलते हुए मैंने देखा है।

कहीं किसी प्रिय व्यक्ति से मिलने जाना हो तो नाक के बाल काटकर जाइए। नाक के बाहर बाल न निकले हों। इसमें सावधानी न बरतने से आदमी आदमी न होकर 'नकबाल' हो जाता है।

अपने लिखे हुए की चर्चा स्वयं करेंगे तो दूसरे आपकी चर्चा नहीं करेंगे।

भाषण देना हो या कक्षा में पढ़ाना- पहले से तैयार होकर जाइए। पहला वाक्य क्या बोलना है, इसे तय करके जाइए।

जब कुछ बोलने को न हो तब गोष्ठी में मत बोलिए।

अग्निभक्षी वक्ता प्रायः अवसरवादी होते हैं।

कमजोरी लगने पर, चक्कर आने पर या सांस फूलने पर धीरे-धीरे चलिए। सीढ़ी पर चढ़ते समय

एक-एक कदम रखिए यानी एक कदम के साथ दूसरा कदम भी उसी सीढ़ी पर रखिए।

नामवरजी को इस समय चलते हुए देखने पर इसकी शिक्षा मिल जाएगी।

धोने के बाद कुर्ता या धोती पर नील ज्यादा नहीं लगनी चाहिए।

आचार्य शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास', आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'हिंदी साहित्य की भूमिका', राहुलजी की 'हिंदी काव्यधारा' सदा अपने पास रखनी चाहिए, किसी को उधार नहीं देनी चाहिए।

भाषा रामचंद्र शुक्ल और रामविलास शर्मा से सीखनी चाहिए।

कविता करते समय निराला की काव्यभाषा और गद्य लिखते समय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की जैसी भाषा लिखने का प्रयास नहीं करना चाहिए।

अच्छी हिंदी लिखने के लिए उर्दू गद्य पढ़ना चाहिए। (जाहिर है हिंदी अनुवाद में)

अच्छी किताब पढ़ते समय भाषा सीखने का तरीका यह है कि उसमें जो शब्द या शब्द प्रयोग अच्छे लगें उनका प्रयोग अपनी भाषा में करना चाहिए। नामवरजी इसका उदाहरण देते थे- जैसे पं. केशवप्रसाद मिश्र के शब्द 'आचार्य आराधक' या 'समुदय'।

और बहुत सी बातें हैं। यह सूची बहुत बड़ी है। नामवरजी 90 के हो चुके। वे 91वें में प्रवेश कर रहे हैं। शतायु तो वे होंगे ही। उनका सम्मान करना स्वयं सम्मानित होना है। नामवरजी को कभी कुछ ऐसा नहीं मिला जिसके वे योग्य न हों। ऐसा बहुत कुछ नहीं मिला जिसके योग्य वे हैं। उनका स्मरण करने से ही ऊर्जा, ऊष्मा, प्रेरणा मिलती है।

●

आलोकदर्शी चिंतक नामवरजी

गिरीश्वर मिश्र

साहित्य सबके ऊपर है, हो भी क्यों नहीं, मनुष्य की सिसृक्षा की श्रेष्ठतम उपलब्धि जो ठहरा। साहित्य स्वभाव से ही योजक है, सबको जोड़ता चलता है। उसके लिए कोई अछूत या निषिद्ध नहीं है। यह तथ्य जाति, वर्ग, धर्म, पार्टी और क्षेत्र की सीमाओं को तोड़ती नामवरजी की आशंसा करने वालों की लंबी सूची से सहज ही अनुमेय है। नामवरजी ने ठीक ही कहा है 'बड़ा साहित्य विचारधारा के बावजूद बड़ा होता है। इसका मतलब है कि साहित्य को बड़ा बनाने के लिए विचारधारा जरूरी नहीं है' ।... साहित्यकार की गहराई इस बात में है कि वह भ्रमों को हटाकर वास्तविकता का सही रूप उद्घाटित करता है ।.. गहराई आती है वास्तविकता के भीतर प्रवेश करने से। नामवरजी मानते हैं कि वर्त्तमान की परीक्षा और भविष्य की कल्पना के साथ साहित्यकार में अतीत की महान साहित्यिक परंपरा का जीवित बोध और स्वायात्तीकरण भी होना चाहिए'। नामवरजी देश काल में अवस्थित रचना और रचनाकार से रूबरू होते हैं न कि किसी अमूर्त सत्ता से जुड़ते हैं। वे मानते हैं कि लेखक की ऐतिहासिक सीमा होती है। अतः 'इतिहास के तथ्यों को विकृत न करते हुए ही साहित्य को समझना चाहिए'।

एक रचनाकार और साहित्य शिक्षक के लिए यह बड़े परितोष की बात है कि लोग उसे पढ़ें-समझें। आलोचक की लोकप्रियता दुर्लभ होती है। इस अर्थ में नामवरजी यशस्वी हैं। मेरे मन में नामवरजी की घर और साहित्य जगत के अनेक आयोजनों की स्मृति है। उनसे हमारे घनिष्ट पारिवारिक संबंध हैं और उनके आयुष्मान विजय मेरे समकालीन ही शिक्षा प्राप्त कर रहे थे और रूस में अध्ययन के लिए प्रस्थान करने पहले तक परिवार के सदस्यवत ही रहे। नामवरजी बड़े ही प्यार और सम्मान की दृष्टि से हमारे पूरे परिवार को आप्यायित करते रहे हैं। पर उनके लेखन और वक्तृता ने उन्हें गुरुस्थानीय बनाया और मन में उन्हें लेकर श्रद्धा का भाव ही प्रमुख है। पिछले दो वर्षों में वर्धा में मेरी नई भूमिका से उनके साथ एक और सम्बन्ध जुड़ गया। मेरे वर्धा पहुंचने के पूर्व वे वर्षों अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति (चांसलर) रहे। उनकी स्निग्ध छाया में अनेक साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियां विश्वविद्यालय में परवान चढ़ीं और हिंदी के विद्वानों को जुटाया गया ताकि हिंदी की दूसरी परंपरा बने। स्पष्ट ही यह दूर भविष्य की कल्पना है। हम सब चाहेंगे कि यह फलीभूत हो पर इसके लिए दक्षता और कर्मठ संलग्नता की आवश्यकता होगी जो अब विरल सी होती जा रही है।

मन में आदरणीय नामवरजी की अनेक छवियां है जिन सबका वर्णन करने का न अवकाश है

न अवसर। उनकी प्रसिद्धि ऐसे आलोचक के रूप में है जिसने अपनी बड़ी पैनी दृष्टि से हिन्दी के रचना-संसार की समझ को या कहें समझने की दृष्टि को बदला है। ऐसा करते हुए उन्होंने आलोचना-कर्म का एक नया व्याकरण लिखा है, उसके औजार और सरोकार बदले हैं। इसका व्यापक असर भी हुआ। वे आधी सदी से अधिक समय से हिन्दी जगत के साथ अपनी दृष्टि को साझा करते आ रहे हैं, तमाम क्लेशों और खतरों के बावजूद। इस विस्फोटक सी साहित्य यात्रा की राह सीधी न थी। इसमें खूब गहमा-गहमी रही है। यह सब स्वाभाविक भी था क्योंकि जो स्थापित है उस पर आघात पहुंचना नागवार लगता है और असुविधाजनक भी होता है। फलतः उसका प्रतिरोध होता है। न चाहने पर भी मूल्यांकन पीड़ाजनक हो जाता है।

आलोचक कह देना नामवरजी का आधा-अधूरा परिचय ही होगा। उन्होंने कविताएं भी की हैं, उत्तम कोटि के निबंध भी लिखे हैं। मेरी समझ से नामवरजी ने सहृदय के रूप में विभिन्न ज्ञान परंपराओं को पचाया है और उस परिपाक में अपने चिंतन को व्यवस्थित रूप से परिष्कृत किया है। यह शास्त्र का अवगाहन और अपने सामाजिक संदर्भ एवं इतिहास के साथ चलने का आग्रह ही है कि वे अभी भी अपने विचारों, स्थापनाओं को मांजते रहते हैं, अपनी मान्यवताओं पर पुनर्विचार कर उन्हें सुधारने, उनसे आगे जाने, नए दृष्टिकोण से देखने की आदत बनी हुई है।

सुधी पाठक और विज्ञ विचारक राष्ट्र, राष्ट्रीयता, इतिहास, और फासीवाद की व्याख्या और प्रयोग से जुड़े नामवरजी के सुदीर्घ काल में फैले व्यापक लेखन में विसंगति, अंतर्विरोध और चीजों को अपने साम्यवादी ढंग से 'एप्रोप्रियेट' करने की प्रवृत्ति का उल्लेख करते हैं। हिंदी के प्रमुख आलोचकों जैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ. रामविलास शर्मा को लेकर या मुक्तिबोध और अज्ञेय को लेकर या छायावाद को ले कर नामवरजी के विचारों और व्याख्याओं ने हिंदी की बहस को निश्चित रूप से उद्दीप्त किया है और विचार के कई नए आयाम खोले हैं। पर वे यह भूल जाते हैं कि यह आलोचक स्वयं भी इतिहास का भाग होता है। वह निर्जीव या जड़ न हो कर जीवंत, विकासमान और प्रवाहमय दृष्टि का पोषक है। साथ ही वह निरा आलोचक भी नहीं है। वह प्रगतिशील लेखक संघ, जनवादी विचार और साम्यवादी दृष्टि के साथ प्रतिबद्ध है। आंख खोल कर प्रतिबद्ध। उसकी आलोचना सर्जनात्मक होती है जिसमें कल्पना, यथार्थ और वैचारिक-भावात्मक रुझान के अंशों को अलग करना मुश्किल है। गुरुदेव आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी में नामवरजी ने आलोचकीय चेतना और सांस्कृतिक संवेदना की जो नई धारा की खोज की वह हिंदी गद्य का सर्जनात्मक प्रतिभा का चमत्कार सरीखा है। देश और काल के अतिविस्तृत प्रांगण से उपयोगी सूत्रों का चयन कर उनके बीच अन्विति स्थापित कर सुग्राह्य ढंग से उपस्थित करना धैर्य और धारणा शक्ति का प्रतिमान प्रस्तुत करता है। आज के युग में दुर्लभ हो रही ज्ञानैषणा की इस दुर्दमनीय प्रतिमूर्ति के प्रति मैं सादर प्रणति निवेदित करता हूं।

आलोचना सामान्यतः बड़ा शुष्क और नीरस विषय है। पर इतिहास और वर्तमान का संदर्भ दे कर नामवरजी उसे समाज से जोड़ कर अद्भुत प्रस्तुति देते हैं। उन्होंने आलोचना का शिल्प बदला है। लिखित से क्रमशः वाचिक होते हुए वह स्मृति और श्रुति की परम्परा में पहुंचे हैं। विगत वर्षों में प्रकाशित उनके आख्यानपरक आलोचनोद्दिष्ट प्रवचन और संवाद सर्जनात्मक साहित्य का आनंद देते हैं। इस माने में वे गुरुवर हजारीप्रसाद द्विवेदी की शैली अपनाते दिखते हैं। इस क्रम में नामवरजी

से जो विपुल आलोचना-भण्डार हिंदी को मिला है वह अमूल्य धरोहर है। मुक्त साहचर्य का आश्रय ले कर नामवरजी अपनी चर्चाओं में निजी जीवन, साहित्यकारों के साथ के अनुभव, विदेशी और देशी विचारकों के योगदान और समकालीन प्रश्नों को इतने ब्योरेवार और सटीक ढंग से उपस्थापित करते हुए अपनी स्थापनाओं की प्रस्तुति प्रभावशाली विकल्प के रूप में करते हैं। चूंकि यह सब वे बड़े ही स्वाभाविक ढंग से करते हैं, उन्हें सुनना बड़ा अच्छा लगता है और लोग उन्हें सुनने को आतुर रहते हैं। जैसे भी बन पड़े वह नयापन लाकर प्रस्तुति को रमणीय और सुग्राह्य बना देते हैं। नामवरजी ने सामाजिक सरोकारों पर भी ध्यान दिया है। सेकुलरिजम, सांप्रदायिकता, फासीवाद, भारतीय परम्परा आदि को लेकर उनके अपने विचार हैं। नामवरजी द्वारा रचित आलोचना साहित्य को काल क्रम से रख कर देखने पर हिंदी आलोचना की विभिन्न अंतर धाराओं को समझने में बड़ी मदद मिल सकती है ।

नामवरजी वाग्मिता और वैदग्ध्य के संयोग से अद्‌भुत परफार्मेंस देते रहे हैं। वैचारिक उत्तेजना के लिए लोग उनकी ओर तृषित नजरों से देखते हैं। बहुपठित और बहुश्रुत नामवरजी के पास बात करने का नफीस सलीका है। संवाद द्वारा वे बहस में बेलौस हस्तक्षेप करते हैं। उनके शब्द लिखित होकर बोलते हैं, अर्थ-गौरव से परिपूर्ण उनका साहित्यिक कार्य संघर्षपूर्ण रहा है। उन्होंने मूर्तिभंजन का भी काम किया है पर उनके लिए विचार अधिक महत्वपूर्ण हैं और व्यक्ति कम।

नामवरजी ने आलोचना के मिथक को तोड़ा है। खास तौर पर आज के जमाने में जब इतने तरह के वाद, विमर्श और केंद्र बन रहे हैं नामवरजी अपने ढंग से पूरब और पच्छिम दोनों तरह के विचारों का उपयोग कर कुछ नया कहने का लगातार यत्न करते रहे हैं। उनसे असहमत तो हुआ जा सकता है पर उन्हें छोड़ा नही जा सकता। उन्हें इग्नोर करना असंभव है। उनके बिना हिंदी आलोचना की कथा अधूरी ही रहेगी। उनमें पांडित्य और देहाती दृष्टि दोनों का एक दुर्लभ संयोग मिलता है। अपनी अनूठी व्युत्पत्ति शैली जिसमें तथ्य, प्रमाण और संगति इतनी सहजता से बिठाई जाती है कि श्रोता वर्ग मुग्ध हो जाता है। अध्यवसाय, निरतर अद्यतन बने रहने की इच्छा, पढ़ने का व्यसन, सामाजिक सरोकारों से निरंतर जुड़े रहने की चेष्टा उनकी-सी आदतें हैं जिन्होंने उन्हें हिंदी चिंतन के लिए अपरिहार्य बना दिया है।

मार्क्सवादी पाठ की मान्यता और शुक्लजी और अज्ञेय के स्थान पर द्विवेदीजी और मुक्तिबोध की स्थापना को लेकर वे काफी चर्चित रहे। आलोचक रचनाकार भी होता है, पर वह निरा इतिहास का विश्लेषक होता है न भविष्य द्रष्टा। पर अपने समय से वह संवाद अवश्य करता है और दृष्टिसंपन्न करता है। प्रगतिशील लेखक संघ से सतत जुड़े रह कर और 'आलोचना' के सुदीर्घ संपादन के क्रम में नामवरजी ने हिंदी आलोचना को शब्द, तर्क और मानक हर दृष्टि से समृद्ध किया। इस पत्रिका में अनेक दृष्टियों से विचार को जगह मिलती रही है और आलोचना का जनतंत्र समृद्ध हुआ है। जनतांत्रिक संवेदना जगाने में 'आलोचना' की खास भूमिका रही है।

प्रेमचंद का हवाला देकर नामवरजी कहते हैं कि साहित्य राजनीति के आगे मशाल ले कर चलने वाली सच्चाई है। हिंदी आलोचना के लिए नामवरजी ऐसे ही आलोकदर्शी ऋषि हैं। स्वास्थ्य और सुख शांति के लिए मंगलकामना के साथ उन्हें हम सबका प्रणाम!

●

नामवर सिंह की संगत में

खगेंद्र ठाकुर

सन 1949 में किसी पत्रिका में तुलसीदास पर नामवर सिंह का एक लेख छपा था। यह उनका पहला आलोचनात्मक लेख था। तभी त्रिलोचन शास्त्री ने कहा था- हिंदी में एक आलोचक आ रहा है। आलोचक आया और हिंदी आलोचना समृद्ध हुई।

पचास-साठ के दशक में नामवर सिंह ने साहित्य में चल रहे वैचारिक संघर्ष में जम कर भाग लिया। उनकी पुस्तक 'इतिहास और आलोचना' के लेखों से इसका पता चलता है। इलाहाबाद में धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही, रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि ने 'परिमल' नाम की संस्था कायम थी, जिसका उद्देश्य था साहित्य में प्रगतिशीलता का विरोध करना। उन्होंने प्रेमचंद का जिक्र करते हुए कहा था 'प्रेमचंद में व्यापकता तो है लेकिन गहराई नहीं है। गहराई देखते थे वे जैनेंद्र में, अज्ञेय में। नामवर सिंह ने कहा- कुएं में गहराई तो होती है, कुएं की अपनी उपयोगिता भी है, लेकिन ऐसे तालाब भी होते हैं, जो कुएं से ज्यादा गहरे होते हैं और व्यापकता तो उनमें होती ही है। प्रेमचंद के कथा-साहित्य के साथ भी यही बात है। उनमें व्यापकता और गहराई दोनों हैं। अनेक स्थलों पर मनोवैज्ञानिकता भी है। रामविलास शर्मा ने इस बात की नोटिस ली कि इलाचंद्र जोशी का उपन्यास 'उन्हीं दिनों' लिखा गया, जो वैयक्तिकता पर यथार्थवाद की विजय का सबूत है।

नामवर सिंह आलोचना के लिए आलोचना नहीं लिखते, वे आलोचना लिखते हैं इस तरह कि उससे आलोचना का मानदंड बनता है। आलोचक की आलोचनात्मक क्षमता का पता वास्तव में व्यावहारिक आलोचना से चलता है। इसलिए नामवर सिंह की व्यावाहरिक आलोचना पर नजर डालनी चाहिए। नामवर सिंह मुख्यतः कविता के आलोचक माने जाते हैं, जबकि व्यावहारिक आलोचना की उनकी पहली पुस्तक है- 'पृथ्वीराज रासो की भाषा'। यों यह उनका शोध-प्रबंध है। पी-एच.डी. की उपाधि के लिए। शोध में उनके निदेशक थे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी। अच्छा शोध वह समझा जा सकता है जो सीमित दायरे वाले विषय को लेकर बिंदु विशेष पर केंद्रित करके किया जाता है। वीरगाथा काल की एक श्रेष्ठ रचना 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा पर उन्होंने काम किया, भाषा का विश्लेषण किया। यह विश्लेषण ऐसा है कि जब कोई शोधार्थी द्विवेदीजी के पास पहुंचता था, तो द्विवेदीजी पूछते थे- नामवर सिंह की तरह काम कर सकोगे? एक बार द्विवेदीजी को एक विश्वविद्यालय में नियुक्ति के लिए अन्तर्वीक्षा के लिए पेश होना पड़ा। वहां किसी सदस्य ने पूछ दिया- आपकी सबसे प्रमुख कृति कौन-सी है? द्विवेदीजी ने उत्तर दिया- डॉ. नामवर सिंह। नामवरजी भी हमेशा द्विवेदीजी को 'गुरुदेव' कह कर याद करते रहे। एम.ए. क्लास में प्रबंध का विषय उन्होंने

लिया 'हिंदी के विकास में अमभ्रंश का योग'। आगे चल कर इसे और भी समृद्ध किया गया। यह प्रबंध भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। हम यह देखते हैं कि अपभ्रंश से लेकर हिंदी के अद्यतन विकास की विभिन्न अवस्थाओं से वे साधिकार परिचित हैं।

बहुत दिनों तक नामवरजी के बारे में यह बात प्रचलित रही कि वे लिखते कम हैं, बोलते ज्यादा हैं। उन्हें हिंदी में वाचिक परंपरा का आचार्य कहा जाता रहा। नागार्जुन ने एक अवसर पर कहा कि नामवर हिंदी आलोचना के जंगम विश्वविद्यालय हैं। चलता-फिरता विश्वविद्यालय। समृद्ध ज्ञान के साथ चलते-फिरते रहे। नागार्जुन ने ही यह बात भी कही कि भारत जैसे देश में, जहां लिखित साहित्य का प्रसार कम है, वहां कोई आचार्य यदि घूम-घूम कर विचारों का प्रसार करता है, तो यह एक आवश्यकता की पूर्ति है। एक बार अशोक वाजपेयी ने कहा कि नामवरजी ने हिंदी आलोचना की ढाई पुस्तकें लिखी हैं और मैंने पांच पुस्तकें लिखी हैं, फिर भी आलोचक के रूप में मान्यता नामवर सिंह को ज्यादा है। मैं नहीं कह सकता कि अशोकजी ने ढाई कैसे कहा। दो तो ठीक है, आधी पुस्तक कौन-सी? इस पर मेरे मन में यह बात आई कि 'कहानी : नई कहानी' और 'कविता के नए प्रतिमान' ये दो ही पुस्तकें वे लिखते तब भी उनको इतनी ही मान्यता मिली होती। असल में अपने समय के साहित्य का विवेचन और मूल्यांकन इन दो पुस्तकों में नामवरजी ने कर दिया है। मैंने पटना में बिहार प्रगतिशील लेखक संघ के मंच से नामवरजी के अनेक भाषण सन 1980-85 के बीच कराए और उन्हें प्रगतिशील लेखक संघ की पत्रिका 'उत्तरशती' में छापा। बाद में उन्हीं भाषणों का एक संग्रह मेरे संपादन में 'आलोचक के मुख से' पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ। इन भाषणों को मैंने मुख्य निबंध कहा है पुस्तक की भूमिका में उनके भाषण निबंध की तरह सुगठित और तर्क संगत है। यह पुस्तक हिंदी आलोचना में चर्चित हुई। पाठकों और लेखकों ने भी महसूस किया कि नामवरजी के व्याख्यान हवा में नहीं चले गए। यों निर्मला जैन ने कहा कि आलोचक की कलम से नहीं, मुख से आलोचना निकली। यह कहा तो जा सकता है, लेकिन जाहिर है कि नामवरजी के भाषण श्रोताओं और पाठकों को आकृष्ट और प्रभावित करते रहे हैं।

आज यह पुरजोर होकर कहा जा सकता है कि नामवरजी के व्याख्यानों की प्रतीक्षा हिंदी क्षेत्र के श्रोता करते रहे। उनके व्याख्यानों ने हिंदी के नए पाठक बनाए, हिंदी प्रेमियों का विस्तार किया।

पहले मैंने बताया है कि नामवरजी आलोचना के मानदंड बनाते हैं। यह है उनकी आलोचना का महत्व। वे केवल व्याख्यान नहीं करते, साहित्य की विकास-प्रक्रिया और सामाजिक यथार्थ के संबंध की पहचान करते हैं, साथ ही परिवर्तन के कारणों की भी पहचान करते हैं। यथार्थ एक स्थिति नहीं, बल्कि गतिशीलता और परिवर्तनशीलता का प्रमाण भी है। असल में यथार्थ द्वन्द्वात्मक होता है, और द्वन्द्व से गति पैदा होती है गति से परिवर्तन। इन बातों की पहचान नामवरजी ने अपने समय के साहित्य में की है। और इतिहास में भी। रासो की भाषा और अपभ्रंश का जिक्र मैं कर चुका हूं। इस प्रसंग में उनकी एक पुस्तक 'दूसरी परंपरा की खोज' भी उल्लेखनीय है। इस पुस्तक में द्विवेदीजी के माध्यम से मध्यकाल के बारे में भी वे अपनी समझ व्यक्त करते हैं।

किसी विद्वान का, आलोचक का महत्व किताबों की संख्या गिन कर नहीं देखा-परखा जाता। पुस्तक की अंतर्वस्तु से पुस्तक और लेखक दोनों का महत्व परखना उचित होता है। यों मेरे संपादन में 'आलोचक के मुख से' पुस्तक के प्रकाशन के बाद आशीष त्रिपाठी ने नामवरजी के व्याख्यानों

और बिखरे हुए लेखों को बड़ी मेहनत से जमा करके आठ जिल्दों में प्रकाशित कराया है। इस तरह नामवरजी ने जो कुछ कहा और किया, वह सब संकलित हो गया है। सब कुछ का समान महत्व नहीं है, फिर भी काफी-कुछ महत्वपूर्ण और ध्यान देने लायक है। इस प्रकार वाचिक परंपरा की उपयोगिता सामने आ गई है। नामवरजी 'आलोचना' पत्रिका के संपादक भी रहे। उसके संपादकीय तो लिखे तो गए हैं और इस तरह लिखे गए हैं कि उनका महत्व लेख की तरह हो।

'कहानी : नई कहानी' में नामवरजी ने मूल बात यह कही है कि सब कुछ के बावजूद कहानी को कहानीपन से अलग नहीं किया जा सका। मनोवैज्ञानिक कहानीकारों ने कहानी को कहानीपन से मुक्त करने की कोशिश की थी। कहानी से कथानक को छीनने की कोशिश की गई, कथानक सूक्ष्म हो गया। उसमें पाठकीयता की उपेक्षा की गई। लेकिन यह प्रवृत्ति ज्यादा दिन चली नहीं। कविता को नए दौर के यथार्थ के प्रसंग में देखते हुए नामवरजी ने कहा कि आज भी कविता के लिए 'संवेदना' काफी नहीं है, बौद्धिकता का समावेश भी जरूरी है। वैसे मुझे लगता है कि बौद्धिकता से मुक्त कविता कभी हुई नहीं। तुलसीदास में बौद्धिकता है। सूरदास के 'सूरसागर' में भी उद्धव शतक के प्रसंग में बौद्धिकता है। असल में समय के परिवर्तन के साथ, यथार्थ में परिवर्तन के साथ संवेदना और चिंतन या बौद्धिकता में भी बदलाव आता है। देखने की बात यह है कि रचनाकार इस परिवर्तन के प्रति कैसा रुख अपनाता है, वह उसे कैसे ग्रहण करता है। दिनकर, नागार्जुन और मुक्तिबोध एक ही दौर के कवि हैं, लेकिन सब में फर्क है। दिनकर में संवेदना और चिंतन में संतुलन कायम करने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। नागार्जुन में संवेदना राजनीतिक संघर्षों का रूप ले लेती है। नागार्जुन ने लिखा है कि 'प्रतिहिंसा ही स्थाई भाव है।' मुक्तिबोध में संवेदना मध्यवर्ग के सामाजिक आधार पर आत्म संघर्ष का रूप ले लेती है। नामवरजी ने 'कविता के नए प्रतिमान' में मुक्तिबोध को नई कविता के भेद में स्थापित करने की कोशिश की है। पुस्तक के हर अध्याय का अंत मुक्तिबोध के उल्लेख के साथ होता है। यहां फिर एक बात कहूं कि नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल संवेदना का आधार मुख्यतः मेहनतकश जनता के जीवन को बनाते हैं। मुक्तिबोध मध्यवर्ग को आधार बनाते हैं। लेकिन काव्य-चेतना उनकी भी परिवर्तन की चेतना के समकक्ष हैं। हालांकि मध्यवर्ग की सीमा का शिकार तो मुक्तिबोध की कविता हो ही गई है। नामवरजी मुक्तिबोध को नए प्रतिमान का केंद्र बनाते हैं, लेकिन इस बात पर ध्यान देना चाहिए था कि छायावादोत्तर काल में नई प्रतिभाओं का बनना प्रगतिशील कविता के उद्‌भव और विकास के साथ शुरू हो गया था। नामवरजी ने कविता के प्रतिमान के विकास की इस ऐतिहासिकता पर ध्यान नहीं दिया है। ध्यान में यह बात रखनी थी कि वे 'नई कविता के प्रतिमान' नहीं लिख रहे थे, 'कविता के नए प्रतिमान' लिख रहे थे। कविता में नए प्रतिमान के उद्‌भव और विकास का दायरा बड़ा है। नई कविता का दायरा तो बहुत छोटा है।

ध्यान में रखने की बात यह भी है कि छायावादोत्तर कविता के सबसे बड़े कवि नागार्जुन हैं। मैंने अपनी पुस्तक 'नागार्जुन का कवि-कर्म' में इस बात की व्याख्या विस्तार से की है। स्वयं नामवरजी ने इस पुस्तक के बारे में कहा कि हिंदी आलोचना में नागार्जुन पर इससे बेहतर दूसरी पुस्तक नहीं है। इसी प्रसंग में कविता के नए प्रतिमान के विकास का अध्ययन किया जाना अपेक्षित है। आशीष त्रिपाठी ने नामवरजी के लेखों और वक्तव्यों को एकत्र किया है, उनके एक खंड में

नागार्जुन के बारे में महत्वपूर्ण बातें कही गई हैं। उनमें नामवरजी ने नागार्जुन को जमाने से भिड़ने वाला कवि कहा है। इस प्रक्रिया में नामवरजी स्वयं जमाने से भिड़ते हैं। इससे नागार्जुन का काव्यात्मक महत्व और नामवरजी का आलोचनात्मक महत्व जाहिर होता है। यह नागार्जुन ही है, जो रामविलास शर्मा और नामवर सिंह दोनों की आलोचनात्मक मान्यताओं में मेल का आधार पेश करते हैं। अन्यथा दोनों प्रगतिशीलता और मार्क्सवाद के बावजूद टकराते रहे हैं।

नामवरजी से मिलने का पहला अवसर मुझे 1957 में मिला। इस वर्ष दिसंबर महीने में इलाहाबाद में विराट साहित्यकार-सम्मेलन आयोजित किया गया था। अमृत राय उसके संयोजक और नामवर सिंह एवं मार्कण्डेय सह-संयोजक थे। हम कुछ लोग, यानी मैं, मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, मधुकर गंगाधर, अनुज शास्त्री, 'बेचन' आदि नागार्जुन के साथ ही वहां गए थे। यह सम्मेलन ऐसा विराट था कि प्रगतिशीलों में केवल डॉ. रामविलास शर्मा नहीं थे और प्रयोगवादियों में केवल अज्ञेय नहीं थे। उद्घाटन सत्र की अध्यक्षता महादेवीजी ने की थी और उद्घाटन आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया था। भगवतशरण उपाध्याय मुख्य वक्ता थे। एक सत्र में विचार का विषय था 'राष्ट्र-निर्माण और लेखक'। फणीश्वरनाथ रेणु ने आधार वक्तव्य लिखा था, लेकिन उन्होंने उसे पढ़ा नहीं, किसी दूसरे ने पढ़ा था। इस सत्र में विजयदेव नारायण साही और नामवरजी के भी वक्तव्य हुए थे।

सन 1962 में मैं अपने शोध के प्रसंग में बनारस गया था। नागरी प्रचारिणी सभा में ठहरा था और वहीं के पुस्तकालय में अध्ययन करता था। करीब बीस दिन मैं वहां था। नामवरजी से उनके आवास लोलार्क कुंड में जाकर मिला था। फिर तो प्रतिदिन शाम को चाय दुकान में मिलते थे, साथ चाय पीते थे और बातें करते थे। उन दिनों त्रिलोचन 'सभा' में ही काम करते थे। उनके साथ ही गोदौलिया चौक स्थित चाय दुकान तक जाता था। धूमिल से भी उसी दौर में बनारस में मिलने का मौका मिला था।

वैचारिक समानता के कारण नामवरजी से घनिष्ठता बढ़ती गई। मैं 1960 से ही मुरारका कॉलेज सुलतानगंज (भागलपुर) में अध्यापक हो गया था। सन 1965 में नामवरजी सुलतानगंज आए थे, हमारे कॉलेज में आधुनिकता पर उन्होंने भाषण दिया था। उनका भाषण बहुत जमा था। वे उन दिनों राजकमल प्रकाशन के साहित्य-सलाहकार थे और कोई नौकरी नहीं थी। राजकमल प्रकाशन ने इस यात्रा का आयोजन किया था। इसी प्रसंग में नामवरजी पटना, मुंगेर, सुलतानगंज, भागलपुर आदि जगहों में आए थे। मेरे कॉलेज में उनका भाषण सुनने कला-विज्ञान के सभी अध्यापक और छात्र भारी संख्या में मौजूद थे। इनसे पहले वहां ऐसा भाषण नहीं हुआ था। मैं 1973 के दिसंबर से 1993 के सितंबर तक बिहार प्रगतिशील लेखक संघ का महासचिव रहा। उन दिनों मैंने नामवरजी का बिहार में बहुत उपयोग किया। मैं कॉलेज छोड़ कर पटना आ गया था। पटना में प्रगतिशील लेखक संघ के बड़े-बड़े आयोजन उन दिनों हुए। प्रलेस के आयोजन और नामवरजी के भाषणों से साहित्य का जनाधार बना और फैला। लोग पूछते थे कि प्रलेस का अगला आयोजन कब होगा। मुझे ऐसा महसूस होता था कि स्वयं नामवरजी भी उन आयोजनों से बहुत प्रसन्न होते थे। इस तरह उनका उपयोग और कहीं नहीं हुआ, दिल्ली में भी नहीं।

नामवरजी वक्तृत्व के लिए विख्यात थे। जब वे बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में अध्यापक थे, क्लास में उनका व्याख्यान सुनने के लिए दूसरे वर्गों और विषय के छात्र भी जमा हो जाते थे और

दरवाजे पर खड़ा हो कर झड़ोखे पर बैठ कर शांतिपूर्वक उनका व्याख्यान सुनते थे। मुझे ऐसे एक श्रोता से मिलने का अवसर मिला, वे थे बनारस के ही श्री एस.एस. कुशवाहा, जो रांची विश्वविद्यालय के कुलपति होकर आए थे। रांची में भी मैंने कई बार नामवरजी के भाषण का आयोजन किया। एक बार प्रगतिशील लेखक संघ की ओर से 'हिंदी कवि भारतेंदु से मैथिलीशरण गुप्त तक' विषय पर और एक बार मेरे माध्यम से 'प्रभात खबर' की ओर से भाषण कराया गया, विषय था 'संस्कृति का संकट'। 'प्रभात खबर' के प्रधान संपादक हरिवंशजी ने मुझसे कहा- रविभूषणजी नामवरजी का परिचय दे देंगे, आप विषय प्रवर्तन कर दें।' मैंने मान लिया। प्रसंगवश कहूं, नामवरजी अपनी युवावस्था में विषय प्रवर्तन के लिए प्रतिष्ठान माने जाते थे। उस दिन उनके सामने मैंने विषय प्रवर्तन किया, फिर नामवरजी का व्याख्यान हुआ। जम कर बोले। सभा के बाद मैंने कहा- संस्कृति के संकट की अद्‌भुत व्याख्या आपने की। इस पर उन्होंने कहा- आपने ऐसा विषय-प्रवर्तन किया कि मैं खुद संकट में पड़ गया था। हरिवंशजी ने मुझसे कहा- नामवरजी को जब कभी आप इधर बुलाएं, तो मुझे जरूर खबर करें। 'प्रभात खबर' की ओर से भी आयोजन कर देंगे, खर्च का भी कुछ अंश हम वहन कर सकते हैं। यह आयोजन 2003 में हुआ था।

झारखंड प्रगतिशील लेखक संघ का उद्‌घाटन करने भी आए थे। सम्मेलन जमशेदपुर में हुआ था। यह भाषण तो 'वसुधा' में छपा था और आशीष त्रिपाठी के द्वारा किए गए संकलन में भी है।

बहुत बार बिहार में और बाद, झारखंड में भी उनके साथ जाने की सुअवसर मिला। रांची में ही एक बार मैं अध्यक्षता कर रहा था और नामवरजी वक्ता थे। उन्होंने मुझसे कहा- पहले आप बोल लीजिए, तो अध्यक्षीय वक्तव्य पहले हुआ और मुख्य व्याख्यान बाद में। मुजफ्फरपुर में निराला जन्मशती के आयोजन में मैं उनके साथ था। मुंगेर में आचार्य शुक्ल पर आयोजन था, वहां भी मैं उनके साथ था। दिल्ली प्रगतिशील लेखक संघ का राष्ट्रीय अधिवेशन था 1994 में। दिल्ली में होने के कारण नामवरजी स्वागताध्यक्ष थे, यह एक विलक्षण व्याख्यान था। कम्युनिस्ट पार्टी के नई केंद्रीय नेता श्रोताओं के बीच बैठे थे और वे चकित थे सुन कर। चौंकाने वाली बात यह थी कि दुनिया में उस समय जो नया चिंतन हो रहा था, उन सबका जिक्र करते हुए, उन पर समीक्षात्मक टिप्पणी करते हुए उन्होंने व्याख्यान दिया।

पटना में 1980 में प्रेमचंद पर उनके तीन व्याख्यान एक सिलसिले में हुए थे। ये भाषण मेरे द्वारा संपादित पुस्तक 'आलोचना के मुख से' पुस्तक में हैं। वे मेरे ही साथ ठहरे थे। दूसरे दिन सुबह मुजफ्फरपुर के एक तरुण आलोचक मिलने आए और कहा- डॉक्टर साहब, कल आपने प्रेमचंद पर जो बातें कहीं, उनमें कुछ मेरे विचारों से टकरा गए।' इस पर नामवरजी ने कहा- अरे हवाई जहाज और साइकिल में कहीं टक्कर हो सकती है? अब तो तरुण आलोचक का चेहरा देखने लायक था, इसलिए कि चेहरे का रंग ही उड़ा हुआ लग रहा था। मैंने उनको सम्हालने की दृष्टि से कहा- हां, यह तो सही है कि हवाई जहाज और साइकिल में टक्कर संभव नहीं है, लेकिन कभी-कभी एक चिड़िया भी हवाई जहाज को संकट में डाल देती है।

राजीव सक्सेना जब प्रलेस के राष्ट्रीय महासचिव थे, तब उन्होंने एक परिचर्चा का आयोजन दिल्ली में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के 'सिटी सेंटर' में कराया था। सांस्कृतिक नीति पर बात करनी थी। नामवरजी ने बोलते हुए कहा- पता नहीं, आजकल कम्युनिस्ट पार्टियों के पास कोई

सांस्कृतिक नीति है या नहीं।' धन्यवाद ज्ञापन करते हुए मैंने कहा- नामवरजी सांस्कृतिक नीति की अपेक्षा कम्युनिस्ट पार्टियों से क्यों करते हैं। वे पार्टी को सांस्कृतिक नीति दें। उल्लेखनीय है कि एक बार पार्टी ने हिंदी-क्षेत्र के कामरेडों के बीच सांस्कृतिक नीति पर बोलने के लिए नामवरजी को बुलाया था। तो मैंने आप मशाल लेकर आगे चलिए और सांस्कृतिक विकास का रास्ता दिखाइए।

सभा खत्म हुई, नामवरजी जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय चले गए। दूसरे दिन मैं वहां उनके विभागीय कार्यालय में गया, तो उन्होंने कहा- कल आपने बहुत अच्छा वक्तव्य दिया।' यह सुनकर मुझे संतोष हुआ, मैं तो समझ रहा था नामवरजी नाराज हुए होंगे।

एक बार डॉ. कमला प्रसाद ने मुझसे कहा- भाई, नामवरजी भोपाल या मध्यप्रदेश में कहीं और दूसरों के कार्यक्रम में आते हैं, प्रलेस के कार्यक्रम में नहीं आते हैं। जरा, उनसे कहिए कि वे यहां प्रलेस में भी आएं। मैंने नामवरजी से इस संबंध में बात की। उन्होंने कहा- अरे बिहार जैसा मजा तो वहां नहीं है, लेकिन मैं जाऊंगा, उन्हें कहिए मुझे बुलावें। फिर वे वहां भी कई कार्यक्रमों में गए। रीवा में कमला प्रसाद प्रोफेसर थे, शायद केशवपीठ पर। वहां कमला प्रसाद पर एक बार आयोजन हुआ, शायद साठवीं सालगिरह के मौके पर। वहां नामवरजी गए थे, मैं भी गया था। विश्वनाथ त्रिपाठी, अरुण कमल आदि बहुत लोग थे। नामवरजी का यह व्याख्यान भी छपा हुआ है।

स्वयं नामवरजी की पचहत्तरवीं साल गिरह पर बनारस में एक भव्य आयोजन किया गया था। यह आयोजन उस कॉलेज में हुआ था, जहां नामवरजी ने पढ़ा था। वहां दूधनाथ सिंह ने मुझसे कहा- विषय-प्रवर्तन आपको करना है और संप्रदायवाद के बारे में बोलना है। फिर उन्होंने यह भी कहा कि नामवरजी की भी इच्छा है कि आप विषय-प्रवर्तन करें। मैंने कहा शिरोधार्य। मैं बोला और दूसरे दिन 'अमर उजाला' में मेरा व्याख्यान विस्तार से छपा। आयोजन में शामिल लोगों में यह समाचार चर्चा का विषय था, लेकिन उस दिन भेंट होने पर नामवरजी ने कहा- कल आप जम कर बोले, बहुत अच्छा।' इससे मेरा मनोबल और बढ़ा। कहा जाता है कि एक विद्वान दूसरे विद्वान की तारीफ नहीं करता, लेकिन मुझे तो हिंदी के शीर्षस्थ विद्वान की तारीफ मिल रही थी। यह वास्तव में नामवरजी का बड़प्पन था। ऐसे अवसर भी आए, जब मैंने नामवरजी के सामने उनके व्याख्यान की किसी बात का खंडन किया अथवा असहमति व्यक्त की, तो इस पर भी उन्होंने कहा- खगेंद्रजी सोचते-विचारते हैं और निःसंकोच अपना चिंतन व्यक्त भी कर जाते हैं। और बहुत साफ-साफ कह जाते हैं, बिना किसी उलझन के। मैंने कहा- आपसे ही तो सीखा है। फिर उन्होंने कहा- बात इतनी सरल नहीं है। यह जो साहित्य के अलावा आप का राजनीतिक कर्म है, उसके कारण ऐसा होता है।

हरि-अनन्त, हरि-कथा अनन्ता। अतः अब यहीं समाप्त करता हूं।

●

नामवर सिंह

नंदकिशोर नवल

डॉ. नामवर सिंह का नाम मैंने पहले-पहल अपने बचपन के मित्र सिद्धिनाथ के मुंह से सुना। कई विश्वविद्यालयों का चक्कर लगाते हुए वह बी.ए. करने के लिए काशी हिंदू विश्वविद्यालय पहुंच गया था। वह पढ़ाई में मुझसे दो वर्ग आगे था, पर कभी बीमार रहने के कारण और कभी विश्वविद्यालय बदलने के कारण पटना विश्वविद्यालय के एम.ए. में वह मुझसे एक वर्ग पीछे हो गया था। यह 1956 की बात होगी। मैं ट्रेन से गांव से पटना जा रहा था। वह छुट्टियों में बनारस से अपने घर हाजीपुर आया हुआ था। मैंने उसे कार्ड डाल रखा था कि मैं अमुक ट्रेन से अमुक समय हाजीपुर पहुंचूंगा। तुम मिलने के लिए स्टेशन पर आ जाना। वह प्लेटफॉर्म पर मेरा इंतजार कर रहा था। मेरी गाड़ी आई और मैं उसे देखकर अपने डब्बे से नीचे उतर आया। जंक्शन होने के कारण हाजीपुर में गाड़ी कुछ देर रुकती है, सो उससे मेरी बातें होने लगीं।

मैंने उससे पूछा- तुम्हें हिंदी पढ़ाने वाले कौन-कौन अध्यापक हैं? उसने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ. श्रीकृष्ण लाल, डॉ. भोलाशंकर व्यास आदि का नाम लिया और अंत में फख्र के साथ बोला- और नामवर सिंह। इन अध्यापकों का नाम तो मैं सुन ही नहीं चुका था, उनका लिखा हुआ भी बहुत कुछ पढ़ रखा था, लेकिन नामवरजी का नाम मेरे लिए एकदम नया था। मैंने अनुमान लगाया कि ये कोई नए और प्रभावशाली अध्यापक होंगे। वे उनके युवा-काल के आरंभिक दिन थे, इस कारण वे समुद्र की एक उठती तरंग के समान थे। बाद में मुझे किसी ने एक दिन बतलाया कि विश्वविद्यालय के कुलपति अपने कुलसचिव के साथ विश्वविद्यालय के 'राउंड' पर निकले थे कि हिंदी विभाग के एक बड़े कक्ष में उन्होंने देखा कि वर्ग में तो छात्र भरे हुए हैं ही, वे खिड़कियों से भी लटके हैं। उन्होंने कुलसचिव से पूछा-क्या बात है? उन्होंने बतलाया कि सर, कुछ नहीं है, नामवर सिंह का वर्ग चल रहा है, संभवतः इन्हीं कुलपति ने उन्हें नियुक्त किया था। वे नामवरजी की लोकप्रियता देखकर विस्मित रह गए।

अब मैं उनके छिटपुट लेख और टिप्पणियां ढूंढ़-ढूंढ़कर पढ़ने लगा। 1959 में सीपीआई के टिकट पर चुनाव लड़ने के कारण संभवतः 1959 के बाद विश्वविद्यालय में उनकी नियुक्ति रद्द कर दी गई थी, सो अब वे साहित्य के पूर्णकालिक सेवी थे। उन दिनों विष्णुचंद्र शर्मा के संपादन में 'कवि' नाम की छोटी पत्रिका निकलती थी, जिसमें नामवरजी लेख और टिप्पणियां दोनों लिखते थे। टिप्पणियां वे कविता पर 'कविमित्र' के नाम से लिखते थे, लेकिन लेखों में उनका सही नाम होता था। 'कवि' के इर्द-गिर्द लेखकों की एक जमात इकट्ठी हो गई थी, जिसमें त्रिलोचन के अतिरिक्त

नामवरजी, केदारजी और विजयमोहनजी थे। विजयमोहनजी की कविता मैंने 'कवि' में ही पढ़ी थी, क्योंकि यह पत्रिका पटने की एक मैगजीन स्टॉल पर भी सुलभ थी। उसमें रघुवीर सहाय की वसंत से संबंधित कविता पर 'कविमित्र' के नाम से नामवरजी ने बहुत प्रशंसात्मक टिप्पणी लिखी थी, जिसकी भाषा प्रचलित आलोचना की भाषा से बिलकुल भिन्न थी।

'कवि' एक फर्मे की पत्रिका थी। उसका समापन-अंक विशेषांक के रूप में दो फर्मों का निकला था। उसमें नामवरजी ने नई कविता में 'क्षण' पर जो जोर दिया जा रहा था, उस पर लिखा था, जिसमें कई नई बातें थीं। सिद्धिनाथ उस जमात के संबंध में मुझे ढेर सारी बातें बतलाया करता था। उसने एक बार मुझसे कहा कि हिंदी में एक प्रकार के विद्वानों की कमी होती जा रही है। मैंने पूछा-किस प्रकार के विद्वानों की? उसने उत्तर दिया बहुश्रुत विद्वानों की। वह विद्वान् भले न हो, लेकिन बहुश्रुत अवश्य है। उसका मैं बहुत ऋणी हूं कि उसने मुझे निराला से लेकर अज्ञेय तक की कविताओं से परिचित कराया। निराला का भक्त तो वह स्कूल के दिनों में ही हो गया था, पर अज्ञेय की कविताओं से उसका परिचय बनारस में हुआ। उसने वहां से मुझे एक पत्र लिखा, जिसमें उसने अज्ञेय की कुछ कविताएं पढ़ी थीं और उनके शीर्षक लिखते हुए मुझे कहा था कि इन कविताओं को फिर पढ़ो।

1958 के उतरार्द्ध में मैं तृतीय वर्ष में आ गया और ऑनर्स के रूप में हिंदी ली, जिसमें छः पत्र हुआ करते थे। अंतिम पत्र विशेष पत्र होता था, जिसमें दो विषयों में से कोई एक विषय लेना पड़ता था। वे दोनों विषय थे प्रेमचंद और छायावाद। कविता में विशेष रुचि होने के कारण मैंने अपने लिए 'छायावाद' को चुना। उस समय 'छायावाद' एक बहुत उलझा हुआ विषय था। आचार्य रामचंद्र वाजपेयी हों, या डॉ. नगेंद्र, सबों के मत 'छायावाद' पर अलग-अलग थे। उनसे छोटे विद्वानों की तो चर्चा ही बेकार है, क्योंकि उन्होंने भी परिदृश्य को धुंधला बना रखा था।

मुझे मिंटो होस्टल का कमरा नं. अठाईस अच्छी तरह याद है। 'छायावाद' को लेकर मैं बहुत परेशान था। इसी बीच मुझे सूचना मिली कि नामवरजी की 'छायावाद' नाम से एक पुस्तक आई है। उस समय पटने में साहित्यिक पुस्तकों की सबसे अच्छी दुकान थी 'दिल्ली पुस्तक सदन' जो गोविंद मित्रा रोड में स्थित थी। मैं वहां 'छायावाद' पुस्तक खोजते हुए पहुंचा। वहां हिमांशु श्रीवास्तव अंदर के रेक पर पुस्तक ढूंढ़ रहे थे। संयोग से मुझे 'छायावाद' नामक पुस्तक मिल गई। विक्रेता ने कहा नामवर सिंह बहुत लोकप्रिय हो रहे हैं। उससे मुझे लगा कि उक्त पुस्तक की वह काफी प्रतियां बेच चुका था। हिमांशुजी ने उससे कहा यह स्वाभाविक है, क्योंकि वे बहुत 'क्लियरकट कंसेप्शन' देते हैं। मैं वह पुस्तक लेकर होस्टल आया और दो-तीन दिनों में उसे पूरा पढ़ गया। 'छायावाद' को लेकर सारी धुंध छंट गई और वह अपने सुस्पष्ट रूप में मेरे सामने आकर खड़ा हो गया।

बहुत बाद में नामवरजी ने एक साक्षात्कार में कहा कि वह पुस्तक कॉडवेल के असर में लिखी गई है। मुझे वह असर सिर्फ उसके आखिरी लेख में दिखाई पड़ा। स्वयं कॉडवेल ने अंग्रेजी के सभी रोमांटिक कवियों पर लिखा है, पर वह पूरा नकारात्मक है। इसके बरअक्स 'छायावाद' को व्यक्तिवाद की नहीं, व्यक्ति-स्वातंत्र्य की कविता मानते हुए नामवरजी ने सभी छायावादी कवियों की विशेषताओं को उजागर किया था। कहने की आवश्यकता नहीं कि उसी पुस्तक से नोट्स लेकर मैंने परीक्षा की दृष्टि से छायावाद की तैयारी की। 'छायावाद' पुस्तक में प्रायः लेखों के शीर्षक ही कवियों की काव्य-पंक्तियों से नहीं दिए गए थे, उसमें अनेक आकर्षक और नई बातें भी थीं। शैली तो उसकी

इतनी सरल और आत्मीयतापूर्ण थी कि जो भी छात्र उस पुस्तक को पढ़ता था, नामवरजी का मुरीद हो जाता था। हमने महसूस किया कि हमारे बीच एक विलक्षण आलोचक का आविर्भाव हुआ है। इस कारण युवा वर्ग को उन पर गर्व होना स्वाभाविक था। यही गर्व सिद्धिनाथ के उनका नाम लेते समय उसमें प्रकट हुआ था। उनका युवापन, पहनावे-ओढ़ावे में नहीं, बल्कि उनकी सोच और आलोचकीय अंतर्दृष्टि में दिखलाई पड़ता था। वे ग्राम्यजीवन की ऊर्जा और मेधा लेकर हिंदी आलोचना में आए थे, जो पहले कभी नहीं दिखलाई पड़ा था। संभव है, कुछ पाठकों को 'ग्राम्यजीवन की ऊर्जा और मेधा' पर संदेह हो। उनसे मैं निवेदन कर दूं कि हाल में ही एक विदेशी समाज-विज्ञानी ने कहा है कि गांवों के नष्ट होने का परिणाम यह होगा कि 'जीनियस' का पैदा होना बंद हो जाएगा।

नामवरजी का प्रथम दर्शन मुझे 1965 में गया के पूर्वांचल लेखक सम्मेलन में हुआ था, जिसका जिक्र मैं कर चुका हूं। उनके लेखन से उनका जो चित्र बनता था, वह सूट-बूट और टाई वाले लेखक का था, पर उन्हें देखकर तो लगा कि वे ठेठ गांव के आदमी हैं। पहले दिन ही सम्मेलन का उद्घाटन श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' की अध्यक्षता में संपन्न हुआ। नामवरजी बनारस से आए थे, तौ मैले धोती-कुर्ते में और बढ़ी हुई दाढ़ी लेकर, लेकिन आने के बाद दाढ़ी बनाकर और स्नानोपरांत धुला हुआ धोती-कुर्ता पहनकर वे अपनी पूरी धज में आ गए थे, यानी अब उनके व्यक्तित्व की चमक प्रकट होने लगी थी। वे अंत में बोले और अंतिम वाक्य में एक ऐसा 'स्ट्रोक' दिया कि उनका संपूर्ण व्यक्तित्व शतदल कमल की तरह प्रस्फुटित हो गया। दूसरे दिन की गोष्ठी में उन्होंने बैठकर ही व्याख्यान दिया, जिसे सुनकर अंत में एक कॉमरेड ने उठकर कहा कि काश, इस देश की वामपंथी राजनीति को भी मार्क्सवाद का ऐसा व्याख्याता मिलता! इससे बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है कि वे रूढ़ मार्क्सवादी नहीं थे।

लेनिन ने कहा था कि जनतंत्र समाजवाद का सर्वोत्तम रूप है, लेकिन कितने कॉमरेड हैं, जो इस बात को मानते हैं? पार्टी में 'जनतांत्रिक केंद्रीयता' की बात की जाती है, पर अंदर जाकर आप देखेंगे कि उसमें केंद्रीयता है, पर जनतांत्रिकता नहीं। वहां जनतंत्र केवल नारे लगाने और सत्ताधरी पार्टी को सत्ताच्युत करने का साधन है, वर्ना सब कुछ पार्टी केंद्र द्वारा सुनियोजित होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि नामवरजी मार्क्सवादी होते हुए भी जनतंत्र या लोकतंत्रवादी रहे हैं, आलोचना में लोकधर्मी। जब उन्हें कहीं उलझन मालूम पड़ी है, वे लोक की कसौटी पर उसे सुलझाते रहे हैं। पुनः लेनिन का यह कथन स्मरणीय है कि जब कभी आपको वैचारिक उलझन महसूस हो, आप जनता के पास जाएं, आपके विचार सुलझ जाएंगे। अपने देश की कम्युनिष्ट पार्टियां जनता की पूजा करते हुए भी उसे ढोर-गंवार मानती है।

डॉ. रामविलास शर्मा की आलोचना जहां रूढ़ मार्क्सवाद के सांचे में ढली हुई है, वहां नामवरजी के वह एक 'सहयोगी प्रयास' है। एक विदेशी विद्वान ने कहा था कि जिस आलोचना से यह ध्वनि निकलती है कि 'मुझसे असहमत होने का साहस मत करो, वह बहुत खराब आलोचना होती है। डॉ. शर्मा की आलोचना से यही ध्वनि निकलती है, जबकि नामवरजी की आलोचना अपनी चिंतन-प्रक्रिया में सम्मिलित होने के लिए जैसे हमें आमंत्रण देती है। हम गौर करेंगे, तो पाएंगे कि उनकी आलोचना में शुरू से ही एक खुलापन रहा है, जो रुढ़ मार्क्सवादियों को रास नहीं आता। मैं उनकी आलोचना को पूरा पढ़ने के बाद इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि मार्क्सवाद के शिकंजे को ढीला

करने का प्रयास उनमें शुरू से ही दिखलाई पड़ता है। पहले वे प्रयोगवाद और अज्ञेय के ऐसे आलोचक थे, जो अपने को बदलने के लिए कतई तैयार नहीं था, पर धीरे-धीरे उन्होंने अपने को बदला। जैसे कोई सच्चा रचनाकार अपना विकास करता है, वैसे ही सच्चा आलोचक भी। डॉ. शर्मा में हमें यह बात देखने को नहीं मिलती। उन्होंने एक बाद ज्दानोव का निर्देश मान लिया, तो मान लिया। अपनी पुस्तकों के नए संस्करणों में अपनी पहले कही गई कुछ बातें उन्होंने हटा दी हैं, लेकिन भूलकर भी उनको अपनी भूल नहीं माना हैं नामवरजी के शब्दों में यह सबूत मिटाने का प्रयास तो नहीं है?

रूढ़ मार्क्सवाद में विचारधारा का बहुत जोर है। आलोचना में इसकी अभिव्यक्ति किस रूप में होती है, इसका सबसे अच्छा उदाहरण मुक्तिबोध की पुस्तक 'कामायनी : एक पुनर्विचार' है। ऐसी स्थिति में क्या ताज्जुब यदि कुछ वर्ष पूर्व नामवरजी ने यह कहा कि 'विचारधारा हमें अमानवीकृत करती है।' हिंदी के प्रगतिशीलों और जनवादियों ने इस पर बहुत शोर बरपा किया, पर प्रबुद्ध जनों का हृदय इस सत्य से, जो उनका कमाया हुआ सत्य भी था, हरा हो गया। ऐसे ही उन्होंने एक गोष्ठी में यह भी कहा कि शुक्र है, इस देश में कम्युनिस्टों का शासन नहीं है, वर्ना हम सभी यानी उनसे असहमति रखनेवाले लोग, जेलों में बंद होते। इस पर भी बहुत बवाल मचा था, पर जो सत्य है, वह सत्य है। सोवियत संघ में मार्क्सवाद से जरा-सा हटकर सोचने वाले लेखकों और कवियों की क्या दशा हुई है, अब यह बात दुनिया से छिपी नहीं है। जनतंत्र के जरा-सा स्पर्श से ताश के पत्तों के महल की तरह सोवियत संघ के साथ-साथ पूर्वी यूरोप के सारे कथित समाजवादी देश भहराकर गिर पड़े। मैंने यह दृश्य देखकर कहा था कि जनतंत्र का क्रांतिकारी सार-तत्व अभी शेष है। रोना तो इस बात का है कि जो पार्टियां रात-दिन जनतंत्र की दुहाई देती हैं, वे भी सत्ता में आते ही पहला काम करती है 'जनतंत्र' शब्द में से 'जन' को निकाल देना और 'तंत्र' को मजबूत करने के लिए पूंजीवाद-साम्राज्यवाद का साहाय्य स्वीकार्य करना, उदाहरणार्थ चीन।

सोवियत संघ में महान् उपन्यासकार दोस्तोव्स्की का साहित्य शुरू में प्रतिबंधित था और लाल चीन में शेक्सपियर का, जिसे मार्क्स रोज पढ़ते थे। डॉ. शर्मा हमारे बीच नहीं रहे, पर अंत-अंत तक यही मानते रहे कि समाजवादी देशों के धराशायी होने का कारण सीआईए की कारगुजारियां हैं। उनसे असहमत होने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है, क्योंकि मैं इस विश्व-जनमत से सहमत हूं कि पूर्वी यूरोप और सोवियत संघ में सत्ता-परिवर्तन के लिए जैसी रक्तहीन क्रांति हुई, वैसी दुनिया में शायद कहीं नहीं हुई। बहरहाल, आशा है, इस विषयांतर के लिए आप मुझे क्षमा करेंगे।

नलिनजी ने अपने अध्यापन के क्रम में मुझे साहित्य के गंभीर प्रश्नों से परिचित करा दिया था। अब मैं नामवरजी के संपर्क में आया, जिन्होंने मुझे प्रोत्साहन और दिशा निर्देश ही नहीं दिया, बल्कि जैसे कोई व्यक्ति किसी पौधे की सुरक्षा के लिए धूप, पानी और हवा के साथ दूसरी चीजें मुहैय्या कराता है, उन्होंने मुझे अपना स्नेहपूर्ण संरक्षण प्रदान किया। थोड़े दिनों बाद ही उन्होंने 'आलोचना' में मेरी बाल-कृति 'हिंदी आलोचना का विकास', जो डॉ. शर्मा के संकीर्णतावादी साहित्य-सिद्धांतों के प्रभाव में लिखा गया था, धारावाहिक रूप में छापकर मेरे लिए हिंदी साहित्य का द्वार ही खोल दिया। यह सब कुछ मेरे नाम लिखे गए उनके पत्रों में दर्ज है, जिसे यथास्थान संक्षेप में उद्धृत करना जरूरी है।

सातवें दशक के प्रायः अंत में, राजकमल की मृत्यु के बाद, हमलोगों ने 'ध्वजभंग' नाम से एक

लघुपत्रिका निकाली थी। दरअसल उसकी योजना राजकमल के साथ ही बनी थी। उनके डेरे पर मेरे साथ डॉ. नागेश्वर लाल भी थे। पत्रिका के नाम की समस्या सामने आई, तो मैंने 'ध्वजभंग' नाम प्रस्तावित किया। राजकमल ने कहा कि यह बहुत बढ़िया नाम है, लेकिन उनका सुझाव मुझसे एक कदम आगे था। उन्होंने प्रसिद्ध गायत्री मंत्र के अंतिम शब्द को नाम बनाने का सुझाव दिया। डॉ. नागेश्वर लाल वह नाम सुनकर यह कहते हुए जोरों से हंसने लगे कि अब परंपरावादी भी क्या कहकर गाली देंगे! उसके एक-दो दिनों बाद ही मैं अपने शोध के सिलसिले में बनारस और वहां से फिर इलाहाबाद चला गया। दो सप्ताह बाद प्रोफेसर कॉलोनी में स्थित अपने आवास किशोर भवन लौटा, तो रिक्शे से उतरते ही मेरे सह-वासी एक छात्र ने कहा कि आपके राजकमल अस्पताल में हैं। मैं थोड़ा चौक और उससे पूछा आपको कैसे मालूम हुआ? उसने कहा कि अखबार में निकला है। मुझे घर जाना था, इसलिए खाना-वाना खाकर और तैयार होकर मैं महेंद्रू घाट जहाज पकड़ने के लिए निकला। सोचा कि राजेंद्र सर्जिकल ब्लॉक में उन्हें देखता हुआ घर चला जाऊंगा। उक्त छात्र ने अखबार के आधार पर मुझे बेड नंबर भी बतला दिया था, सो गेट पर ही रिक्शा लगाकर मैं सीधे उस बेड तक पहुंचा।

वह बेड खाली था। मैंने उसके सामने खड़ी एक नर्स से पूछा-इस बेड का मरीज क्या अच्छा होकर घर चला गया? उसने उत्तर दिया-नहीं, राजकमल मर गया। उसी ने यह भी बतलाया कि आज शाम को साहित्य-सम्मेलन में उसकी शोक-सभा होनेवाली है। मैं स्तब्ध तो रह ही गया था, इस बात से चकित भी था कि यह नर्स मरीज का नाम ही नहीं जानती है, बल्कि यह भी जानती है कि वह कोई हस्ती था, जिसकी मृत्यु पर शाम को साहित्य-सम्मेलन में सभा होनेवाली है। मैंने घर जाने का कार्यक्रम रद्द किया और डेरे वापस आकर शाम होते ही साहित्य-सम्मेलन के लिए चल पड़ा। पटने के नए लेखकों की दुनिया में राजकमल की मृत्यु का समाचार बिजली के करंट की तेजी से फैल गया था। उस समय साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष पं. रामदयाल पांडेय थे। मंच नए लेखकों से भरा हुआ था। पुराने लेखकों में केसरी बाबू भी थे, जो सम्मेलन के साहित्य-मंत्री थे।

कुछ लेखकों ने सभा में राजकमल के प्रति अपने शोकपूर्ण उद्‌गार व्यक्त किए। राजेंद्र सर्जिकल ब्लॉक से लौटकर मैंने एक कविता लिखी थी, जिसका शीर्षक था-'वह आदमकद शीशा'। मुझे बोलने के लिए कहा गया, तो मैं वह कविता सुनाकर बैठ गया। मेरे पीछे भाकपा के मुखपत्र साप्ताहिक 'जनशक्ति' के संपादकीय विभाग में काम करनेवाले राय अमर बैठे थे। उन्होंने मेरे बैठते ही मुझसे वह कविता ले ली और 'जनशक्ति' के अगले अंक में उसे छापा भी। अफसोस कि अब वह कविता मेरे पास नहीं है। 'जनशक्ति' से काटकर मैंने वह अपने पास रखी थी, लेकिन युगल उसे ले गया। जमाने बाद मैं दिल्ली पहुंचा, तो उससे वह कविता ले आया, लेकिन पटने आकर कुछ दिनों के बाद मुझसे ही वह खो गई। 'जनशक्ति' की फाइल से वह अंक ही गायब है। अजय भवन में काम करनेवाले और उसके पुस्तकाध्यक्ष विजयजी ने उस अंक को प्राप्त करने के लिए बहुत प्रयत्न किया, पर जब फाइल में ही वह अंक नहीं है, तो फिर वे उसे कहां से लाते?

नए लेखकों के बोल चुकने के बाद केसरी बाबू उठे और उन्होंने राजकमल पर यह टिप्पणी की कि उनकी पूरी मानसिक संरचना रोमांटिक थी, जिसके अनेक अर्थ होते हैं। एक अर्थ परंपरा-भंजन और व्यवस्था से विद्रोह भी है। अंत में सम्मेलन के अध्यक्ष ने अपना वक्तव्य देते हुए

कहा था कि सम्मेलन में और भी शोक-सभाएं हुई है, लेकिन बहुत दिनों के बाद किसी कवि-लेखक की मृत्यु पर ऐसी शोक-सभा देखने में आ रही है। इसी से राजकमल की लोकप्रियता और तेजस्विता का अनुमान लगाया जा सकता है।

एक लघुपत्रिका निकालने की राजकमल की योजना मेरे ध्यान में थी। मैंने अपने तीन साहित्यिक मित्रों से राय-वचार किया, तो सबों ने कहा कि अब तो उसका निकलना और जरूरी हो गया है। लेकिन राजकमल द्वारा रखा गया नाम रखने का साहस हमलोगों को नहीं हुआ, सो 'ध्वजभंग' नाम से ही राजकमल की अगली मृत्यु-तिथि 19 जून 1968 को 'ध्वजभंग' का पहला अंक निकला, जिसमें सद्यः प्रकाशित चुने हुए सात कविता-पुस्तकों की समीक्षा थी। समीक्षाओं के लेखक हम चारों मित्र ही थे। उसकी दो सौ प्रतियां पूरे हिंदी संसार के लेखकों में वितरित की गईं, जिसकी अत्यंत अनुकूल प्रतिक्रिया हुई। कहने की जरूरत नहीं कि 'ध्वजभंग' हम लोग नामवरजी को भी भेजते थे, लेकिन वे चुप थे। हमलोग उनकी प्रतिक्रिया जानना ही चाहते थे, सो 'ध्वजभंग-2' उन्हें भेजा, तो मैंने अपना पता लिखकर उसमें एक जवाबी कार्ड भी डाल दिया। उनका जवाब तुरत आ गया। उसमें उन्होंने लिखा : ' 'ध्वजभंग-2' आज ही मिला। अभी पढ़ा नहीं लेकिन पहली दृष्टि में ही लगा कि पहले अंक के समान ही अच्छा होगा। आप बहुत महत्त्वपूर्ण काम कर रहे हैं। इधर जो छोटी पत्रिकाएं निकली उनमें दो ने विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया-आरंभ (लखनऊ) और ध्वजभंग (पटना)। समीक्षा के लिए पुस्तकों के चयन से लेकर उन पर की गई टिप्पणी तक में एक स्पष्ट 'रेलिवेंस' है। फिलहाल, इससे ज्यादा क्या कहूं? 'कविता के नए प्रतिमान' के बारे में आपने सद्भाव के जो शब्द लिखे हैं उनके लिए कृतज्ञ हूं।' जाहिर है कि उनकी इस प्रतिक्रिया से मेरे बाकी तीनों मित्र तो प्रसन्न हुए ही, विशेषतः मेरा बहुत उत्साहवर्द्धन हुआ।

अशोक वाजपेयी भी जब महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के कुलपति थे, तो उन्होंने सत्तर के बाद के चुनिंदा लेखकों की चित्रावली प्रकाशित करने की योजना बनाई जिसमें प्रत्येक पृष्ठ पर चित्र के साथ उस लेखक के साहित्य के संबंध में एक-दो उद्धरण देने का भी विचार हुआ। कृष्णा सोबती, कुंवरजी और नामवरजी की चित्रावलियां आगे-पीछे करके निकलीं। मुझे अपूर्वानंदजी ने तीनों चित्रावलियां सुलभ कराई। उनमें से सबसे पहले मैंने नामवरजी वाली चित्रावली पलटना शुरू किया। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि एक पृष्ठ पर लेखक के चित्र के साथ उद्धरण के रूप में मेरे एक-दो उद्धरण भी दिए गए थे। दूसरा उद्धरण तो मैं समझ गया कि कहां से लिया गया है, पर पहले उद्धरण के बारे में मुझे कुछ याद नहीं आ रहा था। दिमाग पर बहुत जोर देने पर मुझे याद आया कि ऐसा तो मैंने त्रैमासिक 'समीक्षा' (पटना) में 'कविता के नए प्रतिमान' की समीक्षा करते हुए लिखा था। वह समीक्षा मेरी किसी पुस्तक में संकलित नहीं है। नामवरजी ने उसे याद रखा, इससे मुझे बहुत अधिक आनंद तो हुआ ही बहुत सहारा भी मिला। अब युवा लेखक सम्मेलन की बात।

मैं लिख चुका हूं कि नागार्जुन सम्मेलन में उन्हें बुलाने के लिए मुझे बार-बार लिख रहे थे और यहां तक लिखा था कि तुम एक पत्र उन्हें रोज डालो। मैंने एक गोष्ठी में विजयमोहन को नामवरजी को अलग से जाकर उनसे कुछ कहते हुए देखा। मुझे ऐसा लगता है कि वे उन्हें पटना चलने के लिए ही तैयार कर रहे थे। उक्त सम्मेलन लाला लाजपातराय मेमोरियल हॉल, छज्जूबाग में 27-28

दिसंबर, 1970 को आयोजित था, 'सिर्फ' नामक लघुपत्रिका की ओर से, जिसका मैं उन दिनों संपादन कर रहा था। 27 की सुबह मैं दिल्ली से आनेवाले लेखको की आगवानी के लिए पटना जंक्शन पहुंचा, तो देखा कि अन्य ढेर-सारे लेखकों के साथ नामवरजी भी ट्रेन से उतरे। उन्होंने जोधपुर से मुझे जवाबी तार भी भेजा था और एक कार्ड भी। फिर दिल्ली आकर भी मुझे एक कार्ड डाला था। लेकिन तार तो मुझे नहीं ही मिला, उनके दोनों कार्ड भी सम्मेलन के बाद प्राप्त हुए। नामवरजी को देखकर मुझे लगा कि उन पर भरोसा किया जा सकता है और अब सम्मेलन की सफलता में कोई संदेह नहीं रहा।

उनके दोनों कार्डों का मजबून क्रमशः यह था : 'आज ही आपके तार का जवाबी तार भेजा है। देर के लिए क्षमा चाहता हूं। देर इस सोच-विचार में हुई कि उन्हीं दिनों बीकानेर में राजस्थान के तीनों विश्वविद्यालयों के अध्यक्षों की मीटिंग और भाषा-संबंधी सेमिनार रखा गया है जिसमें मेरा सम्मिलित होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त भोपाल में भी युवा लेखकों का एक सम्मेलन है जिसके लिए भी हरिशंकर परसाई ने विशेष अनुरोध किया है। बहरहाल मैं आपके सम्मेलन में आ रहा हूं। असम मेल से 27 की सुबह पटना पहुंचने का प्रोग्राम बना लिया है। दिल्ली से विजयमोहनजी मेरे साथ रहेंगे। उन्होंने भी आपको लिखा होगा। यदि आप मेरे आवास की व्यवस्था कहीं और कर रहे हों तो ठीक, वरना मैं प्रो. देवेंद्रनाथ शर्मा को लिख दूं। कृपया शीघ्र सूचना दें।' और 'विजयमोहनजी ने जो रिजर्वेशन करवाया है उसके मुताबिक हमलोग तूफान एक्सप्रेस से 27 दिसंबर की सुबह पटना पहुंच रहे हैं। मेरे सहयात्रियों में विजयमोहनजी के अतिरिक्त विष्णु खरे भी होंगे। अपने ठहरने की व्यवस्था मैंने अभी तक कहीं नहीं की है-यह आप पर छोड़ता हूं। शेष मिलने पर।' चूंकि प्रो. शर्मा के यहां उनके ठहरने की बात मुझे नहीं मालूम थी, इसलिए मैंने उनके ठहरने की व्यवस्था भी ऊपरवाले हॉल में अन्य लेखकों के साथ ही की थी। वे बनारस के लेखकों के साथ ही, जिनमें धूमिल भी थे, ठहरे।

लेकिन जहां तक मुझे याद है, पहली गोष्ठी के बाद ही प्रो. शर्मा आकर उन्हें अपने घर ले गए। राजेंद्रनगर से वे और रेणुजी गोष्ठी आरंभ होने के ठीक पहले पहुंच जाते थे। वे रात में अन्य लेखकों के साथ नहीं ठहरे, जिससे वे दारू पीकर हुड़दंग मचाने वाले युवा लेखकों को देखने से बच गए। मुझे तो वह दृश्य देखकर ऐसी वितृष्णा हुई कि कई वर्षों तक मुझे किसी युवा लेखक से मिलने की इच्छा नहीं हुई। आसपास के लोग भी उक्त दृश्य देखकर दंग थे। सवेरे दूधनाथ सिंह ने मुझसे कहा कि वे लोग इसलिए दंग थे कि उनके दिमाग में लेखक का चित्र अभी भी तुलसीदास वाला ही है। अब उनसे मुलाकात हुई, तो मैं उनसे कहूंगा कि मेरी पुस्तक 'तुलसीदास' का अंतिम लेख पढ़ जाइए, आपको पता चलेगा कि तुलसीदास कुटेव में युवा लेखकों से आगे ही थे, लेकिन उन्होंने कभी हुड़दंग नहीं मचाया। बनारस ने कभी उन्हें स्वीकार नहीं किया, जिससे हमेशा वे शहर से बाहर ही रहे, लेकिन चुपचाप। अंतिम बात मेरे लेख में नहीं है, क्योंकि दो-तीन वर्ष पहले पटने में एक साहित्यिक जलसे में व्याख्यान देते हुए नामवरजी ने बतलाई।

प्रत्येक गोष्ठी में मंच पर पांच व्यक्ति होते थे-रेणुजी, नामवरजी आयोजक के नाते, गोष्ठी-विशेष के अध्यक्ष और हमलोगों से अलग स्व. राघवेंद्र, जो सभी गोष्ठियों की कार्यवाही को टेप कर रहा था। बोलने वाले लेखक का नाम पुकारे जाने पर मंच पर आते थे, माइक के सामने खड़े होकर अपना

वक्तव्य देते थे और फिर चले जाते थे।

अब सम्मेलन का हाल-चाल। पहली गोष्ठी युवा लेखकों की रणनीति पर थी, दूसरी युवा कविता की भाषा पर और तीसरी कहानी पर और चौथी आलोचना की सार्थकता पर। पहली गोष्ठी के मनोनीत अध्यक्ष स्वयं नामवरजी थे। कहानी पर वे नहीं बोले, लेकिन पहली गोष्ठी में अध्यक्षीय वक्तव्य के साथ दूसरी और चौथी गोष्ठियों में उन्होंने अपनी बात रखी। मैं इस संस्मरण के लिए 'सिर्फ' में प्रकाशित उक्त सम्मेलन की रपट देखी, तो यह देखकर मैं चकित रह गया कि नामवरजी की बातों में आज भी उतनी ही ताजगी है। पहली गोष्ठी में उन्होंने यह कहकर युवा लेखकों की रणनीति को स्पष्ट शब्दों में परिभाषित किया कि 'एक रचना पढ़ने के बाद यदि आज की दुनिया हमें ज्यादा अच्छी और साफ समझ में आए, तो हमें मान लेना चाहिए कि रचनाकार ने प्रत्यक्ष रूप से वही काम किया है, जो किसी क्रांतिकारी ने अपनी बंदूक की नली से किया है।'

दूसरी गोष्ठी में उन्होंने कहा : 'युवा लेखकों ने पुरानी भाषा के संस्कारों से मुक्त होकर बड़ी मेहनत से एक भाषा बनाई है, उसमें एक निजता पैदा की है, यद्यपि उसमें एकरसता भी आई है। अंत में यह जान लेना चाहिए कि मामूली आदमी की भाषा में भी कई स्तर होते हैं। उस एक मामूली आदमी की भाषा को लेकर तुलसीदास ने अनेक स्तरों की भाषा का निर्माण किया है, जो सरल भी थी और कठिन भी और उसी भाषा को लेकर निराला ने भी कई स्तर कायम किए। युवा लेखन का काफी हिस्सा अनूदित लगता है। शायद यह मध्यवर्ग की अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा का प्रभाव है। आज जरूरत है इस अनुवाद-वृत्ति से बचकर सृजनात्मक भाषा लिखने की।'

चौथी गोष्ठी में यह कहते हुए उन्होंने सम्मेलन का जैसे समापन किया कि 'आलोचना की आवश्यकता दो स्थितियों में दिखलाई पड़ती है : रचनाकार और पाठक के बीच जब अंतराल होता है तब और रचनाकार और पाठक के बीच जब कोई अंतराल नहीं होता है तब। हमलोग आमतौर पर आलोचक को पुल बनानेवाला, दुभाषिया आदि समझते हैं, पर जनता से उठा हुआ कवि जब वहीं से साहित्य-रचना करता है, तब भी आलोचक की जरूरत पड़ती है। उस समय आलोचक वह काम करता है, जो सेना में सफरमैना पलटन किया करती है। वह सेना के आगे रास्ता बनाते हुए चलती है। पाठकों से तादात्म्य होकर लिखे जाने वाले साहित्य में भी आलोचना इसी तरह अपने अस्तित्व को प्रमाणित करती है।'

नामवरजी को मैंने यह भी लिखा था कि इस सम्मेलन को संभालने के लिए भी आपका आना जरूरी है। वे आए भी और पूरे सम्मेलन को उन्होंने संभाला भी। उनका वैदुष्य उनके चिंतन की नवीनता, उनकी निर्भयता तथा उनका कौशल और अनुशासनप्रियता को देखकर मेरे मन में उनके प्रति जो आदर का भाव था, वह शतगुणित हो गया। अब वह भाव श्रद्धा में बदल चुका है। सम्मेलन में जितने युवा लेखक पहुंचे थे, उनमें से अधिकांश उनका छात्र होने की ही योग्यता रखते थे। उनमें निर्भयता चरम कोटि की थी। अकारण नहीं कि ग्राम्शी ने बौद्धिकों का एक लक्षण निर्भयता भी बतलाया है। पहली गोष्ठी में दूधनाथ सिंह ने कुछ ऐसी बातें कह दीं कि नामवरजी ने अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में कहा-दूधनाथ सिंह से मेरा कहना है कि वे 'डेमागोगी' छोड़ें और सीधे-सीधे काम की बातें करें। उसके बाद गोष्ठी समाप्त हुई तो मैंने देखा कि दूधनाथ सिंह उनसे झगड़ते हुए बाहर निकल रहे हैं। इसी तरह आलोचना वाली गोष्ठी में अध्यक्ष-पद से अशोक वाजपेयी ने जब बोलने के लिए

विष्णु खरे का नाम पुकारा, तो नामवरजी ने उनसे कहा-खरे साहब, आपने आलोचना में बहुत गड़बड़ की है, आइए और जवाब दीजिए। यही कारण था कि अकविता के एक कवि ने मुझे लिखा था कि तुम नामवर एंड कंपनी को मत बुलाना। क्यों? इसलिए कि सभी उनके ज्ञान से डरते थे और जानते थे कि उनके रहते वे किसी गोष्ठी में अपना मनोनुकूल दृश्य उपस्थित नहीं कर सकते थे।

जाहिर है, मैंने उनका सुझाव नहीं माना, क्योंकि नामवरजी के बिना युवा लेखकों के सम्मेलन की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। शायद युवा लेखकों को भी यह बात नहीं मालूम थी कि उन्होंने ही उनके लेखन को 'युवालेखन' का नाम दिया था और उसे पहचान भी दी थी। सम्मेलन में अनाहूत कुछ अग्निवर्षी युवा लेखक भी आ गए थे। मैंने नामवरजी को गोष्ठियों में उनका उपयोग करते हुए देखा। प्रत्येक अध्यक्ष उन्हीं की बगल में बैठते थे और अब किसी लेखक को बोलने के लिए बुलाया जाए, वक्ताओं की सूची देखकर वे नामवरजी से ही पूछते थे। मैंने देखा कि गोष्ठी जब ठंढी पड़ने लगती थी, तो एक अग्निवर्षी लेखक के नाम पर उंगली रखकर वे अध्यक्ष से कहते थे कि अब इसे बुलाइए। वह लेखक आता था और कभी पोशीदे तौर पर और कभी खुलकर नामवरजी पर हमला करते हुए अपनी उलटी-सीधी बातों से गोष्ठी को गरमाकर चला जाता था। फिर गोष्ठी में नए सिरे से जान पड़ जाती थी और लेखक पूरी जिंदादिली और संजीदगी से विचार-विमर्श करने लगते थे। अग्निवर्षी लेखक इस बात से पूर्ण तुष्ट होकर मंच से उतरता था कि उसने नामवरजी को धूल चटा दी, क्योंकि उसे यह पता नहीं होता था कि उन्होंने उसका कैसा उपयोग किया था।

कविता वाली गोष्ठी के अध्यक्ष कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह थे। उन्होंने अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में नामवरजी पर अपना आक्रोश इसलिए प्रकट किया कि उन्होंने उन्हें सिर्फ एक बार याद किया और फिर भुला दिया। उन्होंने यह भी कहा कि अब वे मुक्तिबोध को महान् कवि मानते हैं, लेकिन उनके जीवन-काल में वे बिलकुल चुप रहे। अध्यक्षीय वक्तव्य के बाद भी नामवरजी उठे और कुमारेंद्र को करारा जवाब देते हुए कहा कि मुक्तिबोध के जीवन-काल में ही मैंने उन्हें 'कवि' में उनकी कविता प्रस्तुत करते हुए उन पर एक किंचित् विस्तृत टिप्पणी लिखी थी। फिर उन्होंने 'कृति' का हवाला दिया, जिसमें भी मुक्तिबोध के जीवन-काल में ही उन्होंने एक लेख लिखा था, जिसे मैंने 'मुक्तिबोध : कवि-छवि' नामक पुस्तक में संकलित किया है। उनके इस जवाब का असर यह हुआ कि पूरा हॉल तालियों की गड़गड़ाहट से भर गया और दिलचस्प है कि तालियां बजाने वालों में सबसे आगे कुमारेंद्र थे।

1971 में नामवरजी और कुंवर चंद्रप्रकाश सिंह संभवतः एक मौखिकी के सिलसिले में पटना आए। प्रो. शर्मा के यहां ही दोनों ठहरे थे। शाम को मैं नामवरजी से मिला। डॉ. रामवचन राय भी वहां मौजूद थे। उन्होंने मुझसे पूछा-आजकल आप क्या कर रहे हैं? मैंने उन्हें बतलाया कि हिंदी आलोचना पर एक पुस्तक लिख रहा हूं। उसे एक बार आधे से अधिक लिख चुका था, लेकिन अब मुझमें विषय के प्रति गहरी रुचि उत्पन्न हो गई है, सो उसे दुबारा लिख रहा हूं। उन्होंने कहा कि बहुत अच्छा कर रहे हैं। अब यह बतलाइए कि आपकी 'फाइंडिंग' क्या है, क्योंकि नया आलोचक नए निष्कर्षों के साथ आलोच्य लेखकों को फिर से क्रमबद्ध करता है, कुछ को छोड़ते हुए। मैंने उन्हें सब कुछ से अवगत कराया। मैं कह चुका हूं कि उस दौर में मैं डॉ. शर्मा के संकीर्णतावादी मार्क्सवाद से बहुत प्रभावित था। नामवरजी ने मुझे कुछ नए मार्क्सवादी साहित्यिक सौंदर्यशास्त्रियों को पढ़ने

को कहा। फिर स्वयं बोले-लेकिन उनकी पुस्तकें आपको मिलेंगी कहां? मैंने उन सभी मार्क्सवादियों के नाम गिना दिए, जिनकी पुस्तकें मैंने अब तक पढ़ी थीं। वे सारे के सारे मार्क्सवादी पुराने स्कूल के यानी संकीर्णतावादी मार्क्सवाद के पोषक थे। इस बार मैंने एम.ए. के वर्ग में उनसे एक छोटा-सा व्याख्यान भी कराया, जिसमें उन्होंने एक दृष्टिकोण के साथ हिंदी साहित्य का इतिहास पढ़ने पर जोर दिया। फिर मैं उन्हें स्टेशन जाकर छोड़ भी आया।

उस समय नामवरजी जोधपुर विश्वविद्यालय के हिंदी-विभागाध्यक्ष थे। वहां उन्हें 'ऑफर' देकर विश्वविद्यालय के कुलपति मि. जॉन ले गए थे, क्योंकि हिंदी आलोचना में उनकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई थी। उनकी आलोचना-पुस्तक 'कविता के नए प्रतिमान' की चारों तरफ चर्चा थी और उसी के आसपास उसे साहित्य अकादेमी से भी पुरस्कृत किया गया था। इसके अलावा 'आलोचना' के शानदार संपादन-कार्य ने उनकी प्रसिद्धि में चार चांद लगा दिए थे। वे विद्वान् तो थे ही, वक्ता भी उच्च कोटि के थे। अध्यक्ष बनने के बाद नामवरजी ने विभाग को बनाना शुरू किया और पाठ्यक्रम में भी परिवर्तन किए। उसमें उन्होंने 'मैला आंचल' (रेणु) और 'आधा गांव' (राही मासूम रजा) को भी शामिल किया, जिसका छात्रों ने बहुत विरोध किया। उनका कहना था कि आंचलिक होने के कारण 'मैला आंचल' की भाषा समझ में नहीं आती है और 'आधा गांव' में बहुत गाली-गलौज है। ज्ञातव्य है कि एक रूसी विद्वान् ने 'मैला आंचल' को पूरी तरह से समझकर रूसी में उसका अनुवाद किया था, लेकिन राजस्थान के छात्रों को उसकी भाषा समझ में नही आ रही थी! जाहिर है, ये छात्र नामवरजी के शब्दों में कुंवरजी के ही 'लग्गू-भग्गू' थे। उनका संकेत भारतीय जनसंघ की तरफ था। बहरहाल, छात्रों की शिकायत पर विचार करने के लिए कुलपति ने बाहर के विद्वानों की एक समिति बना दी, जिसके एक सदस्य प्रो. देवेंद्रनाथ शर्मा भी थे। समिति ने सिफारिश की कि 'मैला आंचल' को तो पाठ्यक्रम में रहने दिया जाए, पर 'आधा गांव' को उससे हटा दिया जाए। उधर अध्यापक-गण भी नामवरजी की नियुक्ति से अप्रसन्न थे। उन्हें उनकी विद्वत्ता रास नहीं आ रही थी, दूसरे, उनका कहना था कि प्रोफेसर का 'ऑफर' देकर विभागाध्यक्ष के पद पर उनकी नियुक्ति से विश्वविद्यालय के नियम का उल्लंघन हुआ है। इस बात को लेकर कोर्ट में मुकदमा भी कर दिया गया था, पर उसका फैसला आने के पहले ही नामवरजी के.एम. मुंशी संस्थान, आगरा के निदेशक बना दिए गए, सो कुछ वर्षों बाद ही जोधपुर छोड़कर आगरा आ गए।

आगरे में भी वे ज्यादा दिन नहीं रहे, क्योंकि प्रोफेसर के पद पर ही जेएनयू के भारतीय भाषा-केंद्र में उनकी नियुक्ति हो गई। इस केंद्र में दो भाषाएं पढ़ाई जाती थीं-हिंदी तथा उर्दू और उन भाषाओं के प्रोफेसर बारी-बारी से एक अवधि के बाद केंद्र के अध्यक्ष हुआ करते थे। नामवरजी जेएनयू पहुंचे, तो केंद्र के अध्यक्ष भी बने। वहां भी हिंदी-विभाग का उन्हें गठन करना पड़ा। जोधपुर से वे डॉ. मैनेजर पांडेय को ले आए और बाद में केदारजी को भी पडरौना के एक कालेज की प्रिंसिपली छुड़वाकर वहां बुला लिया।

बाद की बात है। एक बार शाम को मैं उनके बैठके में बैठा हुआ था। मैंने उनसे निवेदन किया कि डाक्टर साहब, आप और क्यों नहीं लिखते? उन्होंने एक बहुत ही मार्मिक उत्तर दिया। तुलसीदास को उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा कि 'डासत ही गइ बीति निसा सब कबहुं न नाथ! नींद भरि सोयो'। उनका संपूर्ण पिछला जीवन मेरी आंखों के सामने घूम गया। सीपीआई के निर्देश पर उनका 1959

में लोकसभा के लिए चुनाव लड़ना, इस कारण दो वर्षों के बाद काशी हिंदू विश्वविद्यालय में उनकी नियुक्ति का रद्द होना, फिर कुछ वर्षों बाद उनका सागर विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग में पहुंचना और वहां भी टिक नहीं पाना, कुछ दिनों बाद पार्टी के निर्देश पर ही उसके मुखपत्र साप्ताहिक 'जनयुग' के संपादन के लिए उनका दिल्ली जाना और उस पत्र को नया स्वरूप देना, राजकमल से जुड़ना, फिर आलोचना का श्रमपूर्वक संपादन करना, जोधपुर में नियुक्ति के बाद वहां से क.मा. मुंशी संस्थान में आना और अंत में जेएनयू में विभाग का पुनर्गठन और पाठ्यक्रम का निर्माण। 'आलोचना' का संपादन वे दिल्ली से बाहर रहने पर भी करते रहे और उनके लिए ही नहीं, यह संपूर्ण हिंदी संसार के लिए संतोष की बात है कि इस भाग-दौड़ में भी उन्होंने अपना अध्ययन जारी रखा और देशी-विदेशी साहित्यि का ऐसा गहन और व्यापक अध्ययन किया, जैसा हिंदी में तो नहीं ही दिखलाई पड़ता, किसी हिंदीतर भाषा में भी नहीं देखने को मिलता। तुलसीदास की उक्त पंक्ति उद्धृत कर उन्होंने मेरी बात का सटीक उत्तर दे दिया था जिसके फलस्वरूप मैं चुप हो गया।

जहां तक जेएनयू में उनके स्थिर होने के बाद उनके लिखने की बात है, उसके मार्ग में भी कई बाधाएं थीं। एक तो वर्ग में पढ़ाने के लिए वे जो नोट तैयार करते थे, वह असाधारण होता था। चूंकि उन्हें अध्यापन में भी रस मिलता था, इसलिए कभी-कभी हवाई जहाज से उतरकर वे सीधे वर्ग में पहुंचते थे। उनकी इसी कर्त्तव्यनिष्ठता के कारण उनका कोर्स कभी अधूरा नहीं रहा, न अपने अध्यापन में कभी उन्होंने कोताही की। अध्यापन के अलावा उन्हें व्याख्यान देने में भी भरपूर रस मिलता था, जिस कारण वे अपना व्याख्यान अत्यधिक श्रम के साथ तैयार करते थे। स्वभावतः उसमें उनके नए चिंतन की भरपूर चमक और गहराई होती थी। उनका ज्ञान इतना विस्तृत है कि जब कभी हमलोगों ने अचानक उन्हें किसी विषय पर बोलने के लिए कहा, तो वे उसके लिए भी तैयार हो गए। उनका वह व्याख्यान कुछ ज्यादा ही सुजनात्मक होता था। अब तक मैंने उनके जो असंख्य व्याख्यान सुने हैं, उनमें से चार-पांच की स्मृति मेरे मानस से कभी मिटेगी। एक व्याख्यान उन्होंने अज्ञेयजी की अध्यक्षता में हिंदुस्तानी एकेडेमी में उनकी आलोचना करते हुए दिया था। यह बिना तैयारी के दिया गया व्याख्यान था, जिसमें और बातें तो थीं ही, गजब का 'फोस' था। यह अवसर इलाहाबाद विश्वविद्यालय की ओर से आयोजित प्रेमचंद-जन्मशताब्दी समारोह का था। यहां की एक मजेदार बात। हमलोग एक गेस्ट हाउस में ठहराए गए थे। सवेरे किसी के कक्ष में हम सारे लोग बैठे थे। नामवरजी ने पूछा कि आज की पहली गोष्ठी के अध्यक्ष कौन हैं? जानकारों ने बतलाया कि भैरवप्रसाद गुप्त। इसपर वे बोले-सोंटा। उन्होंने पूछा-उसमें आलेख-पाठ कौन करेंगे? जानकारों ने फिर कहा कि डॉ. रघुवंश। इस पर उन्होंने कहा-जलेबी। फिर बोले, सोंटा और जलेबी! सब लोग हंसने लगे। नामवरजी हिंदी के अनेक लखकों के नाम में थोड़ा परिवर्तन कर उसका आनंद लेते और दूसरों को देते थे। उसका एक ही उदाहरण यहां मैं दे सकूंगा, क्योंकि कई लोग भगवान् की कृपा से अभी हमारे बीच हैं और आनेवाले दिनों में भी रहेंगे। वह एक उदाहरण यह है कि चूंकि 'सारिका' के संपादन-काल में कमलेश्वर ने समांतर कहानी का नारा देकर अपने इर्द-गिर्द समांतर कहानीकारों की एक फौज खड़ी कर ली थी, इसलिए वे उन्हें कमलेश्वर के बदले 'सारिकेश्वर' कहा करते थे!

चर्चा नामवरजी के अविस्मरणीय व्याख्यानों की हो रही थी। बिना तैयारी के प्रसाद जन्म शताब्दी पर दिया गया वह व्याख्यान है, जो उनसे तरुणजी ने पटना प्रगतिशील लेखक संघ की ओर से पटना

कालेज के सेमिनार हॉल में कराया था। इसमें उन्होंने प्रसाद की प्रेम-कविताओं के लिए एक बहुत उपयुक्त शब्द का प्रयोग किया था-रोमांटिक मेलाकली'। एक व्याख्यान उन्होंने उसी प्रकार बिहार प्रगतिशील लेखकर संघ के वार्षिक सम्मेलन में जमशेदपुर में दूसरे दिन एक हॉल में दिया था, जिसकी पृष्ठभूमि में 'नागार्जुन की राजनीति थी'। यह व्याख्यान संकीर्ण प्रगतिशीलता के विरुद्ध दिया गया इतना 'फोर्सफुल' व्याख्यान था कि कुछ कहते नहीं बनता। बस अफसोस इस बात के लिए होता है कि अच्छे ढंग से उसे टेप न किया जा सका। उसके कुछ वाक्य मुझे अभी भी याद है : 'जब कभी प्रगतिशील आंदोलन का विस्तार होता है, उसमें संकीर्णतावादी प्रवृत्ति सिर उठाती है और आंदोलन के प्रसार को नष्ट करने पर उतारू हो जाती है। खून की प्यासी तलवार जब बाहर शत्रुओं का सफाया कर देती है, तो घर में घूमने लगती है।'

तैयारी करके 'साहित्य में विचारधारा' पर व्याख्यान उन्होंने 'पुनश्च' की ओर से अनुग्रह नारायण सामाजिक शोध संस्थान के हॉल में दिया था। यह इतना विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान था कि वैसा व्याख्यान मुझे फिर सुनने को नहीं मिला। बस उनके गुरुदेव आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का साहित्य-सम्मेलन में तुलसीदास पर दिया गया व्याख्यान याद आता है। यह आकस्मिक नहीं है कि आचार्य द्विवेदी के बाद नामवरजी ही हिंदी में दूसरे वक्ता हुए, क्योंकि वाग्मिता के साथ दोनों का ज्ञान अपने-अपने ढंग से अगाध था।

नामवरजी का प्रत्युत्पन्नमतित्व और उनकी सूझ भी अनमोल थी। उसके दो-तीन उदाहरण देता हूं। वे 'प्रेमचंद की कला' पर बिहार इंडस्ट्रीज एसोसिएशन के हॉल में बोल रहे थे। समस्तीपुर के कवि पोद्दार रामावतार अरुण अगली पंक्ति में ही बैठे थे। उनकी सारी उम्र पं. नेहरू, उनके मंत्रिमंडल के सदस्य बाबू सत्यनारायण सिंह, जो बाद में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल भी हुए तथा अन्य नेताओं की खुशामद करते हुए ही बीती थी। पं. नेहरू पर तो उन्होंने 'विश्व-मानव' नाम से एक काव्य ही लिखा था, लेकिन उन्होंने उनको कोई तवज्जो नहीं दी। हारकर वे बाबू सत्यनारायण सिंह के पीछे लगे, पर उन्होंने भी उन्हें घास नहीं डाली। हारकर वे बिहार के मुख्यमंत्री कर्पूरी ठाकुर की खुशमद में लग गए। वे भी चूंकि पिछड़े वर्ग से आते थे, इसलिए उन्होंने उन्हें एमएलसी बना दिया। नामवरजी जब किंचित् विस्तार से प्रेमचंद द्वारा किए गए प्रेम के चित्रण के बारे में बतला रहे थे कि अरुणजी की शामत आनी थी, सो वे अपनी जगह से बीच में बोल उठे-आगे बढ़िए। अब आपकी प्रेम करने की उम्र नहीं रही। उन्हें पता नहीं था कि वे हिंदी के कितने बाखबर लेखक थे। वे माइक पर क्षण भर के लिए रुके, फिर बोले-ऐसा है कि प्रेम और खुशामद करने की कोई उम्र नहीं होती। उनका यह कहना था कि सारा हॉल ठहाकों से गूंज उठा, क्योंकि उसमें सारे के सारे साहित्यिक ही बैठ थे, जो अरुणजी के चरित्र से परिचित थे। ठहाके देखकर अरुणजी ने जो सिर नीचे किया, सो फिर उपर नहीं उठाया।

दूसरी घटना तब की है, जब नामवरजी अनुग्रह नारायण शोध संस्थान में हम्हीं लोगों द्वारा आयोजित एक कार्यक्रम में व्याख्यान दे रहे थे। जब वे अपना व्याख्यान देकर बैठे और मैं बोलने के लिए उठा, तो मेरे सहयोगी कलाधरजी ने उनसे एक प्रश्न कर दिया। मैं चूंकि माइक के सामने पहुंच चुका था, इसलिए मैंने ही उनके प्रश्न का उत्तर दे दिया। सभा समाप्त होने के बाद उन्होंने मुझसे शिकायत की-मैंने नामवरजी से प्रश्न किया था, फिर आपने उसका उत्तर क्यों दे दिया? जब

नामवरजी, मैं और तरुणजी अपने डेरे पर भोजन के लिए पहुंचे और नामवरजी खाने की टेबुल पर बैठ गए, तो मैंने उनसे कलाधरजी की शिकायत अर्ज कर दी। उन्होंने छूटते ही कहा-महाभारत में पहले से तय था कि कौन किसको मारेगा। उनके इस माकूल जवाब से कायल होकर मैं और तरुणजी धीरे-से हंस पड़े, क्योंकि उनके सामने हंसने का साहस हमदोनों नहीं कर सकते थे।

तीसरी घटना तब की है, जब पटना विश्वविद्यालय के केंद्रीय पुस्तकालय के हॉल में हिंदी विभाग की ओर से 'हिंदी साहित्य और लोक-चेतना' पर सप्तदिवसीय संगोष्ठी संपन्न हुई थी। समापन-भाषण देने के लिए नामवरजी आए थे। लेकिन उनका व्याख्यान शुरू के पहले विभागाध्यक्ष डॉ. रामखेलावन राय एक अखबार लिए माइक पर आ गए। उन्होंने कहा कि इसी विश्वविद्यालय के हिंदी के अध्यापक डॉ. अमरकुमार सिंह ने इस संगोष्ठी पर 'आज' में यह लेख लिखा है और बिना रुके वे उस लेख को पढ़ने लगे। उसमें खास तौर से यह बात कही गई थी कि चूंकि प्रभारी अध्यक्ष को प्रोफेसर बनना है, इसलिए उन्होंने चुन-चुनकर विद्वानों को बुलाया है, ताकि वे उन्हें अपने अनुकूल बना सकें। डॉ. राय के इस लेख का पाठ करने से माहौल पूरा बिगड़ गया, जिसमें अब कोई गंभीर बात नहीं की जा सकती थी। इसी स्थिति में नामवरजी उठे और माइक पर जाकर अपना व्याख्यान शुरू करने के पहले एक वाक्य कहा-लोक-चेतना पर संगोष्ठी हो और उसमें लोकापवाद न हो, यह कैसे हो सकता है। इस तरह अपने वाक्य से बिगड़े हुए माहौल को गंभीर बनाते हुए अपना व्याख्यान शुरू कर दिया। करीब डेढ़ घंटे वे जमकर बोले और हॉल में पूर्ण शांति विराजती रही।

चौथी घटना संगोष्ठी से ही जुड़ी है। उसी दिन सारे विद्वान् और हिंदी विभाग के कुछ अध्यापक डॉ. राय के यहां 'डिनर' पर आमंत्रित थे। उस समय काशी हिंदू विश्वविद्यालय में एक दिलचस्प वाकया हुआ था। डॉ. विजयपाल सिंह ने, जो अपने पाखंड और दुष्टता के लिए पूरे हिंदी संसार में जाने जाते थे, सेवा से मुक्त हुए थे। तत्पश्चात् उन्होंने कश्मीर विश्वविद्यालय में 'विजिटिंग' प्रोफेसर के लिए आवेदन किया था। काशी हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी के अध्यापकों ने उनके आवेदन पर विचार न करने के लिए एक पुस्तिका ही छपा डाली थी और उसे कश्मीर विश्वविद्यालय के कुलपति को भेज दिया था। डॉ. राय के यहां आमंत्रित सारे लोग इसी की चर्चा कर रहे थे। नामवरजी उस समय डॉ. राय के कमरे में थे। वे निकलकर आए, तो लोगों ने पूछा कि डॉ. विजयपाल सिंह को लेकर क्या हुआ है? उन्होंने उत्तर दिया-कुछ नहीं हुआ है, सिर्फ विजयपाल रासो की जो खंडित प्रति उपलब्ध थी, सो अब उसकी पूरी प्रति मिल गई है। सभी विद्वानों ने जोरों से ठहाका लगाया।

इसी तरह का एक प्रसंग और। कलकत्ते के भारतीय भाषा परिषद् में आचार्य शुक्ल जन्म शताब्दी समारोह आयोजित था। प्रभाकर माचवे उस समय परिषद् के सदस्य थे। उन्होंने उद्घाटन-भाषण देने के लिए उसमें नामवरजी को बुलाया और आलेख-पाठ के लिए मुझे। जिस दिन समारोह था, उस दिन रात में ऐसी वर्षा हुई थी कि हमलोगों की गाड़ी हावड़ा के बदले सियालदह जाकर लगी। मैं इस बार अपनी पत्नी और बिटिया पूर्वा के साथ वहां पहुंचा था। सड़कों पर घुटना-भर पानी लगा था। हमलोग टैक्सी से परिषद् की सीढ़ियों पर उतरे। वर्षा के कारण श्रोता दस-पंद्रह से ज्यादा की संख्या में नहीं पहुंचे थे। पूरे हॉल में दस-पंद्रह आदमी। मैं सोच रहा था कि जब श्रोता ही नहीं हैं, तो नामवरजी कैसे अपना व्याख्यान देंगे? लेकिन समय पर वे उठे, अपभ्रंश का एक दोहा सुनाया,

जिसका अर्थ था-'मेह में आप आए, यह आपके नेह का सूचक है, और अपना व्याख्यान शुरू कर दिया। जमकर करीब डेढ़ घंटे बोले। मैंने भी अब उत्साहित होकर अपना आलेख पढ़ा और इस तरह सभा विसर्जित हुई। मैं कह चुका हूं कि पूर्वा भी मेरे साथ थी और मेरे व्यवहार पर कड़ी निगाह रख रही थी। नामवरजी दो-तीन दिन रुके थे, जिससे उनसे मेरी बात होती रही। यह सब देखकर मेरे सामने उसने अपनी मां से कहा-मां, पापा नामवरजी की खुशामद नहीं करते हैं। मैंने कहा-जहां आदर और श्रद्धा हो, वहां खुशामद का प्रवेश नहीं होता। उनका सान्निध्य मुझे सुलभ हुआ, इतना ही मेरे लिए काफी है।

एक बार मैं सपरिवार बनारस में ही था। काशीनाथजी की सुपुत्री का विवाह संपन्न हुआ था। शाम को तो हम उनके यहां गए ही, नामवरजी के आदेशानुसार कल सबेरे ही उनके यहां पहुंचा। वहां पहले से संस्कृत के एक विद्वान् बैठे थे। उन्होंने कालिदास का एक मोटा ग्रंथ लिखा था और चाहते थे कि नामवरजी उसके प्रकाशन की व्यवस्था कर दें। उन्होंने उनसे पूछा-आप मुझे बतलाएं कि कालिदास की शकुंतला का हिंदी में प्रथम अनुवाद किसने और कब किया। उन सज्जन ने कहा कि मैं आपको पूरी पांडुलिपि ही भेज दूंगा। इस पर वे बोले-मुझे सिर्फ संजीवनी बूटी चाहिए, पूरा धौला गिरि नहीं। फिर वे किसी काम से अंदर चले गए। मैं उनकी बात पर देर तक भीतर ही भीतर हंसता रहा।

दिलचस्प बातें और। एक बार चैंबर ऑफ कामर्स में वे 'स्वाधीनता-संग्राम' पर व्याख्यान दे रहे थे। उन्होंने कांग्रेस और महात्मा गांधी के नेतृत्व में चलनेवाले स्वाधीनता-संग्राम पर बोलते हुए प्रेमचंद का उससे किंचित् विस्तार से संबंध बतलाया। उनके बोल चुकने के बाद हमारे सहयोगी अध्यापक डॉ. सीताराम झा 'श्याम' उनसे प्रश्न करने के लिए उठे और माइक पर जाकर चंद्रशेखर 'आजाद' और भगत सिंह के नेतृत्व में चलनेवाले स्वाधीनता-संग्राम को नामवरजी द्वारा छोड़ देने पर आपत्ति की। नामवरजी धीरे से उठे और माइक पर जाकर कहा-प्रेमचंद से एक बार किसी ने कहा कि कोई आपके शरीर पर पेशाब करने लगे, तो आप क्या करेंगे? उन्होंने उत्तर दिया-मैं थोड़ा पीछे हट जाऊंगा। उसने कहा कि वह इस पर भी न माने और थोड़ा आगे बढ़ने पर फिर वैसा ही करने लगे तब? उन्होंने कहा कि मैं थोड़ा और पीछे हट जाऊंगा। फिर उस व्यक्ति ने उनसे यह कहा कि किसी सूरत में वह न माने और आगे बढ़कर आप पर पेशाब करता ही रहे, तब आप कैसे बचेंगे? इस बार प्रेमचंद ने उत्तर दिया-मुदा वह आदमी होगा, या मशक बांधे होगा? तात्पर्य कि स्वाधीनता-संग्राम की अनेक धाराएं हैं, इस पर पुस्तकें भी लिखी गई हैं, पर कहीं तो उनका अंत होना चाहिए! उनके इस उत्तर से हॉल में जोरदार ठहाका लगा।

वहां से व्याख्यान देकर वे खगेंद्रजी के आवास पर आए। अब कवि-कथाकार नंदकिशोर नंदन उनकी चपेट में आ गए। प्रेमचंद पर उनके व्याख्यान सुननेवालों में वे भी थे, सो खगेंद्रजी के यहां वे भी पहुंचे और नामवरजी से बोले-मैंने भी प्रेमचंद पर एक लेख लिखा है, जिसमें मेरे कुछ विचार आपके विचारों से टकरा गए हैं। तत्पश्चात् नामवरजी ने यह कहते हुए कि इसे आप अपनी बात से न जोड़ेंगे, उन्हें यह घटना सुनाई : एक बार फिराक साहब एक मुशायरे में गए। उसमें एक नए शायर ने अपनी गजल में उनका एक शेर चुरा लिया था। जब वह अपनी गजल सुनाकर बैठने जा रहा था कि उन्होंने उसे अपने पास बुलाकर कहा-तुम मेरा एक शेर साफ ले उड़े हो। उस नौजवान

शायर ने उन्हें जवाब दिया-हुजूर, मेरे शेर का सिर्फ मानी आपके शेर से टकरा गया है। अब फिराक साहब उससे बोले-बर्खुरदार पैसेंजर और मालगाड़ी का, ट्रेन और बस का तथा ट्रक और कार का टकराव तो सुना था, पर हवाईजहाज और साईकिल में टकराव कैसे हो सकता है? नामवरजी का व्यंग्य गुणीभूत बिलकुल नहीं था, इस कारण नंदनजी ने उसे जरूर समझा होगा।

एक अवसर पर पटना संग्रहालय के सामने के ऊपरी हॉल में उनका निराला पर दिया गया व्याख्यान है। उसमें उन्होंने प्रसंगवश रीतिकाव्य की प्रशंसा कर दी। एमएल के नेता रामजी राय भी, जो इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हिंदी में एम.ए. करके बिहार में क्रांति करने आए थे, श्रोताओं में बैठे थे। वे सामंती काव्य रीतिकाव्य की प्रशंसा कैसे बर्दाश्त करते? उठकर उन्होंने नामवरजी से प्रश्न किया। उन्होंने शांतिपूर्वक उनके प्रश्न का उत्तर दे दिया, पर वे फिर उठे और दूसरा प्रश्न किया। उन्होंने उसी तरह उसका भी उत्तर दे दिया। फिर रामजी राय उनके साथ बहस करने पर उतर आए। नामवरजी ने उन्हें अपना अध्यापकीय रूप दिखलाते हुए उन्हें डांटने के स्वर में कहा-बैठो। फिर वे पस्त भाव से बैठ गए। उनके शुद्ध विनोद का एक अवसर वह है, जब वे साहित्य-सम्मेलन के मंच से बोलकर नीचे आए थे। थोड़ा ही आगे बढ़े थे कि मैंने उन्हें अपना प्रणाम निवेदित किया। मेरे मित्रों ने उन्हें यह सूचना दी कि अब नवलजी दादा बन गए। नामवरजी ने कहा-हां? लेकिन दादा तो वे पहले से ही थे। उनके इस कथन से मुझे और मेरे मित्रों को बहुत मजा आया।

जेएनयू में हिंदी विभाग से जुड़ी हुई कुछ दिलचस्प बातें भी। चूंकि छात्रों की संख्या कम थी, इसलिए अपना वर्ग नामवरजी अपने चैंबर में ही लेते थे। उनकी एक छात्रा थी, जो पढ़ाई पर ध्यान नहीं देती थी, क्योंकि एक छात्र से प्रेम करने में उलझी हुई थी। उससे उसका प्रेमपूर्ण पत्राचार भी चल रहा था। यह बात नामवरजी से छिपी कैसे रहती? एक दिन उन्होंने अपने वर्ग में प्रसंगवश उस छात्रा को खड़ा किया और उससे पूछा-आपने रामचंद्र शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' पढ़ा है? छात्रा ने उत्तर दिया-नहीं। नामवरजी ने फिर उससे पूछा-और द्विवेदीजी का 'हिंदी साहित्य'? उसने पहले की तरह ही 'नहीं' कहा। इस पर नामवरजी बोले-जो आंखें प्रेम-पत्र पढ़ने के लिए बनी हैं, वे भला हिंदी साहित्य का इतिहास क्यों पढ़ेंगी! उस समय बाद में अपने प्रेम के लिए देश-विख्यात एक छात्र भी जेएनयू में पढ़ते थे। उसका दिल अपने साथ पढ़ने वाली छात्रा पर आ गया था, जो एक दूसरे छात्र से प्रेम करती थी। आक्रोश में आकर उसने एक दिन उस छात्र को पीट दिया। मामला नामवरजी तक पहुंचा। उन्होंने पीटने वाले छात्र को बुलाकर कहा-रात में खाना खाने के बाद जब मैं अपने क्वार्टर की बाहर की सड़क पर थोड़ा टहलता हूं, तब आप मुझसे मिलेंगे। वह छात्र सड़क पर उनका इंतजार कर रहा था। वे आए, तो उससे पूछा-जिस छात्रा के लिए आपने एक छात्र को पीट दिया, वह क्या आपसे प्रेम करती है? छात्र ने ईमानदारी से उत्तर दिया-नहीं। फिर उन्होंने पूछा-जिस छात्र को आपने पीटा, वह क्या उसे प्रेम करती है? छात्र ने इस बार भी स्पष्ट रूप में उन्हें बतलाया कि जी हां, वह उसी से प्रेम करती है। अब नामवरजी ने छात्र से कहा-आप अपने कलेजे पर पत्थर रख लीजिए और भविष्य में फिर कभी ऐसी हरकत न करें, वर्ना मैं आपको निकाल दूंगा। इसमें उनकी अनुशासनप्रियता और उनकी संवेदनशीलता दोनों दिखलाई पड़ती हैं। अनुशासनप्रियता तो आप समझ रहे हैं, संवेदनशीलता उनके इस कथन में झलकती है कि आप अपने कलेजे पर पत्थर रख लीजिए। छात्र ने जब तक वह जेएनयू में रहा, फिर कोई वैसी हरकत नहीं की और पटने आकर

भी कुछ दिनों तक बहुत शांत रहा। इस अवधि में नामवरजी ने उन्हें अपना बहुत स्नेह दिया, लेकिन पटना विश्वविद्यालय में अध्यापक बनने के बाद कालेज का विभागाध्यक्ष होने पर वह फिर अपनी एक छात्रा पर मर-मिटा, तो नामवरजी उनसे फिर कुपित हो गए। एक ओर उसकी 'ख्याति' फैल रही थी, पर कुलपति ने एक समिति की सिफारिश पर उसे सेवा से निलंबित कर दिया था, और दूसरी ओर नामवरजी के पटना आने पर वह पान के बीड़े लिए उनके पास जाते थे, लेकिन वे उसकी कोई नोटिस नहीं लेते थे।

उनकी विशाल हृदयता का भी एक उदाहरण पेश करता हूं। ऑनर्स में मेरे और एम.ए. में उनके एक छात्र ने एम.ए. में टॉप किया था। परीक्षा-फल निकलने के बाद उस छात्र ने सोचा कि मैं एम. फिल् भी जेएनयू से ही करूं, सो उसने फेलोशिप के लिए आवेदन किया। फॉर्म पर उसे यह भी बतलाना था कि उसके परिवार की आय कितनी है? छात्र ने अपने परिवार की आय काफी कम करके दिखलाई, जिससे कि उसे फेलोशिप मिल सके। उसे शायद पता न था कि विश्वविद्यालय पुलिस की मार्फत आवेदन करने वाले छात्रों के परिवार की आय मालूम करता है। पुलिस ने उस छात्र के घर पर जाकर पता लगाया, तो उसने जो उसके संबंध में बताया था, वह गलत साबित हुआ, क्योंकि उसके परिवार की आय कहीं ज्यादा थी। अब उस छात्र पर विश्वविद्यालय द्वारा कार्रवाई होनी थी। छात्र को जब यह बात मालूम हुई, तो काफी चिंतित होकर डरते हुए नामवरजी के पास पहुंचा। वह उनके सामने अपना पूरा मामला रखने ही वाला था कि उन्होंने हाथ उठाकर उसे मना किया और कहा-'मालूम है। कभी-कभी ऐसा हो जाता है।' अब वह छात्र निश्चिंत होकर लौटा और उसके विरुद्ध विश्वविद्यालय ने कुछ भी नहीं किया। आज वह नामवरजी का स्नेह-पात्र ही नहीं, प्रिय पात्र है, क्योंकि पटना विश्वविद्यालय में अध्यापक बनने के बाद उसके विरुद्ध फिर उन्हें कुछ सुनने को नहीं मिला। इस कारण उसके प्रति उनका स्नेह प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। ऐसी अनेकानेक घटनाएं हैं, जो नामवरजी द्वारा किए गए ढेर सारे हिंदी के नए लेखकों पर उनके उपकार की कहानी कहती हैं। लेकिन उनमें से ज्यादातर लेखक ऐसे निकले, जिन्होंने उनकी लाचारी नहीं समझी और उनके मनोनुकूल उनसे कुछ नहीं हो सका, तो वे उन्हें गालियां देने लगे। अक्सरहा मुझे लगता है कि उनके हाथ में यश वाली रेखा नहीं है, इसलिए नए लेखकों ने उनके बड़े उपकार को भुला दिया है और उनके छोटे से छोटे अनुपकार को ही याद रखकर उनके विरुद्ध मोर्चा खोल दिया।

ऊपर की सारी बातें प्रसंगवश आ गई हैं, जिस तरह बाद में भी आती रहेंगी। मैं अब छूटा हुआ सूत्र पकड़ता हूं और 1971 में आता हूं। जब मैं नामवरजी को एम.ए. की कक्षा व्याख्यान देने के लिए जा रहा था, तो मैंने उन्हें 'आलोचना' के लिए अपना एक लेख (पं. मुकुटधर पांडेय और 'छायावाद') दिया और उनसे पूछा कि क्या आप इसे 'आलोचना' में छापेंगे? उन्होंने कहा कि लाइए। उक्त पत्रिका के अगले अंक में ही उन्होंने वह लेख छाप दिया, जिसे देखकर स्वभावतः मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। एक लंबे अंतराल के बाद मैंने 1975 में उन्हें एक लेख भेजा, तो उस पर उन्होंने मुझे एक पत्र लिखा : 'आपका निबंध 'राजनीति और समकालीन कविता' अभी-अभी मिला। इतने दिनों बाद अचानक आपका पत्र और लेख पाकर सचमुच खुशी हुई। फिलहाल सिर्फ लेख की पहुंच की सूचना भेज रहा हूं। लेख पढ़ने के बाद आवश्यक हुआ तो आपको फिर पत्र लिखूंगा। वैसे, 'आलोचना' आपका यह निबंध छापकर गौरवान्वित ही होगी। इसलिए स्वीकृति के विषय में

अतिरिक्त सूचना देने की आवश्यकता नहीं है। आप अपनी आलोचनावाली पुस्तक जल्द से जल्द पूरा कर लें। उसकी जरूरत है।' फिर 1976 में भी मैंने उन्हें एक लेख भेजा, जिसकी उन्होंने इतनी तारीफ की कि मैं सोते से जग पड़ा। दोपहर में आजकल मैं डेढ़ घंटे जरूर सोता हूं। जब मैं विश्वविद्यालय की सेवा में था, तब भी छुट्टियों में दोपहर में नींद खींचना न भूलता था। एक दिन मैं सोया हुआ था कि मेरे सुपुत्र चिंतन ने मुझे एक अंतर्देशीय लाकर दिया। मैं तंद्रावस्था में ही उसे खोलकर पढ़ गया। मुझे आश्चर्यमिश्रित प्रसन्नता हुई, पर तभी मेरी नजर पत्र के अंत में पड़ी, नामवरजी का नाम देखकर मैं उछल पड़ा और फिर मेरी नींद गायब हो गई। उन्होंने उस अंतर्देशीय में लिखा था : 'आपका निबंध 'प्रगतिशील साहित्य और रूप की समस्या' मिला। आभार। 'आलोचना-38' में प्रकाशित होगा। यह अंक जुलाई के अंतिम सप्ताह तक निकल जाएगा। आपने एक अत्यंत जटिल विषय पर बड़े सुलझे हुए ढंग से विचार किया है। बधाई। 'आलोचना' के लिए इसी तरह कुछ और भेजिए। मैं भूल नहीं रहा हूं तो आप हिंदी आलोचना-विशेषतः प्रगतिशील आलोचना पर एक पुस्तक लिखने की योजना बना रहे थे। डॉ. रामविलास शर्मा पर आपके मौखिक विचार भी मैंने सुने थे। क्या आप 'आलोचना' के लिए कोई लेखमाला लिखने की योजना नहीं बना सकते? इस तरह एक व्यवस्थित कार्य हो जाएगा। आशा है, आप इस विषय पर सोचकर मुझे शीघ्र ही लिखेंगे।'

तत्पश्चात् मैंने उन्हें हिंदी आलोचनावाली अपनी लिखी जा रही पुस्तक का पहला लेख भेजा। उस पर उन्होंने मुझे जो कुछ लिखा, वह मेरे लिए हिंदी साहित्य का द्वार खोल देने की तरह था। ऊपर के पत्रों की तरह आप इस पत्र को भी देखें : ' 'हिंदी आलोचना का आरंभ' शीर्षक लेख मिल गया और मैंने पढ़ भी लिया। आपने सचमुच बहुत श्रम किया है। मूल स्रोतों के आधार पर आपने हिंदी आलोचना के आरंभिक काल का जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह अभूतपूर्व है। आपके लेख से स्वयं मेरा ज्ञानवर्द्धन हुआ है। मुझे खुशी हुई कि आपने मेरा अनुरोध स्वीकार करके 'आलोचना' के लिए छह किस्तों की यह लेखमाला लिखना स्वीकार कर लिया। बस, अब आप इस पर जुट जाइए और जैसे-जैसे ये लेख पूरे हाते जाएं, उन्हें मेरे पास भेजते जाइए। यदि आप चाहेंगे तो अंत में राजकमल प्रकाशन से यह लेखमाला पुस्तकाकार भी प्रकाशित होगी। आप कहें तो मैं अभी से बात कर रखूं। पहला लेख अक्तूबर-दिसंबर-76 के अंक में प्रकाशित होता जो छपकर अक्टूबर के पहले सप्ताह में आ जाएगा। उस अंक में आपके निर्देशानुसार लेखमाला की घोषणा कर दी जाएगी। लेख के मुद्रण में आपके निर्देशानुसार ही भारतेंदुयुगीन वर्तनी सुरक्षित रहेगी। आप इस ओर से निश्चिंत रहें। अंत में एक बार फिर आपके निबंध के लिए हार्दिक बधाई। जुलाई-सितंबर-76 की आलोचना छपकर तैयार है, वरना मैं उसे इसी में दे देता। ऐसे ही समय जी होता है कि 'आलोचना' को मासिक होना चाहिए।' उनके इस पत्र से एक ओर जहां मुझे अत्यधिक प्रसन्नता हुई, वहां दूसरी ओर मैं सोच में भी पड़ गया कि नामवरजी क्या इतना बढ़-चढ़कर प्रोत्साहन देते हैं?

जब आचार्य रामचंद्र शुक्ल वाला मेरा लेख देखकर उन्होंने मुझे असंतोष से भरकर पत्र लिखा तब मेरी चिंता दूर हुई और मन को विश्वास हुआ कि उनकी प्रशंसा सही थी, क्योंकि वे आलोचना भी मुक्त भाव से करते हैं। इसे कहते हैं मार्ग-निर्देश, जो वे मुझे आलोचनात्मक लेखन के लिए दे रहे थे। बाद के लेख उन्होंने छापे पर असंतुष्ट भाव से। दरअसल उस समय मुझमें इतनी परिपक्वता

नहीं थी कि मैं उनकी नसीहत को समझकर आगे बढ़ सकूं। युवा लेखन सम्मेलन में उन्होंने यह भी कहा था कि उद्धरण चुनने में भी एक सुरुचि होती है, एक क्रम होता है। लेकिन मेरे सिर पर डॉ. शर्मा सवार थे, सो हिंदी आलोचना पर लिखे गए मेरे सारे लेख उनके दृष्टिकोण से प्रेरित तो थे ही, उनमें उनकी तुलना में भी उद्धरण कुछ ज्यादा ही होते थे। मैं उद्धरणों को कम करना चाहता था, पर वह कला मुझे बहुत देर से आई और वह भी अंशतः ही। नामवरजी मेरे प्रत्येक लेख पर मुझे अपनी प्रतिक्रिया से अवगत कराते थे, जिसकी रोशनी में मै। आगे बढ़ना चाहता था, पर बढ़ नहीं पा रहा था। सही मार्ग मुझे तब मिला, जब मैंने पश्चिम के अन्य आलोचकों और नए मार्क्सवादी साहित्यिक सौंदर्यशास्त्रियों को पढ़ा। उस मार्ग पर भी मैं धीरे- धीरे ही आगे बढ़ सका, सरपट दौड़ना मेरे लिए संभव नहीं था।

आप आचार्य शुक्ल पर लिखा गया उनका पत्र भी देखना चाहेंगे, सो मैं उसे भी उद्धृत कर रहा हूं : ' 'आपका आचार्य शुक्ल' वाला लेख यथासमय मिल गया था। खेद है कि मैं आपको तुरंत न लिख सका। आलोचना-41 की सामग्री प्रेस में देने के पहले लेखों का संपादन आरंभ किया तो कल आपके लेख को ध्यान से आद्यंत पढ़ा। आप बुरा न मानें तो साफ कहूं। इस लेख ने मुझे काफी निराश किया। आपने प्रायः शुक्लजी के विचारों को चुनकर विषयानुसार एक क्रम में सजाने का काम भर किया है। निस्संदेह चयन में आपके सूक्ष्म विवेक का परिचय मिलता है और संयोजन में आपकी बौद्धिक निपुणता निहित है। अपनी टिप्पणियां देने में आपने निश्चय लोभ का संवरण किया है। 'बात बोलेगी हम नहीं' वाली शैली निस्संदेह सराहनीय है। लेकिन बंधुवर, भारतेंदु-युग की समीक्षा के लिए यह पद्धति जितनी उपयोगी है, उतनी शुक्लजी तथा उनके बाद के आलोचकों के लिए नहीं। शुक्लजी के विचारों से लोग भलीभांति परिचित हैं। रही सही कमी डॉ. रामविलास शर्मा और डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी की पुस्तकों ने पूरी कर दी। ऐसी स्थिति में आपने उद्धरणों का ढेर लगाकर कोई उपयोगी कार्य नहीं किया। इसे तो आप भी स्वीकार करेंगे कि आपका यह निबंध बहुत कुछ डॉ. शर्मा की ही चिंतन-परंपरा में है-'एप्रोच' के मामले में। मुझे आपसे अपनी टिप्पणियों की अपेक्षा थी। मैं लगातार यही ढूंढ़ता रहा कि आपने अपनी मौलिक व्याख्या क्या दी? और मुझे स्वीकार करना पड़ रहा है कि मैं इस तलाश में निराश रहा।

'भविष्य के लिए एक अनुरोध है। कृपया 30-32 पृष्ठ तक ही एक किस्त को सीमित रखें तो अच्छा है। किस्तों की संख्या बढ़ जाय तो कोई बात नहीं। वैसे, यही भी आवश्यक नहीं कि 'आलोचना' में पूरी पुस्तक छपे। पुस्तक समाप्त हो गई हो तो पूरी पांडुलिपि भेज दें। उसे प्रेस में दे दिया जाएगा और पुस्तक प्रकाशित होने तक आलोचना में जितना आ सकेगा आ जाएगा। मैंने आत्मीयतावश ही साफ-साफ लिखा है। आशा है, आप बुरा न मानेंगे और हतोत्साह तो बिलकुल न होंगे।'

मेरी लाख कोशिश करने पर भी लेखों की लंबाई कम नहीं हो पा रही थी, इसलिए वे अब उन्हें संपादित करके छापने लगे। डॉ. शर्मा पर लिखा गया लेख उन्होंने बेमन से पूरा छापा और परवर्ती आलोचना पर लिखे गए लेख को तीन किस्तों में। उस लेख में मैने तीन आलोचकों पर विचार किया था। अंतिम आलोचक स्वयं नामवरजी थे। उस पूरे लेख पर उनकी उनकी प्रतिक्रिया : 'आपका लेख जिस दिन आया, उसी रात एक सांस में पूरा पढ़ गया। अपने बारे में लिखे गए अंश के बारे में क्या

कहूं? अभी तक और किसी ने तो ऐसा लिखा नहीं, मैं स्वयं भी कोशिश करूं तो शायद अपने मत तो ऐसे सुसंगत रूप में न रख सकूंगा। रघुवंशजी के साथ आपने पूरा न्याय किया है। 'धरातल' के नए अंक में आपने डॉ. जगदीश गुप्त का लेख छापकर फिर उस पर जो टिप्पणी दी है, वह भी जोरदार है।' जब पूरी पुस्तक लेख-माला के रूप में 'आलोचना' में छप गई, तो राजकमल से उन्होंने उसे पुस्तकाकार प्रकाशित कराया। जब तक प्रकाशकों में मेरी पैठ नहीं बन गई, मैं अपनी पुस्तकों की पांडुलिपियां उपयुक्त प्रकाशक को दे देने के लिए उन्हें ही भेजा करता था या उन्हीं की शिफारिश से मैं प्रकाशक को पांडुलिपि भेज देता था। आज के आत्मवादी युग में कौन संपादक एक नौसिखुआ आलोचक को प्रकाश में लाने के लिए उनकी तरह उद्यम करता है?

मैंने उन्हें लिखा था कि मैं दिल्ली आनेवाला हूं, सो वे बार-बार मुझे लिख रहे थे कि आपके दिल्ली आने का क्या हुआ? 1779 में एक दिन श्याम कश्यप के साथ सागर और भोपाल होते हुए मैं वहां पहुंच ही गया। कई दिन रूका। एक दिन शाम को उनके बैठके में मैं श्याम कश्यप के साथ बैठा हुआ था। वे सुरती मल रहे थे। मैंने उनसे पूछा-'आलोचना' की क्या स्थिति है? उन्होंने कहा कि अब आप आए हैं, तो आपसे बात होगी। पटना विश्वविद्यालय में हिंदी विभागाध्यक्ष के लिए बिहार लोक सेवा आयोग में साक्षात्कार होनेवाला था। उस पद के लिए महत्त्वाकांक्षी अध्यापक अपनी सारी शक्ति लगाए हुए थे, जबकि मैं लिखने-पढ़नेवाले किसी और अध्यापक को उस पद पर देखना चाहता था। नामवरजी भी उसमें एक विशेषज्ञ थे, जिस कारण मैं उन्हीं पर भरोसा करके चल रहा था। अगले दिन शाम को जब मैं फिर श्याम कश्यप के साथ उनके डेरे पर पहुंचा, तो उन्होंने मेरे लिए यह दुखद समाचार सुनाया कि वह साक्षात्कार टल गया है। मैं चिंचित हो उठा।

मेरी उसी अवस्था में नामवरजी ने मुझसे कहा कि आप आलोचना में सह-संपादक के रूप में काम करने का प्रस्ताव स्वीकार कर लीजिए। यह 1980 की बात है। मेरी योजना 'मुक्तिबोध : ज्ञान और संवेदना' नामक पुस्तक आरंभ करने की थी, पर उसे टालकर मैंने नामवरजी का आदेश स्वीकार कर लिया। उनसे कहा-आपको सहयोग देने की बात है, तो वह मैं जरूर करूंगा। मेरे लिए वह गौरवान्वित होने का अवसर होगा। वे उठकर तुरत अपने कमरे में गए और शीलाजी को मेरी स्वीकृति के बारे में बतलाकर फिर आ गए। कुछ देर बाद हमलोग चले, तो वे दरवाजे तक छोड़ने आए और मुझसे कहा कि कल आप राजकमल जाकर शीलाजी से मिलकर मानदेय तय कर लीजिएगा। मैंने उत्तर दिया-मैंने आपका आदेश शिरोधार्य किया, मानदेय आदि के संबंध में आप ही उनसे बात करके जो कर देंगे, उसे भी मैं मान लूंगा। फिर मैं और श्याम कश्यप बाहर चले आए। साक्षात्कार टल जाने से मैं इतना चिंतित था कि 'आलोचना' से संबंधित बात मैं भूल ही गया था। बाहर आने पर श्याम कश्यप ने मुझसे कहा-बधाई। मैंने पूछा कि किस बात के लिए बधाई दे रहे हो? उसने फिर कहा-अरे, आप 'आलोचना' के सह-संपादक हो गए!

आगे की कहानी सुनिए। अध्यक्ष-पद के उम्मीदवार अध्यापक यों बैठनेवाले न थे। रात के तीन बजे मुझे अचानक लगा कि हो न हो, उन्होंने ही तार भेजकर नामवरजी को सूचित किया है कि साक्षात्कार टल गया, जिसे वे विशेषज्ञ के रूप में न आ सकें। कई बार कई विश्वविद्यालयों में ऐसा हो चुका था। मैंने श्याम कश्यप को जगाया और तैयार होकर उसी समय नामवरजी के यहां पहुंचे। वे गहरी नींद में थे, सो कई बार घंटी बजाने पर भी नहीं जगे। हारकर हमलोगों ने रामदुलारे को जगाया,

जो गैराज के ऊपर बने कमरे में सो रहा था। वह जेएनयू के हिंदी-विभाग में चपरासी भी था और चूंकि नामवरजी अकेले रह रहे थे, सो उनका घर भी संभालता था। उसे जगाने के बाद मैंने उससे नामवरजी को जगाने के लिए कहा। क्वार्टर के पीछे जाकर उसने उन्हें पुकारा, तो वे जग गए और दरवाजा खोलकर हमलोगों को अंदर बुला लिया। मुझसे पूछा-क्या बात है, नवलजी? मैंने उनसे निवेदन किया कि आपको साक्षात्कार टल जाने के संबंध में जो तार मिला है, वह कहीं फर्जी तो नहीं है? उस समय बिहार के राज्यपाल और पटना विश्वविद्यालय के कुलाधिपति किदवई साहब थे, जो उनके मित्र थे। उन्होंने मुझे उत्तर दिया-नहीं, मैंने देख लिया है, वह राज्यपाल का ही तार है। अब निश्चिंत होकर हमलोग लौटे। मुझे डर था कि अगले दिन शाम को उनसे मिलूंगा, तो वे मुझे जरूर डांट पिलाएंगे। लेकिन डांटने की बात तो दूर, मुझसे उन्होंने बड़े स्नेह से सिर्फ इतना पूछा कि उस समय क्या वक्त हो रहा होगा, नवलजी? मै ाने कहा कि रात के चार बज रहे थे। बात आई-गई हो गई। अब उनके बैठके में बैठकर हमलोग 'आलोचना' के संबंध में बात करते रहे।

उन्होंने अपना यह साहसपूर्ण निर्णय सुनाया कि 'आलोचना' पिछड़ तो गई ही है, ढेर सारी नई पुस्तकें समीक्षार्थ पड़ी हैं। इस कारण हमलोग 'आलोचना' के कुछ अंकों में विभिन्न विधाओं को लेकर जैसे कविता, उपन्यास-कहानी और आलोचना, सिर्फ समीक्षा छापेंगे। उसके बाद मैं पटने लौट आया। स्टेशनरी और समीक्षार्थ पुस्तकें मुझे राजकमल की स्थानीय शाखा से मिल जाती थी। मैं महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का चयन करता था और उनके समीक्षकों की सूची नामवरजी से फिर मिलकर 'फाइनल' करा लेता था। फिर कविता वाली समीक्षाओं के अंक की सामग्री मैंने उन्हें भेजी, तो उन्होंने संपादन के लिए मेरी प्रशंसा की। जैसी की मेरी आदत थी, मैं संपादन समीक्षाओं के कुछ अंशों को हटाकर और उनकी भाषागत अशुद्धियां दूर करके करता था। 'ध्वजभंग' में मेरे संपादन को देखकर मेरे एक सहयोगी प्रो. शिवबचन सिंह ने मुझसे कहा था-'आप महावीरप्रसाद द्विवेदी के बाप हैं।' लेकिन नामवरजी ने कभी मुझसे कुछ नहीं कहा और कहा भी तो संकेत से, जिसे मैंने तुरत ग्रहण किया। मेरे संपादन और लेखन के चलते जो भी प्रहार हुए, उसे वे स्वयं झेलते रहे। अब मुझे यह सोचकर बहुत दुःख होता है कि मेरे चलते उन्हें क्या-क्या नहीं सुनना और सहना पड़ा।

नेमिचंद्र जैन और निर्मल वर्मा की नई पुस्तकों की समीक्षाएं मैंने ही लिखी थीं। समीक्षाएं पर्याप्त तर्कपूर्ण, लेकिन आक्रामक भी थीं। फलस्वरूप ये दोनों लेखक मुझसे नाराज हो गए। नेमिजी ने सीधे नामवरजी को फोन करके अपना क्षोभ प्रकट किया, लेकिन निर्मलजी ने फोन से शीलाजी से कहा कि यह बात मेरी समझ में नहीं आती है कि राजकमल से प्रकाशित मेरी पुस्तकों की इतनी प्रतिकूल समीक्षा आपकी ही पत्रिका 'आलोचना' में निकलती है, तो आप मुझे छापना बंद क्यों नहीं कर देती हैं? एक नए लेखक ने अपनी पुस्तक की संपादित और आलोचनात्मक समीक्षा 'आलोचना' में देखकर आपे से बाहर हो गए और नामवरजी के आवास पर आकर उन्हें अमर्यादित भाषा में बहुत-कुछ सुना गए। ये वे लेखक थे, जो निराला की उक्ति 'लेखकों में लंठ जैसे खुशनसीब' को चरितार्थ करते थे। नामवरजी ने मुझे उपर्युक्त तीनों लेखकों की प्रतिक्रिया से परिचित कराया, पर मुझे कुछ भी करने से मना नहीं किया। पता नहीं उनमें यह सहनशीलता कहां से आई है? लेकिन मुझे उनकी बातों से जो ग्रहण करना था, यथासंभव उसे ग्रहण किया। एक बार वे पटना आए, तो हवाई अड्डे के निकट ही विधानसभा के सदस्या और अपने रिश्तेदार प्रभुनाथ सिंह के क्वार्टर में ठहरे। चूंकि उन्होंने मुझे

शाम को मिलने के लिए बुला रखा था, इसलिए मैं ठीक समय पर वहां पहुंचा। प्रभुनाथ सिंह का बैठका राजनीतिक व्यक्तियों से भरा था, इसलिए मुझे देखते ही वे बाहर आ गए और सड़क पर खड़े होकर ही मुझसे बहुत सारी बातें कीं। उन्हीं के बीच प्रसंगवश बहुत कोमल स्वर में उन्होंने मुझसे कहा कि आप तो लेखों में काट-छांट करने का भी साहस करते हैं, लेकिन मैं तो सिर्फ व्याकरण की भूलें दुरुस्त करके छोड़ देता हूं। उनका इतना संकेत मेरे लिए पर्याप्त था, सो उसके बाद मैं भी उन्हीं की तरह 'आलोचना' के लिए आए लेखों में सिर्फ व्याकरण की भूलें ठीक करके ही संपादन-कर्म को संपन्न मानने लगा।

नामवरजी से मैंने संपादन-कला भी सीखी। मैं छपने योग्य सारे लेख उनके पास ले जाता था और वे देखते-देखते उनमें ऐसा क्रम लगा देते थे कि अंक का पूरा स्वरूप उभर आता था। इतना ही नहीं, वे तमाम लेखों को एक बार इस दृष्टि से भी देखते थे कि कहीं किन्हीं ने उन्हें उद्धृत तो नहीं किया है। ऐसे स्थलों को वे काट देते थे और जो स्थल उनकी आलोचना में लिखे जाते थे, उन्हें वे रहने देते थे। उन्होंने नियम बना रखा था कि 'आलोचना' में किसी संपादक की किसी पुस्तक की समीक्षा नहीं छपेगी। दूसरी तरफ ऐसे जनवादी लेखक थे, जो उनसे अपने ऊपर विस्तृत टिप्पणी लिखवाकर बड़ी निर्लज्जता से अपनी पत्रिका में छापते थे! उन दिनों वे बहुत सक्रिय थे और उन्हें सिर्फ एक सहायक की जरूरत थी, जिसके लिए उन्होंने मुझपर भरोसा किया। यही समझिए कि कुछ लेखों को जुटाने के लिए मैं उन्हें लिखता था और वे वह काम बड़ी मुस्तैदी से करते थे। इसका एक ही प्रमाण उनके पत्रों से मैं उद्धृत कर रहा हूं : 'इस अंक के लिए मेरे जिम्मे जो काम आपने बताए हैं, करूंगा। नागरजी, मुंशी, नागार्जुन, त्रिलोचन और शमशेर से लेख आदि लेने की जिम्मेवारी मेरी। केदारनाथ अग्रवाल से लेख आप प्राप्त करेंगे। केदार बाबू से पूछिए कि वे कोई कविता भी लिखना चाहेंगे? अच्छी रहेगी। चंद्रबली सिंह की कोई खबर मुझे भी नहीं है। उनसे लेख लेना मेरे वश का नहीं। फिर भी कोशिश करूंगा। आप भी कोशिश करते रहिए।' एक बार जेएनयू में आचार्य रामचंद्र शुक्ल पर और आचार्य शुक्ल पर संगोष्ठी थी। उसमें मैंने 'राजनीतिक-आंदोलन' शीर्षक आलेख का पाठ किया था, साथ-साथ 'आलोचना' के आगामी अंक की भी उनसे मिलकर योजना बनानी थी। मैं 'आलोचना' के काम से जब दिल्ली जाता था, तो राजकमल मुझे आने-जाने का फर्स्ट क्लास का किराया दिया करता था। नामवरजी के डेरे से चलते समय दरवाजे पर मैंने उनसे पूछा-इस बार राजकमल मुझे किराया देगा, तो मैं लूंगा या नहीं? उन्होंने कहा कि इस बार आप हमारी संगोष्ठी में आए हैं, इसलिए आप किराया न लें। मेरा खयाल है कि मैंने उनसे यह पूछा, उससे भीतर ही भीतर वे जरूर आश्वस्त हुए होंगे।

उन्हें मेरे विरोध में बहुत सारे लेखक बहुत-कुछ कहते थे, पर उन पर जैसे उसका कोई असर नहीं होता था, क्योंकि वे मेरी समीक्षाओं और लेखों की लगातार प्रशंसा करते रहे। इस संबंध में मैं आपको उनके पत्रों से कुछ उद्धरण देना चाहता हूं, जो वस्तुतः उनके स्नेह-वत्सल व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हैं। : ' 'डंक' पर आपकी समीक्षा बहुत अच्छी है, 'आपकी (आगरे की) डायरी के बाद अब डॉ. शर्मा से इंटरव्यू लेने की जरूरत नहीं रह गई है', 'आपकी मुक्तिबोधवाली पुस्तक की प्रतीक्षा में हूं। उस पर बहुत-सी आशाएं टिकी हैं', 'मुक्तिबोध की विश्वदृष्टि' शीर्षक लेख मिला। तुरंत पढ़ गया। इससे निश्चय ही मुक्तिबोध की विश्वदृष्टि संबंधी उलझनें दूर होंगी-खासत तौर से मार्क्सवादी

से उनके रिश्ते को लेकर। मुक्तिबोध के उद्धरण आपने बहुत सटीक चुने हैं, 'बधाई देना चाहता हूं मुक्तिबोध की राजनीतिक कविताओं पर आपके महत्त्वपूर्ण लेख के लिए। दस्तावेज-40 मिलते ही एक सांस में आपका लेख पढ़ गया। बहुत अच्छा लगा। मुक्तिबोध की राजनीतिक कविताओं पर इतना मुकम्मल लेख अभी तक नहीं लिखा गया है। आपने प्रसंगवश अनेक आरोपों का खंडन भी कर दिया है, जिसकी जरूरत थी। ऐसी अनेक कविताओं की ओर आपने ध्यान आकृष्ट किया है, जिनकी ओर मेरा ध्यान भी न गया था', 'मार्क्सवादी आलोचना और अवसरवाद' पढ़ने को न मिलता तो आपकी एक सार्थक आलोचना से वंचित रह जाता'। 'रघुवीर सहाय की कविताओं वाला लेख मिल गया था। पढ़ भी डाला। बहुत अच्छा है' आदि।

पटना आने पर उनका मेरे घर आना और भोजन करना होता ही रहता था। इस कारण मुझे लिखे गए प्रायः अपने सभी पत्रों में वे मेरे स्वास्थ्य और परिवार के प्रति अपना स्नेह प्रकट करते रहे, जो पूर्णतः अनौपचारिक होता था। पूर्वा ने उनके एक लेख का संस्कृत में अनुवाद किया था। उनके कहने पर वह अनुवाद मैंने उन्हें भेज दिया। उन्होंने अपने अगले पत्र में मुझे लिखा : 'पूर्वा बिटिया को इतनी सुंदर संस्कृत के लिए बधाई दीजिएगा मेरी ओर से। फिर वे पूर्वा को अपना स्नेह देना कभी न भूले। इसी बीच प्रोन्नति पाकर मैं विधिवत् प्रोफेसर हो गया था, जिसकी मैंने उन्हें सूचना दी थी। जिसके उत्तर में उन्होंने लिखा : 'बधाई। वैसे मेरे लिए तो आप पहले भी प्रोफेसर ही थे।' 'आलोचना' के आचार्य द्विवेदी विशेषांक के लिए मैंने उन्हें 'आचार्य द्विवेदी और प्रगतिवाद' शीर्षक लेख भेजा था। उन्होंने पुनः मेरी प्रशंसा करते हुए लिखा : 'आपका लेख मिल गया और उसे मैं पढ़ भी गया। प्रगतिवाद के साथ द्विवेदीजी के संबंध पर विचार करने का निर्णय बहुत समयोचित और आवश्यक है। यह प्रश्न विवादास्पद भी रहा है। आपने ठोस प्रमाणों और अकाट्य युक्तियों के आधार पर ऐसा निबंध प्रस्तुत किया है कि संदेहवादियों का मुंह बंद हो जाएगा। आपके लेख से 'आलोचना' के द्विवेदी-अंक में एक बड़े अभाव की पूर्ति होगी। क्या अब भी यह कहने की आवश्यकता रह जाती है कि आपका लेख बहुत अच्छा लगा है।' मेरी जगह कोई अन्य युवा लेखक होता, तो उनकी प्रशंसाओं से 'विचलित' हो जाता और उसका लिखना-पढ़ना छूट जाता। ऐसी कई दुर्घटनाएं मैं देख चुका हूं। लेकिन चूंकि मैं जानता था कि उनकी प्रशंसा में स्नेहपूर्ण प्रोत्साहन और आशीर्वाद दोनों मिले हुए है, इस कारण मैं 'विचलित' न हुआ और अपने प्रति दृढ़ और आत्मालोचना का भाव रखने के कारण लिखने में और सावधानी बरतने लगा, जिससे कि मैं जो भी लिखूं, उन्हें पसंद आए। हां, इतना जरूर हुआ कि उनकी प्रतिक्रियाओं से मेरा आत्मविश्वास बढ़ा, पर उसने कभी सीमा नहीं पार की।

एक बार की बात है। खगेंद्रजी के आमंत्रण पर वे पटना आए और उन्हें के आवास पर ठहरे। उन्हें लेने के लिए मैं भी स्टेशन गया। वे डब्बे से उतरे, तो मुझे कुछ अस्वस्थ मालूम पड़े। मैंने उनसे पूछा-डाक्टर साहब, आप ठीक तो हैं? उन्होंने वही उत्तर दिया, जो मेरे फोन करने पर आज भी मुझे देते हैं-मैं ठीक हूं। जहां तक मुझे याद है, खगेंद्रजी उसी दिन उन्हें लेकर निकल पड़े और दो दिनों तक पता नहीं कहां-कहां घुमाकर संभवतः तीसरे दिन वे उन्हें लेकर पटना लौटे। शाम को जब मैं उनसे मिलने गया, तो वे खगेंद्रजी के यहां बैठे हुए थे-थकान से चूर और दुःख तथा क्रोध से भरे हुए। मैंने उनसे निवेदन किया-आप बहुत थके हुए लग रहे हैं। आप राष्ट्रीय संपत्ति हैं, इसलिए

आपको थका हुआ देखकर भी मैं चिंतित हो जाता हूं। खगेंद्रजी को लक्ष्य कर उन्होंने कहा-मैं तो उनकी संपत्ति हूं! उनके इस कथन से उनकी थकान, उनका दुःख और उनका आक्रोश तीनों प्रकट हो रहे थे, साथ-साथ यह बात भी कि उन्हें तो मुझे सहेजकर रखना चाहिए! इसे ज्यादा उन्होंने कुछ नहीं कहा और इतना भी उन्होंने इसलिए कहा कि उस समय वहां खगेंद्रजी मौजूद नहीं थे। लेकिन दिल्ली लौटकर उन्होंने सारी बातें केदारजी को बतलाईं। क्या संयोग कि उसके चार-छः दिनों बाद ही मैं दिल्ली पहुंचा, तो केदारजी ने मुझे उलाहना दिया-आपलोग नामवरजी के स्वास्थ्य की कोई परवाह नहीं करते। वे पटने से बहुत टूटकर लौटे हैं। खगेंद्रजी का उनके साथ इस तरह पेश आना उचित नहीं था। थोड़ी देर चुप रहने के बाद मैंने उन्हें उत्तर दिया-इसमें व्यक्तिगत रूप से मेरा कोई हाथ नहीं है। मुझे तो यह भी नहीं मालूम है कि वे अस्वस्थावस्था में उन्हें कहां-कहां ले जाकर उनसे कितने व्याख्यान कराए।

कुछ वर्षों के बाद नामवरजी लंगट सिंह कालेज, मुजफरपुर पुनश्चर्या-पाठ्यक्रम में भाग लेने के लिए आए। खगेंद्रजी को उनका कार्यक्रम मालूम था, सो उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ की ओर से उनके एक व्याख्यान का आयोजन कर रखा था। नामवरजी उनके आग्रह पर व्याख्यान देने चले गए। वहां जाने पर खगेंद्रजी ने उनसे कहा-आप प्रो. रेवती रमण की इस पुस्तक का लोकार्पण भी कर दीजिए। उन्होंने कहा-मुझे इसकी कोई पूर्वसूचना नहीं है, मेरी स्वीकृति की बात तो दूर रहे, इस कारण मैं लोकार्पण नहीं करूंगा। खगेंद्रजी ने उनसे कहा-कार्ड छप चुका है। लेकिन उसका उन पर कोई असर नहीं हुआ। व्याख्यान देकर वे डॉ. महेंद्र मधुकर के साथ कार से पटना के लिए निकल गए। मुझको भी यह सूचना थी कि वे शाम तक मौर्या होटल पहुंचेंगे। स्वभावतः मैं वहां पहले से मौजूद था। उनकी कार आई और मधुकरजी के साथ वे होटल में प्रविष्ट हुए। मुझे देखते ही उन्होंने खगेंद्रजी की पूरी कहानी सुना दी। उनकी कार्ड छप जानेवाली बात पर उन्होंने मुझसे कहा-'जाने न जाने गुल ही न जाने बाग़ तो सारे जाने हैं'। मैं चुपचाप उनकी बातें सुनता हुआ खगेंद्रजी के व्यवहार पर मन ही मन कुढ़ता रहा, लेकिन नामवरजी के आत्मसम्मान की रक्षा करने पर प्रसन्न भी हुआ।

दिल्ली की ही बात है। नामवरजी के एक छात्र ने उन्हीं के निर्देशन में रघुवीर सहाय की कविता पर डी. फिल् किया था और उन्हीं को समर्पित करते हुए उसे पुस्तक रूप में भी प्रकाशित कराया था। उसने अपने प्रबंध की एक प्रति नामवरजी से पहले जेएनयू के एक दूसरे अध्यापक को यह लिखकर दी कि यदि यह शोध कार्य आपके निर्देशन में संपन्न हुआ होता, तो इसमें जो त्रुटियां हैं, वे न रहती। इसे भी एक संयोग ही कहेंगे कि उन अध्यापक को खोजते हुए केदारजी उनके यहां पहुंचे, तो वे तो उन्हें नहीं मिले, लेकिन उनके बिस्तर पर रखा हुआ उक्त प्रबंध, घर की महिला को कहकर, देखने के लिए अपने साथ ले आए। अपने डेरे पर पहुंचकर उन्होंने 'निर्देशन और त्रुटियां' वाली बात देखी, तो हैरान रह गए। यह एक और संयोग था कि तुरत नामवरजी उनके यहां पहुंचे। उनके बैठते ही उन्होंने उन्हें वह पुस्तक उन्हें दिखला दी। वे 'निर्देशन और त्रुटियां' पर बहुत कुपित हुए। मुझे यह पूरी घटना मालूम हो चुकी थी। मैं शाम को नामवरजी के यहां गया, तो वे भोजन कर रहे थे, अपने शोध-छात्र के व्यवहार से बहुत गुस्से में। मैं जाकर उनके बैठके में बैठा, तो उन्होंने मुझसे कहा-वे छात्र आते हैं, तो मैं उनसे पूछूंगा कि उन्होंने किससे पूछकर यह पुस्तक मुझे समर्पित की।

अब आगे की बात सुनिए। चूंकि डॉ. नगेंद्र ने यह व्रत ले रखा था कि मैं जेएनयू के छात्र को किसी विश्वविद्यालय में अध्यापक नहीं बनने दूंगा। क्योंकि वहां हिंदी साहित्य की नहीं, मार्क्सवाद की पढ़ाई होती है। और उनके साथ विभिन्न विश्वविद्यालयों के अध्यक्षों का एक गिरोह भी था, जो उनसे पूछकर ही चलता था। इस कारण अपने छात्रों को अध्यापक बनाने के लिए नामवरजी को विशेषज्ञ के रूप में बहुत दौड़ना पड़ता था और अपने निश्चय और कौशल से अपने छात्र की नियुक्ति भी वे करा लेते थे। एक बार उन्होंने मुझे सूचना भिजवाई कि मैं सुबह की पहली उड़ान से पटना पहुंच रहा हूं, आप हवाई अड्डे पर कोई वाहन लेकर आएं, क्योंकि उनके साथ अलीगढ़ विश्वविद्यालय के एक और विशेषज्ञ भी होंगे। एक अध्यापक की सहायता से मुझे एक जीप मिल गई और उसे लेकर ठीक समय पर मैं हवाई अड्डे पहुंच गया। वे हवाई जहाज से उतरे और सीधे बाहर आने लगे। उनकी मुलाकात मुझसे हुई। मुझे यह भी पता था कि वे किस छात्र की अध्यापक के रूप में नियुक्ति के लिए आ रहे हैं। मैंने मिलते ही उनसे कहा-आप उसी बदमाश की नियुक्ति के लिए आए हैं! उन्होंने अपने हाथ से मुझे सिर्फ आगे बढ़ने का इशारा किया और हम तीनों आदमी बाहर आकर जीप पर सवार हो गए।

उस दिन बिहार बंद था। नामवरजी बेली रोड से ही देखते हुए आ रहे थे कि सारी दुकानें बंद हैं और शहर में सन्नाटा है। जब वे फ्रेजर रोड से होते हुए रेडियो स्टेशन के समीप पहुंचे तो बोले-अगले सप्ताह 'दिनमान' में बिहार बंद पर रघुवीर सहाय का संपादकीय पढ़ लीजिएगा। आपको पता ही नहीं चलेगा कि बंद था या नहीं। यह रघुवीर सहाय के उलझे हुए गद्य पर उनकी सटीक टिप्पणी थी। उनकी छात्र-वत्सलता और क्षमाशीलता को तो मैं देख ही चुका था, उनकी गद्य की अचुक पहचान का भी एक बार फिर से कायल हो गया। इस तरह हम तीनों अपने आवास रानीघाट पहुंचे और चूंकि भोजन पहले से तैयार था, सो भोजन कर के तुरत स्टीमर पकड़ने के लिए महेंद्रू घाट को रवाना हो गए। मैं जहाज पर उन्हें बैठाकर उनसे बातें करने लगा, तो जहाज खुल गया। उन्होंने मुझसे कहा-चलिए, सोनपुर से लौट आइएगा। मैंने रास्ते में उनसे कहा-आप कल लौटकर आएं, तो पटने में समकालीन हिंदी कविता पर एक व्याख्यान भी दें। वे सहर्ष तैयार हो गए, लेकिन जब हमलोग सोनपुर प्लेटफार्म पर खड़े थे, तो मैंने देखा कि वे कुछ गंभीर हैं। उन्होंने कहा कि व्याख्यान 'आधुनिक हिंदी आलोचना' पर रखिए। मुझको इस पर क्या आपत्ति हो सकती थी?

पटने आकर मैंने सभी अखबारों में उनके व्याख्यान संबंधी समाचार दे दिया। अगले दिन 'इंडियन नेशन' और 'आर्यावर्त' में वह छप भी गया। इतना काफी था, क्योंकि सूचना-मात्र पर लोग उनके व्याख्यान सुनने पहुंच जाते थे और हॉल भर जाता था। यह व्याख्यान मैंने बिहार इंडस्ट्रीज एसोसिएशन के हॉल में रखा था। बिहार विश्वविद्यालय में ऐसा हुआ कि साक्षात्कार टल गया। वहां के अध्यापक हड़ताल पर थे और नहीं चाहते थे कि इस स्थिति में उसका कोई कार्य संपन्न हो। उन्होंने उनसे अनुरोध किया कि आप साक्षात्कारवाली बैठक में न शामिल हों। वे चूंकि आंदोलनों के हमदर्द रहे हैं, इसलिए लौट गए और दूसरे दिन शाम को रिक्शे से मेरे आवास पर पहुंचे। वहां चाय पी और मेरे साथ उक्त हॉल को चल दिए। उन्होंने अपना व्याख्यान देने के पहले यह मार्मिक वाक्य कहा-मैं व्याख्यान देने न आता, तो ये क्षण मेरे आराम के होते। फिर उन्होंने अपना व्याख्यान शुरू कर दिया। व्याख्यान के बाद हमलोग अपने आवास पर रानीघाट पहुंचे। साथ में प्रभुनाथ सिंह

सहित ढेर सारे लोग थे। नामवरजी ने कहा-एक बात कहना तो मैं भूल ही गया कि जिसको पढ़ने का मन न करेऋ वह आलोचना नहीं है। उनकी आलोचना की भाषा में जो सरलता है, वह उनके लिए एक भारी मूल्य है। श्रीकांत वर्मा ने उन्हें एक पत्र में लिखा था कि आपकी सरलता से डर लगता है। तात्पर्य यह कि उसके नीचे अकूत गहराई छिपी होती है।

मुझे दिनकरजी की पंक्तियां याद आईं। जिनमें उन्होंने नीरो के एक कथन को छंदोबद्ध किया है :

सच्चाई की पहचान कि पानी साफ रहे,
जो भी चाहे ले परख जलाशय के तल को।
गहराई का वे भेद छिपाया करते हैं,
जो जान-बूझ गंदला करते अपने जल को।

चूंकि चाय आने में कुछ देर हुई, इसलिए लोग जमकर गप करते रहे। मच्छड़ बहुत ज्यादा थे और 'ऑल आउट' उस समय तक निकला नहीं था, सो नामवरजी ने स्वयं उठकर बैठके की पूरबवाली खिड़की बंद कर दी या किसी और से करवा दी। चाय पीकर लोग वापस हुए। नामवरजी को मैंने ऊपर के एक कमरे में ठहराया और यथासंभव उनकी सुविधा का खयाल रखा। सवेरे उठकर वे मेरी छत पर टहल रहे थे। मुझे देखकर उन्होंने पूछा-लाल धुआं का क्या हाल है? मैंने कहा-आप उन्हें भी जानते हैं? वे बोले-हां-हां, वे बनारस में बहुत दिनों तक रहे हैं। वे टहलते रहे और मैं नीचे चला गया। लौटकर फिर ऊपर आया, तो इस बार विस्मय के भाव से मुझसे पूछा-नवलजी, छविनाथ पांडेय अभी जीवित हैं? मैंने कहा-वे जीवित ही नहीं हैं, अगले अनेक वर्षों तक जीवित रहेंगे। तत्पश्चात् दाढ़ी बनाकर, स्नान करके और भोजन करके दिल्ली जाने के लिए हवाई जहाज पकड़ने हवाई अड्डे चल दिए। उनके साथ मैं तो था ही, पिछले रिक्शे से ही तरुणीजी भी थे। इस तरह से हमलोग गंतव्य तक पहुंचे। हवाई जहाज के आने और खुलने में अभी कुछ देर थी, हमलोग गपशप करते रहे। सहारा इंडिया का विमान खुल गया, जिसकी माईक पर घोषणा की गई। उन्हें एयर इंडिया से जाना था। वह बोले-यह सहारा है और यह बेसहारा विमान! ऐसा ही एक अवसर था, जबकि मैं और तरुणजी उन्हें छोड़ने हवाई अड्डे गए थे। लाउंज में बैठकर हम तीनों गप कर रहे थे। उन्होंने मुझसे पूछा-आप क्यों आ गए? मैंने कहा-मुझे तरुणजी ले आए हैं। वे बोले-अब कौन किसको लाता है, मैं क्या कहूं। बाद में तरुणजी ने मुझे समझाया कि वैसा कहने का क्या मतलब था। उनके अनुसार वे खूब जानते थे कि मैं उन्हें लाया हूं, आपको मैं नहीं लाया, बल्कि आप मुझ लाए हैं। हवाई जहाज आने के बाद वे उसमें बैठने के पहले की जांच करकर उसमें अपनी जगह पर बैठ चुके थे। उक्त बात तरुणजी ने मुझको रास्ते में बतलाई थी। मैंने व्रत ले रखा था कि वे किसी के भी बुलाने पर पटना क्यों न आएं, उन्हें छोड़ने मैं हवाई अड्डे अवश्य जाऊंगा। उसमे तरुणजी ने प्रायः मेरा साथ दिया।

तरुणजी को विश्वास था कि वे उनके स्नेहपूर्ण विश्वास जरूर प्राप्त कर लेंगे। एक बार पुस्तक-मेलेवालों ने उन्हें बुला रखा था और एक होटल में उन्हें ठहराया था। पुस्तक मेले में उन्होंने तरुणजी के निबंध-संग्रह 'दृश्य-परिदृश्य' का लोकार्पण किया। उसी समय मेरी एक पुस्तक भी आई थी-'मुक्तिबोध की कविताएं : बिंब-प्रतिबिंब'। मुझे भी लोभ हुआ कि मैं उनसे अपनी पुस्तक की लोकार्पण करा लूं। कारण यह कि कविताएं मुक्तिबोध की थीं, पुस्तक शमशेरजी को समर्पित थी,

जो 'चांद का मुंह टेढ़ा है' की भूमिका से मुक्तिबोध को हिंदी कविता में स्थापित करनेवाले थे और उपस्थिति नामवरजी की थी, जो उन्हें विशिष्ट कवि के रूप में प्रस्तुत करनेवाले प्रथम आलोचक थे, शमशेरजी से बहुत पहले। मुझे यह दुर्लभ संयोग प्रतीत हुआ। मैंने नामवरजी से अपनी पुस्तक के लोकार्पण के लिए भी अनुरोध किया, तो वे सहर्ष तैयार हो गए। लेकिन दिन में अन्यत्र व्याख्यान देकर वे इतने थक गए थे कि ज्यादा नहीं बोले। तरुणजी की पुस्तक पर यह कहा कि इसे मुझे अपने शिष्य से पराजित होने का गर्व हुआ है और मेरी पुस्तक के बारे में यह कि इससे मुझे अपने मित्र से पराजित होने का सुख मिला है। बोल कर बैठे, मेरी ही बगल में, तो मैंने उनसे कहा-अब आपके हृदय को वात्सल्य आच्छादित करता जा रहा है। मेरी इस बात पर मेरी तरफ देखकर बहुत करुण मुस्कुराहट मुस्कुराए, जिस का अर्थ यह था कि आप इस बात को समझते हैं, पर और लोग नहीं समझते! लेकिन अपने लोकार्पण-भाषण में उन्होंने सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कही थी कि आलोचक बनने का उनका कतई इरादा नहीं था। उनके एक मित्र और वे दोनों 'बुकवर्म' बनना चाहते थे। निश्चय ही, 'बुकवर्म' तो वे बन गए, क्योंकि पढ़ने को उन्होंने लिखने पर हमेशा तरजीह दी। उनके भाषणों को भी उनकी पढ़ाई का ही 'एक्सटेंशन' समझना चाहिए, क्योंकि भाषणों के लिए उन्होंने विभिन्न पुस्तकालयों में जाकर इतने खोजपूर्ण अध्ययन से नोट्स तैया किए कि उनके भाषणों से अभी तक आठ-दस जिल्दें बन चुकी हैं और अभी और बनेंगी। तरुणजी ने उन पुस्तकों को देखकर कहा-उनमे ऐसा विस्तार और गहराई है कि मुंह से बरबस निकल पड़ता है, जो 'न भारते तन्न मारते'। साहित्य से संबंधित शायद ही किसी विषय को उन्होंने छोड़ा है। पढ़ते हुए भी उन्होंने सात-आठ पुस्तकें आलोचना की तरह लिखीं, तो आचार्य द्विवेदी द्वारा कबीर के सबंध में कही गई यह बात दुहराई जा सकती है कि वह उनके अध्ययन-मनन का 'वाई प्रोडक्ट' यानी 'फीकर का पाल' है! ऐसे लेखन में, जो अपने वैदुस्य की धाक जमाने के लिए नहीं किया गया, स्पृहणीय सरलता और पारदर्शिता का होना लाजमी है। एक बार शीलाजी से नामवरजी के संबंध में बात हो रही थी। उन्होंने चिंतनशील मुद्रा में कहा-काश, नामवरजी की पढ़ने की आदत कुछ कम हो जाती! उनका तात्पर्य यह था कि वे कुछ कम पढ़ते, तो ज्यादा लिखते।

अब तरुणजी की बात। नामवरजी ने होटल लौटकर उनकी पुस्तक के काफी लेख पढ़ गए। सवेरे उनकी सेवा में वे पहुंचे, तो उन्होंने कहा-तरुणजी, मेरे सबसे योग्य शिक्षक आप ही निकले। तरुणजी ने उनसे निवेदन किया-मैंने तो आपने जो पढ़ाया है, उसी के सहारे कुछ लिखा है। इसमें मेरा श्रेय क्या है? नामवरजी ने उनसे कहा-पढ़ाया तो मैंने बहतों को है, लेकिन उनमें से कितने आपकी तरह लिखा? अब तरुणजी की पढ़ने की आदत देखकर मुझे भी लगने लगा है कि अपने गुरुदेव की तरह ही वे कहीं अपनी सारी शक्ति पढ़ने और व्याख्यान देने में न लगा दें। क्योंकि नामवरजी ने 'कसौटी' के अंकों में तरुणजी का लेख देखकर मुझसे कहा था-आप तरुणजी से लिखवाकर बहुत अच्छा करते हैं। मैंने उत्तर दिया-डाक्टर साहब, इनसे लिखवाने के लिए मुझे बहुत परिश्रम करना पड़ता हैं मैं सोचता हूं कि लिखने के लिए जब उनके सिर पर सवार होनेवाला कोई नहीं रहेगा, तो वे तो 'पीस-कागद' छुएंगे ही नहीं। शिष्य होने से मेरी बात तो नहीं उठाते, देर-सवेर जो कहता हूं, लिख ही देते हैं, पर मेरे बाद क्या होगा? खैर, नामवरजी का स्नेहपूर्ण विश्वास प्राप्त कर उन्होंने अपने विश्वास को चरितार्थ किया, इससे मुझे बहुत खुशी हुई।

'रुद्र' समग्र के लोकार्पण समारोह में नामवरजी और केदारजी दोनों ही पटना आए थे। दूसरे दिन शाम को मैं और तरुणजी उन्हें छोड़ने के लिए पटना जंक्शन गए, तो देखा कि ट्रेन आ चुकी है और प्रथम श्रेणी के डब्बे में आमने-सामने वाले बर्थ पर दोनों अपनी जगह ले चुके हैं। वहां पहुंचकर मैंने पाया कि कुछ यशःप्रार्थी कवि केदारजी को घेरे हुए हैं। उन्होंने उन कवियों से कहा-आप लोग मुझे क्यों घेरे हुए हैं? आप नामवरजी को घेरिए, क्योंकि साहित्य का इतिहास तो वही लिखेंगे। अब कवि-गण उनकी ओर उन्मुख हुए। उन्होंने उन्हें यह जवाब दिया कि इतिहास तो मैं लिखूंगा, लेकिन सूची तो केदारजी ही देंगे! यह दोनों में चलनेवाली नोक-झोंक थी, जिसे देखकर मैं और तरुणजी बहुत आनंदित हुए। पता नहीं उन दोनों के बीच ऐसी नोक-झोंक बराबर चलती थी, या पटने से दिल्ली जानेवाली ट्रेन में वह एक बार ही हुई, जिसके साक्षी बनने का सौभाग्य मुझे और तरुणजी को मिला था। विभिन्न अवसरों पर नामवरजी बहुत सटीक उक्तियां उद्धृत करते हैं। एक बार मैंने श्याम कश्यप से कहा-यार, तुम पंजाबी हो और पंजाब का प्रिय 'डिश' है मक्के की रोटी और सरसों का साग। एक दिन मुझे वह खिलाओ। उसने कहा-गुरुजी यानी नामवरजी और केदारजी को भी बुला लेता हूं। मैंने कहा कि तब तो मजा आ जाएगा। दूसरे दिन वह सवेरे ही दोनों को न्योत आया। नामवरजी तो समय के भारी पाबंद हैं, सो ठीक समय पर अपने क्वार्टर से तेजी से पैदल चलते हुए ही आ गए, पर केदारजी शहर में निकले हुए थे, जिस कारण उनका कोई पता नहीं था। वे तब तक श्याम कश्यप की पुस्तकें देखते रहे। फिर बोले-पुस्तकों पर बहुत खर्च करते हो, भाई! एक बार बातचीत में वे उसका इतिहास-ज्ञान देख चुके थे। डॉ. शर्मा तो कम्युनिस्ट आंदोलन के बारे में बराबर पत्र लिखकर उससे सही सूचनाएं मंगाया करते थे। केदारजी को देर होते देखकर हमलोगों को अटपटा लगा, तो उनके 'अकेलेपन' को लक्ष्य कर नामवरजी ने ये पंक्तियां कही-'मेरी चिंता में कौन विकल,/मैं होऊं किसके हित चंचल,/यह प्रश्न शिथिल करता नग को, भरता मन में विह्वलता है।' पाठक समझ गए होंगे कि उद्ध उद्धृत पंक्तियां 'निशा-निमंत्रण' से बच्चन की पंक्तियां हैं। थोड़ी देर से ही सही, पर केदारजी आ गए। अब शीलाजी ने गरम-गरम रोटियां सेंकनी शुरू की। साग उन्होंने पहले से बना रखा था। मैंने देखा कि मक्के का आटा गेहूं के आटे की तरह मुलायम है, जिससे बनी रोटी वे तवे पर रखकर गेहूं की रोटी की तरह फुला रही हैं और उनका आकार भी हमारी तरफ बनाई जानेवाली मकई की रोटी से छोटा है। सरसों का साग भी बिहार में पैदा होनेवाली सरसों से भिन्न है। बहुत ज्यादा मुलायम। भोजन करके नामवरजी और केदारजी खुशी-खुशी लौटे। मेरा दिल भी खुश हो गया।

एक बार नामवरजी के निर्देशन में संपन्न एम.फिल् के एक छात्र की मौखिकी मेरे साथ होनेवाली थी। तारीख नियत थी, लेकिन मेरे पिताजी की मृत्यु हो गई थी और उनका श्राद्ध अभी होने को था, सो मैं अकेला था। मुझे नामवरजी का पत्र मिला-'आइए। विलंब से छात्र की हानि हो रही है।' मैं श्राद्ध-कार्य समाप्त होने के बाद ऑटो रिजर्व करके सपरिवार पटने लौटा और कल होकर ही दिल्ली के लिए प्रस्थान कर दिया। वहां शाम को नामवरजी के यहां पहुंचा, तो उन्होंने कहा कि आप तो आ गए, लेकिन छात्र का ही पता नहीं है। फिर हमलोग उनके बैठके में बैठकर गपशप करने लगे। केदारजी ने उनसे कहा-नामवरजी, आजकल द्विवेदीजी शाम को तैयार होकर अपने बैठके में बैठे रहते हैं और उनसे कोई मिलने आता है, तो बहुत प्रसन्न होते हैं। फिर देर तक उनसे बातें

करते रहते हैं। नामवरजी ने कहा कि उनके प्रसन्न होने का कारण यह है कि उनका लगता है कि कोई आया तो जैसे आहार मिला। तुलसीदास के शब्दों में : 'आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा'। हमलोग हँसते रहे।

दूसरे दिन शाम को ही जब मैं श्याम कश्यप के साथ पहुंचा, तो वे अपने कमरे से निकल रहे थे और मुझे देखते ही कहा-आपका आहार आ गया है।

अगले दिन शाम को जब मैं अकेले उनके यहां पहुंचा, तो इस बार उन्होंने मुझसे कहा कि कल रात में आप मेरे यहां खाना खाएं। मैं उनकी कठिनाइयां जानता था, सो उनसे कहा-आऊंगा, लेकिन मैं अपनी खाने की स्वीकृति नहीं दे रहा हूं। फिर कल शाम को मैं और श्याम कश्यप उनके यहां पहुंचे, तो वे हम दोनों को देखकर थोड़ा सकपकाए। केदारजी की बिटिया उनकी पुत्रवधू है और वह उन्हें भोजन के लिए अपने यहां ले जाने के लिए आई थी। उनके सकपकाने का यही कारण थ कि आज तो उनका अपना ही खाना उनके घर पर नहीं बनेगा, पर नवलजी अपने साथ श्याम कश्यप को लिए हुए पहुंचे हैं! बैठने पर मैंने उनसे कहा-आप क्यों सोच में पड़ गए? मैंने तो कल अपने खाने की भी स्वीकृति नहीं दी थी। आप केदारजी के यहां जाइए और रुचिपूर्वक भोजन कीजिए। फिर कुछ देर तक उनके साथ बातचीत होती रही। बीच में उन्होंने श्याम कश्यप से कहा-अरे, सुरती बनाओ। चूंकि वह भले आदमी भी उसका शौकीन है, इसलिए बड़े प्रेम से सुरती बनाने लगा। जब देर तक वह उसे मसलता रहा, तो उन्होंने उससे कहा-क्या जहर बना देना है? लाओ, फिर उसकी बाईं तलहत्थी से चुटकी-भर सुरती लेकर उन्होंने अपने होंठों में दबा ली।

'नागार्जुन की राजनीति' को लेकर मैं विस्तार से नागार्जुन वाले संस्मरण में लिख चुका हूं। यहां केवल यह बतलाना है कि करीब तीन वर्षों तक मैं प्रगतिशील लेखक संघ द्वारा आयोजित उनका व्याख्यान सुनने नहीं गया। मुझे दुहरा दुःख था। एक तो इस बात का कि उन्होंने मुझे संकेत से क्यों नहीं बतला दिया था कि अब मैं 'आलोचना' का काम छोड़ दूं और दूसरे, इस बात से कि मेरे चलते दिल्ली में उन्हें बहुत बदनामी झेलनी पड़ी थी। फलस्वरूप मैं तमाम चीजों से उदासीन हो गया था। जब तीसरे वर्ष के प्रायः मध्य में वे प्रगतिशील लेखक संघ के आमंत्रण पर ही पटना व्याख्यान देने आए, तो उनका व्याख्यान चैंबर ऑफ कॉमर्स के हॉल में रखा गया था। मेरी पत्नी भी उनकी बहुत बड़ी प्रशंसक थीं और उनके सौजन्य की कायल, सो उन्होंने मुझसे पूछा-क्या मैं उनका भाषण सुनने जा सकती हूं? मैंने कहा-मैं नहीं जाऊंगा, पर आप क्यों नहीं जाएंगी? वे गईं और सभा विसर्जित होने पर बाहर आईं, तो नामवरजी ने उन्हें देखकर उनसे कहा-क्या इस बार आप मुझे खाने पर नहीं बुलाएंगी? मेरी पत्नी ने उन्हें पूरी विनम्रता से उत्तर दिया-न्योतने के लिए ही तो मैं यहां आई हूं। कल दोपहर का भोजन आप हमारे यहां करें। उन्होंने उनका बुलावा सहर्ष स्वीकार कर लिया। वे घर लौटीं तो मुझसे कहा-मैंने नामवरजी को खाने पर बुलाकर कुछ गलत काम तो नहीं किया? मैंने कहा-आप कैसी बातें कर रही हैं? आपने एक बहुत सुंदर काम किया है। उन्होंने बतलाया कि कल उनका व्याख्यान दस बजे से पटना कालेज के सेमिनार हॉल में है। आप जाकर उन्हें ले आइएगा।

मैं उनका व्याख्यान शुरू होने के पहले ही वहां पहुंच गया। मुझे उन्होंने हॉल में घुसते देखा तो उनका हर्ष उनकी आंखों और होंठों से बरसने लगा। मैं धन्य हो गया। उन्होंने कदारनाथ अग्रवाल पर बिना तैयारी के करीब डेढ़ घंटे तक लाजवाब भाषण दिया, जो मेरे लिए अविस्मरणीय है। सभा

समाप्त होने पर मैं मंच की ओर उन्हें लेने के लिए जा रहा थ कि वे ही नीचे उतर आए और मेरे पास आकर बोले कि चलिए। फिर जीप पर बैठकर हमदोनों रानीघाट वाले डेरे पर पहुंचे। कुछ देर गपशप होती रही। उन्होंने मुझसे पूछा-आजकल आप क्या कर रहे हैं? मैंने उन्हें बतलाया कि मैं मुक्तिबोध की कविता पर एक मुकम्मल पुस्तक लिख रहा हूं। वे बहुत प्रसन्न हुए। फिर मेरी पत्नी ने आकर कहा-मैं आप दोनों के लिए खाना लगा रही हूं। फिर हमदोनों ने एक साथ खाना खाया और कुछ देर बैठके में बैठने के बाद डेरे से निकलकर बाहर सड़क पर पहुंचे। जीप लगी थी। उस पर बैठने से पहले उन्होंने मुझसे कहा-'आलोचना' के लिए कुछ भेजिए। मैंने उत्तर दिया-आपका आदेश है, तो जरूर भेजूंगा और शाम को आपको छोड़ने के लिए हवाई अड्डे भी आऊंगा। उन्होंने यह कहते हुए मुझे मना किया कि बहुत गर्मी है, आप क्यों कष्ट करेंगे? मैंने कहा-नहीं, मैं आऊंगा। जीप खुल गई और वे चले गए।

शाम को मैं अकेले ही उन्हें छोड़ने हवाई अड्डे गया। वे बाहर ही मिल गए। कोई सज्जन उन्हें एक गोष्ठी में बुलाने के लिए उनके पीछे पड़े हुए थे। छुटकारा पाने के लिए उन्होंने उसे 'हां' कर दी। फिर वे सज्जन मेरे पीछे पड़े। मैंने कहा कि मैं एक पुस्तक में लगा हूं, इसलिए किसी तरह आपकी गोष्ठी में नहीं आ सकूंगा। नामवरजी ने मुझसे कहा-आप एक ठोस काम कर रहे हैं, उसे पूरा कीजिए। बकबक करने के लिए तो मैं हूं ही! फिर वे सज्जन चले गए। अब मैंने उनसे पूछा-आप सचमुच जाएंगे क्या? उन्होंने कहा-नहीं। फिर हमदोनों हवाई अड्डे पर एक कक्ष में रखी कुर्सियों पर बैठकर गप करने लगे। इसी बीच सहारा इंडिया का एक हवाई जहाज आया, रुका और उद्यद्य चला। नामवरजी ने मुझसे कहा-वह सहारा इंडिया है और मुझे जिस हवाई जहाज से सफर करना है, वह बेसहारा इंडिया है। जाहिर है कि वह एयर इंडिया का विमान था, जिसके पहुंचने में विलंब हो रहा था। आखिर अंधेरा होने पर वह विमान आया और अपनी जांच कराकर वे उसमें अपनी जगह लेने चले गए। बहुत प्रसन्न थे, सो मैं भी रिक्शा लेकर अँधेरे को काटते हुए अपने डेरे पहुंच गया।

मैं लिख चुका हूं कि मैंने 'आलोचना' के लिए उन्हें मुक्तिबोधवाली पुस्तक का पहला लेख भेजा। उस पर उन्होंने अपने पत्र में मुझे यह भी लिखा : 'यह लेख आलोचना-85 यानी इसी अंक में जा रहा है। आपकी मुक्तिबोधवाली पुस्तक पूरी हो गई-यह जानकर जितनी खुशी हुई, उससे ज्यादा खुशी इस बात से हुई कि आपेन उसका पहला लेख मुझे भेजा-'आलोचना' में प्रकाशनार्थ। सचमुच नवलजी, यह बात मन को छू गई।' हिंदी में बहुत कम लोग जानते हैं कि नामवरजी बहुत भावुक व्यक्ति हैं। एक बार वे पटने आए और तरुणजी के साथ मैं उनसे होटल में मिलने के लिए गया, तो उन्होंने तरुणजी से कहा कि जरा मेरी आंख में यह दवा डाल दीजिए। मैंने पूछा कि आपको क्या हुआ है, डाक्टर साहब। उन्होंने कहा कि डॉक्टर का कहना है कि मेरी आंखों से आंसू नहीं निकलते हैं। जब वे निकलने लगेंगे, तो मेरी आंखें दुरुस्त हो जाएंगी और उनमें यह दवा डालने की जरूरत नहीं होगी। मेरे मन में आया कि बौद्धिकता की आंच में उनकी करुणा उनसे छीन ली है, फिर उन्हें आंसू आएं तो कैसे? लेकिन उनकी यह बात याद आ गई कि भारतभूषण अग्रवाल की शोक-सभा में वे बोलते-बोलते रो पड़े थे। कुछ मिनटों के बाद वे संभले, फिर श्रोताओं से क्षमा-याचना की और तब अपनी शोकांजलि पूरी की। मैं उनके भावुक हृदय से अच्छी तरह परिचित था, इसलिए उनसे अपने मन की बात कहना मुझे बेतुका लगा। उपर्युक्त उद्धरण का अंतिम वाक्य उनकी भावुकता

का प्रमाण देने के लिए काफी है। मुझे सिद्धिनाथ की भी वह बात याद आई, जो उसने मुझे बतलाई थी। बनारस के कई साहित्यकारों के बारे में बतलाते हुए उसे कहा था कि 'नामवरजी एक कोमल चीज हैं'। वे कदम-कदम पर अपनी कोमलता का एहसास कराते रहे हैं, फिर मैं अपनी सोची हुई बात उनसे कैसे कहता? मुझमें उनसे विनोद करने का भी साहस नहीं है, सो मैं चुप ही रहा।

उनकी भावुकता से संबंधित एक प्रसंग और। एक बार मैं दिल्ली गया, तो उनके बैठके में बैठकर उनके साथ मैं देर तक बतियाता रहा। रात के आठ बज गए। मैं चलने के लिए तैयार हुआ, तो उन्होंने पूछा-यहां से कहां जाएंगे? मैंने कहा-बुक सेंटर। वह जेएनयू परिसर में उनके आवास के बिलकुल करीब स्थित है। उन्होंने कहा-मैं भी चलता हूं आपके साथ। वे सफेद तहमत और कुर्ता पहने हुए थे। उसी वेश में मेरे साथ बुक सेंटर आए और वहां अंग्रेजी की एक पुस्तक खरीदी। फिर उसे लिए हुए मेरे पास आए और बोले-यह पुस्तक मैंने क्यों खरीदी, जबकि जितनी पुस्तकें मैंने खरीद रखी हैं, उन्हें ही जीवन में नहीं पढ़ सकूंगा। वहां से ऑटो पकड़ने के लिए मैं सड़क पर आया, तो वे भी साथ आ गए। मैं ऑटो का इंतजार करने लगा और उनसे कहा-डाक्टर साहब, अब आप जाइए। ऑटो जब भी आएगा, मैं उससे पहाड़गंज युगल के लैट में चला जाऊंगा। उसने श्याम कश्यप को बुलाकर उसे भी अपने सामनेवाला लैट किराए पर दिलवा दिया था, जिससे अब मैं दिल्ली जाने पर उसके साथ टिका था। लेकिन मेरे बहुत कोशिश करने पर भी वे मुझे छोड़कर नहीं गए। मैंने बहुत आग्रह किया, तो कहने लगे-आप इतनी दूर से आए हैं और मेरा क्वार्टर तो बिलकुल बगल में है! फिर वे पूर्ववत् खड़े रहे और मुझे ऑटो पर बिठाकर ही गए।

उनका स्नेह-सम्मान भी अद्‌भुत है। युगल मां की बीमारी का समाचार पाकर पटना आया हुआ था कि उधर उसकी पत्नी गीता को अचानक एक तकलीफ के कारण अस्पताल में भर्ती होना पड़ा। युगल जब दिल्ली लौटकर गया, तो एक-दो दिनों में ही अस्पताल में हृदयाघात से उसका निधन हो गया। युगल का तार आया, तो मैं सपत्नीक उसके यहां पहुंचा और गीता के दाह-संस्कार में शामिल हुआ। फिर मेरी पत्नी कई लोगों के साथ उसकी भस्मी लेकर उसे हरिद्वार की गंगा में प्रवाहित करने के लिए गईं। सब लोग वहां से लौटे, तो एक-दो दिनों के बाद मैंने पटना लौटने का कार्यक्रम बनाया। मेरी पत्नी ने कहा-नामवरजी का दर्शन कर ही लौटेंगे। अगले दिन हमलोग उनके यहां पहुंचे, तो वे गीता की आकस्मिक मृत्यु से बहुत गमगीन थें हमलोग कुछ देर उनके यहां बैठे। फिर चलने के पहले मेरी पत्नी ने उनसे पूछा-बाथरूम किधर है? वे उन्हें बाथरूम तक ले गए। उसके भीतर जाकर उन्होंने दरवाजा बंद कर दिया। जब वे बाहर आईं तो देखा कि नामवरजी दरवाजे पर तौलिया लिए खड़े हैं। उन्हें यह दृश्य देखकर कंठावरोध हो गया। जब हमलोग चलने लगे, तो नामवरजी ने अपनी सुपुत्री समीक्षा को मेरी पत्नी से मिलाने के लिए आवाज दी। वह आई और उससे मिलकर हमलोग उन्हें प्रणाम कर उनके क्वार्टर से निकल गए। मेरी पत्नी उनके बाथरूम के बाहर देर तक तौलिया लेकर खड़े रहनेवाली बात अभी भी बार-बार दुहराती हैं, क्योंकि उसे भुला देना उनके लिए असंभव है। नारी का यह सम्मान उनके लिए कथनी ही नहीं, करनी भी है।

कुछ दिनों के बाद मुझे अशोक वाजपेयी का एक तार मिला कि मध्यप्रदेश सरकार की सर्वोच्च मैथिलीशरण गुप्त सम्मान समिति के आप सदस्य बनाए गए हैं। अमुक तिथि को पुरस्कार का निर्णय करने के लिए समिति की बैठक होनेवाली है, जिसमें आपका रहना जरूरी है। अगले रोज मैं जब

भोपाल जाने के लिए लखनचंद कोठी से बाहर आया, यह सोचकर कि नागार्जुन इस गलतफहमी के शिकार क्यों हुए कि 'नागार्जुन की राजनीति' की भूमिका मैंने नहीं लिखी है, वह लेख भी मेरा ही लिखा हुआ है, उनसे बहुत नाराज था। पटने के कई लेखकों से उन्होंने कहा था-मैं सब जानता हूं, यह सब नवल का किया हुआ है। स्वभावतः मैंने यह निश्चय किया कि यह सम्मान नागार्जुन को तो नहीं ही लेने दूंगा। लेकिन चलते-चलते पीछे से मेरी पत्नी ने, जो राग-द्वेष से हमेशा ऊपर रही हैं, मुझसे कहा-देखिए, चच्चा के साथ अन्याय नहीं होना चाहिए। उनका यह कथन मेरे निर्णय को हिला चुका था। भोपाल पहुंचकर मैं सर्किट हाउस में विनोद कुमार शुक्ल के साथ ठहरा। अशोकजी ने निर्णायकों के बीच एक पुस्तिका बंटवाई, जिसमें उन्होंने प्रबुद्ध पाठकों से पुरस्कार के बारे में उनके अभिमत मंगाकर छपे थे। तीन चौथाई अभिमत नागार्जुन के पक्ष में थे और एक चौथाई रघुवीर सहाय के पक्ष में। उस पुस्तिका के अवलोकन के बाद मेरे मन में यह बात आई-यदि यह पुरस्कार मैं नागार्जुन को नहीं दिलवाता हूं, तो उस फकीर के साथ अन्याय होगा। फिर तो मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया कि जैसे भी हो यह पुरस्कार मुझे उन्हें दिलवाना ही है।

अगले दिन समिति की बैठक हुई। उसके अन्य सदस्य थे-श्यामाचरण दूबे, अजित कुमार, रमेशचंद्र शाह और विनोदजी। अशोकजी संयोजक थे, इसलिए उन्हें मत देने का अधिकार नहीं था। उन्होंने बारी-बारी से नाम सुझाने का प्रस्ताव किया। दूबेजी ने कहा-नागार्जुन। मैंने उनसे अपनी सहमति जताई, लेकिन अजितजी, शाह साहब और विनोदजी रघुवीर सहाय के पक्ष में थे! इस तरह प्रथम चक्र में ही निर्णय हो गया, लेकिन अशोकजी ने कहा कि एक बार फिर विचार कीजिए, निर्णय सर्वसम्मति से हो, तो ज्यादा अच्छा होगा। मैंने सोचा कि अजितजी को नागार्जुन के पक्ष में किया जा सकता, सो, चूंकि वे बच्चन-भक्त थे, इसलिए मैंने उनसे बच्चन की उचित प्रशंसा किंचित् विस्तार से की। मैंने कहा कि रघुवीरजी के लिए अभी समय है, लेकिन नागार्जुन के लिए नहीं है। अशोकजी से भी यही कहते हुए मैंने निवेदन किया-चूंकि नागार्जुन वामपंथी हैं, इसलिए बिहार सरकार क्या, बिहार के रेडियोवाले भी उन्हें नहीं पूछते। मध्यप्रदेश सरकार विचारधारा को नहीं, साहित्य को महत्व देती है, इसलिए नागार्जुन को पुरस्कृत करके उसे बिहार सरकार को लज्जित करना चाहिए।

उस समय मैं नहीं जानता था कि अशोकजी रघुवीरजी के परम प्रशंसक होते हुए भी मूर्धन्य कवि नागार्जुन को ही मानते हैं। उन्होंने निर्णायकों से कहा-आपलोग फिर एक बार मत दें। दुबेजी ने फिर नागार्जुन का नाम लिया और मैंने भी पुनः उनसे सहमति प्रकट की। अजितजी खुले दिमाग के हैं, इसलिए वे भी अब नागार्जुन के पक्ष में आ गए। इस तरह दुबारे मतदान से पहले का फैसला बदल गया। तीन निर्णायक नागार्जुन के पक्ष में और शाह साहब तथा विनोदजी-ये दो रघुवीरजी के पक्ष में। अशोकजी ने निर्णय और उसके कारण बतलाते हुए एक प्रारूप तैयार करने को कहा। शाह साहब ने कहा-प्रारूप मैं तैयार करूंगा। मुझे अब क्या आपत्ति हो सकती थी। प्रारूप तैयार हुआ और पांचों निर्णायकों ने उसपर हस्ताक्षर किए। फिर उसे एक लिफाफे में सीलबंद किया गया। अब समिति की बैठक समाप्त हो चुकी थी। जब तक निर्णय सीलबंद नहीं हो गया, मैं अपनी हाजत को रोके रहा। उसके सीलबंद होते ही मैं बाथरूम भागा। फिर वहां से उठकर हमलोग लंच के लिए जहांनुमा होटल पहुंचे। वहां मद्यपान का दौर चलने लगा। दुबेजी बैठक से ही अपने आवास लौट

गए थे, सो उसमें वे शामिल नहीं थे। मैं और विनोदजी गंगाजल पीने वाले, सो लंच करके हम दोनों सीधे सर्किट हाउस आ गए। मुझे मार्ग-व्यय आदि मिल चुके थे, सो अगले दिन मैंने पटने के लिए प्रस्थान किया। पुरस्कार की राशि एक लाख थी। नागार्जुनजी का सुपुत्र सुकांत मेरे डेरे पर आया, तो मैंने उसे पूरी कहानी सुना दी।

पटना आकर मैंने नामवरजी को पत्र लिखा, जिसमें निर्णायक समिति की कार्यवाही का पूरा विवरण दे दिया। उस पर मुझे उनका यह पत्र मिला : 'आज आपका पत्र पढ़ ही रहा था कि केदारजी आ गए। आके प्रयासों से नागार्जुनजी को किस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त पुरस्कार मिल गया-यह बात उन्हें भी बतला दी। शुभ सूचना से वे जितने प्रसन्न हुए उससे अधिक आपके बड़प्पन से अभिभूत। वे आपको अलग से भी पत्र लिखेंगे। क्या अब इस विषय में अपनी ओर से मुझे कुछ जोड़ने की जरूरत रह जाती है?' मेरे प्रयासों के कारण मुझमें बड़प्पन हो या नहीं, लेकिन यह पत्र इस बात का सूचक अवश्य है कि इसमें नामवरजी का बड़प्पन अवश्य है।

वे चिंतन और पूर्वा की शादी में भी आए थे। एक दिन चिंतन की शादी थी और दूसरे दिन पूर्वा की। इस कारण मैंने बिटिया की शादी और अपनी बहू के स्वागत की एक ही तिथि रखी थी। मेरे सम्माननीय अतिथि कोई मंत्री नहीं, कोई अधिकारी नहीं, बल्कि प्रो. रामशरण शर्मा और नामवरजी थे। इन्हीं अतिथियों की उपस्थिति में सारा कार्य संपन्न हुआ। नामवरजी मेरे साथ बैठे हुए बिटिया की शादी का रजिस्ट्रेशन देख ही रहे थे कि बगल से 'रुद्र'जी गुजरे। उन्होंने उनकी तरफ संकेत करके मुझसे कहा-आप इनका पहचानते हैं? ये हिंदी के पुराने कवि रामगोपाल शर्मा 'रुद्र' हैं। उन्होंने हिंदी कविता के कई युग देखे थे, इसलिए उनके लिए कुछ भी अनपहचाना नहीं था। मैंने उनसे कहा कि मेरी धर्मपत्नी उन्हीं की सुपुत्री हैं उन्होंने मुझसे पूछा कि मैंने उन्हें अब तक यह बात क्यों नहीं बतलाई? मैंने उत्तर मे उनसे निवेदन किया-कभी इसका संयोग ही नहीं बना। आज संयोग बना है, तो आपको बतला रहा हूं। वे काफी देर तक बैठकर पटने के लेखकों से गप करते रहे। फिर दस बजने को आए तो उन्होंने भोजन किया और मैंने उन्हें कार से मौर्या होटल के लिए रवाना कर दिया। सवेरे दिल्ली जानेवाली गाड़ी में मैं और तरुणजी उन्हें छोड़ने स्टेशन गए। मैंने उनका आरक्षण करा रखा था। वे जिद करने लगे कि मैं उनसे आरक्षण की राशि ले लूं। लेकिन मैंने उनसे कहा कि आप कैसी बातें करते हैं? आप मेरे माननीय अतिथि हैं, फिर आपसे आरक्षण की राशि लेना किसी भी तरह से मेरे लिए उचित नहीं है। मैंने मटुकजी को भेजकर उनके लिए एक पैकेट मिठाई मंगवा ली थी। उसके साथ मैंने उन्हें पटने से विदा किया। स्टेशन से लौटकर चिंतन ने मुझे आशीर्वादी वाले लिफाफे दिखलाए। नामवरजी ने पूर्वा और अपूर्वानंदजी को जो लिफाफा थमाया था, उसके ऊपर कवित्वपूर्ण ढंग से लिखा था-'पूर्वापूर्व के लिए'!

नामवरजी मेरे लेखन की मुक्तकंठ से प्रशंसा करने लगे। यहां तक कि मेरी पुस्तकों के साथ वे मेरे लेखों को भी दिल खोलकर सराहने लगे। हिंदी के एक महाविद्वान् ने 'राम की शक्ति-पूजा' पर एक पुस्तक ही लिख डाली थी, जो गलत अर्थों और टिप्पणियों से भरी हुई है। मैंने 'कसौटी' में स्वतंत्र रूप से उसकी किंचित् विस्तृत समीक्षा लिखी। उन्होंने वह समीक्षा ध्यानपूर्वक पढ़ी, तो उक्त महाविद्वान् के बारे में अपूर्वानंदजी से कहा-कविता समझ में नहीं आती है और 'राम की शक्ति-पूजा' पर लिखने चले हैं! इसके पहले उनके आदेश पर 'आलोचना' के लिए मैंने एक लेख लिखा

था-'निराला की कविता और डॉ. रामविलास शर्मा'। पटना आने पर उन्होंने कई लोगों से उसकी बड़ी तारीफ की और कहा कि नवलजी की कविता में पैठ विलक्षण है। उनकी ऐसी बातों से मैं प्रसन्न होने की जगह लज्जित हो उठता था। 'निराला : कृति से साक्षात्कार' पर पटने के एक होटल में उन्होंने मुझसे कहा-आपने अपनी पुस्तक में निराला की जो मूर्ति बनाई है, वह डॉ. शर्मा द्वारा बनाई गई मूर्ति से भिन्न है। मेरे साथ तरुणजी भी थे। मैंने उनसे कहा कि जब आप ऐसा कह रहे हैं, तो मैं मान लेता हूं कि मैंने अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लिया। 'मैथिलीशरण' नामक पुस्तक पर उन्होंने मुझे दिल्ली की गुप्तजी संबंधित एक संस्था के द्वारा पुरस्कार भी दिलवाया और स्वयं फोन से मुझे उसकी सूचना दी। दिल्ली में मैंने उनसे पूछा-आपने उस पुस्तक को उलट-पुलट कर देखा? उन्होंने बतलाया कि मैं उसको पूरा पढ़ गया हूं। मुझ-जैसे छोटे कलमघिस्सू की पुस्तक भी वे पूरा पढ़ गए, इसके लिए मैं उनका अत्यधिक कृतज्ञ हुआ।

एक बार साहित्य-अकादेमी के सभा-कक्ष में अशोकजी ने एक गोष्ठी बुलाई। उसमें और कई पुस्तकों के साथ रामइकबाल सिंह 'राकेश' पर महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'राकेश समग्र' का विमोचन हुआ और तत्पश्चात् 'अँधेरे में पुनर्विचार' पर नामवरजी की अध्यक्षता में विचार-विमर्श। गोष्ठी में नेमिजी भी थे और कुंवरजी भी। जब अध्यक्षीय वक्तव्य का समय आया, तो नामवरजी ने अपनी जब से एक कागज निकाला। उन्होंने अपना वक्तव्य इस तरह शुरू किया-यह समय 'अँधेरे में' कविता पर पुनर्विचार का ही नहीं, मैंने जो 'अँधेरे में' पर लिखा है, मेरे लिए उस पर पुनर्विचार का भी है। उन्होंने निर्द्वंद्व भाव से यह कहा-मैं स्वीकार करता हूं कि 'अँधेरे में' की मेरी व्याख्या गलत थी और नवलजी ने उसकी जो व्याख्या की है, वह सही है। फिर वे अपने सामने रखे कागज से मेरे लेख से नोट किए गए अनेक उद्धरण पढ़कर सुनाने लगे। मैं इस बात से बहुत लज्जित हुआ कि उनके-जैसा विद्वान् और आलोचक मेरे लेख से उद्धरण उतारकर लाता है और मेरी उपस्थिति में उसे गोष्ठी में पढ़कर सुनाता है, लेकि नडनहें कोई दिक्कत नहीं हो रही थी। संयोग से उसमें पूर्वा के साथ मेरी पत्नी भी थीं, और लेखक तो थे ही। सभी विस्मित थे और मेरा सिर नीचे झुकता जा रहा था। पहले के लेखक बहुत विनम्र और खुले हुए दिमाग के होते थे, जबकि नई पीढ़ी के लेखक हठधर्मी होते हैं। हमें उनसे सीखना चाहिए। कहा भी है, 'विद्या ददाति विनयम्'।

वे कितने बड़े विद्वान् हैं, इसका एक ही उदाहरण देता हूं। जेएनयू में इतिहास-विभाग की ओर से हरबंस मुखिया सहित भारतीय इतिहास के मध्ययुग के विशेषज्ञ इतिहासकारों ने भक्ति-आंदोलन पर विचार करने के लिए एक गोष्ठी बुलाई थी। उसमें नामवरजी भी थे। सारा कार्यक्रम अंग्रेजी में हो रहा था और इतिहासकार तो अंग्रेजी में अपना व्याख्यान दे ही रहे थे। जब नामवरजी के बोलने की बारी आई, तो सभी श्रोता उत्सुकता से भर उठे कि वे क्या कहते हैं। उनकी अनमोल सूझ ने यहां भी गुल खिलाया। अपना व्याख्यान उन्होंने इन शब्दों के साथ शुरू किया : 'चूंकि भक्ति-आंदोलन भारतीय भाषाओं में चला था, इसलिए मै। अपना वक्तव्य हिंदी में दूंगा।' यह वह विस्फोट था, जिसने अंग्रेजी की धौंस को एक चुप्पी भरे धमाके से उड़ा दिया। फिर नामवरजी डेढ़ घंटे तक भक्ति-आंदोलन पर बोलते रहे और हिंदीवालों का सिर ऊंचा कर दिया। मेरा खयाल है कि इतिहासकार भी एक 'धोतीवाले' के ज्ञान के कायल हो गए होंगे। गोष्ठी का पूरा टेप मुझे अपने और उनके छात्र मीमांसक

ने सुनाया था। मैं पुनः उनके ज्ञान से विस्मित हुआ।

अब एक दिलचस्प बात। नामवरजी और मैं दोनों राजकमल में बैठे थे। उनके विश्वविद्यालय ने उन्हें एक वर्ष का सवैतनिक अवकाश दिया था। उसमें वे आचार्य द्विवेदी पर एक पुस्तक लिख रहे थे। एक दिन अपने आवास पर शाम को उन्होंने कहा-मेरी समस्या विकट है : 'गुरु गोविंद दोनों खड़े, काके लागूं पाय'। आप समझ गए होंगे कि 'गोविंद' से उनका तात्पर्य मार्क्स से था। अब पुस्तक होने को थी, सो राजकमल में उसे विज्ञापित करने के लिए शीलाजी ने उनसे पुस्तक का नाम जानना चाहा। उन्होंने कहा 'आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : कृती और तत्त्वान्वेषी'। मैं यह नाम सुनकर हंसने लगा। उन्होंने जानना चाहा कि मैं क्यों हंस रहा हूं। मैंने उनसे कहा-इस नाम से ऐसा लगता है कि यह कोई शोध-प्रबंध है। इस पर उन्होंने मुझसे कहा-आप कोई दूसरा नाम सुझाइए। मैंने उनसे कहा-द्विवेदीजी पर आपके कई लेख पूर्वाग्रह में निकले हैं, उनमें से एक लेख का शीर्षक है-'दूसरी परंपरा की खोज'। आप पुस्तक का यही नाम क्यों नहीं रखते? वे मुझसे सहमत हुए और इसी नाम से विज्ञापित होकर यह पुस्तक प्रकाशित हो गई।

मुझे याद है, मैं रानीघाट वाले अपने मकान में था। ग्रीष्मावकाश था और प्रचंड गर्मी पड़ रही थी। इस कारण पूरा परिवार मकान की छत पर ही सोता था और मैं भी उसी पर सोता था। दिन-भर मैं अंग्रेजी की पुस्तकें पढ़ा करता था और रात में बत्ती जलाकर अपने कमरे में कुर्सी पर बैठकर शरीर को तपाते हुए 'दूसरी परंपरा की खोज' पढ़ता था। नामवरजी ने वह पुस्तक मुझे भिजवा दी थी। उसे समाप्त करने के बाद मेरे मुंह से निकला-धन्य है वह गुरु, जिसने ऐसा शिष्य उत्पन्न किया और धन्य है वह शिष्य, जिसे ऐसा गुरु मिला! उसके बाद मैं दिल्ली गया, तो केदारजी ने मुझसे पूछा-आपको वह पुस्तक कैसी लगी? मैंने उनसे कहा कि यह नामवरजी की सर्वोत्तम कृति है, हिंदी की सृजनात्मक आलोचना का शिखर। उन्होंने कहा कि विष्णु खरे को यह पुस्तक पसंद नहीं आई है। मैंने उत्तर में उनसे निवेदन किया कि सभी पुस्तकें सभी के योग्य नहीं होतीं। फिर विष्णु खरे ने अपने स्तर से इसे पसंद नहीं किया, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

शाप के रूप में नामवरजी ने दो बार मुझे दो वरदान दिए। एक बार तब, जब श्याम कश्यप ने उनसे कहा-आप नवलजी को यहीं क्यों नहीं बुला लेते? उन्होंने उससे कहा कि वहीं ठीक हैं। वे अपने विभाग और दिल्ली के लेखकों की गंदी राजनीति से मुझे बचाना चाहते थे। दूसरी बार केदारजी ने भोपाल में मुझे उकसाया कि आप दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रोफेसरशिप के लिए आवेदन क्यों नहीं करते? नामवरजी विशेषज्ञ हैं, जिस कारण आपका चयन अवश्यंभावी है। पटने आकर मैंने अपूर्वानंदजी को उन्हें देने के लिए एक पत्र दिया। पत्र मिलने पर उसे पढ़कर उन्होंने उनसे कुछ नहीं कहा और उसे जेब में रख लिया। क्या संयोग है कि उसी पद के लिए दूसरी बार दिल्ली विश्वविद्यालय में साक्षात्कार हुआ, तो वहां के कुलपति ने मुझे उसमें विशेषज्ञ बनाया। आज मैं सोचता हूं कि यदि पटना छोड़कर मैं दिल्ली चला गया होता, तो मेरा कुछ भी लिखना-पढ़ना नहीं हो पाता और मैं पूरी तरह से बर्बाद हो गया होता। अब आप कहिए, नामवरजी ने मुझे पटने में ही रहने देकर मुझपर कितना बड़ा उपकार किया? वह उपकार मैं तो नहीं ही भूल सकता हूं, मेरी तुच्छ कृतियों को देखकर हिंदी जगत् भी मेरे आसन नहीं छोड़ने के लिए मेरी प्रशंसा करेगा। लेकिन मेरे लिए प्रशंसा के अधिकारी तो नामवरजी हैं, क्योंकि मैं तो एक अपरिपक्वमति युवक था। इस कारण मेरे भविष्य

को संवारने की जवाबदेही उन्होंने ले रखी थी। दूरदर्शिता उन्हीं में थी, मुझमें नहीं।

एक घटना का जिक्र मैं और करूंगा। अशोकजी की योजना महात्मा गांधी विश्वविद्यालय से कुछ रीडर निकालने की थी। निर्णायक समिति में उन्होंने मुझसे पूछा-आप किनकी रीडर का संपादन करेंगे? मैंने कहा-मैथिलीशरण गुप्त की रीडर का। वे सहर्ष तैयार हो गए और वह रीडर जल्दी ही राजकमल से निकल भी गया। दूसरे चक्र में और लेखकों के साथ नामवरजी की रीडर भी निकालना तय हुआ। अब समिति दूसरी थी, जिसका सदस्य मैं नहीं था। नामवरजी की रीडर एक अन्य आलोचक बनाए गए। जब उन्हें यह सूचना मिली, तो वे अशोकजी के कार्यालय में गए और वहां उनसे कहा कि मेरी संचयिता का संपादन करेंगे नंदकिशोर नवल। अशोकजी ने उन्हें अपनी कठिनाई बतलाई और कहा कि वे विश्वविद्यालय से प्रकाशित दो पुस्तकों का संपादन कर चुके हैं। लेकिन नामवरजी ने कुछ नहीं सुना और पुनः अपनी उपर्युक्त बात कहकर चले आए। मैं संयोग से दिल्ली में ही था। शाम को अपूर्वानंदजी विश्वविद्यालय-कार्यालय से लौटे, तो मुझसे कहा-आपको नामवर संचयिता का भी संपादन करना पड़ेगा। आज नामवरजी कार्यालय में आए थे और अपनी इच्छा बलपूर्वक अशोकजी को बतला गए हैं। मैंने उनसे कहा-जब तक मुझे विश्वविद्यालय से आधिकारिक पत्र नहीं मिलेगा, मैं संपादन-कार्य नहीं शुरू करूंगा।

पटना लौटने पर मुझे वह पत्र मिला, फिर मैं संपादन-कार्य में लग गया। मुझे संचयिता के लेखों के चयन के लिए भारी परिश्रम करना पड़ा। पता नहीं मैंने उसके कितने प्रारूप बनाए। अंत में 'लोकवादी आलोचक' शीर्षक से लंबी भूमिका लिखी, जिसमें मैंने नामवरजी को मार्क्सवादी के स्थान पर 'लोकवादी आलोचक' बतलाया, पूरे तर्कों और प्रमाणों के साथ। पुस्तक शानदार ढंग से राजकमल से प्रकाशित हुई। नामवरजी उससे बहुत प्रसन्न हुए। मुझे फोन किया और कहा-आपने मुझे ही बतलाया है कि मैं क्या हूं। संचयिता में लेखों का चयन भी बहुत अच्छा है। इसके लिए मैं आपका कृतज्ञ हूं, नवलजी! मैंने उनसे कहा-मेरी श्रीमतीजी को भी अपनी प्रतिक्रिया से अवगत करा दीजिए। उन्होंने उनसे भी वही बातें कहीं। फिर गोष्ठियों में वे कहने लगे कि मैं मार्क्सवादी आलोचक नहीं, बल्कि 'पब्लिक क्रिटिक' हूं, जिस पर इधर रोनान मैकडोनाल्ड ने अपनी पुस्तक 'द डेथ ऑफ द क्रिटिक' में बहुत जोर दिया है। पटना आने पर मैंने उनसे कहा कि आपके लेखों और भूमिका यानी पूरी संचयिता का अंग्रेजी में अनुवाद होना चाहिए। भूमिका का अनुवाद आप अरुण कमल से कराएं। उनकी अंग्रेजी बिल्कुल जवाहरलाल-जैसी है। उन्होंने कहा कि मेरे कुछ लेखों का अनुवाद दिल्ली विश्वविद्यालय के अंग्रेजी-विभागाध्यक्ष हरीश त्रिवेदी ने कर रखा है। फिर एक-दो दिनों के बाद कहा-आपकी बात मैंने अरुणजी तक पहुंचा दी है। मैं जानता हूं, अपने कृतित्व से उदासीन रहने के कारण उस दिशा में ठोस कुछ नहीं हुआ।

एक बात मैं भूल रहा था। उसका भी जिक्र यहां कर दे रहा हूं। जब नामवरजी की प्रसिद्ध पुस्तक 'कविता के नए प्रतिमान' प्रकाशित हुई, तो डॉ. शर्मा ने उसमें 'न्यू क्रिटिसिज्म' के अमरीकी आलोचकों के नाम देखे और भड़क गए। 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में उस पर 'हिंदी आलोचना में बाजरे की कलंगी' शीर्षक से उस पर एक अत्यंत ध्वंसात्मक लेख लिखा। पूरे हिंदी संसार में नामवर-विरोधियों ने जश्न मनाया। नामवरजी एक दिन जब राजकमल पहुंचे, तो वहां के प्रकाशन-अधिकारी जगदीशजी ने उनसे कहा-डॉक्टर साहब, 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में आपने डॉ. शर्मा का लेख देखा होगा। उसे

लेकर हिंदी के कुछ लेखक खुशी के मारे उछल रहे हैं। नामवरजी विदेश जा रहे थे। इस कारण उनसे कहा-जगदीशजी, मैं भी उन्हीं का शिष्य हूं। लौटकर आता हूं, तो उस लेख का उत्तर दूंगा।' अफसोस कि वह लेख नहीं लिखा जा सका, क्योंकि वे जब विदेश से लौटकर राजकमल पहुंचे और वह उक्त लेख के उत्तर में अब अपना लेख लिखने जा रहा हूं, तो जगदीशजी बोले-अब उसकी कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि पुस्तक का संस्करण समाप्त हो चुका है। नामवरजी, भीतर ही भीतर हँसकर चुप हो गए। जिन जनवादी लेखकों ने 'प्रतिमान' का विरोध किया था और उनमें से एक ने एक दूसरा 'प्रतिमान' ही रच डाला था, आज उनमें से किसी का पता नही है। समय ने उन्हें बहार कर मार्ग से हटा दिया है, जबकि नामवरजी की पताका और शान से लहरा रही है। उनकी इधर प्रकाशित दसेक- व्याख्यान-संग्रहों ने उनका भी मुंह बंद कर दिया है कि वे लिखते नहीं हैं, जिसे उन्होंने अपने निरंतर लेखन से हिंदी प्रदेश को एक हरित प्रदेश बना दिया है।

इस प्रक्षेप के बाद मैं आगे बढ़ता हूं। उनकी सुपुत्री समीक्षा के शुभ विवाह का निमंत्रण मुझे देर से मिला। मैं सोच रहा था कि इतनी जल्दी क्या ट्रेन में मुझे आरक्षण मिल सकेगा? मेरी पत्नी ने मुझसे कहा-जैसे भी हो, उसमें आपको जाना ही है। मेरी सहायता हमजुल्फ सुबोधजी ने की, जो उन दिनों रेल एसपी थे। मुझे दिल्ली के लिए आरक्षण मिल गया। मैं ठीक विवाह के दिन दिल्ली पहुंचा। शाम को इंडिया इंटरनेशनल में प्रीतिभोज का आयोजन था। वह शुरू ही होनेवाला था कि मैं वहां उपस्थित हुआ। नामवरजी ने विस्मयातिरेक में औरों का ध्यान खींचते हुए कहा-पटने से नवलजी आ गए! काशीनाथजी मिले। मैंने उनसे अनुरोध किया कि मैं आपके अग्रज बाबू रामजी सिंह से मिलना चाहता हूं। वे मुझे उन तक ले गए और उनसे कहा-भैया, ये नवलजी हैं। हिंदी के और लेखकों से भिन्न हमारे परिवार के अंग-जैसे। मैं बता दूं कि समारोह में कोई राजनीतिक व्यक्ति या कोई अधिकारी आमंत्रित नहीं किए गए थे। सिर्फ कुछ चुने हुए लेखक थे। मैं राजेंद्र यादव और डॉ. मैनेजर पांडेय से मिला, समीक्षा और पवन को आशीर्वादी दी और भोजन करके लौट गया, क्योंकि नौ बजे के बाद दिल्ली में भी ऑटो मिलने में कठिनाई होती है।

कुछ दिन बाद ही नामवरजी विश्वविद्यालय से सेवामुक्त हुए। चूंकि उनकी सेवा सिर्फ अट्ठारह वर्षों की थी, इसलिए उनकी पेंशन बहुत कम बनी। किसी हद तक उसकी पूर्ति केंद्रीय शिक्षा विभाग ने अलग से की। इसी काल में नामवरजी कालकाजी वाले अपने फ्लैट में आए और वहां राममोहन राय फाउंडेशन लाइब्रेरी के अध्यक्ष बनाए गए। इस पद पर रहते हुए उन्होंने एक क्रांतिकारी काम यह किया कि उक्त लाइब्रेरी के लिए हिंदी पुस्तकों की भी खरीद की जाने लगी, जो पहले नहीं की जाती थी। उस पद से उन्हें मुक्ति मिली, तो वे जोरों से बीमार पड़ गए और कई महीनों तक पड़े रहे। उन्हें हद दर्जे की कमजोरी महसूस होने लगी। दिल्ली के डाक्टारों ने उनकी ढेर-सारी जांच की, लेकिन बीमारी का पता न चला। अंत में काशीनाथजी उन्हें बनारस ले आए और अपने विश्वविद्यालय के अस्पताल में, जो बहुत विकसित है, उनकी जांच कराई। जांच से पता चला कि उन्हें तपेदिक है। जब काशीनाथजी ने उन्हें यह बतलाया, तो आश्चर्य से भरकर उन्होंने कहा कि तपेदिक और मुझे? वह भी इस उम्र में? लेकिन एक्सरे की रिपोर्ट यही बतला रही थी। खबर पाकर उनके एकमात्र सुपुत्र विजय, जो पेशे से इंजीनियर हैं, तुरंत बनारस पहुंचे और हवाई जहाज से उन्हें दिल्ली लाकर एम्स में भर्ती कराया। वहां कुछ दिनों में वे ठीक हो गए और अपने डेरे पर आ गए। उन्हें आराम

की जरूरत थी, लेकिन वे ज्यादा आराम न कर सके और व्याख्यान देने के लिए फिर बाहर निकलने लगे। मैंने केदारजी से पूछा-लोगों ने उन्हें क्यों बाहर जाने दिया? उन्होंने मुझसे कहा कि हमलोगों ने सोचा कि शायद यह भी उनके लिए इलाज का काम करे। उन लोगों का सोचना सही साबित हुआ और धीरे-धीरे वे पूर्ण स्वस्थ हो गए।

जब वे बीमार पड़े, तो संपूर्ण हिंदी संसार इस बात को लेकर चिंतित हो उठा। मैं भी चिंतित था, लेकिन उनके बनारस आने के समाचार से मेरी चिंता इतनी बढ़ गई कि एक रात मैं सो नहीं सका। उसी समय मुझे लगा कि नामवरजी को मैं कितना प्यार करता हूं। अगले दिन मैंने अपूर्वानंदजी को उन्हें देख आने के लिए बनारस भेजा। वे वहां से लौटे, तो मुझे बतलाया कि उनकी जांच चल रही है और फिलहाल वैसी चिंता की कोई बात नहीं है। फिर मैं थोड़ा निश्चिंत हो गया और दिल्ली में जैसे-जैसे वे स्वस्थ होते गए, मेरी चिंता भी दूर होती गई।

'कसौटी' के समापन-अंक का लोकार्पण उन्हीं को करना था, लेकिन चूंकि उस समय वे साहित्य अकादेमी से नाराज चल रहे थे, इसलिए उसके सभा-कक्ष में आयोजित समारोह में जाना उन्हें स्वीकार नहीं हुआ। लिहाजा कुंवरजी ने उसका लोकार्पण किया और फिर आलोचना पर रखी गई एक गोष्ठी में मलयालम के प्रसिद्ध कवि के. सच्चिदानंदन सहित दिल्ली के अनेक प्रसिद्ध हिंदी लेखकों ने भाग लिया। समारोह संपन्न होने के बाद मैंने सभी विद्वानों को 'कसौटी' के समापन-अंक की एक-एक प्रति भेंट की।

दूसरे दिन नामवरजी ने मुझे अपने आवास पर बुलाया। मैं तरुणजी के साथ चला और रास्ते में जाम न मिलने के कारण नौ बजे से कुछ पहले ही उनके यहां पहुंच गया। वे नंगे बदन अपने बैठके में बिछे कालीन पर बैठे थे और उनके सामने दवाओं का ट्रे रखा था, साथ में एक ग्लास पानी भी। हमलोगों को देखकर वे थोड़ा सकपकाए। मैंने कहा-आप दवाएं लेकर सुस्थ हो जाएं, फिर आपसे बातें होंगी। दवाएं लेकर वे अंदर गए और आधी बांह का कुर्ता पहनकर बाहर आए। मेरे 'सुस्थ' शब्द के प्रयोग से वे बहुत प्रसन्न थे। बोले-'सुस्थ रमणीय' और 'अविचारित रमणीय' के बारे में बहुत पहले पढ़ा था। आज आपके मुंह से 'सुस्थ' शब्द सुनकर बहुत अच्छा लगा फिर कहा-'कसौटी' का काम समाप्त हो गया, अब आप 'आलोचना' को संभालिए। सहसा मेरे मुंह से निकला-अब यह संभव नही है। 'कसौटी' ने मुझे इतना थका दिया है कि अब मुझसे कुछ न होगा। दरअसल इस पत्रिका ने मुझे आर्थिक, शारीरिक और मानसिक रूप से इतना तोड़ दिया था कि मुझे विश्वास ही नहीं हो रहा था कि मैं आगे कुछ कर सकूंगा। नामवरजी मुझसे ऐसे उत्तर की आशा नहीं कर रहे थे। अंत में मैंने उनसे कहा कि डॉक्टर साहब, पहली बार मैं आपका आदेश पालन करने में अपने को असमर्थ पा रहा हूं। फिर मैं रोने लगा, जिससे वे घबड़ा गए और कहा-आप शांत हो जाइए। 'आलोचना' की कोई दूसरी व्यवस्था हो जाएगी।

अब मैं सोचता हूं कि मेरे अस्वीकार के पीछे मेरे अचेतन में कुछ और कारण भी थे। एक तो यह कि मुझे 'आलोचना' से अपमानजनक ढंग से बर्खास्त किया गया था, सो मैंने निश्चय कर लिया था कि अब किसी निजी संस्थान से न जुड़ूंगा। दूसरा कारण यह था कि मेरे हटाए जाने के बाद परमानंद श्रीवास्तव बेहिचक उसमें मेरी जगह आ गए थे। मुझे इस बात का भी दुख था कि जब उन्होंने 'आलोचना' में मेरी जगह ली, तो अगला अंक निकलने के पहले वे मेरे यहां आए थे, लेकिन

मुझे कुछ भी नहीं बतलाया था। मैंने सोचा कि जिस तरह से मेरे हटाने के बाद वे गए, उस तरह उनके हटाए जाने के बाद मैं नहीं आऊंगा। तीसरा कारण यह था कि जब मैं 'आलोचना' से जुड़ा था, तो मेरे एक प्रिय मित्र को यह सख्त नागवार गुजर रहा था। लिहाजा उन्होंने मेरे विरुद्ध शीलाजी के नाम एक लंबा पत्र लिखा और किसी और सकी हस्तलिपि में उसे शीलाजी को भेज दिया। शीलाजी ने देखने के लिए वह पत्र मुझे भेजा। कहा जाता हे कि अपराधी कोई न कोई सबूत जरूर छोड़ता है। पत्र को पढ़ते हुए जब मैं उसके अंत में पहुंचा, तो यह देखकर चौंक गया कि उसकी डेढ़-दो पंक्तियां मेरे प्रिय मित्र ने अपनी हस्तलिपि में लिखी थीं। मैं तुरत उस हस्तलिपि को पहचान गया और पत्र-संबंधी वस्तुस्थिति से नामवरजी को परिचित करा दिया। वह पत्र अभी भी मेरे पास सुरक्षित है, लेकिन आज तक मैंने किसी को उस पत्र के लेखक के बारे में नहीं बतलाया। मेरे उस मित्र को भी यह मालूम नहीं है कि मैं करीब तीन दशकों से सब कुछ जानता हूं। दिलचस्प है कि उनसे मेरी मित्रता और गाढ़ी होती गई है। इस कारण भी मैं फिर 'आलोचना' में जाकर उन्हें दुखी नहीं करना चाहता था। मित्र आखिर मित्र होता है। जरूरी नहीं कि वह प्रतिदान में आपका भी अपनी सच्ची मित्रता ही दे। लेकिन इन कारणों के बावजूद नामवरजी का आदेश मेरे लिए सर्वोपरि था और वस्तुतः अपनी थकान के चलते ही उनके सामने राते हुए मैंने उसे अस्वीकार किया था। मेरे अस्वीकार कर देने के बाद अरुण कमलजी संपादक बनाए गए और पूरे श्रम और निष्ठा से 'आलोचना' के स्तर को उच्च बनाए रखाकर अनेक अंक निकाले।

लेकिन अंत में समयाभाव के कारण उन्होंने भी 'आलोचना' से छुट्टी चाही। राजकमल के निदेशक अशोकजी बहुत चिंतित थे कि अब क्या होगा? नामवरजी ने उनसे कहा कि आप चिंता न करें, मैं अपनी देखरेख में अपूर्वानंद को संपादक बनाने जा रहा हूं। उसके बाद उन्होंने उन्हें बुलाकर या फोन पर उनसे अशोकजी को वचन देने की बात कही। अपूर्वानंदजी ने सोचने के लिए उनसे दो-तीन दिनों का समय लिया और मुझे फोन किया-आपका क्या सुझाव है, मैं क्या करूं? मैंने उनसे कहा-'आलोचना' की संपादकी से आपको बहुत लाभ होगा। दूसरे, अंतिम निर्णय आपका ही होगा, लेकिन मैं चाहता हूं कि नामवरजी ने आप पर भरोसा किया है, तो आप उनके भरोसे को न तोड़ें। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि उन्होंने उन्हें अपने अनुकूल निर्णय से परिचित करा दिया और 'आलोचना' के अगले अंक की तैयारी में जुट गए। अब आप बतलाएं, मेरे उस प्रिय मित्र पर क्या गुजरेगी, क्योंकि विचारों के मामले में अपूर्वानंदजी मेरी तुलना में अधिक गहराई से क्रांतिकारी हैं। मेरी दृष्टि तो मात्र राजनीति तक सीमित थी, लेकिन उनकी दृष्टि सामाजिक और सांस्कृतिक भी है। राममोहन राय फाउंडेशन लाइब्रेरी के अध्यक्ष- पद से मुक्त होने के बाद नामवरजी ने सहारा का मुख्य परामर्शदाता बनना स्वीकार किया, लेकिन कुछ दिनों के बाद कुछ कारणों से उन्होंने उससे भी त्यागपत्र दे दिया।

'आलोचना'-संबंधी उनके आदेश को शिरोधार्य करने में अपनी असमर्थता जताने के बाद भी नामवरजी ने मेरे सिर पर से अपना वरदहस्त नहीं हटाया, बल्कि मुझे और स्नेह देने लगे। इसका एक प्रमाण है बिहार सरकार के राजभाषा विभाग का मुझे सर्वोच्च सम्मान-डॉ. राजेंद्र प्रसाद स्मृति साहित्य सम्मान दिलवाना। निर्णायक समिति के एक सदस्य ने एक अन्य विद्वान् का नाम लिया। नामवरजी ने उससे कहा-कोई तुलना है? लौटकर जब वे दिल्ली गए, तो वहां से उन्होंने मुझे फोन

पर बधाई दी और सम्मान-संबंधी निर्णय की पूरी प्रक्रिया से अवगत कराया। मैंने और मेरी पत्नी ने उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की। दिलचस्प है कि यहां भी मेरे एक प्रिय मित्र ने, जो मुझे रुष्ट थे, मुझ पर कृपा की। उन्होंने मुख्यमंत्री नीतीश कुमार को एक निजी पत्र लिखा और उसमें कहा कि यह निर्णय विवादास्पद है। यदि पुरस्कार देने के लिए समारोह हुआ, तो बाहर विरोध में नारेबाजी की जाएगी। नीतीशजी ने राजभाषा विभाग को दुःख के साथ यह कहा कि नामवरजी का निर्णय मुझे स्वीकार है, पर किसी विवाद से बचने के लिए मैं समारोह को छोड़ता हूं। आप सभी पुरस्कार विजेताओं को पुरस्कार की राशि भिजवा दीजिए। मेरे पास राजभाषा विभाग के एक अधिकारी आए और समारोह न हो पाने का कारण बतलाते हुए मुझे एक लाख इक्यावन हजार का चेक देकर भारी मन से लौट गए। पहले की तरह मेरे इन मित्र को भी यह नहीं मालूम है कि मुझे सब कुछ ज्ञात है। प्यारे भाइयों, दुनिया इसी तरह चलती है।

थकान उतरते ही मैं धड़ाधड़ पुस्तकें लिखने लगा और सारी पुस्तकें तुरत छपकर राजकमल से आने लगीं। उन पर मुझे नामवरजी की प्रोत्साहन और प्रशंसा से भरी प्रतिक्रियाएं भी मिलती रहीं। मेरी 'तुलसीदास' नामक पुस्तक पर उन्होंने मुझे फोन किया और कहा कि इस पुस्तक के लिए मेरी बधाई लीजिए। तुलसीदास को तो लोगों ने छोड़ ही दिया था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की पुस्तक के बाद उन पर आपकी यह अकेली अद्‌भुत पुस्तक है, उनसे यह सब सुनकर मैं फिर फोन पर ही रोने लगा और उनसे कहा-मैं क्या कहूं! मेरे ध्यान में तो आप ही रहते हैं : 'एक भरोसो एक बल, एक आस विस्वास।/एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास।।' मेरी 'रीतिकाव्य' वाली पुस्तक पर उन्होंने मुझसे कहा-यह आपके ही बूते की बात थी। मैंने उनसे निवेदन किया कि आप ऐसा कह रहे हैं और आपके समीपवर्ती एक विद्वान् तो यह कहते हैं कि 'सूरदास' और 'रीतिकाव्य' नामक पुस्तकें मात्र भाष्य हैं, आलोचना नहीं। मैंने इन दोनों क्या, तीनों ही पुस्तकों की भूमिका में लिखा है कि ये पुस्तकें शुद्ध स्वान्तः सुखाय लिखी गई हैं। लेकिन इस पर कौन ध्यान देता है? उक्त विद्वान् के बारे में नामवरजी ने कहा-उनकी बात न कीजिए। मेरी पुस्तक 'आधुनिक हिंदी कविता का इतिहास' की भी उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की और उसकी अनेक विलक्षणताएं बतलाकर मुझे लज्जित करने में कुछ उठा न रखा। 'हिंदी कविता : अभी, बिलकुल अभी' पर उन्होंने मुझसे कहा-नवलजी, जो मैं न कर सका, वह आपने कर दिया। फिर उन्होंने अकबर इलाहाबादी के एक शेर का यह मिसरा दुहराया-'हमारी बातें ही हैं बातें, सैयद काम करता था'। मैंने उनसे कहा कि अपने व्याख्यानों में आपने जो बातें नहीं की हैं, वे हवा में उड़ नहीं गई हैं, बल्कि उन्होंने हिंदी कविता की धारा को बल पहुंचाया है, उसे दिशा-निर्देश दिया है और अनेक ऐसे संकेत छोड़े हैं, जिनकी रोशनी में आनेवाली पीढ़ी आगे बढ़ेगी। संपूर्ण हिंदी साहित्य के बार में शायद ही कोई ऐसी बात हो, जो आपसे छिपी हो और जो आपके व्याख्यानों में रह-रहकर चमक न उठती रही हो। मैंने उन्हें वह पुस्तक श्याम कश्यप के हाथों भिजवाई थी। उसने मुझे बतलाया कि नामवरजी ने कहा कि हमलोगों में सैयद तो एक ही है, और वह नवलजी हैं। यहां भी मेरे 'विचलित' होने के लिए पूरा सामान था, लेकिन मेरी आत्मालोचनात्मक प्रवृत्ति मुझे हर बार बचा लेती है। दूसरे, वे मुझे जो कह दें, मैं उसे अपनी प्रशंसा न मानकर उनका स्नेहाशीर्वाद ही मानता हूं।

तीन वर्ष पूर्व में बीमार पड़ा। पटने के डॉक्टरों ने डेढ़ महीने तक मुझे झुलाकर रखा। मेरी बीमारी

उनकी पकड़ में नहीं आ रही थी। अंत में पूर्वा और अपूर्वानंदजी ने मुझे एम्स में दिखलाने की पूर्ण व्यवस्था करके मुझे और मेरी पत्नी को दिल्ली बुला लिया। वहां एम्स के डॉक्टरों ने मुझे देखते ही जान लिया कि मुझे एसिडिटी की शिकायत है, जिससे मेरा पूरा शरीर जलता रहता है। इसके बाद भी मेरी पूरी जांच हुई और मेरी बीमारी के विशेषज्ञ डॉक्टर ने तीन सप्ताह दिल्ली में रुककर मुझे दवा खाने को कहा। मैं दवा खाता रहा और एकदम ठीक होकर उसके बाद पटने चला आया। उस यात्रा में जाने का नहीं, पर आने का मैंने आनंद लिया, क्योंकि हवाई जहाज बादलों की बगल से गुजर रहा था। आसमान कहीं बंजर खेत की तरह लगता था और कहीं बादल रूई के गट्ठर की तरह। दिल्ली में मेरे रहते ही नामवरजी अपूर्वानंदजी के यहां मुझे देखने आए थे। उन्होंने मेरी बीमारी का कारण सुनकर कहा कि चलिए, मैं निश्चिंत हुआ। फिर चलते समय उन्होंने मुझे अपने गले से लगा लिया। मेरी रही-सही बीमारी भी जाती रही।

नामवरजी के प्रोत्साहन और अशोकजी की सहायता से पटने के अनुग्रह नारायण शोध संस्थान में बड़े पैमाने पर मेरा पचहत्तरवां जन्मदिन का समारोह अपूर्वानंदजी और तरुणजी ने आयोजित किया। उसमें नामवरजी, केदारजी और अशोकजी तो आए ही थे, प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल के साथ दो युवा आलोचक भी थे। उस अवसर पर आलोचना पर द्विदिवसीय गोष्ठी भी रखी गई थी। नामवरजी ने अपना व्याख्यान आरंभ करने के पहले कहा- मैं 'नामवर' हूं, लेकिन नवलजी 'कामवर' हैं। इसके पहले टी.वी. पर 'सुबह-सवेरे' कार्यक्रम में मेरे निबंध-संग्रह 'निकष' की समीक्षा करते हुए उसके अंत में उन्होंने कहा था- नवलजी उम्र में मुझसे छोटे हैं, लेकिन मैं उन्हें प्रणाम करता हूं। यह समीक्षा 'आउटलुक' में प्रकाशित हुई। उसे पढ़कर मैंने उन्हें पत्र लिखा- 'यह आपने क्या कहा? मैं तो आपके चरणों में बैठने के योग्य ही हूं, मुझे वहां से उठाकर आप अपनी बगल में न बैठाएं। आपके चरणों में बैठने में ही मेरा सुख और गौरव है।

पिछले दिनों केदारजी पटने आए, तो मुझे बतलाया कि वे अस्वस्थ चल रहे हैं। कभी-कभी उन्हें दस्त लगने लगते हैं और एक दिन तो वे बेहोश भी हो गए थे। मैंने कहा कि मैं तो जब कभी उनके स्वास्थ्य के बारे में उन्हें फोन करता हूं, तो वे यही कहते हैं कि 'मैं ठीक हूं'। केदारजी ने मुझसे कहा कि वे सबको यही कहते हैं, लेकिन ठीक हैं नहीं। मुझे जो करना था, वह कर चुका। यह पुस्तक मेरी अंतिम पुस्तक है। अब मेरी जीने की इच्छा नहीं है, सो मैं चाहता हूं कि मेरी शेष आयु उन्हें मिल जाए और वे शती पूरी करें। उनकी उपस्थिति-मात्र से हिंदी श्रीसंपन्न बनी रहेगी। अंत में प्रियदर्शी ठाकुर 'खयाल' का एक शेर उद्धृत कर मैं आपसे विदा लेता हूं :

थोड़ी दूर और मेरा बोझ उठा
फिर तो ले जाएगी हवा मुझको।

●

अद्‌भुत सहनशक्ति

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

सितंबर 2015 से दिसंबर 2015 के बीच का समय था वह, जब भारतीय शिक्षित समुदाय 'असहिष्णुता' की आंधी में फंस गया था। लेखक सहिष्णुता के पक्ष में अपने अकादमिक पुरस्कार वापस कर रहे थे। एक-दो लेखक जो इसके मुख्य किरदार थे, पुरस्कार वापसी के पक्ष में देशव्यापी अभियान छेड़े हुए थे। अभियान में वामदलों के लेखक और उनके धुर विरोधी साथ थे। आश्चर्य कि वामदलों के धुर विरोधी ही अभियान के अगुआ थे। अजीब आंधी थी वह जिसे देश-विदेश के अखबार और मीडिया चैनल और भी गति दे रहे थे। ऐसे चक्रवात में जबकि उनके छोटे भाई तक ने पुरस्कार वापसी का निर्णय ले लिया था, नामवरजी की यह प्रतिक्रिया कि 'ये लेखक अपना नाम चमकाने और सस्ती लोकप्रियता हासिल करने के लिए ऐसा कर रहे हैं' अकल्पनीय थी। जिसने भी सुना या पढ़ा, चकित हुआ। लेकिन यही तो नामवरजी की विशेषता है। बड़ा और अनुभवी लेखक वह होता है जो सारी दुनिया के विरोध में भी अकेले और अविचल खड़ा होने का साहस रखता है तथा चीजों की तह में जाकर सच तक पहुंचता है। नामवरजी इस सच तक पहुंच गए थे कि पुरस्कार वापसी का मुख्य मुद्‌दा सहिष्णुता-असहिष्णुता नहीं है। देश का पूर्व इतिहास उनके सामने था। यदि असहिष्णुता मुद्‌दा होता तो यह पहले भी व्यक्त हुआ होता क्योंकि सैकड़ों घटनाएं पहले भी घटी थीं। इसीलिए उन्होंने पुरस्कार वापस करने वाले लेखकों को दोषी मानते हुए बयान दिया- 'इन लोगों को साहित्य अकादेमी से कहना चाहिए था कि आप अपना विचार बताइए अन्यथा हम अपना पुरस्कार लौटाएंगे। अगर साहित्य अकादेमी कहती कि आप लोगों को जो करना है करिए, तब इन लोगों ने पुरस्कार लौटाए होते तो मैं इसे सही मानता। लेकिन जिस तरह साहित्यकारों ने अकादेमी को बिना मौका दिए पुरस्कार लौटाया, बिना चेतावनी दिए पुरस्कार लौटाया, यह गैर जिम्मेदाराना बर्ताव है। इसे वाजिब नहीं कहा जा सकता। लोकतंत्र का तकाजा है कि भारत के संविधान के अनुसार, कोई भी मान्य दल अगर सरकार बनाता है, चाहे हमने उसे वोट न दिया हो, या हमारी विचारधारा का न हो, तो भी वह हमारी ही सरकार है।' (अगासदिया, अक्टूबर-दिसंबर, 2015)। नामवरजी के इस कथन में गलत क्या है? क्या इससे ज्यादा लोकतांत्रिक और तार्किक बयान संभव है?

नामवरजी में अपने गुट के लेखक और अपनी पार्टी के विरुद्ध भी सच कहने का साहस है। 10 फरवरी 2009 को गोरखपुर में परमानंद श्रीवास्तव का 75वां जन्मदिन मनाया जा रहा था। परमानंदजी कुछ दिनों नामवरजी द्वारा संपादित 'आलोचना' के सहसंपादक थे तथा उनके प्रमुख

अनुयायियों में एक माने जाते थे। विश्वविद्यालय के संवाद भवन में आयोजन था। आयोजन समिति से लेकर सभा में उपस्थित समूह तक से विरादरीवाद की तीखी गंध आ रही थी। मुख्य अतिथि थे प्रो. नामवर सिंह और विशिष्ट अतिथि केदारनाथ सिंह। मैं भी मंच पर था। नामवरजी ने अपने व्याख्यान की शुरुआत यह कह कर की- 'इस आयोजन के पीछे कोई व्यवस्थित दिमाग है और वह परमानंदजी के अलावा किसी और का नहीं हो सकता क्योंकि 'आलोचना' के संपादन में उनकी यह व्यवस्था देख चुका हूं।' फिर उन्होंने परमानंदजी की दो पंक्तियां उद्धृत कीं- 'बांधो न सपने उंगलियों में। भटकूंगा रस्ते में गलियों में।' इन पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा, 'परमानंदजी जीवन भर अनेक गलियों-रस्तों से भटकते हुए इस मोकाम पर पहुंचे हैं।' इस अवसर पर परमानंदजी के बारे में जो संपादित पुस्तक छपी थी, उसका शीर्षक था- 'प्रतिमानों के पार'। इस पर नामवरजी की टिप्पणी थी- 'मैंने तो प्रतिमान बनाए थे लेकिन परमानंदजी प्रतिमानों के पार चले गए और आप लोग जानते हैं कि प्रतिमानों के पार क्या होता है- इस पार प्रिये तुम हो, मधु है, उस पार न जाने क्या होगा।' इस प्रकार पूरे व्याख्यान में नामवरजी ने परमानंदजी पर व्यंग्य किया। निस्संदेह यह अवसरानुकूल नहीं था मगर उन्होंने जो कुछ कहा, सौ पैसे सच था। कहा जाता है कि नामवरजी गोष्ठियों में श्रोताओं को ध्यान में रख कर अवसरानुकूल बोलते हैं। यह सही भी है कि वे श्रोताओं को झटका देने वाले और चौंकाने वाले सही वक्तव्य भी देते हैं। बल्कि कहूं कि कभी-कभी तो आयोजकों को अपने आक्रामक बयानों से मुसीबत में डाल देते हैं। इस संदर्भ में बनारस में महादेवी वर्मा पर हुए आयोजन में पंतजी को 'कूड़ा' कहने वाला उनका बयान स्मरण किया जा सकता है।

22-24 अप्रैल 2006 को गोरखपुर में 'दैनिक जागरण' अखबार ने 'संवाद 2006' का आयोजन किया था जिसका उद्घाटन नामवरजी ने किया। छोटे शहरों में जब बड़े आयोजन होते हैं तो आयोजकों द्वारा स्वागत का अनुष्ठान इतना लंबा हो जाता है कि आयोजन साहित्यिक न रह कर मांगलिक उत्सव जैसे हो जाते हैं। इस आयोजन में भी आयोजकों ने वेदमंत्रों से 'स्वस्तिवाचन' कराया। तिलक भी लगवाया। इस पर व्यंग्यात्मक टिप्पणी करते हुए नामवरजी ने तुलसीदास को उद्धृत किया- 'दादुर धुनि चहुंओर सुहाई, वेद पढ़हिं जनु वटु समुदाई।' अगले दिन उसी मंच पर 'जीवन में कविता' विषय पर संगोष्ठी थी। नामवरजी अध्यक्ष मंडल में थे। उनके साथ मैं भी था। वे एक वक्ता के व्याख्यान से इतना उखड़ गए कि मंच छोड़कर नीचे चले गए और काफी मान मनौवल के बाद भी मंच पर नहीं गए। अंत में उन्होंने अध्यक्षीय वक्तव्य भी नहीं दिया बल्कि उसके स्थान पर अष्टभुजा शुक्ल की कविता पढ़वा दी। आयोजकों के नाराज होने की उन्हें कोई परवाह नहीं थी।

हिंदी भाषा-भाषियों के बीच नामवरजी अपनी वाग्मिता के लिए विख्यात हैं। वे हर गोष्ठी में तैयार होकर बोलते हैं, विषय पर कुछ नया देने की कोशिश करते हैं और कभी-कभी तो लिखकर पढ़ते भी हैं। जब वे विचारधारा और राजनीति से मुक्त होकर शुद्ध एकेदमिक स्तर पर बोलते हैं तो उनका अध्ययन और पांडित्य प्रभावित करता है। बीच-बीच में व्यंग्य और विनोद द्वारा अपने व्याख्यानों को मनोरम बनाए रखते हैं तथा पूर्व वक्ताओं पर हल्के या कड़े प्रहार भी करते हैं। मैं उनके अनेक व्याख्यानों का श्रोता भी रहा हूं और अनेक में उनके साथ मंच भी साझा किया है लेकिन सबके बारे में लिख पाना संभव नहीं है।

दिसंबर 1995 में मैं साहित्य अकादेमी के जूरी मंडल में था जिसमें अशोक वाजपेयी भी थे। उनकी सूचना और आग्रह पर सायंकाल सोवियत सांस्कृतिक केंद्र गया जिसमें रूसी कविताओं के हिंदी में अनूदित एक संग्रह पर कार्यक्रम था। अनुवाद बरयाम सिंह ने किया था जिसे साहित्य अकादेमी ने प्रकाशित किया था। आयोजन में केदारनाथ सिंह, इंद्रनाथ चौधुरी आदि थे। चेलीशेव भी संयोग से आ गए थे। नामवरजी अध्यक्षता कर रहे थे। अनूदित संग्रह पर छपा था 'तनी हुई प्रत्यंचा' और नीचे कोष्ठक में लिखा था- 'बीसवीं सदी की रूसी कविताएं।' नामवरजी ने कहा 'यदि कविताएं की जगह केवल 'कविता' शब्द होता तो बेहतर होता। 'एं' लगाने से अर्थ की बढ़ोत्तरी नहीं होती। ज्ञातव्य है कि इस पुस्तक के सह-संपादक केदारनाथ सिंह भी थे। मगर नामवरजी कहां चूकने वाले!

मार्च 2004 में इलाहाबाद संग्रहालय में 'साहित्य और समाज' विषय पर संगोष्ठी थी। उनका भाषण शुद्ध एकेडमिक था जबकि मैनेजर पाण्डेय एक राजनीतिक की तरह बोल रहे थे। इसी वर्ष अक्टूबर में लक्ष्मीबाई शासकीय कन्या महाविद्यालय, भोपाल में 'कालजयी साहित्य की अवधारणा' विषय पर संगोष्ठी थी जिसमें मुझे बीज व्याख्यान देना था। नामवरजी ने यहां भी अपने व्याख्यान को एकेडिमक बनाया। व्याख्यान के बाद भोजन करते हुए मेरे कान में कहा, 'परमानंद (परमानंद श्रीवास्तव) डीरेल (असंतुलित) हो गए हैं। उन्हें बचाइए। अरविंद त्रिपाठी को उन्होंने 'आलोचना' से निकलवाकर बहुत अन्याय किया।' नवंबर 2007 में लखनऊ के 'कथाक्रम के आयोजन में उन्होंने दो-तीन व्याख्यान दिए। राजनीति और पार्टीलाइन से मुक्त होकर बोले। राजेंद्र यादव (जो उपस्थित थे) पर कड़ा व्यंग्य करते हुए उनकी काफी खिंचाई की तथा दलित और स्त्री विमर्श को सिरे से खारिज कर दिया। इस सगोष्ठी के कुछ ही पहले मैंने उनके साथ हैदराबाद की यात्रा की थी। वहां मानवाधिकार का आयोजन था जिसमें प्रभाष जोशी और वागीश शुक्ल आदि थे। एक ही उड़ान से दिल्ली से चले और वापस लौटे। रास्ते भर हँसी-मजाक का दौर चला। लौटानी जहाज में एक किनारे वे थे, दूसरे किनारे मैं। राकेश रेणु से बोले, 'एक खूंटा मैं हूं, दूसरे विश्वनाथजी।'

यह भी उल्लेख किया जाना चाहिए कि नामवरजी अपनी ही स्थापनाओं का खंडन अपने भाषणों में कर दिया करते हैं। वे इसे अनुचित भी नहीं मानते। कोई विचारक किसी एक ही बिंदु पर क्यों अड़ा रहे? क्या उसे अपने विचारों में परिवर्तन का अधिकार नहीं है? अपनी 'छायावाद' पुस्तक में नामवरजी ने छायावाद की प्रशंसा की। लेकिन 'कविता के नए प्रतिमान' की शुरुआत ही होती है है 'छायावादी संस्कारों' के खंडन से। फिर उन्होंने 'कविता के नए प्रतिमान' की स्थापनाओं का भी खंडन कर दिया। 'दूसरी परंरपरा की खोज' में उन्होंने आचार्य शुक्ल को पहली और हजारी प्रसाद द्विवेदी को दूसरी परंपरा का आलोचक कहा था तथा सीधे तो नहीं पर व्यंजना में आचार्य शुक्ल के कद को घटाया था। पर 2006 में जोकहरा के एक आयोजन में उन्होंने कहा कि वे हजारी प्रसाद द्विवेदी को 'आलोचक' नहीं 'विचारक' मानते हैं। इसी वर्ष बस्ती के एक आयोजन में उन्होंने कहा, 'मेरी दृष्टि में हिंदी में आज तक केवल एक ही आचार्य पैदा हुआ और वह है आचार्य रामचंद्र शुक्ल। यहां तक कि मैं अपने गुरु पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी को भी 'आचार्य' न कहता हूं और न लिखता हूं। अगर हिमालय पृथ्वी का मानदंड है तो हिंदी साहित्य के मानदंड आचार्य रामचंद्र शुक्ल ही हैं।' (राष्ट्रीय सहारा, गोरखपुर, 22 अप्रैल, 2006)। श्रोताओं का कहना है कि उस गोष्ठी में उन्होंने 'दूसरी

परंपरा' का भी खंडन कर दिया।

नामवरजी की एक विलक्षण विशेषता मुझे आकृष्ट भी करती है और हैरत में भी डालती है। वह यह कि वे अपने विरोधों का कोई उत्तर नहीं देते। मैं नहीं जानता कि वे उसे भूल जाते हैं या नहीं पर अपने विरोध में लिखने वालों के प्रति भी मिलने पर उनसे सहज व्यवहार करते दिखते हैं। यह तो सभी जानते हैं कि आलोचकों में सबसे ज्यादा विरोध उन्हीं का होता है। वामपंथी भी उनका विरोध करते हैं। 2003 में ज्ञानरंजन ने 13 पृष्ठों की एक बुलेटिन छापकर उनका विरोध किया था। यदि कोई उनके विरोध में प्रकाशित सामग्री इकट्ठी करके छापे तेा वह मात्रा में उनके लेखन से कुछ ही कम होगी। केदारनाथ सिंह एक बार बातचीत में मुझसे कहने लगे, 'मुझे अचरज होता है कि इतने विरोधों के बीच नामवरजी को नींद कैसे आती है।' यही वह विशेषता है जिसे मैंने 'विलक्षण' कहा है। नामवरजी की सहनशक्ति अद्‌भुत है।

दस्तावेज -अंक 91 (अप्रैल-जून, 2001) में मैंने अपना बहुचर्चित संपादकीय लिखा था- 'रामविलास शर्मा की बरसी पर आलोचना का कट्टरतावाद।' यह लंबा संपादकीय नामवरजी के विरुद्ध था। हिंदी के पाठकों का मानना है कि नामवरजी के विरोध में ऐसा कड़ा लेख शायद ही लिखा गया हो। कुछ संस्थाओं और आयोजकों ने तो ऐसा मान लिया कि अब एक ही मंच पर दोनों विरोधियों को बुलाना चाहिए। बंबई और दो एक अन्य स्थानों पर उनके साथ मुझे आमंत्रित भी किया गया मगर मैं गया नहीं। आयोजकों को यह पता नहीं था कि मेरा विरोध वैचारिक था। व्यक्तिगत रूप से तो मैं चरम शालीनता का आग्रही हूं। लेकिन शालीनता में नामवरजी मुझसे आगे निकल गए। उस संपादकीय के प्रकाशित होने के चंद महीनों के भीतर ही वे साहित्य अकादेमी में अचानक दिख गए। मेरे साथ केदारनाथ सिंह, सत्य प्रकाश मिश्र और रणजीत साहा थे। मुझे देखते ही थोड़े असहज तो हुए पर तत्काल अपने भावों पर काबू पा लिया और सहज होकर बोले, 'आप बहुत अच्छे अंक निकाल रहे हैं। मुझे सभी मिलते हैं।' फिर उन्होंने सुरती (चूने में मिलाकर खाने वाला देशी तंबाकू) मांग कर खाई और चुनौटी की भी याद की। वर्षों पहली मैंने उन्हें स्टील की एक चुनौटी (चूना और सुरती रखने की डिबिया) दी थी। वे अक्सर उसकी याद करते हैं।

फरवरी 2008 में मैं साहित्य अकादेमी में हिंदी भाषा का संयोजक निर्वाचित हुआ। उस समय स्थिति यह थी कि नामवरजी और अशोक वाजपेयी अकादेमी से नाराज थे और पिछले पांच वर्षों से अकादेमी कार्यक्रमों में शामिल नहीं हुए थे। मैंने दोनों से फोन पर बात की और दोनों ही मई 2008 में हजारी प्रसाद द्विवेदी पर आयोजित संगोष्ठी में वाराणसी पहुंचे। तब से जब भी मैं नामवरजी से अनुरोध करता हूं वे अकादेमी कार्यक्रमों में जरूर जाते हैं। मेरे साथ भोजन भी करते हैं और कुछ समय भी बिताते हैं। यह जरूर है कि बढ़ती आयु के कारण अब कम बोलते हैं या कभी-कभी लिख कर भी बोलते हैं। मैं नामवरजी के गुट में कभी नहीं रहा, न मार्क्सवादी ही रहा, पर जिन दिनों अकादेमी के अध्यक्ष का चुनाव होना था, नामवरजी जब भी अकादेमी आते, अपनी शुभकामना देते कि मैं चुनाव जीत जाऊं। एक बार उन्होंने कहा, 'मैं आश्वस्त हूं कि आप चुनाव जीतेंगे और मेरी यह इच्छा पूरी होगी कि अकादेमी का अध्यक्ष कोई हिंदी का लेखक हो।'

1997-98 में नामवरजी गंभीर रूप से अस्वस्थ हो गए थे। दिल्ली और वाराणसी में उनका इलाज चल रहा था। मैं उन्हें देखने गया था, रमेशचंद्र शाह भी थे। वे बहुत कमजोर लग रहे थे। आवाज

बिल्कुल मंद हो गई थी। लेकिन कुछ दिनों बाद वे पूरी तरह स्वस्थ हो गए। मेरे आमंत्रण पर कई बार अकादेमी में भी आए। प्रकृति की कृपा है कि 90 वर्ष पूरे करने के बाद भी वे काया और मस्तिष्क दोनों से स्वस्थ हैं। पुरस्कार वापसी के पटाक्षेप के बाद उनकी अस्वस्थता की खबर पाकर मैं उनका हाल-चाल लेने गया था। ड्राइंग रूम में अकेले बैठे थे, लुंगी-कुरता पहने, हिमाचली टोपी लगाए। आधे घंटे तक अकादेमी के इतिहास की चर्चा करते रहे। पुरस्कार वापसी की व्यर्थता की भी। वे हिंदी के वरिष्ठतम लेखकों में हैं। मैं उनके आशीर्वाद की कामना करता हूं।

●

मेरे लिए नामवरजी

मैनेजर पाण्डेय

नामवरजी हिंदी साहित्य में दुविधा की तरह हैं और दुविधा पैदा भी करते हैं, जिसका सीधा संबंध उनके जन्मदिन से है। हम लोग दशकों तक यह जानते थे कि वे एक मई को पैदा हुए हैं। यह हुआ था या नहीं पर मैं मानकर चलता था। जैसा कि निरालाजी अपने में मान कर चलते थे कि वे बसंतपंचमी को पैदा हुए थे। कोई उनका जीवनी-लेखक अब तक नहीं बता पाया कि वे कब पैदा हुए थे? उसी तरह नामवरजी कुछ कारणों से अपने को एक मई का पैदा हुआ मानकर चलते थे अब वह एक मई महत्वहीन हो गई है तो नामवरजी 28 जुलाई को पैदा हो गए। यह दुविधा है।

उनसे मेरी पहली मुलाकात काशीनाथ सिंह के घर पर पिछली सदी के साठ के दशक के लगभग अंत (67-68) में हुई। काशी से हम लोगों की आत्मीयता थी, जब नामवरजी आते थे तो काशी बताते थे। उस बार भी उन्होंने ही कहा कि भैया आ रहे हैं और एक गोष्ठी भी है। आप उसमें जरूर आइए। मैं गया। विजयमोहनजी थे और भी कई थे। विजयमोहनजी ने बोलते हुए, अचानक एक पत्रिका का जिक्र किया। इंग्लैंड से निकलती थी 'इनकाउंटर' नाम से, बड़ी प्रसिद्ध पत्रिका थी। उसका हवाला देते हुए एक बात कही। जो कुछ उनको कहना था वे कह चुके थे। फिर मैंने कहा कि बात 'इनकाउंटर' के हवाले से कहने का क्या अर्थ है? कुछ हिंदी में भी किसी ने कहा है कि जो कुछ है सब 'इनकाउंटर' और 'टाइम्स' मैग्जीन में ही है। वैसे तो बनारस के लोगों की आदत ही यही है। लालबहादुरजी के प्रधानमंत्री बनने पर शिवप्रसाद सिंह ने एक लेख लिखा तो हवाला दिया कि 'टाइम्स मैग्जीन' में यह छपा था कि हिंदुस्तान में ऐसा होता है कि एक रास्ते से आप चले जा रहे हों और एक सांप और एक अमुकजी दोनों मिलें तो पहले अमुकजी को मारना चाहिए। तो मैं बहुत चकित हुआ कि जब कहावत हिंदुस्तान की है तो 'टाइम्स मैग्जीन' को उद्धृत करने का क्या मतलब है? जब मैंने कहा तो अचानक नामवरजी ने मेरी तरफ ध्यान दिया कि विजयमोहन के इनकाउंटर का खंडन किसने किया? फिर दो-एक बात उन्होंने की और गोष्ठी खत्म हो गई। फिर हमलोग हॉस्टल चले गए। मेरी ठीक से उनसे मुलाकात बाद में हुई। बीच-बीच में एक-दो गोष्ठियां बनारस में और हुईं। वह बनारस के साहित्यिक माहौल के विनाश का दौर था। इसीलिए अंत में गोष्ठियां भी कम हो गई थीं।

नामवरजी जोधपुर विश्वविद्यालय पहुंच चुके थे। मेरा भी चयन वहां हो गया था परंतु मैं बरेली में था। मेरी प्रवृत्ति कुछ विचित्र-सी रही है। बरेली का एक कॉलेज था, मैं उसमें था और संतुष्ट था। नामवरजी ने दो-तीन बार मुझसे कहा कि जल्दी वहां आ जाइए। फिर भी मैं नहीं जा सका। मैंने

एक चिट्ठी उनको लिखी, उसमें क्या लिखा था वह सब तो नहीं याद है परंतु बदले में उन्होंने जो चिट्ठी लिखी उसकी एक बात मुझे याद है। मैंने उसमें कुछ लिखा होगा बनारस से अपने लगाव के बारे में, तो नामवरजी ने चिट्ठी लिखी और उन्होंने उसमें गालिब को उद्धृत किया और लिखा कि- 'जब मैकदा ही छूटा तो फिर क्या जगह की कैद, मस्जिद हो, मदरसा हो, कोई खानकाह हो'। उन्होंने कहा कि भई कौन बनारस नहीं रहना चाहता। मैं नहीं रहना चाहता था? कि केदार नहीं रहना चाहते थे और एक-दो नाम जोड़े और आप भी उसी में से हैं। असल में मैंने अपनी चिट्ठी में लिखा था कि बनारस से थोड़ी दूर पर है बरेली और बहुत दूर है जोधपुर। इसीलिए जोधपुर जाने की ज्यादा इच्छा नहीं है। तो उसी के जवाब में उन्होंने वह चिट्ठी लिखी थी। खैर! नामवरजी के कारण मैं जोधपुर गया। यह इसीलिए कह रहा हूं कि बहुत कम ऐसा होता है। चयन हुआ था अक्टूबर-नवंबर में और कार्यभार ग्रहण किया मैंने अगले साल जुलाई में। उस समय के कुलपति वी.वी. जॉन से उनकी बहुत आत्मीयता थी, उन्होंने कहा कि आप समय की चिंता मत कीजिए। मैं यह कर लूंगा। आपको जब सुविधा हो तो आइए। हम यहां अकेले हैं। गया मैं और हम लोग तीन साल वहां साथ रहे। फिर डॉक्टर साब आ गए गए जे.एन.यू.। जे.एन.यू. भी वे मुझे जबरदस्ती ले आए। मेरे कुछ व्यक्तिगत कारण थे, जिन कारणों से मैं जोधपुर से नहीं आना चाहता था। मैं फिर भी आ गया यहां। अब मैं आपको यह बताऊं कि नामवरजी जिनसे आत्मीयता महसूस करते हैं उनको पढ़ने-लिखने में किस तरह मदद करते हैं। इसका एक उदाहरण जोधपुर का दूंगा और एक-दो जे.एन.यू. का।

जिन दिनों मैं जोधपुर में था और नामवरजी जे.एन.यू. में, उन्हीं दिनों मैंने साहित्य के इतिहास दर्शन पर कुछ लेख लिखे, जो 'आलोचना' में छपे। हमारे सामने बड़ी समस्या यह होती थी कि इन सब विषयों पर हिंदी में तो बहुत कम सोचा-विचारा गया था। जो था सब अंग्रेजी में और यूरोपीय साहित्य में। हम लोगों के लिए और मैं जानता हूं आपके लिए भी फ्रांसीसी नाम, उनका उच्चारण एक टेढ़ी समस्या होगी। तो मैंने नामवरजी से कहा कि डॉ. साहब मैं कैसे इनका नाम लिखूं? मुझे तो समझ में नहीं आ रहा हैं। तो उन्होंने कहा कि एक काम कीजिए, किसी का नाम देकर उद्धरण देना है तो उसका नाम आप रोमन लिपि में लिख दीजिए। मैं जहां हूं मतलब जे.एन.यू. में वहां विभिन्न भाषाओं के लोग हैं। उनकी मदद से सही-सही जो उच्चारण होगा वह पता करके मैं आपके लेख में डाल दूंगा। मेरे उन चार-पांच लेखों एवं पूरी किताब में जो विदेशी लेखकों के नाम हैं, जैसे रोमन याकोब्सन, जिस तरह से लिखा जाता है उस तरह से याकोब्सन नहीं होता हम लोग जोकोब्सन पढ़ते हैं। अनेक नाम ऐसे हैं। तो नामवरजी ने इस तरह से मेरे लिखने की प्रक्रिया में मदद की। दूसरी बात यह थी कि जोधपुर विश्वविद्यालय में दो लोग ऐसे थे जो किताबों, पत्र-पत्रिकाओं के परम प्रेमी थे। एक तो स्वयं कुलपति वी.वी. जॉन। नामवरजी इसके गवाह हैं कि जोधपुर में जॉन साहब के कारण यूरोप और अमेरिका की कई पत्रिकाएं आती थीं। साहित्यिक, सौंदर्यशास्त्र, समाजशास्त्र से संबंधित संबंधित, उनमें से बहुत सारी पत्रिकाएं आज भी जे.एन.यू. की लाइब्रेरी में नहीं हैं। और ये दोनों लोग नामवरजी तो हर दूसरे दिन क्योंकि लाइब्रेरी और हमारा विभाग दोनों अगल-बगल था, जाते थे। इनकी देखा-देखी मैं भी लाइब्रेरी जाता और जो पत्रिका वे लेकर जाते और जब लौटाते थे तो मैं ले लेता। एक तरह से क्या पढ़ना चाहिए और क्या नहीं पढ़ना चाहिए, इसमें नामवरजी ने मेरा मार्गदर्शन किया। इसीलिए ऐसे बहुत सारे विषयों पर मैंने काम किया और लिखा जिन पर हिंदी

में कम काम हुआ है। उसका अधिकांश श्रेय नामवरजी के मार्गदर्शन को है।

नामवरजी को एक और सुविधा थी। वी.वी. जॉन ने उनसे कह रखा था कि जो किताबें तुम्हें पसंद हों वे स्वयं खरीदकर ले आओ और पुस्तकालय को सौंप देना। अच्छा वे करते क्या थे, इनकी बहुत पुरानी आदत है। वे दिल्ली से किताबें खरीद के ले के जाते, पहले खुद पढ़ते फिर इसके बाद पुस्तकालय को सौंपते थे। और जब उसकी प्रक्रिया पूरी होती थी तब हम लोगों के सामने आती थी। दूसरा इनका जो मेरे ऊपर उपकार है वह यह कि जो अच्छी किताबें थीं; मेरी दिलचस्पी भी उन्हीं में थी जिनमें इनकी थी, मतलब मार्क्सवाद, मार्क्सवादी आलोचना आदि-आदि से संबंधित। जो नामवरजी पढ़ चुके होते थे वे मुझे भी बताते थे कि यह किताब जरूर पढ़िए, जो लाइब्रेरी में उपलब्ध है। मैं ही ले आया हूं। फिर इसके बाद से जॉन साहब ने जोधपुर में एक और सुविधा तैयार की। विश्वविद्यालय की एक बुकशॉप खोल दी। उसके लिए भी किताबें नामवरजी खरीदकर ले आते थे दिल्ली से। और उस प्रसंग में भी मुझे बताते थे कि किताबें अमुक-अमुक आई है, उनमें से दो-तीन बहुत अच्छी हैं। इच्छा हो तो आप जाकर वहां से खरीद लीजिए। इस तरह से नामवरजी ने मेरे पढ़ने-लिखने का मार्गदर्शन किया।

जब मैं जे.एन.यू. में आया तो एक प्रक्रिया इन्होंने अपनाई। प्रक्रिया यह थी कि हमारा जे.एन.यू. का पाठ्यक्रम, जो नामवरजी बनाया हुआ था, इसमें चार-पांच एम.ए. और एम.फिल. में ऐसे प्रश्नपत्र थे जो अधिकांशतः सैद्धांतिक थे। साहित्य का समाजशास्त्र, साहित्य का इतिहास-दर्शन, आलोचना आदि। इसी तरह एक प्रश्नपत्र था मार्क्सिस्ट अप्रोच टू लिटरेचर, दूसरा था फॉर्मलिस्ट अप्रोच टू लिटरेचर। होता यह था कि प्रायः इन प्रश्न-पत्रों में से तीन मैं पढ़ाता था और दो वे पढ़ाते थे। नामवरजी ने एक ऐसा अद्‌भुत काम किया जो मेरे लिए परम लाभदायक सिद्ध हुआ। हर दो साल बाद वे कहते थे कि पाण्डेयजी यह कोर्स पढ़ाते-पढ़ाते मैं बहुत ऊब गया हूं। अब इन दोनों को जो मैं पढ़ाता हूं उन्हें आप पढ़ाइए और आप जो पढ़ाते हैं वह मैं पढ़ाऊंगा। इस प्रकार जितने कोर्स थे यहां और उसमें कोई ऐसा कोर्स नहीं था जो नामवरजी नहीं पढ़ा सकते थे। परंतु उनकी इस प्रणाली से मैं भी सब पढ़ने-पढ़ाने लायक बना। एक और बात आपसे कहूंगा कि अगर आदमी में आत्मविश्वास हो तो वह ज्ञान के मामले में किसी को छोटा नहीं समझता और आत्मविश्वास का अभाव हो तो किसी को किसी मतलब का नहीं समझता। जब नामवरजी मुझसे कोर्स पढ़ाने के लिए लेते थे तो पूछते थे कि पाण्डेयजी इस पेपर से संबंधित कोई पत्रिकाओं में कितने लेख छपे, जो आपने पढें? किताबें कौन-कौन सी नई आई है? अब इससे सपने में भी मेरे मन में यह भ्रम नहीं हुआ कि नामवरजी यह सब जानते नहीं हैं। यह उनका आत्मविश्वास था और साथ ही वे मुझे भी हिम्मत दिलाते थे कि आप भी पूछिए मुझसे, तो मैं भी पूछता था उनसे कि कौन सी पत्रिका में कौन से लेख छपे हैं और कौन सी किताबें इस बीच में आपने पढ़ी हैं। आजकल भारतीय भाषा केंद्र में यह परंपरा नहीं है।

नामवरजी शुरू-शुरू में मेरी भाषा भी ठीक करते थे। लेखन आरंभिक दिनों में हम लोगों पर जयशंकर प्रसाद, रामचंद्र शुक्ल आदि की भाषा का असर था। एक बार नामवरजी को एक लेख लिखकर मैंने दिया 'आलोचना' के लिए। नामवरजी ने लेख पढ़ लिया और दूसरे दिन मुझसे बोले कि पाण्डेयजी उसमें थोड़ी भाषा-संबंधी समस्या है। मैं आपको लौटा रहा हूं। ठीक करके दीजिए।

मैंने देखा कि लेख में निशान तो कोई लगाया नहीं है? तो मैंने पूछा कि डॉ. साहब, क्या समस्या है? बोले कई वाक्यों में मौलवी साहब अपनी दाढ़ी फटकार रहे हैं और कई में पंडितजी अपनी चुटिया हिला रहे हैं। मतलब कठिन संस्कृत के भी शब्द हैं और कठिन अरबी-फारसी के भी शब्द हैं। बोले ऐसे भाषा नहीं चलती, दोनों में एक संतुलन हो और अरबी-फारसी के केवल वे शब्द हिंदी में चलें जो प्रचलन में हो, और संस्कृत के शब्दकोश से शब्द निकालकर न लेख लिखने चाहिए, न भाषण देना चाहिए। यह पद्धति थी नामवरजी की। अपने से छोटे, अपने प्रिय और आत्मीय लोगों को सिखाते थे और इस प्रक्रिया से मैंने बहुत कुछ सीखा जो कुछ मैं आज हूं, उसे बनाने में नामवरजी का जो योगदान है, वह मैं इस जीवन में कभी भी नहीं भूल सकता। मैं उनको जन्मदिन की बधाई देता हूं और शतायु होने की कामना करता हूं।

●

कुछ पुरानी यादें और बातें

प्रयाग शुक्ल

यह 1960 की बात है। मेरी आयु तब बीस वर्ष की थी। मैं कोलकाता से दिल्ली आया था अपने आत्मीय मित्र अशोक सेकसरिया से मिलने। उसी समय नामवरजी से मेरी पहली भेंट हुई थी। वह श्रीकांत वर्मा के साथ नॉर्थ एवेन्यू में ठहरे थे। श्रीकांतजी से हमारा परिचय 'कृति' के कारण हो ही चुका था। अशोक सेकसरिया तो श्रीकांतजी से अच्छी तरह परिचित थे ही। उनसे मिलने गए तो पाया कि नामवरजी वहीं हैं, और सुमित्रानंदन पंत पर एक लेख लिख रहे हैं, जो 'कृति' में प्रकाशित होगा। यह लेख 'कृति' में प्रकाशित होकर चर्चित हुआ। इसकी प्रतिक्रिया में 'पक्ष'-'विपक्ष' भी बने थे, नामवरजी की ख्याति तब तक इतनी हो चुकी थी कि हिंदी में लिखने-पढ़ने वाला कोई नवयुवक भला उन्हें जाने (और माने) बिना कैसे रह सकता था। सो, मैंने उनसे हुई भेंट को एक सुअवसर माना जो, मानों मुझे सहज ही सुलभ हो गया था। यह जानकर मैं मन ही मन बहुत प्रसन्न भी हुआ कि नामवरजी भी मुझे 'जानते' हैं। और वे 'कल्पना', 'कृति' और 'कहानी' जैसी पत्रिकाओं में मेरी रचनाएं देख चुके हैं। 'कल्पना' में 1958 में, जब मैं मात्र 18 वर्ष का था मेरी एक 'कहानी' और एक कविता छपी थी। 'कहानी' में भी 1958 में मेरी एक कहानी 'सड़क का दोस्त' प्रकाशित हुई थी। 1960 तक 'कृति' में तो मेरी कई रचनाएं आ चुकी थीं। बहरहाल, नामवरजी से पहली ही भेंट में उनकी जो छाप मुझ पर पड़ी वह यही थी कि वे नयों के, नवलेखन के, पक्षधर हैं, और वही ऐसे आलोचक हैं, जिन्हें नवयुवकों से मिलने-बतियाने में अच्छा लगता है, और जो उनके कामकाज से अपने को जोड़े रखते हैं। हुआ यह भी कि नामवरजी को दो-तीन दिनों बाद बनारस लौटना था, और मैं भी कोलकाता जाते हुए अपने पुरखों के गांव (तिवारीपुर, हुसेनगंज, फतेहपुर) में कुछ दिन रुकने वाला था, जहां पर कोलकाता में, अपना व्यवसाय बंद कर (उसके डूब जाने पर) माता-पिता भी आ गए थे। और हम भाई-बहनों को जब जैसा अवसर उपलब्ध होता था उनसे मिलने गांव चले जाते थे। श्रीकांतजी ने कहा कि आप दोनों ही दो-तीन दिनों बाद जब उसी दिशा में जाने वाले हैं, तो एक ही ट्रेन में साथ क्यों न चले जाएं! यह तो मानों नामवरजी के साथ कुछ देर और रहने का विशेष अवसर था।

ट्रेन में हमारी क्या बातचीत हुई यह अब याद नहीं है, पर, इतना 'बोध' तो बचा रह गया है कि इस, और अन्य अग्रज लेखकों-कवियों से तब मिलने में-मिल सकने में- जो प्रोत्साहन सुलभ हुआ था, वह हमारे बहुत काम आया था। प्रसंगवश यहां याद कर लूं कि इसके ठीक तीन वर्षों बाद मैं 'कल्पना' जैसी पत्रिका के संपादन मंडल में पहुंचा। नामवरजी का पोस्टकार्ड मिला, और मेरे संपादक

मंडल में होने पर उन्होंने प्रसन्नता जाहिर की। 'कल्पना' में रहते हुए ही, हिंदी के सभी नामी-गिरामी लेखकों-कवियों से परिचय हुआ- अधिकतर से पत्राचार के माध्यम से। धर्मवीर भारती, और कृष्ण बलदेव वैद के स्वयं हैदराबाद आने पर। 'कल्पना' के संस्थापक-संचालक बदरीविशाल पित्ती पर प्रणति स्वरूप जो पुस्तक 'बदरीविशाल' शीर्षक से मैंने संपादित की है, उसमें कृष्ण बलदेव बैद ने अपनी उस हैदराबाद यात्रा की अनूठी छवियां उकेरी हैं। 'कल्पना' में रहते हुए ही 'अज्ञेय' से भी पत्राचार शुरू हुआ था। और जब हैदराबाद में कोई साल भर रहने के बाद मैंने दिल्ली का रुख किया तो इन अग्रजों से किसी न किसी रूप में हो चुकी 'भेंट' ही तो मानों इस निर्णय का आधार बनी थी कि दिल्ली चलूं और वहीं रहकर लिखं-पढ़ूं- उस दिल्ली में जहां 'अज्ञेय', जैनेन्द्र थे, कृष्णा सोबती थीं, मोहन राकेश, कमलेश्वर भी आ चुके थे। विष्णु प्रभाकर, भीष्म साहनी, नरेश मेहता, श्रीकांत वर्मा, रघुवीर सहाय थे और मनोहर श्याम जोशी के 'दिनमान' ज्वाइन करने की खबर थी। इब्राहिम अल्काजी राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में रंगमंच की एक नयी दुनिया बसा रहे थे। रामकुमार थे, स्वामीनाथन थे। रविशंकर का सितार सुनने के, और यामिनी कृष्णमूर्ति का नृत्य देखने के बहुतेरे अवसर थे।

मैंने पाया कि 1964 के अगस्त महीने में दिल्ली आकर, मैं किसी न किसी रूप में इन सबसे परिचित हो चुका हूं। साहित्य और कलाओं की दुनिया की बहुतेरी गतिविधियों से घिर गया हूं और 'कॉफी हाउस', 'टी हाउस' में थोड़े दिनों के लिए, दिल्ली के बाहर से आने वाले लेखकों-कवियों-कलाकारों से, मेरी भेंट होने लगी है। जो दिल्ली में थे उनसे तो होने ही लगी है- हिम्मत शाह, अर्पिता सिंह, परमजीत सिंह, अंबादास जैसे कलाकारों से, ब.वी. कारंत, ओम शिवपुरी, सुधा शिवपुरी, रामगोपाल जैसे रंगकर्मियों से भी, और सई परांजपे से, (जो तब नए नए शुरु हुए दूरदर्शन में नियुक्ति हुई थीं), राजिंदर पॉल से, जो अंग्रेजी में थिएटर की एक चर्चित पत्रिका निकालते थे, कुलभूषण खरबंदा से, जो अनंतर 'बालीवुड' के एक चर्चित अभिनेता बने- और भी बहुत-से लोगों से। यह सूची, नाम गिनने-गिनाने चलूं तो, बहुत लंबी होगी। बहरहाल कुछ ही वर्षों बाद हमने देखा कि स्वयं नामवरजी भी दिल्ली आ गए हैं- राजकमल प्रकाशन से संबद्ध होकर। मैं 1964 से 1968 तक फ्रीलांसिंग करता रहा था- मुख्यतः 'दिनमान' से जुड़कर, पर, बाकी जगहों के लिए भी- दूरदर्शन, आकाशवाणी, पत्र-पत्रिकाओं के लिए कुछ न कुछ करता ही था। करने की चाह रखता था। सो, 'आलोचना' में भी लिखना शुरू हुआ। नामवरजी से भेंट होने लगी। पर, और आगे बढ़ूं उससे पहले एक और घटना की याद करना चाहता हूं। साठ के दशक के अंतिम वर्षों की बात होगी- 1966 -67 की संभवतः- चंडीगढ़ में इंद्रनाथ मदान ने कहानीकारों का एक बड़ा सम्मेलन आयोजित किया था। मैं भी आमंत्रित था। मोहन राकेश के साथ, एक ही डिब्बे में, चंड़ीगढ़ पहुंचा था। राकेशजी की मां भी थीं, जिन पर राकेशजी की 'आर्द्रा' कहानी आधारित थी- ऐसा सुना था। वह अपने साथ सचमुच एक स्नेहिल छाया साथ लिए चलती थीं। राकेशजी से मेरी अच्छी निभती थी, सो उस वक्त के मुझ जैसे संकोची के लिए वह यात्रा कुछ सुगम हुई थी। उन दिनों मैं कम बोलता था। और सभाओं-समारोहों में बोलने का अभ्यास तो यों भी नगण्य था, सो अंदर से कुछ घबराहट जैसी थी कि इतने बड़े समारोह में क्या कहूंगा, कैसे कहूंगा। दूसरे दिन जब विश्वविद्यालय के उस बड़े-से सभागार में पहुंचा तो पाया कि सैकड़ों की संख्या में छात्र-छात्राएं हैं, अध्यापक हैं, लेखक हैं। और हैं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, जो तब चंडीगढ़ विश्वविद्यालय से जुड़कर, उसकी शोभा बन चुके थे। वे 'नयी कहानी' आंदोलन के

दिन थे और राकेश, कमलेश्वर, राजेंद्र यादव साहित्य-जगत के सितारे थे। सन साठ के बाद के हमारी पीढ़ी के कहानीकारों के अपने मंतव्य और वक्तव्य थे। और नामवरजी, जो वहां आए ही थे, हम लोगों के दूर तक 'पक्षधर' थे। रवींद्र कालिया, विमल आदि भी वहां थे ही। समारोह शुरू हुआ, तो मैंने पाया, एक के बाद उद्घोष/जयघोष हो रहे हैं, तो मेरे हाथ-पांव फूलने लगे। मेरा नाम पुकारा गया तो किसी तरह बोलने के लिए खड़ा हुआ, और दो मिनट में अपनी बात समाप्त करके बैठ गया। अपने को कुछ धिक्कारता हुआ- सा, कि इतना बड़ा अवसर, इतने ज्ञानी-गुणी लोग, और द्विवेदीजी जैसे व्यक्ति की उपस्थिति- तुम इसका क्या 'लाभ' उठा सके! लोगों ने जैसे दावे किए थे, बड़ी बड़ी बातें की थीं, उन सबने यह भाव मन में और भर दिया था कि यहां कुछ कहना यों भी बेमानी-सा है। बाद की सारी कार्यवाही बस कानों में पड़ती रही, पर, मानो मुझमें वह 'रजिस्टर' हो ही नहीं रही थी। सभा समाप्त होते ही नामवरजी ने कहा, द्विवेदीजी ने तुमको घर बुलाया है, तुमसे मिलना चाहते हैं, यहां के लंच के बाद उनके यहां चलना है। इतना कहकर नामवरजी तो लोगों से घिर गए, पर, मेरी चिंता और बढ़ा कर- क्या कहेंगे द्विवेदीजी? जरूर ही उन्हें मेरी कोई बात खटकी है। यही सब सोचता हुआ, चुपचाप भोजन करने लगा। किसी को बधाइयां मिल रही थीं, कोई ठहाके लगा रहा था, और मैं 'चुप' था। पहले से भी अधिक। भोजन के बाद द्विवेदीजी के यहां पहुंचे तो मालूम हुआ कि वह रोज की तरह, भोजन के बाद, आराम कर रहे हैं। थोड़ी देर में ऊपर से नीचे उतरेंगे। द्विवेदीजी की पत्नी थीं। नामवरजी उनके स्नेह भाजन थे। उन्हें वह किसी बात का उलाहना देती हुई- शायद यही कि बहुत दिनों बाद आए हो- उनसे बतियाती रहीं। थोड़ी देर बाद द्विवेदीजी सीढ़ियों से उतरते हुए दिखायी पड़े- वह 'छवि' आज तक मैं नहीं भूला। नीचे आए, मैंने प्रणाम किया और सकुचाया-सा खड़ा रहा। जाहिर है, वह मुझे नहीं जानते थे, पर थोड़ी देर पहले समारोह में मुझे देखा था, बुलाया था घर, सो मुझे संबोधित करते हुए बोले, 'जानते हो, तुम्हारा 'न बोलना' आज मुझे कितना अच्छा लगा है। बाकी सब तो इस तरह बोल रहे थे, जैसे चार कहानियां क्या लिख दी हैं, चार वेद लिख दिए हैं।' यह मेरे जीवन का अपूर्व क्षण था। मैं मानों आकाश में उड़ रहा था। द्विवेदीजी जैसा व्यक्ति और विद्वान मुझे शाबाशी दे रहा है। उसने मेरी मनःस्थिति को समझा है। चिंता और आशंकाओं के बादल छंट गए। मन में कुछ आत्मविश्वास प्रकट हुआ। उनके वे शब्द कभी भूला नहीं। यह संस्मरण मैंने कई अंतरंग गोष्ठियों में सुनाया है। लिख पहली बार रहा हूं।

दिल्ली में, और एकाध बार बाहर भी, नामवरजी के साथ कई गोष्ठियों में, समारोहों में रहने के अवसर आए। और चंडीगढ़ की उस यात्रा में भी मैं उनके साथ ही था श्रोता के रूप में, जब विश्वविद्यालय की अंग्रेजी विभाग की अपनी बी.ए./एम.ए. की कक्षा में कृष्ण बलदेव वैद ने उन्हें छात्र-छात्राओं को संबोधित करने के लिए बुलाया था। इसी चंड़ीगढ़ में बरसों बाद फिर एक और अवसर आया जब अनुवाद पर आयोजित विश्वविद्यालय की एक राष्ट्रीय संगोष्ठी में नामवरजी के साथ मैंने मंच साझा किया। कुछ अच्छा समय उनके साथ बीता। चंडीगढ़-प्रसंग के बाद साठ-सत्तर के दशक की दिल्ली की ओर फिर लौटता हूं। 'आलोचना' में तो मैं लिखा ही करता था, नामवरजी की दो-एक योजनाओं में भी शामिल होने का निमंत्रण मिला था। एक योजना तो यही थी कि राजकमल युवा कवियों के संकलन प्रकाशित करे। वह पोस्टकार्ड मेरे पास अभी भी है, जिसमें नामवरजी ने लिखा था कि जब राजकमल आओ, तो कमलेशजी को भी साथ ला सको तो अच्छा

है। संकेत इसी योजना पर और अधिक चर्चा करने के लिए था। वह योजना तो पूरी नहीं हुई, पर, इस योजना की परिकल्पना भी यही बताती है कि नामवरजी जहां भी रहे हैं, युवा पीढ़ियों का सहयोग-समर्थन चाहते रहे हैं। उनसे जुड़ने की इच्छा रखते रहे हैं। इसे मैं उनका एक बड़ा गुण मानता हूं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की डेढ़ सौवीं जयंती के अवसर पर राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय स्तर पर जो कई आयोजन हुए 2012 में, उन्हीं में से कुछ साहित्य अकादेमी की ओर से भी थे। एक आयोजन में मुझे भी बोलना था। नामवरजी अध्यक्षता कर रहे थे। जब उनकी बारी आयी तो उन्होंने मेरे वक्तव्य की प्रशंसा में कुछ कहा, यह जोड़ते हुए कि 'अब बोलने को और रह क्या गया है!' तो खुले मन से प्रशंसा करने वालों में भी वह हैं। 'जनसत्ता' में मैं कई वर्षों तक उसके 'दुनिया मेरे आगे' स्तंभ में टिप्पणियां लिखता रहा हूं। यात्राओं से जुड़ीं वो टिप्पणियां बहुतों को पसंद आयीं। जब उनके छपने की शुरुआत हुई ही थी तो किसी प्रसंग में नामवरजी, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में आए। तब मैं राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की पत्रिका 'रंगप्रसंग' का संपादक था। रानावि के तत्कालीन निदेशक रामगोपाल बजाज के कमरे में उनसे भेंट हो गयी। बोले, आपकी 'जनसत्ता' वाली टिप्पणियां पढ़ रहा हूं, इन्हें पुस्तकाकार भी आना चाहिए। अनंतर ये टिप्पणियां समय-समय पर पुस्तकाकार संकलित होती रहीं, और हर बार मुझे नामवरजी का सुझाव याद आता रहा।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में ही जब 'श्रुति' के अंतर्गत हम लोगों ने हर महीने किसी न किसी लेखक-कवि को रचना-पाठ के लिए बुलाना शुरू किया तो नामवरजी 'श्रुति' के कई कार्यक्रमों में आए- श्रोता के रूप में। रंगकर्मियों से भी नामवरजी के अच्छे संबंध रहे हैं। और नाटकों के प्रदर्शन में तथा रंगमंच संबंधी गोष्ठियों में, भी वह दर्शक/वक्ता के रूप में भाग लेते रहे है। मुझे याद है 2001 में वह दिनेश ठाकुर के ग्रुप 'अंक' की रजत जयंती पर दिनेश के आग्रह पर मुंबई आए। अनंतर अंक के तीस वर्ष पूरे करने पर 'अंकयात्रा' (संपादकः प्रयाग शुक्ल, राजेन्द्र उपाध्याय, दीपा गहलोत) नाम से जो पुस्तक प्रकाशित हुई है, उसमें 'अंक' की ओर से प्रतिवर्ष की रिपोर्ट दर्ज है। वर्ष 2001 की संक्षिप्त रिपोर्ट यह है : 'हमारी रजत जयंती में हमने छह महत्वपूर्ण नाटक किए। रजत जयंती समारोह में हमने 18 दिनों में 12 नाटकों के 28 प्रदर्शन किए। हमने 'हिंदी रंगकर्म : समस्याएं और संभावनाएं' (इलेक्ट्रानिक मीडिया के समय में) पर संगोष्ठी की जिसमें रंगमंच की नामचीन हस्तियों और चिंतकों नामवर सिंह, अशोक वाजपेयी, देवेन्द्रराज अंकुर, प्रयाग शुक्ल, गुलजार, वामन केंद्रे, जावेद सिद्दीकी सहित कई लोगों ने दर्शकों से खचाखच भरे समारोह में भाग लिया। हमने तेंदुलकर के नाटकों पर हिंदी में प्रकाशित पहली पुस्तक 'रंग तेंदुलकर' का भी लोकार्पण किया। हमने मैसूर एसोसिएशन में 'इप्टा', 'एकजुट' और 'यात्री' के साथ एक नए थिएटर की संभावनाएं भी तलाशी।'

दिन भर के परिसंवाद के बाद दिनेश ठाकुर ने अपने घर में, आमंत्रितों के लिए एक 'पार्टी' रखी थी। नामवरजी, अशोक वाजपेयी, अंकुरजी आदि कई लोग थे। बातचीत का सिलसिला जारी रहा। ऐसे ही और भी कई मौकों पर नामवरजी के साथ रहा हूं। और देखा है कि वे परिचितों, आत्मीयों से, और पहली बार भी किसी से मिलने पर कितनी आत्मीयता से बतियाते हैं। हालचाल पूछते हैं, कुछ विनोद भी करते हैं और अपनी ही तरह की हँसी हँसते है जो न 'मुखर' होती है, न बहुत हल्की- बीच में कहीं थमी हुई होती है- अपनी खुशी, अपने मनोविनोद को प्रकट करती हुई।

साठ के दशक में हमारी जो एक मित्रमंडली बनी थी- अशोक सेकसरिया, कमलेश, प्रबोध कुमार (प्रेमचंद के नाती), जितेन्द्र कुमार, रमेश गोस्वामी, अशोक वाजपेयी, महेन्द्र भल्ला की, और मेरी- उस मंडली में नामवरजी साठ-सत्तर के दशक में कभी-कभार शरीक हुए हैं। जब मैं फ्रीलांसर था, और 5055 संतनगर, करोलबाग़ में रहता था- जहां युवा लेखकों का अड्डा भी अकसर जमता था- वहां भी नामवरजी दो-एक बार आए हैं। प्रबोध कुमार और जितेन्द्र कुमार (जिनके लिए एक संबोधन 'राष्ट्रपति' भी था) को नामवरजी उन दिनों से जानते थे जब वह सागर विश्वविद्यालय में पढ़ा रहे थे, और ये लोग भी सागर में ही थे।

याद आ रही है एक और भेंट की। उल्लेख कर आया हूं कि मैं नामवरजी से पहली बार 1960 में दिल्ली में मिला था। फिर एक और भेंट हुई थी कोलकाता में 1962-63 में, मेरे 'कल्पना' में जाने से पहले। वह किसी प्रसंग में कोलकाता आए थे, और बांग्ला कवि शक्ति चट्टोपाध्याय के आग्रह पर, जो तब मेरी ही तरह युवा थे, हम भवानी पुर के उस अड्डे में गए थे, जहां शक्ति समेत बांग्ला के कई युवा लेखक मिला करते थे। सिगरेट के धुएं वाले उस अड्डे में, हम कितनी देर रहे थे, क्या बातें हुई थी यह अब विल्कुल याद नहीं है, पर, यह याद है कि साग्रह, युवा लेखकों ने नामवरजी से बहुतेरी बातें की थी। शक्ति को मैं जानता था। अनंतर मेरी मैत्री भी उनसे हुई। हम कोलकाता कॉफी हाउस (सेंट्रल एवेन्यू) में कभी-कभार मिला करते थे। शक्ति चट्टोपाध्याय और सुनील गंगोपाध्याय के 'कृत्तिवास' वाले ग्रुप से, फणीश्वरनाथ रेणु की भी अंतरंगता रही ही थी, और रेणुजी ने उस अंतरंगता के संस्मरण भी लिखे हैं। कुल मिलाकर यह कि साठ के दशक में जो माहौल था- 'नए' के प्रति जो बढ़ता झुकाव था, प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में, उसमें 'नए' के पक्षधर, बल्कि कहें नयी पीढ़ी (या पीढ़ियों) के पक्षधर नामवरजी का नाम सहज ही प्रवेश कर जाता था।

प्रसंगवश यहां यह भी नोट करना चाहता हूं कि जिसे सन साठ की पीढ़ी वाले कथाकारों के रूप में जाना जाता रहा है, और जिसका एक 'सदस्य' मैं भी रहा हूं, की कहानियों की नोटिस लेने वालों में नामवरजी प्रमुख रहे हैं- देवीशंकर अवस्थी और विजयमोहन सिंह (जिन्होंने 'सन साठ के बाद की कहानियां' नाम से एक पुस्तक ही संपादित की थी और जिसका एक पुनर्नवा संस्करण दूधनाथ सिंह की भूमिका और संयोजन में फिर से आया है, लगभग हूबहू, हाल ही में) के साथ। नामवरजी की पुस्तक 'कहानी : नयी कहानी' इसी पीढ़ी की चर्चा से समाप्त होती है। इस चर्चा में मेरी 'भाषा' शीर्षक कहानी के साथ एक और कहानी का जिक्र है। हम सभी कथाकारों- जो तब बिल्कुल युवा ही थे, की कहानियों से बावस्ता नामवर आलोचक, नामवरजी, का लगाव-झुकाव यही बताता है कि वे नयी पीढ़ियों को पर्याप्त उत्सुकता से भी 'पढ़ते' रहे हैं। यह अलग बात है कि साठ-सत्तर के दशक के बाद, नामवरजी की, वे टिप्पणियां जो 'नई कहानियां', 'ज्ञानोदय' आदि में किसी स्तंभ या (स्वतंत्र रूप से भी) प्रकाशित होकर चर्चित हुआ करती थीं, क्रमशः थम गयीं। पुस्तकों का आना भी थम गया और नामवरजी जो कुछ 'लिख और बोलकर बताया करते थे, वह सिर्फ 'बोलने' में सिमट गया- और साहित्यिक-सांस्कृतिक मंचों से उस 'बोले' हुए को 'अवसरानुकूल' और 'औपचारिकताएं' निभाने वाला भी होना ही था।

पर वे अपने अध्ययन को, अध्ययनशीलता को सक्रिय रखते हैं, इसके प्रमाण मुझे भी जब-तब मिलते रहते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीतों के मूल बांग्ला से किए हुए मेरे अनुवाद जब 'सुनो!

दीपशालिनी' नाम से राजकमल से प्रकाशित हुए तो नामवरजी ने किसी सभा-गोष्ठी में मिलने पर मुझसे उसकी चर्चा की, और उन्हें वे अनुवाद अच्छे लगे हैं, यह भी बताया। इससे कई वर्ष पहले जब नेशलन बुक ट्रस्ट से, मेरे द्वारा मूल बांग्ला से किया हुआ, बंकिमचंद्र के निबंधों का संकलन आया तब भी उनकी अच्छी प्रतिक्रिया मिली। उन्हें बांग्ला (भी) आती है, और उनसे बांग्ला से हिंदी में किए हुए काम की, सकारात्मक प्रति क्रिया पाकर अच्छा लगता है।

मेरे बड़े भाई कथाकार रामनारायण शुक्ल से भी उनका परिचय 1963-64 में हुआ था। मेरे भाई उन वर्षों में इलाहाबाद में 'कहानी' पत्रिका के सहायक संपादक थे। और नामवरजी के इलाहाबाद जाने पर दोनों की भेंट कहीं न कहीं हो ही जाती थी। 'राम'- हम अपने बड़े भाई को इसी तरह से संबोधित करते थे- के कुछ पत्र मेरे पास अभी भी हैं, जिनमें नामवरजी से हुई भेंट-मुलाकातों की चर्चा है। नामवरजी एकाध बार हमारे उस घर पर भी आए, ग्रेटर कैलाश, नयी दिल्ली में, जहां हम किराए पर रहते थे। और एक बार ऐसा संयोग हुआ था कि मैं बनारस गया था, और जब काशीनाथ सिंह से लोलार्क कुंड वाले घर पर मिलने गया तो मालूम हुआ, नामवरजी भी दिल्ली से आए हुए हैं। यह संभवतः उस समय की बात है, 2005 की, जब मैं 'कल्पना काशी अंक' का संपादन कर रहा था, और उसी सिलसिले में मेरा बनारस जाना हुआ था। उस शाम एक अच्छी बैठक ही तो जम गयी थी।

नामवरजी को जब भी देखा, मिला, पुस्तकों के साथ देखा या किसी न किसी पुस्तक की चर्चा करते हुए पाया। मुझे उनका यह रूप निश्चय ही अच्छा लगता रहा है। अनेकों बार उन्हें साहित्य अकादेमी के पुस्तकालय में भी तेजी से प्रवेश करते हुए देखा है, और हाथ में कोई किताब लिए लौटते हुए।

उनका जीवन घटना बहुल रहा है, उन्होंने कई विश्वविद्यालयों में पढ़ाया है। उनके अनेकों छात्र-छात्राएं हैं। हिंदी और विशाल भारतीय भाषाओं के परिवार में न जाने उनके कितने सहयोगी, मित्र, आत्मीय, और परिचित हैं। सैकड़ों की संख्या में उन्होंने गोष्ठियों-समारोहों में भागीदारी की है। उनसे कई बातों में सहमत या असहमत हुआ जा सकता है पर, इसमें भला क्या शक कि नयी पीढ़ियों को, एक परखती-जांचती हुई निगाह से, अपनी तरह से, वह देखते रहे हैं। इसमें उनके अपने आग्रह-पूर्वग्रह भी शामिल रहे ही हैं। पर, मेरे मन में इस अवसर पर, उनकी वह छवि सबसे ऊपर है, जो हमने साठ-सत्तर के दशक में देखी-जानी थी। और उस वक्त की दिल्ली भी तो इसमें कहीं नत्थी है, जब दिल्ली में विशिष्ट रचनाकारों की एक सक्रिय कतार ही तो हमें मिली थी : जैनेन्द्र, अज्ञेय, हरिवंश राय बच्चन, शमशेर बहादुर सिंह, राम कुमार, कृष्णा सोबती, भीष्म साहनी, निर्मल वर्मा, मनोहर श्याम जोशी, श्रीकांत वर्मा, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, देवीशंकर अवस्थी आदि की। और जिस दिल्ली में न जाने कितने वरिष्ठ और युवा रचनाकार आया करते थे। इन सबके बीच नामवरजी की उपस्थिति तब भी सबका ध्यान अलग से आकर्षित करती थी। सहमतियों-असहमतियों के बावजूद। यह उनकी, और उनकी मेधा की, उपलब्धि रही है। उन्होंने कई तरह की बहसें और जिरहें की हैं, और उनसे भी उतनी ही मात्रा में बहसें की गयी है- इसकी प्रतीति होते ही उनकी 'उपस्थिति' का भान अधिक गहराता है, तथा स्मृतियों के और भी कई पृष्ठ पलटने का मन करता है। पर, फिलहाल, मंगल कामनाओं के साथ, इतना ही।

●

राज बढ़ै महराज

वागीश शुक्ल

नब्बे तक पहुंच पाने वाले बहुत नहीं होते और हिंदी के साहित्यकर्मियों में भी गिने-चुने ही हैं। 'वृद्धत्व (= बढ़े होने)' की कई कोटियां होती हैं उनमें यह एक कोटि 'दयो-वृद्धत्व (= उम्र में बढ़े होने)' की है। हमारा सौभाग्य है कि हम नामवरजी का नाम 'वयो-वृद्ध' के रूप में तो अब ले रहे हैं, उन्हें 'यशो-वृद्ध' और 'ज्ञान-वृद्ध' तब-से स्वीकार करते चले आ रहे हैं जब-से उन्हें जानते हैं।

'जानना' बिना मिले भी होता ही है, लिखा हुआ पढ़कर, कहा हुआ सुनकर, पढ़ा सुना गुन कर। नामवरजी को इस तरह से जानते हुए मुझे पचास बरस से भी ऊपर हुआ- नई कविता पर क्षण-भर की लेखमाला को मैंने तभी पढ़ा था जब वह 'ज्ञानोदय' में छप रही थी। नामवरजी के निबंध-संग्रह 'बकलम खुद' और उनकी कुछ कविताओं का भी मैं प्रथम प्रकाशन के समय के कुछ ही बाद का पाठक था। इन सबके लिए मैं अपनी बहुत छोटी उम्र में पड़ चुकी उस आदत का ऋणी हूं जिसके अधीन मैं कहीं से कुछ भी मिल जाने पर पढ़ने लगता था और जिसके चलते अपने कस्बे की म्यूनिसिपलिटी के वाचनालय में मेरा जाना बहुत छोटे दरजे से शुरू हो गया था। उस जमाने में स्कूलों में भी पुस्तकालय अच्छे होते थे।

किंतु मैं यहां नामवरजी के लेखन और हिंदी साहित्य-चिंतन की बात न करूंगा। वह हमारी धरोहर है, उस पर अब विवाद करने की अपेक्षा उसे संजाने-सहेजने की जरूरत है। इस उपक्रम में उनके शिष्य-प्रशिष्य क्या करते हैं और कैसे अपनी जगह से उस धरोहर को बढ़ाते-घटाते हैं इस पर कुछ नजर रखना शायद जरूरी है किंतु यहां उसकी चर्चा मैं नहीं करूंगा।

नामवरजी से मेरी प्रत्यक्ष भेंट पहली बार उन दिनों हुई थी जब वे राजकमल प्रकाशन के दफ्तर में बैठते थे। यह 1970 के कुछ ही बाद की बात होगी क्योंकि मैंने जुलाई 1970 में आई.आई.टी. दिल्ली में अध्यापक की नौकरी पर ज्वाइन किया था। इस मुलाकात का संदर्भ यह था कि मैं उन दिनों कविता लिखता था और पंडितजी (पं. विद्यानिवास मिश्र) ने मेरी कुछ कविताएं 'आलोचना' में प्रकाशनार्थ भेजने के लिए ली थीं। इस मुलाकात में मुझे यह पता लगा कि नामवरजी को ये कविताएं मिली नहीं थीं कुछ समय बाद यह भी पता चला कि जिन सज्जन से पंडितजी ने कविताएं भेजने को कहा था वे डाक में लिफाफा डालना ही भूल गए थे। फिर नामवरजी जोधपुर विश्वविद्यालय में चले गए थे और वहां से आगरा विश्वविद्यालय के. एम. मुंशी संस्थान में निदेशक पद का कार्यभार ग्रहण करते-छोड़ते जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केंद्र में प्राध्यापक बनकर आ

गए। उन्होंने सर्वोदय एन्क्लेव में घर लिया जो आई.आई.टी. कैंपस के ठीक सामने था और पैदल आना जना सुगम था। उन दिनों मैं भी उनके यहां जाता रहता था और वे भी मेरे यहां बराबर आते रहते थे। उनके पुत्र विजयप्रताप सिंह उन्हीं दिनों मास्को से इंजीनियरिंग की शिक्षा पूरी करके लौटे थे और कुछ समय नौकरी खोजने के बाद एक वायुयान सेवा में कार्यरत भी हो गए थे। नामवरजी अपनी वरिष्ठता के साथ और विजय प्रकाश अपनी कनिष्ठता के साथ मेरे आत्मीय थे और ये दोनों संबंध बहुत प्रगाढ़ चले आए हैं।

इन दिनों में ही मैंने 'आलोचना' में लिखना शुरू किया और जहां तक याद है, इस पत्रिका में मेरा पहला लेख सर्वेश्वरजी की 'कुआनो नदी' पर समीक्षा के रूप में छपा। इसके पहले वात्स्यायनजी ने 'नया प्रतीक' में मुझे विज्ञान-लेखक के रूप में छापा था और कमलेशजी ने 'प्रतिपक्ष' में साहित्य और कला के समीक्षक के रूप में। 'प्रतिपक्ष' में मेरी एक समीक्षा 'कुआनो नदी' पर भी थी और एक 'पुनर्नवा' पर थी जिसे देखने के बाद नामवरजी ने उससे अ-सहमति जताते हुए कमलेशजी के यहां कुछ समय मेरे साथ बहस में गुजारा था। इस बहस के बाद ही 'आलोचना' में लिखने के लिए मुझसे कहा गया था। इसके बाद भी, 'आलोचना' में मैंने कई बार लिखा है और प्रायः नामवरजी के पसंदीदा लेखकों पर मेरी राय बहुत प्रशंसात्मक नहीं रही किंतु उन्होंने कभी अपनी पसंद को मेरे ऊपर थोपने का कोई संकेत नहीं किया है। हिंदी लेखकों में कई यह मानकर चलते हैं कि संपादकीय प्रतिबद्धताओं के अनुरूप लिखना ही पत्रिका में स्थान दिला सकता है। मेरा अनुभव इसका समर्थन नहीं करता।

यह कोई छिपी हुई बात नहीं है कि हिंदी साहित्य में वामपंथी राजनीति का वर्चस्व है और उसका भरपूर उपयोग लेखकों को बनाने-बिगाड़ने में होता रहा है। इस तरह साहित्य की कमान राजनीतिक पार्टी संभालती है और रचना तथा आलोचना का दिशानिर्धारण पार्टी लाइन से तय होता है। नामवरजी ने अपना पूरा साहित्यिक जीवन इसी वामपंथी वर्चस्व की तपिश में गुजारा है और उनका विरोध तथा समर्थन प्रायः इस वर्चस्वमंडल की दलगत ईर्ष्या और महत्वाकांक्षा के प्रतिफल की हैसियत में ही हुआ है।

किंतु नामवरजी के साहित्यिक वास्तु में इससे अलग भी बहुत कुछ है बल्कि यों कहें कि कहने-समझने लायक जो है वह इससे अलग ही है। सर्वत्र ही सामान्यतः और भारत में विशेषतः व्यक्ति की संस्कारगत पृष्ठभूमि और निजी शील उसके हावभाव बोली बानी और संवाद-शैली को प्रभावित-परिभाषित करने में बहुत बड़ी भूमिका निभाते हैं। साहित्यिक शिक्षा और अभिरुचि का भी अंतर बहुत फर्क ले आ देता है। हमारे समकालीन हिंदी लेखकों का अधिकांश हिंदी साहित्य के बहुत छोटे हिस्से से परिचित है- तुलसी, सूर, कबीर तो दूर की बात है, पंत, निराला, प्रसाद पढ़ने वाले भी विरले बचे हैं। नामवरजी उम्र के लिहाज से ही नहीं, पढ़ाई के लिहाज से भी ऐसे लोगों की अपेक्षा बहुत गहराई तक जाकर अपनी साहित्यिक रुचि और समझ के लिए पोषण जुटाते रहे हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की सारी परंपरा में हिंदी के आदिकाल से लेकर एकदम वर्तमानकाल तक की रचनाओं और साहित्य दृष्टियों को समेटने वाला अब हिंदी में उनके अलावा कोई दीखता ही नहीं। हिंदी की उच्च शिक्षा का जो स्वरूप इस समय है उसको बनाने में नामवरजी की एक बड़ी भूमिका रही है और इसलिए ऐसा कहा जा सकता है कि इस निर्धनता के लिए वे भी जिम्मेदार हैं, वैसे निजी

तौर पर किसी भी दुरवस्था के लिए व्यक्तियों की अपेक्षा 'कलियुग' को ही जिम्मेदार मानना अधिक उचित मानता हूं।

तो इस कलियुग में, जब साहित्य, कला, और यहां तक कि दया, करुणा पर भी राजनीति हावी है और पार्टी लाइन तय करती है कि 'किसका लहू है, कौन मरा', कौन वाजिबुल्कत्ल था' और कौन नहीं, यदि किसी को कविता सिर्फ इसलिए पसंद आ जाए कि वह अच्छी कविता है तो मैं इसे एक बड़ी बात मानता हूं। नामवरजी ने खराब साहित्य को कभी पसंद नहीं किया है और अच्छे साहित्य को कभी खराब माना नहीं। ऐसा मैं अपने निजी अनुभव से जानता हूं और उनके तमाम लिखित-मौखिक वक्तव्यों से ध्यान हटाते हुए कुछ ऐसे अवसरों की याद करता हूं जो उनके साथ की मेलमुलाकात में कभी-कभार आ पड़े।

एक बार मैं, कमलेशजी और नामवरजी आई.आई.टी. कैंपस में टहल रहे थे। कमलेशजी ने उनसे पूछा, 'अच्छा यह बताइए कि कोई आपसे कुछ रुपये की भीख मांगे तो आप उसे भीख देंगे या उसे उपदेश देंगे?' नामवरजी ने छूटते ही कहा, 'मैं उपदेश नहीं दूंगा। और अगर अगल-बगल कोई देख न रहा हो तो मैं पैसा भी दे दूंगा।' मेरा अनुरोध है कि इस प्रश्नोत्तर के प्रत्येक शब्द पर गौर किया जाए। जाहिर है कि न तो प्रश्न अचानक किया गया था न ही उत्तर में जो शर्त लगाई गई है वह निरर्थक थी। इन सारी बातों का एक संदर्भ था जो इस वार्तालाप में कुछ पहले से चला आ रहा था। इस संदर्भ को बहुत खोलने-फैलाने की जरूरत नहीं है, इतना ही कहना पर्याप्त है कि गांव, बिरादरी और पारंपरिक शिष्टाचार में रमे-रमे मन को बहुत से आधुनिक प्रवचन-जन्य मूल्यों से तालमेल बैठाने में जो कठिनाई होती है, नामवरजी भी उसका सामना करते रहे हैं।

उदाहरण के लिए मैं कर्मकांड और धर्म के बारे में उनकी सोच या उनके आचरण को सामने लाना चाहूंगा। अपनी मान्यताओं के चलते उनसे किसी धार्मिक कर्मकांड के प्रति निष्ठा की उम्मीद नहीं की जा सकती किंतु यह नितांत व्यक्तिगत स्तर तक सीमित है। उन्होंने जब मकान खरीदा तो 'हाउसवार्मिंग' का कोई बड़ा आयोजन नहीं हुआ था किंतु 'गृहप्रवेश' के समय एक पूजन का आयोजन हुआ था जिसे पारिवारिक औचित्य के तहत विजयप्रकाश ने किया था। एक दूसरा उदाहरण लेते हैं। विजयप्रकाश की माताजी के देहांत के बाद आवश्यक कर्मकांड को लेकर 'पुराने किंतु जटिल' और 'जो सरल तरीका चल रहा है' की दो विधियों के बीच कुछ विवाद-सा हुआ। नामवरजी ने उस विवाद में कोई भाग नहीं लिया था और जो निर्णय हुआ उसके अनुसार ही चले किंतु मैं जानता हूं कि वे निजी तौर पर 'पुराने किंतु जटिल' को स्वीकार करना चाहते थे- इसलिए नहीं कि उन्हें स्वयं किसी कर्मकांड-विशेष में कोई विश्वास है अपितु इसलिए कि जैसा होता आया था अगर वैसा ही होता तो ठीक था। इसी प्रकार यह किसी भी तरह नहीं कहा जा सकता कि वे 'धार्मिक प्रकृति' के व्यक्ति हैं और साधुओं-संन्यासियों के प्रति उनकी कोई आस्था है इसका कोई सबूत पाना संभव नहीं है किंतु ब्रह्मलीन स्वामी अखंडनंद सरस्वती से उनका पारिवारिक संबंध रहा है जिसके नाते उन्हें वे सदा ही ससम्मान प्रणाम करते रहे। जिन बातों का मैं जिक्र कर रहा हूं उनका कुछ सूचनात्मक महत्व भी है, यह बहुत से पाठकों की समझ में हो सकता है कि न भी आए किंतु उनमे जो 'बिटवीन द लाइंस' है, वह पूर्वी उत्तर प्रदेश के गांव में रहने वाले की पहुंच के भीतर है। 'परंपरा' व्याकरण की दृष्टि से एक अ-ज्ञात व्युत्पत्ति का शब्द माना जाता है और इस अ-परिभाषित शब्द को मैंने हमेशा

मर्यादित आचरण से ही समझा है। इस विशेष अर्थ में मैं नामवरजी की मर्यादित आचरण करने के नाते 'परंपरावादी' भी कहता-मानता हूं।

नामवरजी के बारे में मुझे कुछ ऐसी ही बातें याद आती हैं जिनकी ओर लोगों का ध्यान कम गया है या जिनसे लोगों ने कोई मतलब नहीं निकाला, जिन्हें वे महत्वहीन मानते रहे हैं। उनके निजी जीवन को देखें तो पार्टी-संबंधों के अलावा भी, भारत के दो प्रधानमंत्री-विश्वनाथ प्रताप सिंह और चंद्रशेखरजी- उन्हें व्यक्तिगत तौर पर जानते-मानते थे किंतु इसका कोई लाभ नामवरजी ने कभी नहीं लिया। कुलपति बनाए जाने के कई प्रस्ताव वे विनम्रतापूर्वक अस्वीकार करते रहे। सच यह है कि एक अदद अध्यापकी- जिसके वे किसी भी अन्य अध्यापक की अपेक्षा योग्य थे- कि अतिरिक्त हमारे समाज ने उनकी क्षमताओं का पूरा उपयोग नहीं किया। एक सादा और निर्लोभ जीवन उन्होंने अपने पारिवारिक और निजी रहन-सहन में बिताया है और ऐसा नहीं है कि यह बात सबके बारे में कहीं जा सकती हो।

अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियों को निभाने का अवसर प्रारंभ में उनके पास उतना नहीं था जितना बाद में उपलब्ध हुआ। मैंने इसी उत्तरार्ध में उन्हें देखा है और मैं दावे के साथ कह सकता हूं कि भूमिकाओं के अनुरूप सभी प्रकार की अपेक्षित शालीनताएं इस परिवार के हर व्यक्ति में रही हैं। छोटे भाई डॉ. काशीनाथ सिंह के प्रति नामवरजी का गंभीर वात्सल्य कुछ अधिक जाहिर हुआ है क्योंकि उनकी स्वतंत्र रूप से हिंदी साहित्य में एक अपनी उपस्थिति है और इस रिश्ते को कुछ सार्वजनिक चर्चा में भी लाया गया है किंतु यह नामवरजी के शील का ही अंग है और एक बड़े भाई से जैसा अपेक्षित है वैसा ही है। परिवार में उनकी अन्य भूमिकाएं भी हैं तथा पिता और पितामह के रूप में वे वैसे ही सहज स्नेही और उत्तरदायी रहे हैं जैसे भारत के औसत कुटुम्बपालक गृहस्थ रहते हैं।

उनका यह 'औसत होना' मुझे प्रभावित करता है। साहित्य और कला के क्षेत्र में कार्यरत अनेक लोगों से कुछ अजीब सी जिंदगी की उम्मीद होने लगती है और हम आए दिन किसी न किसी कलाकर्मी की जीवनशैली में कुछ ऐसा देखते-सुनते हैं जो हम अपने आसपास नहीं देखते-सुनते और न ही देखना-सुनना चाहते हैं। नामवरजी की जीवनशैली उन जीवनशैलियों में नहीं है। वह 'आदर्श' है या नहीं, यह मैं नहीं जानता किंतु उसमें तिरस्करणीय कुछ नहीं है। इसका यह अर्थ तो नहीं है कि अगर वे अपनी आत्मकथा लिखते तो उसमें दिलचस्पी के सामान नहीं होते। किंतु मेरी समझ में उस आत्मकथा का महत्व दो कारणों से होता : पहला यह कि हमें किसान परिवार से आए बुद्धिजीवी के आर्थिक और सांस्कृतिक संघर्ष के रूबरू होने का अवसर मिलता जिसमें हमारे अपने समय के भीतर धोती पहनने वाले हिंदी-भाषियों की लगभग अंतिम पीढ़ी की तैनाती की भी पड़ताल शामिल होती और दूसरा यह कि हिंदी के प्रगतिशील आंदोलन का एक प्रामाणिक विवरण हमारे पास होता जिससे वैचारिकता और रचनात्मकता के परस्पर का कुछ यह उलझाव भी सामने आता जो हिंदी में अभी तक नीम रौशन ही है। हिंदी साहित्यकारों में से दो की आत्मकथाओं का न होना हमारे वैचारिक इतिहास की तथ्यात्मक नींव को कुछ कमजोर करता है- एक वात्स्यायनजी की आत्मकथा, दूसरी नामवरजी की आत्मकथा।

नामवरजी के पचहत्तरवें जन्मदिवस के अवसर पर देश भर में अनेक आयोजन हुए थे। दिल्ली

में आयोजित एक कार्यक्रम में मैं भी गया था। मेरा नाम वक्ताओं की सूची में नहीं था किंतु नामवरजी ने साग्रह मेरा नाम जुड़वाया। मेरे बोलने के दौरान वे उपस्थित भी रहे जबकि उस कार्यक्रम में ही बीच में वे कहीं और भी कुछ समय के लिए गए थे। ऐसे अवसरों पर सहज स्वाभाविक रूप से मंगलकामनाएं की जाती हैं, अनेक वक्ताओं ने 'जीवेम शरदः शतम् (= हम सौ बरस जिएं)' की वैदिक प्रार्थना का जिक्र किया और नामवरजी अपर उसके फलित होने की कामना की थी। मैं भी उन लोगों में शामिल था और मैंने यह याद किया था कि प्रार्थना आगे तक भी है, 'पश्येम शरदः शतम्, प्रबुवाम शरद : शतम्... (= हम सौ बरस जिएं और इस सौ बरस की पूरी उम्र में सौ बरस देखें, सौ बरस बोलें,..... सौ बरस सुनें) और सबसे बढ़कर, 'अदीना : स्याम शरदः शतम् (= हम सौ बरस जिएं और इस सौ बरस की उम्र को अ-दीन होकर बितावें, किसी के आगे हाथ न फैलावें किसी के आगे सिर न झुकावें)'। आज मैं उसको फिर दुहराता हूं और मुझे संतोष है कि बात पूरी उतरती दीख रही है।

और अब, जबकि नामवरजी नब्बे बरस के हो रहे हैं और मैं भी सत्तर पार कर चुका, मैं इस मंगल-कामना को 'आशीर्वाद' में ढालना चाहता हूं। मैं उम्र, ज्ञान, यश, और करनी-कथनी, सब में उनसे छोटा ही हूं किंतु एक मुहावरा अभी बचा हुआ है जो चलन से बाहर भले हो गया हो, मुझे यह अधिकार देता है कि मैं नामवरजी को उनकी वरिष्ठता के बावजूद आशीर्वाद दे सकूं। उसी मुहावरे का इस्तेमाल करते हुए, मैं समय को सौ बरस के शीशे की तलहटी में उतारते हुए अपने को एक पुरानी गढ़ी के सामने खड़ा पाता हूं और दोनों हाथ उठाकर कहता हूं, 'राज बढ़ै महराज'।

●

अनूठे हैं नामवरजी

रामबहादुर राय

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र अपनी तरह का पहला एक आयोजन करने जा रहा है। यह एक शृंखला की पहली कड़ी है। केंद्र संस्कृति संवाद शृंखला चलाने जा रहा है। इसका पहला आयोजन डॉ. नामवर सिंह पर केंद्रित है। इसके बारे में कुछ बातें बताना जरूरी है। केंद्र की कार्यसमिति ने इस शृंखला को चलाने का निर्णय किया है और उस पर डॉ. नामवर सिंह से सहमति ली गई।

केंद्र करीब 27 साल पुराना है। इसने एक राष्ट्रीय संस्था का स्वरूप ग्रहण कर लिया है। इसके बारे में अलग-अलग धारणाएं हैं। यह केंद्र कला और संस्कृति के संरक्षण और संवर्धन के लिए बनाया गया। उसे ही ख्याल में रखकर संस्कृति संवाद शृंखला चलाने का निर्णय किया गया। यह देखा गया है कि अनूठे व्यक्तियों को भी उनके जीवित रहते वह मान-सम्मान नहीं दिया जाता जिसके वे पूरी तरह सुयोग्य होते हैं। समाज उनके अनुभवों से इस कारण वंचित रह जाता है। इसके अभाव में जो सांस्कृतिक चर्चा और आयोजन होते हैं वे निर्गुण और निराकार ही बने रहते हैं। यह एक व्याख्यात्मक अभाव का उदाहरण है। ऐसे अभाव को दूर करने की ही दृष्टि से इस शृंखला का विचार हुआ है।

सवाल यह पूछा जा सकता है कि डॉ. नामवर सिंह का ही चयन क्यों हुआ? इसके अनेक कारण बताए जा सकते हैं। इस समय दो बातों का उल्लेख करूंगा। पहला यह कि 28 जुलाई को उनका जन्मदिन है। उनके कुछ उत्साही शिष्य एक मई को भी जन्मदिन मनाते रहे हैं। लेकिन प्रामाणिक तो वही तारीख है जिसे हमने चुना है। दूसरा कारण भी अधिक महत्वपूर्ण है। वे अपनी उम्र के 91वें साल में उस दिन पहला कदम रखेंगे। वह शतायु होने का पहला कदम होगा। ऐसा अवसर व्यक्ति, समाज और संस्कृति के लिए आत्म निरीक्षण का होता है। उससे ही भविष्य की दिशा आकार लेती है।

कला और संस्कृति के एक राष्ट्रीय केंद्र से बड़ी चूक हो जाएगी अगर वह ऐसे अवसर को यूं ही व्यर्थ में गुजर जाने देगा। प्रोफेसर, साहित्यकार और समालोचक अनेक हुए हैं। भविष्य में भी होते रहेंगे लेकिन डॉ. नामवर सिंह अनूठे हैं। ऐसा महिमापूर्ण नाम खोजने पर भी अपने आस-पास कई दशकों में नहीं मिलता। इसे पहले भी अनुभव किया गया है। हाल के कुछ वर्षों में इस अनुभव की तीव्रता और गहराई को पूरा देश अपने अंतर मन से मानता है। वे एक के ही नहीं हैं, सबके हैं। यह सच है कि उन्होंने जेएनयू में पढ़ाया है। यह भी सच है कि उनके पढ़ाए और न पढ़ाए जेएनयू वालों ने उन पर संस्मरणात्मक पुस्तक निकाली। यह सात साल पहले की बात है। उसका एक भव्य आयोजन भी हुआ। पर कोई उन्हें सिर्फ जेएनयू वाला ही माने तो उसकी ऐसी धृष्टता के

लिए माफ नहीं किया जा सकता।

कोई ऐसा करेगा भी नहीं क्योंकि जो डॉ. नामवर सिंह को जानते हैं वे यह भी जानते हैं कि देश का कोई ऐसा विश्वविद्यालय नहीं है जहां उनकी शिष्य परंपरा का प्रवाह न बहता हो। इस अर्थ में वे एक राष्ट्रीय पुरुष हैं। दूसरे अर्थ में वे जागतिक भी हैं। लेकिन विश्वविद्यालय की चारदीवारी ऐसी ऊंचाई को प्राप्त नहीं है कि उन्हें अपने भीतर समा सके। वे उससे परे हैं। राजनीति का कोई भी रंग ऐसा नहीं है जहां डॉ. नामवर सिंह की सुगंध महसूस न की जा सके। इसे तो खास तौर पर पिछले दो-तीन दशक से कोई भी जिज्ञासु देख सकेगा।

भारतीय राजनीति में बड़ी विपदा का वह समय था। उसे देश, दुनिया आपातकाल कहती है। वह था भी। 1975 से 1977 का वह समय हर नागरिक की रीढ़ को जांचने-परखने की कसौटी था। विचार बलवान हो तो रीढ़ उससे ऊर्जा पाकर बलवती हो जाती है। एक प्रसंग से इसे डॉ. नामवर सिंह के संदर्भ में समझें। वे 1974 में जेएनयू आए थे। थोड़े दिनों बाद इमरजेंसी लगा दी गई। एक आयोजन में इंदिरा गांधी मुख्य अतिथि थीं और डॉ. नामवर सिंह मुख्य वक्ता। सोचिए, जब बड़े-बड़े लोग सत्ता के सामने भूपात कर जाते थे तब उस आयोजन में डॉ. नामवर सिंह ने क्या किया होगा? उन्होंने इस प्रकार अपना संबोधन शुरू किया-'आदरणीय बच्चन जी और मित्रों।' वे हरिवंश राय बच्चन थे, अमिताभ नहीं। डॉ. नामवर सिंह ने इंदिरा गांधी का नाम ही नहीं लिया। इस तरह उन्होंने प्रधानमंत्री की तानाशाही का सीधा विरोध किया। सारे कुपरिणाम से लापरवाह होकर। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे डॉ. नामवर सिंह एक प्रबुद्ध पुरुष के रूप में उभरते हैं। वे इसी रूप में अपनी उपस्थिति को अनुभव करा रहे हैं।

अटल बिहारी वाजपेयी से उनका संबंध कविता और साहित्य का रहा है। सेतु थे डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन' जिन्हें डॉ. नामवर सिंह बड़ा भाई मानते थे। वे वाजपेयी की एक कविता कभी भूलते नहीं-'हार नहीं मानूंगा, रार नहीं ठानूंगा, काल के कपाल पर लिखता हूं मिटाता हूं।' चंद्रशेखर और विश्वनाथ प्रताप सिंह से उनकी मित्रता रही है। विश्वनाथ प्रताप सिंह जब उदय प्रताप कॉलेज में पढ़ने के लिए आए थे तब नामवर सिंह उनके सहपाठी थे यह संबंध जो घरेलू संबंध में बदला। विश्वनाथ प्रताप सिंह जब प्रधानमंत्री बने तो अपने एक कविता संग्रह की भूमिका डॉ. नामवर सिंह से लिखवाना चाहते थे। उनसे डॉ. नामवर सिंह ने जो कहा वह क्या कोई दूसरा कहने का साहस और बेबाकी दिखा सकता है? ऐसा संभव नहीं दिखता। डॉ. नामवर सिंह ने कहा कि 'लोग कहेंगे कि आप प्रधानमंत्री होकर कविता छपवा रहे हैं, इसलिए मैं भूमिका नहीं लिखूंगा। अगर आप प्रधानमंत्री नहीं होते तो मैं आपकी कविताओं की भूमिका लिख देता।' वे जानते हैं कि कब चुप रहना है। बोलने से ज्यादा कई बार चुप रहना अधिक विवेक की मांग करता है। वे यह भी जानते हैं कि कहां, कितना और कब बोलना है। इसे कौन नहीं जानता!

पिछले साल साहित्यकार जब सम्मान वापसी की भेड़चाल में फंसे हुए थे तब डॉ. नामवर सिंह ने एक लेख लिखा-बोल लिए बहुत अब सुनिए भी। उसके ये अंश उनकी विशेषता को जहां बताते हैं वहीं उनकी तटस्थता का भी परिचय देते हैं। 'कोई भी साहित्यकार अकादेमी से मिले पुरस्कार की राशि तो लौटा सकता है लेकिन साहित्य अकादेमी से मिले सम्मान और यश को नहीं लौटा सकता। सुर्खियों में आने के लिए, यश लेने के लिए जिन लेखकों ने हड़बड़ी दिखाई इसे मैं ठीक नहीं

समझता। और अकादेमी ने देर की तो उसका स्पष्ट कारण है कि साहित्य अकादेमी के सदस्य देश भर में फैले हुए हैं। कोई केरल से आएगा, कोई मद्रास से आएगा, कोई पं. बंगाल से आएगा तो इसमें समय तो लगेगा ही। लेकिन इन लोगों ने जितनी जल्दी हो सका उतनी जल्दी बैठक आयोजित करने की कोशिश की। इसलिए अकादेमी के अध्यक्ष और सचिव को दोष नहीं दिया जा सकता।'

'जो लोग पुरस्कार लौटा रहे हैं उनसे पूछा जाना चाहिए कि आपने कलबुर्गी की कौन-कौन सी रचना पढ़ी है? जिस रचना पर उन्हें साहित्य अकादेमी सम्मान मिला है क्या वह भी पढ़ी है? उसका नाम इससे पहले भी जानते थे या इस घटना के बाद जाना? उसकी किताब में ऐसी क्या बात लिखी है जिससे उसकी हत्या हो गई? हत्या का कारण क्या है? आखिर किसलिए उनकी एक समुदाय विशेष के लोगों ने उसकी हत्या की है? लोगों की आदत है कि उन्हें अगर कोई कहे कि तुम्हारा कान कौव्वा लेकर जा रहा है तो वह अपना कान नहीं देखते बल्कि कौव्वे के पीछे भागते हैं। इस पूरी हड़बड़ी में मुफ्त का यश उन्हें मिला है। इसलिए कई लेखकों ने पुरस्कार नहीं लौटाए।'

'लोकतंत्र लोकतंत्र है। इसे हमें स्वीकार करना पड़ेगा। यह कोई पहली बार नहीं हुआ है कि भाजपा सत्ता में आई है। और कांग्रेस भी अमरौती खाकर नहीं आई है कि हमेशा सत्ता में वही रहेगी। लोकतंत्र का तकाजा है कि भारत के संविधान के अनुसार, कोई भी मान्य दल अगर सरकार बनाता है, चाहे हमने उसे वोट न दिया हो या हमारी विचारधारा का न हो, तो भी वह हमारी ही सरकार है। इससे पहले भी भाजपा की गठबंधन से सरकार बनी थी।'

'इस मामले में राजनीतिकरण हुआ है। इन दिनों जो भी घटनाएं हुई हैं उसमें केंद्र सरकार का कोई दोष नहीं। कलबुर्गी की हत्या कर्नाटक में हुई है। और पुलिस व नागरिक सुरक्षा राज्य का अधिकार क्षेत्र है। किसी राज्य में हुई हत्या के लिए केंद्र सरकार को जिम्मेदार ठहराना उचित नहीं है। वैसे भी कलबुर्गी की हत्या जिस राज्य में हुई वहां कांग्रेस की सरकार है। इसलिए इस मामले में कांग्रेस सरकार की जिम्मेदारी बनती है। इससे न तो केंद्र सरकार का कोई लेना-देना है ना ही किसी संस्थान का।'

'किसी व्यक्ति का साहित्य अच्छा हो सकता है लेकिन विचार नहीं। और किसी व्यक्ति का विचार अच्छा हो सकता है लेकिन साहित्य नहीं। साहित्य बनाम विचार पर तो हमेशा से बहस होती रही है। साहित्य में विचारधारा नहीं साहित्य महत्वपूर्ण होता है। कई फासिस्ट लेखक हुए हैं जिनका साहित्य बहुत अच्छा है। लेकिन उनकी विचारधारा खतरनाक होती है। साहित्य में इसकी गुंजाइश रही है। इसमें एक खुलापन तो होता ही है। अगर लेखकों को मोदी सरकार की नीतियों और कार्यों के खिलाफ कुछ बोलना और लिखना है तो लिखें और बोलें। लेकिन ये लोग मोदी सरकार की नीतियों और कार्यों की आलोचना नहीं करेंगे और कहेंगे कि आपातकाल जैसी स्थिति है, लिखने और बोलने की आजादी नहीं है। वस्तुतः लेखकों को लिखने और बोलने की पूरी स्वतंत्रता है लेकिन इन लोगों ने स्वतः खुद पर 'सेल्फ सेंसर' लगा रखा है। लगभग डेढ़ साल से यह सरकार है लेकिन लेखकों ने इस सरकार के विरोध में एक भी लेख नहीं लिखे। चुप हैं। अभी तक मुझे तो नहीं लगता कि देश में तानाशाही है। अगर आप में आत्मविश्वास हो और लिखने का साहस हो तो जरूर लिखें और बोलें।' ये अंश डॉ. नामवर सिंह की उस अमोघ क्षमता का परिचय देते हैं, जिसे हस्तक्षेप कहा जाता है।

डॉ. नामवर सिंह के व्यक्तित्व में गुणी और ज्ञानी होने का अहंकार ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलता। इसे वे सभी जानते-मानते हैं जिन्हें उनके संपर्क का अवसर मिला है। उनका रहन-सहन एक ऋषि जैसा है। उनकी दुनिया किताबों से भरी-पूरी दिखती है। पर यह परिचय बड़ा अधूरा है। जो सोच-विचार, चिंतन-मनन और विमर्श के आदी हैं वे डॉ. नामवर सिंह की उस दुनिया की झलक पा सकते हैं जिसे उन्होंने अपने मानस जगत में बनाया है। यह तो सभी जानते हैं कि हर व्यक्ति एक ही दुनिया में नहीं रहता। सबकी अपनी-अपनी दुनिया होती है। उसकी व्यापकता मानसिक स्तर पर होती है जो व्याख्या से बनती है। क्या व्याख्या करते हैं, कैसे देखते हैं, इससे वह दुनिया बनती है।

इस समय हमारे बीच जो डॉ. नामवर सिंह हैं उन्होंने अपने अध्ययन, मनन और चिंतन से विचार की वह दुनिया बनाई है जिससे संस्कृति निकलती है। वे अपने जीवन के तीसरे पड़ाव पर हैं। ऐसा अवसर सबको कहां मिलता है! जिसे मिल जाता है वह समाज की थाती बन जाता है। डॉ. नामवर सिंह उसी स्थान पर पहुंच गए हैं। उनके जीवन का पहला पड़ाव था, 1986। जब वे 60 साल के हुए। हमारी परंपरा में यह साल अत्यंत महत्व का है। वहां से मनुष्य में मौलिकता शुरू होती है। उनका दूसरा पड़ाव 2001 में आया। वह 75 के हुए। जीवन की चार अवस्थाओं में यह समय जिसके लिए जाना और पहचाना जाता है वैसा ही मान उस समय समाज ने उनको दिया। पूरे देश में 'नामवर के निमित्त' आयोजन हुए। वे उन पर केंद्रित विमर्श की शृंखला थी। शुरुआत दिल्ली से हुई।

उनके जीवन के पहले पड़ाव का आयोजन काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हुआ था। दूसरे को सर्वव्यापी बनाया गया। यह तीसरा आयोजन भारतीय संस्कृति के मुख्य प्रवाह को समर्पित है। इस निर्विवाद तथ्य से सभी अवगत हैं कि भारतीय संस्कृति मानवतापरक है। उसमें विश्व बंधुत्व का भाव है। वह परंपरा से बनता है। डॉ. नामवर सिंह से शुरू संवाद में आधुनिकता और परंपरा का मेल होगा। भारतीय संस्कृति के मुख्य प्रवाह में ज्ञान और परंपरा जहां है वहीं दूसरी धाराओं का मिलन भी है जो मिलकर धन्य होती हैं और गंगा सागर में पहुंचने की सार्थकता को उपलब्ध हो जाती है। यह समय अपनी जड़ों की ओर वापसी का है। इसे कई तरह से देखा जा सकता है। कुछ लोग इसे अतीत का पुनःसृजन होना देखना चाहेंगे। दूसरे इसे अतीत को ठुकराकर आधुनिकता को अपनाने का अवसर समझेंगे।

इन दो पाटों के बीच ही संस्कृति का संवाद संभव है। जहां अतीत का संरक्षण हो और परंपरा का प्रवाह हो। इस प्रक्रिया में आधुनिकता की ऐसी परिभाषा जरूरी है जो द्वंद्व रहित हो जिसमें प्रकृति से सामंजस्य बना रहे। इसलिए संस्कृति के क्षेत्र में भाषा, धर्म, कला तथा दर्शन का समावेश होना चाहिए। भारतीय समाज की आज जो स्थिति है उसमें संवाद नहीं है, विवाद ज्यादा है। ऐसे समय में हिंदी भाषा के एक प्रबुद्ध पुरुष केंद्रित संवाद से जड़ता समाप्त हो सकती है। यह प्रारंभ है। एक प्रयास है। एक प्रयोग भी है। इसमें अनुभव की अपार संभावनाएं हैं। डॉ. नामवर सिंह के योगदान के प्रति आभार का यह प्रकटीकरण भी है।

●

नामवर की आंखें खुली हैं, खुली रहेंगी

राजेन्द्र राजन

हिंदी साहित्याकाश के देदीप्यमान सूर्य नामवर सिंह 28 जुलाई, 2016 को नब्बे वर्ष के हो जाएंगे। चिंता यह सताने लगी है कि उनकी खुली आंखें और कब तक खुली रहेंगी? मेरी मानवीय दुर्बलता यह है। सच कहूं, मेरी दृष्टि में वह चिरतरुण हैं। उनका बचपन तो देखने का सौभाग्य नहीं मिला। लेकिन उनकी प्रौढ़ावस्था से अब तक उन्हें न जाने कितनी बार करीब से देखा है। गिनती करना संभव नहीं है। हर बार उन्हें उम्र की सीमा से मुक्त युवा ही पाया है।

इनके विलक्षण एवं कुशल नेतृत्व में साहित्य जनपक्षी एवं प्रगतिशील बना रहा है लेकिन आज जब जन और साहित्य दोनों पर प्रतिगामी हमले तेज हो गए हैं उनकी आंखें खुली हैं पर मुंह बंद क्यों है? क्या आग बर्फ की प्रकृति स्वीकार कर सकती है? उम्मीद है कि वह अपनी प्रकृति के अनुरूप मुंह अवश्य खोलेंगे। शतायु की सीमा पार कर आग की तरह ऊष्मा प्रदान करते रहेंगे। विश्वास है वे धुआं बनकर नहीं जीएंगे। समाज को उनसे पूर्व की तरह रोशनी मिलती रहेगी।

2008 में प्रगतिशील लेखक संघ के 14वें राष्ट्रीय सम्मेलन (गोदरगावां, बेगूसराय) को संबोधित करते हुए उन्होंने स्वयं कहा था- 'कबीर ने कहा है-बोलना का कहिए रे भाई, बोलत-बोलत तत्व नसाई। जिस बिंदु पर हम लोग पहुंचे हैं, उस बिंदु पर जुबान बंद रहे, आंखें खुली रहें और दिल भरा हुआ हो-मैं उसी मनःस्थिति में हूं।'' मुझे यह विश्वास है कि भरे हुए दिल लिए और खुली आंखों से वे हमारे बीच कम से कम दस साल और मौजूद रहेंगे। उनकी उपस्थिति का अहसास ही शक्ति प्रदान करता है।

काश! नामवरजी की वैज्ञानिक दृष्टि, गहराई तक जाने की शक्ति और धैर्य एवं उसे प्रकट करने की क्षमता वाला कोई दूसरा एक भी तो होता। ऐसा कम से कम मुझे तो नजर नहीं आता है। इस अधिवेशन के समापन भाषण में उन्होंने जो कहा था, याद करके छाती चौड़ी हो जाती है। सुनने वालों ने उनके एक-एक वाक्य को याद रखा है। उस उद्‌बोधन के एक-एक वाक्य पर पता नहीं कितनी कविताएं, कहानियां और निबंध लिखे गए हैं। नामवरजी ने कहा था- 'मैं बैठे-बैठे सोच रहा था कि यहां से निकलने के बाद हममें से हर एक सोचेगा कि हासिल क्या होगा? क्या लेकर जा रहे हैं? हर आदमी अपने-अपने ढंग से उस हासिल का हिसाब लगाएगा। कुछ लेकर तो जरूर जा रहे हैं। कुछ उम्मीदें लेकर आए थे और यहां से लौटकर हौसला लेकर के हम जा रहे हैं।...'

इस वाक्य को कविता के रूप में प्रस्तुत करते हुए राजस्थान से आए कवि मीठेश निर्मोही ने लिखा है-

'हम उम्मीदें लेकर आए थे
हौसला लेकर लौट रहे हैं
समापन भाषण में
सच-सच ही कहा था नामवर ने
हां, गोदरगावां! हां
तुम्हारी चौपाल पर हुए
साहित्य विमर्श के बाद
विचार-अमृत से तृप्त हुए
हौसला बुलंद लौट रहे हैं हम
तुम्हारी रज को माथे से लगाए
धन्य-धन्य हुए।...

अलीगढ़ से आए लेखक-आलोचक वेदप्रकाश ने उनके भाषण को उद्धृत करते हुए एक लेख में लिखा- 'मैं गोदरगावां में न जाने कितनी बार अकेला आया था, आज लेखकों की एक फौज लेकर आया हूं। इस फौज के पास हथियार के नाम पर कलम है और इसी से हमें नवसाम्राज्यवाद का मुकाबला करना है। उन्होंने उर्दू के एक शेर को उद्धृत करते हुए कहा- 'फूल की पत्ती से कट सकता है हीरे का जिगर।'... आज देश टूट रहा है, अपने देश हिंदुस्तान में विदेशी ठहराए जा रहे हैं। देश टूट रहा है, उसे जोड़ने का काम साहित्य कर सकता है इसलिए सभी लेखकों को एक मंच दिया जा रहा है। अपने विचारों, मतों के साथ आइए और इस धरती से संघर्ष की शुरूआत कीजिए। शहर बांटता है, गांव जोड़ता है इसलिए गोदरगावां की इस जमीन से इस संघर्ष की शुरूआत कीजिए।'

नामवरजी को सुनना जितना प्रिय और प्रेरक है, उससे कम उनसे आपसी वार्तालाप नहीं है। उनकी महानता ही है कि मेरे जैसे साधारण व्यक्ति को उन्होंने अचानक एक दिन दूरभाष से कहा कि 'मैं नामवर बोल रहा हूं।' उनकी आवाज अचानक, असमय यानी ग्रीष्मकाल की दोपहरी में, जब मैं मोटरसाइकिल पर सवार कहीं जा रहा था, सुनकर चौंक पड़ा। रुककर प्रणाम निवेदित करते हुए कहा कि 'स्वस्थ तो हैं न।'

उन्होंने क्या कहा? सुनकर मैं अवाक हो गया। कहा- 'इस उम्र में स्वास्थ्य की अब चिंता करने लगूंगा तो घर से, बिछावन से अलग नहीं हो सकता हूं। दौड़ रहा हूं। चाह है कि आप जैसे साथियों के साथ चलता रहूं और मरूं भी तो आप लोगों के कंधे पर ही श्मशान तक पहुंचू।'

हठात् मैंने कहा कि 'आज ऐसी बातें क्यों कर रहे हैं?'

उन्होंने कहा कि सुना है कि एक कार्यक्रम में मैं समय देकर नहीं जा सका था, इस कारण से आप दुःखी हैं। गुस्से में हैं।

बात सच थी। मैंने कहा कि 'आपका नहीं आना महत्त्वपूर्ण हो जाता है। आना आकर्षण और उत्साह का विषय बन जाता है। आयोजक की निंदा होती है और समझ बन जाती है कि ये नाम बेचते हैं।'

स्वास्थ्य की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि 'डॉक्टर ने कहीं जाने पर रोक लगा दी थी। फिर भी मुझे माफ करेंगे।'

काटो तो खून नहीं। दिल भर आया। भरे हुए कंठ से कहा-'आप इस उम्र में जितना कर रहे हैं, उसकी तुलना में मैं और मेरे साथ के लोग कहां कर पा रहे हैं। गलती मुझसे हुई। आपसे बिना बात किए प्रतिक्रिया प्रकट कर दी। भविष्य के लिए सबक मिला है। क्षमा चाहता हूं।'

क्या कोई साधारण व्यक्ति इस तरह व्यवहार कर सकता है? नामवर की नामवरी यही है। वाराणसी में उत्तर प्रदेश के राज्य सम्मेलन में मैं आमंत्रित था। नामवरजी उद्घाटनकर्ता थे। उनका संक्षिप्त भाषण सुनकर आश्चर्य हुआ था लेकिन अचानक उन्होंने वहां उपस्थित लोगों से एक सवाल अपने दिल को हल्का करने के लिए कर दिया कि 'मेरा कहीं किसी ऐसे कार्यक्रम में जाना आलोचना का विषय बन जाता है जो दूसरी धारा के नेता या साहित्यकार हैं। मुझे क्या करना चाहिए? आप स्पष्ट रूप से इस पर चर्चा करें। बनारस में ही मैं इस तरह का सवाल, समस्या रख सकता हूं।'

कवि नरेश सक्सेना अध्यक्षता कर रहे थे। मैंने वहां नामवरजी की आलोचना करते हुए उन्हीं के वक्तव्यों के हवाले से कहा कि जिस मूल्य के लिए आपने आजीवन संघर्ष करते हुए एक प्रतिमान कायम किया है, उन स्थलों पर जाकर उसी मान्यता की हत्या क्यों कर रहे हैं? आप तक छनकर बातें पहुंचती हैं तो आप बेचैन होकर यहां सवाल खड़ा कर रहे हैं लेकिन आम लोगों के सवाल हमारे जैसे लोगों से किए जाते हैं। आप ही बताएं क्या तर्क करूं, उनको क्या जवाब दूं?

नामवरजी ने अध्यक्ष नरेश सक्सेना को उत्तर देने को कहा। उन्होंने उनके विवेक पर ही इसे छोड़ दिया। नामवरजी ने बुरा नहीं माना। भोजन के वक्त हालचाल पूछा। यह भी कहा कि चाहता हूं कि गोदरगावां जल्द ही आऊं।''

नाम और ख्याति जितनी उन्हें मिली है, दूसरे सोच भी नहीं सकते हैं लेकिन अहंकार नाम की चीज ढूंढ़े भी नहीं मिलती है। दिल्ली से आए एक साहित्यकार ने कहा कि मुझे ऐसा कमरा आवास हेतु चाहिए जिसमें ये-ये सुविधाएं हों। उसमें कोई दूसरा नहीं रहें। भोजन और पानी के बारे में भी फरमाया कि इस सबका ख्याल रखना होगा। नामवरजी के वह शिष्य भी रहे हैं। मैं इस तरह के लोगों को दिल से पसंद नहीं करता हूं लेकिन वे तो अतिथि थे। उनका वक्तव्य सारगर्भित एवं ओजस्वी होता है। लेख भी अच्छा लिखते हैं। लेकिन उसके विपरीत जीवनशैली है।

नामवरजी जितनी बार आए, जहां रखा रहे। कभी कोई फरमान नहीं। कई बार तो मार्ग व्यय भी नहीं लिया। राष्ट्रीय सम्मेलन के अवसर पर गोदरगावां की बजाय उन्हें बेगूसराय के एक विशिष्ट गेस्ट हाउस में ठहराया। चार सौ प्रतिनिधियों को विप्लवी पुस्तकालय के हॉल, कमरे, अतिथि कक्षों के साथ ही विद्यालय के कमरों और गांव के घरों को खाली करके ठहराया गया था। बाईस भाषाओं के 17 राज्यों से आए साहित्यकारों का एक साथ एक छोटे से गांव में जमा हो जाना आश्चर्यजनक घटना थी। हबीब तनवीर, तुलसीराम, असगर अली इंजीनियर, विश्वनाथ त्रिपाठी, अली जावेद, शमीम फैजी, अजीज पाशा आदि बेगूसराय के गेस्ट हाउस में नामवरजी के साथ अलग-अलग कमरे में थे।

प्रातः से संध्या तक की अवधि में प्रथम दिन नामवरजी वहां रहे लेकिन जमात से अलग, गांव से दूर शहर में रहना उन्हें नागवार जंच रहा होगा। अटैची लेकर गाड़ी पर बैठे और गोदरगावां विप्लवी पुस्तकालय बिना किसी को सूचित किए आ पहुंचे। स्वागत समिति के कार्यालय में मैं था। अचानक उन्हें आया देखकर मैं दौड़ा। देखते ही मुस्कुराते हुए नामवरजी ने कहा-गोदरगावां में मैं 'प्रेमाश्रम' में ही रहता रहा हूं। इस बार शहर में आधुनिक साज सज्जा वाले गेस्ट हाउस में क्यों ठहरा दिया?

गांव से कट कर दिल्ली में इन सुविधाओं के बीच रह ही रहा हूं। गोदरगावां को अपना दूसरा गांव मानता हूं। यहां रहकर जो प्राकृतिक आनंद मिलता है, वह वहां कहां? फिर इस बार तो लेखकों की फौज लेकर आया हूं, उनसे अलग क्यों कर दिया?

मैंने बताया कि 'प्रेमाश्रम' में कमला प्रसाद कार्यालय चला रहे हैं। राजेन्द्र शर्मा और कई लोग उसमें रह रहे हैं। नामवरजी के चेहरे पर शिकन तक नहीं आई। कहा 'जहां ठीक लगे ठहरा दो' लेकिन गांव और यहां रह रहे साहित्यकारों से दूर नहीं करो।

'सेवासदन' अतिथि कक्ष को विशेष परिस्थिति के लिए खाली रखा था। नामवरजी उसी में ठहरे। मैंने हंसते हुए कहा कि 'प्रेमाश्रम' में आप रहते आए हैं, इसलिए उसमें आपकी तस्वीर लगी हुई है। लोग उसे 'नामवर कक्ष' भी कहते हैं। 'सेवासदन' में कमलेश्वर दो बार रुके थे। अब तो रहे नहीं। कमलेश्वर नगर बसाया गया है। आप इस बार उसी कमरे में ठहरेंगे। इसमें कमलेश्वर की तस्वीर टंगी है। देखा, नामवरजी भावुक हो गए। 'सेवासदन' में ही रहे।

उन्होंने हमलोगों को ही यह नहीं कहा, अपने भाषण में इसकी विस्तार से चर्चा करते हुए कहा- '...अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का हमारा यह चौदहवां सम्मेलन पहली बार बिहार में हो रहा है और इस जमीन पर हो रहा है जो क्रांतिकारी जमीन है।...खास तौर से हमने याद रखा कि महाकवि दिनकर की जमीन पर आए हैं, जो 'हुंकार' का कवि है और जिसने 'चलो कवि राज वाटिका छोड़/चलो कवि वनफूलों की ओर'...गांवों की ओर आने का, लौटने का पैगाम दिया था। ...देश में जो एकता है। वह टूटती-सी जा रही है, ऐसे टूटते हुए देश को जोड़ने का काम कविता कर सकती है, कहानी कर सकती है, उपन्यास कर सकता है। इस टूटते हुए देश को, दिलों को आज जोड़ने की जरुरत है। और साहित्य करता क्या है?

क्या वजह है कि साहित्यिक संगठन एकजुट नहीं हो सकता है? कोई तो जमीन हो, जहां हम एक साथ खड़े हो सकते हैं और मार्च कर सकते हैं। इसलिए जानबूझकर हमने कहा कि वो गोदरगावां (बेगूसराय) ही जमीन हो सकती है, वो गांव की धरती हो सकती है। शहर बांटता है, गांव जोड़ता है। इसलिए उस नामुराद दिल्ली को छोड़कर आपके बीच हम ताकत लेने के लिए, प्रेरणा लेने के लिए आए हैं कि आप लोग हमें योग्य बल दीजिए।'

गांव की मिट्टी, हवा और पानी से असीम प्यार जो किसानों को होता है, वही किसान उनके भीतर मौजूद है। बेगूसराय के उनके एक प्रशंसक प्रो. विजय प्र. सिंह जब भी दिल्ली जाते हैं, उनसे मिलने के लिए उनके आवास पर अवश्य जाते हैं। हाल ही में वह वहां गए थे। नामवरजी की आवाज और चेहरे में पुराने ओज को देखकर उन्हें अतीव प्रसन्नता हुई। इन्हें इस बात की खुशी हुई कि उन्होंने उद्‌गार प्रकट किया कि एक बार और गोदरगावां जाने की इच्छा है। मेरा हालचाल पूछते हुए उन्होंने पुनः दुहराया कि कह देंगे 'डॉक्टर इजाजत देगा तो वहां दो-तीन दिनों के लिए आना चाहता हूं। गांव अब कहां जा पाता हूं? इच्छा है कि वहां अवश्य आऊं।'

यह जानकारी मिलने पर आंतरिक खुशी का अनुभव हुआ। यह तो हाल की घटनाएं हैं। बेगूसराय के बी.पी. हाईस्कूल में प्रलेस का जिला सम्मेलन था। वह आए थे और दो दिन यहां रहे थे। नक्सली आंदोलन उठाव पर था। उन्हें इसकी जानकारी मिल गई थी। सुनने के लिए बड़ी संख्या में बेगूसराय के लेखक-कवि ही नहीं आए बुद्धिजीवी, शिक्षक, प्रशासक और छात्रों के साथ नक्सली

भी आए थे।

नामवरजी वर्तमान राजनीति के प्रसंग में साहित्य की भूमिका सामाजिक परिवर्तन ही नहीं राजनीतिक बदलाव के लिए क्या है, पर बोल रहे थे। उन्होंने कहा कि आज यह फैशन चल गया है कि मार्क्स, लेनिन, माओ के नाम का लोग जाप करते हैं, उनकी तरह व्यवस्था परिवर्तन के लिए लड़ते नहीं हैं। अपने तर्ज पर उन्होंने कहा था-भारत के साम्यवादियों को और परिवर्तन के पक्षधर लेखकों से कहना चाहता हूं कि वे अतिरिक्त गौरव गान नहीं करें बल्कि संघर्ष के लिए योजना बनाएं और सक्रिय हों। दुर्भाग्य है कि आज माओ को अध्यक्ष घोषित करके यहां क्रांति बंदूक की नली से आएगी के लिए कुछ युवक प्रयास कर रहे हैं। उनके प्रति श्रद्धा और आदर मेरे हृदय में है लेकिन वे भटके हुए हैं। क्रांति बंदूक की नली से नहीं, जनता की क्रांतिकारी चेतना और आंदोलन से ही होगी।

एक युवा नक्सली ने कहा कि आप तो संशोधनवादी हैं। क्रांति की बात क्यों करते हैं?

नामवरजी ने धैर्यपूर्वक उसे बोलने दिया। हम आयोजकों को उसका यह हस्तक्षेप बुरा लगा। रोकने के लिए मैं आगे बढ़ा। नामवरजी ने कहा कि आप शांति से बैठ जाएं। इसके भीतर आग सुलग रही है, मुझे ही इससे संवाद करने दें।

विस्तार से तार्किक तरीके से उन्होंने प्रकाश डाला- 'लेनिन का बड़ा भाई अलेक्जेंडर हथियारबंद गिरोह बनाकर जार की सत्ता को उखाड़ फेंकना चाहता था लेकिन ऐसा हो नहीं सका। वह पकड़ा गया और उसे फांसी दे दी गई। लेनिन को अपने भाई से बेहद लगाव था। उन्हें दुःख तो हुआ। उग्रवादियों के लिए लेनिन के हृदय में सम्मान कम नहीं था लेकिन उनकी क्रांतिकारिता को वह बचकाना मर्ज मानते थे। क्रांतिकारी चेतना और रणकौशल के बिना दुस्साहिकता के बल पर क्रांति नहीं हो सकती है।

वियतनाम को ही लें। वहां मजदूर वर्ग, मेहनतकश और शोषित अवाम को हो ची-मिन्ह ने संगठित करके अमरीकी साम्राज्यवादी ताकतों को पराजित किया है। हम आप जो नारे लगाते हैं 'हमारा नाम-तुम्हारा नाम-वियतनाम, वियतनाम' इस हालात तक वह जिसे आप उग्रवादी संशोधनवादी कहते हैं-उसकी मदद से ही लड़ाई लड़ी जा रही है। दुनिया के हर उस मुल्क में जहां क्रांतिकारी आंदोलन जारी है उसके पीछे मार्क्सवादी लेनिनवादी विचारधारा है और सोवियत संघ की अजेय शक्ति है।' नक्सली उनके भाषण को ध्यान से सुनते रहे थे। प्रभावित हुए कि नहीं, कहा नहीं जा सकता है। उन्होंने साफ-साफ कहा कि 'क्रांति के लिए कोई 'शार्टकट' नहीं है। इतना भर ही नहीं भारत की वर्तमान स्थिति में यह आग के साथ खिलवाड़ है। देश के वामपंथी फूटे हुए हैं। एक दूसरे को नीचा दिखाने में ही अपनी शक्ति का वे अपव्यय कर रहे हैं। साहित्य के क्षेत्र में भी इसका असर है। सभी वामदलों के अलग-अलग साहित्य संगठन हैं। 'प्रगतिशील लेखक संघ' मातृ संस्था है। इसका स्वरूप अखिल भारतीय एवं सभी भाषाओं के साथ अभिन्न है। लेनिन की बोल्शेविक पार्टी ने अपने जन्म के पंद्रह साल के अंदर ही क्रांति सम्पन्न कर ली। यहां रोमांटिसिज्म में हम फंसे हुए हैं।'

गोदरगावां में ही 2003 में बिहार प्रलेस का प्रांतीय सम्मेलन आयोजित था। नामवरजी के साथ कमलेश्वर भी उक्त अवसर पर यहां तीन दिनों तक रहे थे। विशाल आम सभा और प्रतिनिधि सत्र

को संबोधित करते हुए नामवरजी ने यह बताने की कोशिश की कि अगर साहित्यकार सुख-भोग की संस्कृति में लिप्त होंगे, जैसा कि अभी है, तो देश और समाज को दिशा का बोध नहीं हो सकता है। स्थिति खतरनाक बन चुकी है। शब्दाडंबर से आप विद्रोही नहीं बन सकते हैं। अधिकांश मध्यम वर्गीय लेखक हैं। वे सुख-सुविधाओं के लिए लालायित रहते हैं। आज दरबारी कवियों और चारण साहित्यकारों की कमी नहीं है। हिंदी के अधिकांश लेखक शासक वर्ग के किसी-न-किसी प्रतिष्ठान द्वारा संरक्षित-पोषित हैं। वित्तीय पूंजीवादी घरानों, सरकारी या अर्द्धसरकारी प्रतिष्ठानों द्वारा पुरस्कृत सम्मानित करने के नाम पर लेखकों को गुलाम बनाया जा रहा है। लेखन में क्रांतिकारी लेकिन जीवन में सुविधाभोगी लेखकों का प्रभाव नहीं पड़ता है।

आज प्रगतिशीलता भाषणों में सिमटता जा रही है। फासिज्म से लड़ने के लिए इस संगठन का जन्म हुआ था। साहित्य को अभावों में रहकर विपदाओं से जूझकर प्रगतिवादी लेखकों ने फासिज्म के चरित्र से अवाम को सावधान कराया था। यहां की परंपरा यह है कि हमारे लेखक अस्त्र उठाकर भी लड़े और मरे। आज उस समय से भी खतरनाक दौर सामने है। मन में विद्रोहाग्नि भड़के लेकिन दिल में सत्ता द्वारा मिल रही सुविधाओं को भोगने की लालसा भी बनी रहे और त्यागना संभव नहीं रह जाय तो वे खाक दिशा दे सकेंगे। प्रतिबद्धता इस परिस्थिति में ढोंग बनकर रह जाती है।

संत कवियों ने विद्रोही होने का मार्ग त्यागमय जीवन से दिया है। कुंभन दास ने अकबर के दरबार में हाजिरी नहीं लगाने की घोषणा इन शब्दों में की थी 'संतन को कहां सीकरी सो काम।' आज तुलसी ने जैसे अकबर के दरबार का मनसबदार बनने को अपमान समझा था, क्या हम हिम्मत करेंगे कि आज के अकबरों से दूर रहें। कबीर और रैदास बनने की हिम्मत हममें नहीं हो और हम प्रगतिवाद का परिचय थाम कर चलें, मखौल है।

अद्‌भुत प्रभावकारी भाषण था। इसी अवसर पर पुस्तकालय के देवी वैदेही सभागार का उद्‌घाटन कमलेश्वर ने नामवरजी और राज्यभर से आए लेखकों की मौजूदगी में किया था। एक ने सम्मेलन का उद्‌घाटन किया तो दूसरे ने सभागार का। दोनों की घनिष्ठता इतनी सुदृढ़ नजर आ रही थी कि दिल्ली, वाराणसी से आए कुछ लेखकों ने कहा कि यहां आश्चर्यजनक रूप से ऐतिहासिक मिलन का दृश्य उपस्थित हुआ है। एक लंबी अवधि से दोनों एक साथ एक मंच पर नजर नहीं आए थे।

नामवरजी ने कमलेश्वर को अपने साथ हैदराबाद के प्रलेस राष्ट्रीय सम्मेलन में चलने का आमंत्रण यहीं दिया था। दोनों गए भी थे और नामवरजी ने ही वहां राष्ट्रीय सम्मेलन का उद्‌घाटन कमलेश्वर से कराया था। 'दैनिक हिंदुस्तान' में 'बेगूसराय से हैदराबाद' शीर्षक से एक विस्तृत लेख कमलेश्वर ने लिखा था जिसमें नामवर सिंह को साहित्याकाश का मार्गदर्शक बताया था।

बेगूसराय में वह दिनकर जयंती के अवसर पर 2009 में आए थे। पटना में प्रलेस द्वारा आयोजित विशाल संगोष्ठी को उन्होंने संबोधित किया था। भाजपा, आर.एस.एस. के बढ़ाव पर वह चिंतित नजर आए थे। लोकतांत्रिक शक्तियों की अकर्मण्यता और वामपंथ की कमजोरियों से वह अत्यधिक दुखी थे। यह उनके भाषणों से स्पष्ट प्रकट हो रहा था। फासिज्म का चरित्रांकन और भविष्य के खतरे के प्रति उन्होंने सावधान करते हुए जो कहा था वह मशाल की तरह राह बताता है।

नामवरजी कहा था- 'हमारे देश में आज फासिज्म ने आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र

में ही नियंत्रण नहीं बनाया है, उसने साहित्य और संस्कृति को पहला निशाना बनाया है। संसदीय राजनीति में यह विषबेल की तरह फैल रहा है। चाहे इसके लिए कांग्रेस के साथ वाम और जनवादी शक्तियों की कमजोरियां ही क्यों नहीं हो, वह सर्वत्र पांव पसार रहा है। फासिज्म के बढ़ते प्रभाव से अब केवल साहूकार ही नहीं, सामंत, मध्य वर्ग और पूंजीपति भी जुड़ते जा रहे हैं। धर्म और अध्यात्म के अफीम के असर ने व्यापक समुदाय को नशेड़ी बना दिया है। वे हिंदुत्व के नाम पर उन्मादित हो रहे हैं। आज केवल सवर्ण ही नहीं, दलित और पिछड़े भी हिंदुत्व के घेरे में स्वयं को पा रहे हैं। इस्लाम विरोध के नाम पर सहिष्णुता और सद्भाव को देश से विदाई दी जा रही है। देश के बड़े भू भाग को इसने अपने अधीन मानसिक रूप से जोड़ लिया है। दिमागी गुलामों की तादाद तेजी से बढ़ रही है।

फासिज्म यहां केवल राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वारा नहीं लाया जा रहा है। ब्राह्मणवाद ने फासिज्म को लाने के लिए मिट्टी-पानी और खाद दिया है। टी.वी. और प्रसारण के माध्यमों के साथ ही समाचार पत्रों के द्वारा लोगों की चेतना को कुंद बनाया जा रहा है। उन्हें सांप्रदायिक बना दिया गया है। अध्यात्म का सहारा लेकर दंगे कराए जा रहे हैं। दंगे भी क्रूरता की सीमा को पार करके किए जा रहे हैं। मुसलमानों को भारत में रहना है तो वंदे मातरम् कहने के लिए बाध्य किया जा रहा है। उन्हें आतंकित करके रखने के पीछे मात्र सत्ता की राजनीति में कामयाब होना ही है। इसके विरुद्ध लड़ना अनिवार्य है।

इस खतरनाक दौर में लेखकों-बुद्धिजीवियों की चुप्पी या बड़बोलेपन से फासिज्म को पांव जमाने में आसानी होती है। जरूरत है लड़ने की, वह भी चप्पे-चप्पे पर। इसके लिए व्यापक मोर्चा बनाने की जरूरत है।

उम्मीद शेष है। नामवरजी पुनः आगे आएंगे और नेतृत्व करेंगे।

●

...और अध्यक्षता करेंगे नामवर सिंह...

रणजीत साहा

...'यह तो होना ही था'... अध्यक्ष की कुर्सी के आसपास बैठे राजेंद्र यादव दबी लेकिन सधी हुए जबान में इस तरह कहते कि यह बात माइक से होती पूरे सभागार में फैल जाती। एकाध अपवाद की बात जाने दें तो यह ज्ञात तथ्य नामवरजी के साथ लगभग सारे भारत में विख्यात है कि कोई भी साहित्यिक संगोष्ठी, परिसंवाद आयोजित हो रहा हो तो उसकी अध्यक्षता नामवरजी ही करेंगे। यह उस समारोह की सफलता की कसौटी ही नहीं, उपलब्धि भी हुआ करती है। साथ ही, इस बात की गारंटी भी कि जब तक नामवरजी का अध्यक्षीय संबोधन नहीं होता उपस्थित श्रोतावृंद में से कोई भी आयोजन स्थल से उठकर नहीं जानेवाला। आयोजन की समाप्ति के बाद भी, उनके भक्त, छात्र और प्रशंसक उन्हें घेरे रहते हैं। कई संस्थाओं के आयोजक उनसे मिलने इस आशा में खड़े रहते कि उनके प्रस्तावित आयोजन को अपनी 'गरिमामयी' उपस्थिति (और अध्यक्षता) से कृतार्थ करने नामवरजी कब आ सकते हैं। ऐसी कोई अनुकूल तिथि जिसे 'कैलेंडर आव इवेंट्स' कहा जाता है, नामवरजी के सुविधानुसार तैयार की जाती है-- वह चाहे किसी नामचीन संस्था की साहित्यिक संगोष्ठी हो, दूरदर्शन का आयोजन हो, विश्वविद्यालयों में आयोजित विचार-विमर्श में बीज भाषण हो, किसी अंतरंग साहित्यिक कार्यक्रम का उद्घाटन हो या फिर किसी नवोदित रचनाकार की सद्यःप्रकाशित कृति का लोकार्पण। आज भी यही माना जाता है कि कोई बड़ा साहित्यिक आयोजन तब तक आधा-अधूरा ही रहेगा या पूरा नहीं माना जाएगा, जब तक कि उसमें नामवर सिंहजी उपस्थित नहीं होंगे। नामवरजी से 'हां' कहलवा लेनेवालों की सामाजिक प्रतिष्ठा के साथ साहित्यिक पैठ भी बढ़ जाती है... और अगर उसके कोई विरोधी या प्रतिद्वंद्वी हों तो उसकी सेहत पर इसका प्रतिकूल असर पड़ता है, हालांकि वे भी ऐसे आयोजन में सोत्साह और सहर्ष शामिल होते हैं।

आज इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि 'आलोचना में असहमति का अधिकार' को जितना सम्मान नामवरजी ने दिया, उतना और किसी ने नहीं। इसे उन्होंने अकादमिक विमर्श का अपरिहार्य और अनिवार्य अंग बनाया है। उनके जीवन काल में ही, और उनका मार्ग निर्देश प्राप्त करनेवाले कई शोध छात्र, जो आलोचना के क्षेत्र में प्रखर और मुखर हुए, उन्होंने नामवरजी की कई आलोचकीय उपपत्तियों या निष्कर्षों पर आपत्तियां जताई हैं; आलोचना की, प्रत्यालोचना भी हुई है लेकिन व्यक्तिगत स्तर पर कभी कोई विरोध नहीं। वस्तुतः रचनात्मक विचारों की निरंतरता से ही किसी भाषा का साहित्यिक उत्कर्ष बढ़ता है। नामवरजी ने कभी भी अपनी आलोचना का उत्तर किसी को आहत करने के लिए नहीं किया, क्योंकि उनके अकाट्य तर्कों की अनदेखी नहीं की जा सकती।

लेकिन बनारसी पान कल्ले में दबाए और 'टूथपिक' से दांत खुरचते हुए मैंने उन्हें यह भी कहते हुए सुना है... 'हमीं ने नाज सिखाया, हमीं उठा न सके...।'

उक्त पंक्ति मैंने पहली बार तब सुनी थी जब त्रिवेणी सभागार, दिल्ली में महाश्वेता देवी के ऐसे एक वक्तव्य, जो आदिवासियों के अधिकार, संस्कृति, भाषा, बोली और जीवन शैली को लेकर और उसे मुख्यधारा से जोड़ने से जुड़ा था। उन्होंने यह आक्षेप भी मढ़ा कि हमारे विश्वविद्यालय इस मामले में उदासीन हैं जब कि नामवरजी ने वाचिक से लिखित रूप में मुद्रण व्यवस्था, इसकी उपलब्धता इसके प्रामाणिक अनुवाद की चर्चा की। महाश्वेताजी का आक्षेप इस बात के लिए था कि आखिर आप लोग क्या कर रहे हैं, जे.एन.यू.-जैसी संस्था क्या कर रही है? कार्यक्रम के बाद भी इस पर अनौपचारिक बहस होती रही। तभी पंकज सिंह ने महाश्वेता देवी का पक्ष लेते हुए एक टिप्पणी की थी कि साहित्य में वही होगा, जो 'ठाकुर' नामवर सिंह चाहेंगे। यही तो उनकी 'ठाकुरशाही' है। वैसे इस बात को शायद कम लोग जानते होंगे कि महाश्वेताजी नामवर सिंह को अपने भाई की तरह मानती हैं और नामवरजी उनकी बातें करते हुए भावविह्वल हो जाया करते हैं।

साहित्य अकादेमी में काम करते हुए, विशेषकर अकादेमी से प्रकाशित होनेवाली हिंदी और कुछ अन्य भाषाओं (यथा संस्कृत, पंजाबी, डोगरी, मैथिली, अंग्रेजी) पुस्तक का काम देखते हुए नामवरजी के नैकट्य का लाभ मुझे मिला था। उनके पहले संयोजक विष्णु प्रभाकरजी एवं भीष्म साहनीजी के हिंदी सलाहकार मंडल के संयोजक के नाते भी जो विभागीय निर्देश मिलते, उनका पालन किया जाता। बाद में, नामवरजी के संयोजक और मेरे उपसचिव बनने के बाद, अकादेमी में हिंदी से संबंधित कार्यों और समय-समय पर अन्य भाषाओं के दायित्व निर्वाह में भी मुझे नामवरजी का निरंतर योग्य मार्ग निर्देश प्राप्त होता रहा। हिंदी से संबंधित कार्यक्रमों के विस्तार के साथ सुदूर उत्तर-पूर्व (अंडमान द्वीप) और दक्षिण में कालिकट, केरल आदि स्थानों पर कई कार्यक्रम आयोजित हुए। दिल्ली में तो आए दिन साहित्यिक कार्यक्रम होते ही रहते थे। नामवरजी द्वारा प्रस्तावित योजना या प्रकाशन या आयोजन संबंधी निर्देश को अकादेमी के सचिव इन्द्रनाथ चौधुरी और बाद में के. सच्चिदानंदन की सहमति सहज ही प्राप्त हो जाया करती थी।

अकादेमी में अपने कार्यकाल के दौरान मुझे हिंदी ही नहीं, कई हिंदीतर लेखकों, अनुवादकों और विशेषज्ञों का सान्निध्य एवं सहयोग प्राप्त हुआ। वर्ष 2004 में, मेरा चयन भारतीय भाषा केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में बतौर एसोशिएट प्रोफेसर हो गया। चूंकि मैंने अपना कार्यजीवन शोध कार्य और अध्यापन के साथ आरंभ किया था और अनुवाद से संबंधित कई कृतियां (बांगला, हिंदी, गुजराती और नेपाली) प्रकाशित हो चुकी थीं, इसलिए अपने चयन के प्रति मैं निश्चिंत था। विस्तार में न जाकर इतना ही बताना काफी होगा कि मेरे चयन पर हिंदी विभाग में कार्यरत अध्यापकों के साथ नामवरजी और केदारजी, जो जे.एन.यू. के एमेरिटस प्रोफेसर हैं, अत्यंत प्रसन्न थे। यहां मैंने एक अध्यापक के नाते अपनी सक्रियता बनाए रखी और तिक्त-मधुर अनुभवों के बावजूद यह कार्यकाल (2004-2015) मेरे जीवन की न केवल उपलब्धि है बल्कि पूंजी भी। इस अवधि में मैंने यह पाया कि जे.एन.यू. में नामवर सिंह वहां के शिखर पुरुष एवं 'प्रथम नागरिक' के नाते सर्वाधिक सम्मानित व्यक्तित्व हैं। व्यक्तिगत तौर पर भारतीय भाषा केंद्र की निष्क्रियता, शिक्षा के गिरते स्तर, शिक्षकों की अकर्मण्यता और अध्यापकों की परस्पर कटुता के बावजूद, इस केंद्र की बेहतरी के लिए

वे बराबर अपने सुझाव देते रहते। अध्यापकों की औपचारिक बैठकों में भी उनका यह सात्त्विक आक्रोश प्रकट होता रहा है क्योंकि वे अपना समझकर ही, विभागीय अध्यापकों की उपस्थिति में अपना रोष व्यक्त कर रहे होते हैं। लेकिन बैठक से बाहर आते ही वे बड़े सहज और आत्मीय ढंग से सबसे बातें करते हैं, विशेषकर शोध छात्रों को उनके शोध कार्य से जुड़ी पुस्तकों की जानकारियां देते हैं। यहां इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि न केवल हिंदी, उर्दू बल्कि संस्कृत समेत अन्यान्य अनुशासनों (यथा, इतिहास, समाजविज्ञान आदि) के छात्र एवं अध्यापक उनके पास अपनी समस्याएं लेकर आते हैं। उन विभागों में भी नामवरजी के व्याख्यान आयोजित किए जाते हैं जहां सभी अनुशासनों के अध्येता एवं अध्यापक उपस्थित रहते हैं। यह उनके अंतःअनुशासनिक मनीषा संपन्न होने का प्रमाण है, और साथ ही उनकी स्मरण-शक्ति का अद्‌भुत निदर्शन भी। ऐसी क्षमता मैंने केवल रामविलास शर्माजी में ही पाई थी। स्वयं रामविलासजी इस संबंध में नामवरजी के भारी प्रशंसक थे।

नामवरजी का स्नेह-सान्निध्य पाकर और एक पदाधिकारी वाली हैसियत में थोड़ी-सी छूट लेकर मैंने अकादेमी की एक संगोष्ठी में उनकी विद्वत्ता और वाग्मिता की प्रशंसा करते हुए कह दिया था-- 'शतं वद मा लिख'-- यानी सौ बार बोलो लेकिन लिखो मत। वस्तुतः उनके व्याख्यानों में विन्यस्त विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियों और अगाध स्रोतों के हवालों का हवाला देते हुए ही मैंने कई बार उनसे कहा भी था कि इन व्याख्यानों को या तो आप अनिवार्य तौर पर डिक्टाफोन पर टेप करवा लिया करें या फिर अपनी टीपों को व्यवस्थित कर मुद्रित करवा लिया करें। लेकिन नामवरजी ठहरे आचार्य हजारी प्रसादजी के अन्तेवासी शिष्य... वाचिक परंपरा के अनन्य प्रवक्ता...। अपने स्वनामधन्य गुरुओं का प्रसाद एवं आशीर्वाद प्राप्त कर ही उनकी जिह्‌वा पर सरस्वती विराजती है और अंतर में ज्ञान का अक्षय कोष संचित है-- जिसे वे न केवल श्रोताओं को बांटते रहे हैं बल्कि उन्हें लुटाते रहे हैं। ऐसे में, अकादेमी के कई कार्यक्रमों में दूरदर्शन और अन्य चैनलों और आकाशवाणी के तकनीकी सहयोगियों को झक मारकर उनका व्याख्यान खत्म होने तक रुकना पड़ता है। उनका प्रत्येक व्याख्यान अपने में स्वायत्त और अनन्य होता है, जो अनायास ही साहित्येतिहास का भी अंग बनता जाता है। इस बारे में नामवरजी का कहना है कि उन पर उनके गुरु केशव प्रसाद मिश्र के शब्द विवेक का गहरा प्रभाव पड़ा है, जिन्होंने पतंजलि के हवाले से यह बताया था-- 'एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गलोके च कामधुक् भवति'-- एक ही शब्द जानो! सम्यक् रूप से जानो अगर उसे सही तौर पर इस्तेमाल करोगे तो इहलोक और परलोक, दोनों में तुम्हारी कामनाएं पूर्ण होंगी। नामवरजी बताते हैं-- संभवतः उनके इस निर्देश का ही फल रहा कि 'इतना कम लिखे पर इतना सम्मान मिलने की बात सोचकर मुझे शर्म आती है। ऐसा नहीं कि मैं लिखना नहीं जानता या लिखना नहीं चाहता, आलस्य भी नहीं है और न कतराता हूं या भागता हूं। लिखते समय मेरे सामने अक्सर केशवजी होते हैं। मैं बोलने को लेकर भी उतना ही सावधान रहता हूं। बोला हुआ भी यथावत् लिखा जा सकता है, बेशर्ते उसको लेकर सतर्कता हो। तमन्ना तो यही रहती है कि बोला हुआ लिखा-सा लगे और लिखा हुआ बोलता-सा।

विद्वत्ता के साथ वाग्मिता का अद्‌भुत संगम ही वह कारण है कि उनके छात्र, पाठक, प्रशंसक (और प्रकाशक) सभी उनके आगे-पीछे मंडराते रहते हैं। मऊ, तिरुवनंतपुरम्, वाराणसी, कोलकाता, भोपाल, इंदौर, पुणे, मिर्जापुर, जामनगर, अंडमान द्वीप आदि स्थानों की यात्रा के दौरान मैं एक

आलोचक के नाते उनकी लोकप्रियता देखकर चमत्कृत रह जाया करता। उनके साथ की गई रेल यात्राओं के दौरान मैंने पाया कि कई स्टेशनों पर देर रात और मुंह अँधेरे छात्रों का दल हाथों में माला लिए, चाय की केतली थामे और स्थानीय फल लिए नामवरजी के स्वागत में खड़ा मिलता। छात्र और युवा अध्यापक एवं लेखक उनके पांव छूते, आशीर्वाद लेते। आज भी ऐसा संभव है, इस अविश्वसनीय सच का मैं साक्षी रहा हूं और तब यह विश्वास प्रबल हो जाता है कि कृतज्ञ शिष्यों का सम्मान पाने के लिए किसी गुरु में योग्यता का होना कितना आवश्यक है।

नामवरजी से मेरी भेंट 1972 में, एकदम आकस्मिक ढंग से शांतिनिकेतन में हुई थी। वे अपने एक शिष्य और प्रशंसक श्रीनारायण पांडेय के साथ दुर्गापुर से वर्धमान होते हुए यहां आए थे। पांडेयजी उन दिनों त्रिवेणी देवी भालोटिया कॉलेज, दुर्गापुर में हिंदी अध्यापक थे। मेरी उनसे पत्र-मित्रता थी। मैंने नामवरजी की पुस्तकें 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग' और 'छायावाद' तो पढ़ी ही थीं, 'आलोचना' का भी नियमित पाठक था। उन दिनों मैं सिद्धों की रचनाओं से संबंधित अपना शोध प्रबंध मूल्यांकन हेतु जमा करनेवाला था और संत साहित्य की पारिभाषिक शब्दावली से संबद्ध योजना में सहयोग कर रहा था। नामवरजी का सफरी सामान मेरे ही कमरे में रखवाया गया था। चूंकि वर्धमान या कोलकाता के लिए शाम को ही ट्रेन थी, उन्होंने आश्रम का परिदर्शन किया। उन्होंने आचार्य द्विवेदी का आवास देखा, उनके हाथों लगाए पेड़ देखे और उत्तरायण में रवीन्द्र भवन स्थित 'विचित्रा' संग्रहालय देखकर चमत्कृत भी हुए। उन्होंने हिंदी वालों के भारतेन्दु, प्रेमचंद, प्रसाद और निराला की बदकिस्मती पर अफसोस भी जताया। दोपहर बाद, सामान लेकर दोनों विदा हो गए, उनमें बंगाल की वामपंथी पार्टी की गतिविधियों को लेकर भी चर्चा होती रही, क्योंकि पांडेयजी पार्टी के एक सक्रिय कार्यकर्ता भी थे। नामवरजी बाङ्ला के अच्छे जानकार और रवीन्द्र साहित्य के पाठक एवं प्रशंसक हैं, इस बात की जानकारी मुझे उनसे मिलने के बाद ही हुई। नामवरजी के चेहरे पर यात्रा की थकान तो थी लेकिन तेज कदमों से दर्शनीय स्थलों का अवलोकन करते रहे। उन्होंने मेरे शोध कार्य के बारे में पूछा। यह जानकर अच्छा लगा कि उन्होंने विश्वभारती पत्रिका में मुझे देखा है। बस... इतना ही। बाद में पता चला वे प्रो. रामसिंह तोमर से मिलने आए थे, क्योंकि वे दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रोफेसर पद के प्रत्याशी थे और तोमरजी प्रस्तावित चयन समिति में थे। वे तब शांतिनिकेतन में थे नहीं, कहीं बाहर गए हुए थे।

एक एसोशिएट फेलो (यूजीसी) के नाते जब मैं 1977 में दिल्ली विश्वविद्यालय में अपनी शोध योजना पर कार्य कर रहा था तो दो-तीन बार जे.एन.यू. जाने का अवसर मिला था। तब हिंदी विभाग विश्वविद्यालय 'डाउन टाउन' में कामचलाऊ बैरकनुमा कमरों में चलता था। लेकिन डी.यू. और जे. एन.यू. दोनों विश्वविद्यालयों के बीच तब भी (और अब भी) न केवल विरोध और दूरी बल्कि खाई खुदी हुई थी। दोनों के अध्यापक और छात्र एक-दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखते थे। अपने साढ़े तीन साल की योजनावधि में मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय में एक-के-बाद-एक डॉ. नगेन्द्र, डॉ. उदयभानु सिंह, डॉ. ओमप्रकाश कुलश्रेष्ठ और डॉ. निर्मला जैन को हिंदी संकाय का अध्यक्ष बनते और शिक्षकों एवं शोधार्थियों को उनके साथ पाला बदलते देखा था। न तो मुझे यहां किसी का स्नेहभरा आश्वासन मिला और न नौकरी। नौकरी मिली इस्पात और खान मंत्रालय में, वरिष्ठ हिंदी अधिकारी की और दिल्ली से बोरिया बिस्तर बांध, अपनी पत्नी और दो बच्चों के साथ मुझे मन मानकर इस मंत्रालय

के अधीन हिंदुस्तान कॉपर लिमिटेड के मुख्यालय, कोलकाता जाना पड़ा। मुझे दिल्ली स्टेशन पर हाथ में मिठाई का डिब्बा लेकर विदा करने आए थे, दिल्ली विश्वविद्यालय में पंजाबी के अध्यक्ष और वरिष्ठ कवि डॉ. हरभजन सिंह। तब न तो वे जानते थे और न मैं कि मुझे फिर दिल्ली आना होगा और एक बार फिर से सबसे संपर्क होगा।

एक बार पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' पर मिर्जापुर में आयोजित जन्मशती पर आयोजित संगोष्ठी में भाग लेने के लिए मैं नामवरजी के साथ रेल के ए.सी. कोच में यात्रा कर रहा था। मुझे उनके सामने ऊपर वाली बर्थ मिली थी। डॉ. साहब अपने साथ दो-तीन किताबें सिरहाने रखकर पढ़ते रहे। मैं रात में जब भी तीन-चार बार उठा तो पाया कि कान में खुंसी छोटी-सी पेंसिल हाथ में लेकर वे पन्ने पर निशान लगा रहे हैं। मुझे जगा देखकर कहते, 'अरे साहा साहब (मुझे इसी तरह पुकारते हैं) आप सो जाइए... मैं जरा यह चैप्टर खत्म कर लूं!' लेकिन वे रात भर किताबें पढ़ते रहे। सुबह पांच बजे उनकी आंखें लगी थीं। मैं जब नीचे उतरा तो देखा 'उग्र' की अपनी खबर उनके सीने पर रखी है। आज भी इस महान अध्यापक ने अपने उस जिज्ञासु अध्येता को स्वाध्याय और अध्यवसाय के बल पर अपने प्राणों में बसा रखा है।... ऐसे ही कोई 'नामवर'-- नामदार नहीं बन जाता !

ऐसे कुछ और उदाहरण हैं और जिन्हें उनका सान्निध्य एवं नैकट्य प्राप्त है, ऐसे कई उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं और करते रहे हैं। बात अंडमान द्वीप की है। साहित्य अकादेमी के हिंदी सलाहकार मंडल के संयोजक (डॉ. नामवर सिंह) ने तय किया कि 2002 में मंडल की बैठक अंडमान में, वहां के हिंदी साहित्य परिषद के सहयोग से आयोजित होगी। संयोजन का दायित्व मुझ पर था। कई अधिकारियों और मान्य सदस्यों, जिनमें नामवरजी, डॉ. इन्द्रनाथ चौधुरी (निवर्तमान सचिव) डॉ. के. सच्चिदानंदन (सचिव), आग्नेय, गिरधर राठी, पद्मा सचदेव, कमला प्रसाद, शंभुनाथ आदि शामिल थे, के साथ हम अंडमान पहुंचे और मुख्य चौक बाजार के पास वाले होटल में ठहरे। चूंकि होटल में सरकारी खर्चे पर शराब की व्यवस्था नहीं हो सकती थी, इसलिए उसका इंतजाम, खासतौर से नामवरजी और नामपंथियों के लिए मुझे ही करना पड़ा था और इसकी व्यवस्था मैंने दिल्ली से ही कर रखी थी। 'संध्या आचमन' के समय नामवरजी मुझे खास तौर पर याद किया करते। पहले तो मैं रसरंजन के दौरान छिटक जाया करता था लेकिन 'तदुपरांत' वेला (बकौल राजेन्द्र यादव) में झेंप और झिझक परे रख, दीक्षित होकर उनकी चौकड़ी में शामिल हो जाया करता था। उस समय नामवरजी अपने दशावतारी रूप धारे आसपास बैठे अपनी भक्तमंडली के त्रिविध तापहर्ता बन जाया करते। कवित्त, दोहे, शेरो शायरी, दुनिया भर के किस्से, कहानी, बतकही और कालातीत आख्यान पता नहीं कहां से उड़ते आते और इस आयोजन से जुड़ते चले जाते। उन दुर्लभ 'संध्याओं', जिनमें नामवरजी, केदारजी, परमानंदजी, अशोक वाजपेयी, राजेन्द्र यादव, मैनेजर पांडेय, शानी, भीष्म साहनी, कमला प्रसाद, वरयाम सिंह, पुरुषोत्तम अग्रवाल आदि होते-- कोई कल्पना नहीं कर सकता कि ऐसा तरल और सजल रंगारंग परिसर-- जिसके केंद्र में नामवरजी विराजमान हों-- कितना प्रसन्न कितना संपन्न, कैसा व्यंजक और आकर्षक रहा होगा।

अंडमान के साहित्य-प्रेमियों को जब यह सूचना मिली कि नामवरजी भी आए हुए हैं तो वहां हलचल-सी मच गई। परामर्श मंडल की औपचारिक बैठक के बाद, आयोजित साहित्यिक रचना-गोष्ठी में अपनी-अपनी रचनाएं पढ़ने के लिए स्थानीय साहित्यकारों में होड़-सी लग गई और सबको इसमें

हिस्सा भी मिला। द्वीप की यात्रा, वनभोज आदि के बाद तीसरे दिन साहित्यिक गोष्ठी के समापन पर स्थानीय साहित्यकारों ने मुझ पर यह दबाव बनाया कि इसमें नामवरजी भी उपस्थित हों। नामवरजी ने पहले ही मुझे यह बता दिया था कि वे दोपहर बाद आराम करना चाहेंगे। लेकिन स्थानीय आयोजकों के आग्रह पर मैं उन्हें बुलाने होटल के कमरे पहुंचा। घंटी बजाने पर उन्होंने दरवाजा खोला। उनके हाथ में अभी भी कोई किताब थी। मैंने लोगों का आग्रह उन्हें बताया। अपनी अनिच्छा जताते हुए भी मेरे आग्रह पर वे सभा स्थल पहुंचे। रास्ते में उन्होंने यह बताया कि दिल्ली पहुंच कर उन्हें एक पुस्तक के लिए भूमिका लिखनी है और वे इसी की तैयारी में लगे थे।

साहित्य सभा में वे उपस्थित तो हुए ही अपना विद्वत्तापूर्ण अध्यक्षीय भाषण भी दिया। चूंकि पूरे आयोजन का दायित्व मेरे जिम्मे था इसलिए तीसरे दिन की उपस्थिति और दो-दो बार की गई अध्यक्षता के लिए उन्हें दो बार मानदेय राशि प्रदान की गई। दिल्ली लौटकर समारोह के खर्च का हिसाब देने पर अकादेमी के उपसचिव (वित्त) ने दो बार मानदेय दिए जाने पर आपत्ति उठाई और अंतिम दिन के मानदेय की रकम वापस करने नामवरजी को पत्र लिखने को कहा। इसे मैंने नामवरजी का अपमान मानकर अपनी तरफ से मानदेय की भरपाई की। मानदेय संबंधी ऐसी ही आपत्ति की पुनरावृत्ति जामनगर में कबीर की छठी जन्मशती के आयोजन से संबंधित संगोष्ठी के दौरान भी हुई थी। इस अवसर पर भी मानदेय के मामले में मैंने वही किया, जैसा कि अंडमान के संदर्भ में। यह अक्सर देखा गया है कि प्रशासनिक दायित्व से जुड़े अधिकांश अधिकारी 'अकादमिक' गतिविधियों का आकलन दिहाड़ी पर काम करनेवाले मजदूरों की तरह करते हैं। इसीलिए आज बहुत-सी संस्थाएं अपने गौरवपूर्ण इतिहास की रक्षा करने में असमर्थ हो रही हैं।

नामवर सिंहजी के पचहत्तर वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में 2002 में वरिष्ठ पत्रकार एवं 'जनसत्ता' के संपादक प्रभाष जोशी के नेतृत्व में 'नामवर के निमित्त' नामक वर्ष भर चलनेवाला एक आयोजन आरंभ किया गया था। इस आयोजन समिति का एक सदस्य मैं भी था। नामवरजी इसके लिए पहले तो तैयार नहीं थे लेकिन प्रभाषजी, केदारजी और अन्य मित्रों के अनुरोध की रक्षा करते हुए मान गाए। प्रभाषजी के प्रभाव और नामवरजी के प्रताप के कारण स्थानीय संस्थाओं के सहयोग से दिल्ली, मुंबई, कोलकाता, वाराणसी आदि स्थानों में नामवरजी के आलोचक व्यक्तित्व को केंद्र में रखकर कई आयोजन आयोजित किए गए, जहां विभिन्न विषयों पर संबंधित लेखकों और आलोचकों ने अपने विचार प्रकट किए। इससे साहित्यिक ऊर्जा को एक नई दृष्टि और गति मिली। इस देशव्यापी उपक्रम का संभवतः सबसे महत्त्वपूर्ण पड़ाव भोपाल था, जहां तीन दिनों तक नामवरजी के इर्द-गिर्द पूरी साहित्यिक दुनिया ही सिमट आई थी। उनके लेखन के महत्त्वपूर्ण अंशों की प्रस्तुति और साहित्यिक प्रस्थानों की चित्र प्रदर्शनी से मध्यप्रदेश का मुल्ला रमूजी संस्कृति भवन प्राणवान हो उठा था। साहित्य, संस्कृति, समाजशास्त्र आदि से संबद्ध अनुशासनों की परस्परता, हिंदी आलोचना की दिशा, साहित्यकार का दायित्व, कविता का संकट, आलोचना की प्रतिश्रुतियां आदि विषयों पर तीन दिनों तक लगातार विद्वानों, लेखकों एवं संस्कृति कर्मियों द्वारा आलेख पढ़े गए, कविता गोष्ठी हुई और अंतिम दिन नामवरजी से सीधा संवाद रखा गया। लगभग चार घंटों तक चलनेवाले इस संवाद-क्रम में उनसे पचासों सवाल पूछे गए, जिनमें से अधिकांश उनकी तब तक लिखी गई आलोचनात्मक पुस्तकों से संबंधित थे। कहना न होगा, नामवरजी ने बड़े प्रसन्न भाव से और विस्तार

से उन प्रश्नों का उत्तर दिया और प्रश्नकर्त्ताओं की जिज्ञासाओं का समाधान किया। वहां यह देख-सुनकर नामवरजी अवश्य ही आश्वस्त हुए होंगे कि उन्हें हिंदी के ग़रीब पाठक भी कितनी बड़ी संख्या में कितने आग्रह के साथ पढ़ते हैं और उनके पाठक एवं प्रशंसक उन्हें तीन दिनों तक लगातार बड़े मनोयोग और उत्साह से सुनने के लिए जमा हैं। इस आयोजन में डॉ. आलोक राय और श्री गुणाकर मुले के साथ मुझे भी एक वक्ता के नाते आमंत्रित किया गया था। मैंने नामवरजी को जितना पढ़ा-जाना था, अपने छोटे-से आलेख में प्रस्तुत किया था। यह भी उनकी किताबों से ही उठाया गया माल था, और उतना ही मुझे मालामाल करने के लिए काफी था।

जीते-जी निजंधरी हो गए नामवरजी के लिए किस्से-कहानी गढ़ने की कोई जरूरत नहीं है। उनकी कद-काठी, स्वभाव और रचाव, सादगी की मूरत और सर्वसुलभ व्यक्तित्व के साथ उनकी तेजस्विता और अनन्यता को सबने महसूस किया है। अकादेमी में कार्य करते हुए मुझे नामवरजी का स्नेह प्राप्त होता रहा, जिसकी मुझे गर्वमिश्रित प्रसन्नता है। इसी प्रकार विकासपुरी में रहते हुए मुझ पर डॉ. रामविलास शर्माजी की विशेष कृपा रही और मैं इस बारे में काफी लिखता-बताता भी रहा हूं। डॉ. शर्माजी के निधन के पूर्व और उसके बाद भी कई अवसरों पर नामवरजी और रामविलास शर्मा के बीच सहमतियों और असहमतियों का दौर भी चला लेकिन नामवरजी सदैव उनके प्रति अपनी कृतज्ञता और सम्मान जताते रहे। अपनी पुस्तक 'वाद-विवाद-संवाद' (1989) रामविलास शर्मा को सादर समर्पित करते हुए उन्होंने लिखा है-- 'जिन्हें 'वाद-विवाद-संवाद' में अपना गुरु मानता हूं।'

डॉ. शर्मा को लेखक से भेंट कार्यक्रम में साहित्य अकादेमी ले आने का श्रेय नामवरजी मुझे ही देते रहे। इसी तरह अकादेमी को वरीयता देते हुए, डॉ. शर्मा जब 'भारतीय सौंन्दर्य बोध और तुलसीदास' पुस्तक लिखने को राजी हुए तो उन्होंने इसे भी मेरे प्रयास से जोड़ा। यही नहीं, पुस्तक लेखन के दौरान उनके अस्वस्थ हो जाने पर नामवरजी अपनी चिंता से भी वे मुझे अवगत कराते रहे क्योंकि मेरा उनके यहां बराबर आना-जाना लगा रहता था। यही नहीं, 'आलोचना' (सहस्राब्दी अंक दो, 2000, जुलाई-सितंबर) में उन्होंने डॉ. शर्मा की मुद्रणाधीन पुस्तक 'भारतीय सौंदर्य बोध और तुलसीदास' का एक अध्याय 'वैदिक कवियों का सौंदर्य बोध' न केवल साभार प्रकाशित किया बल्कि अपने संपादकीय में डॉ. शर्मा के बारे में लिखा- 'जरूरत यह देखने की है कि जो किसी समय तात्कालिक मुठभेड़ के लिए जाने जा रहे थे, किस तरह आगे लगातार परंपरा, इतिहास और स्मृति में धंसने और नए ज्ञानात्मक विमर्श विकसित करने के अथक प्रयत्न में लग गए..।' उक्त वाक्य को नामवरजी के परवर्ती लेख 'इतिहास की शव साधना' की पृष्ठभूमि के तौर पर देखा जा सकता है।

इस बीच डॉ. शर्मा को अकादेमी द्वारा 25 मई, 1999 को अपने सर्वोच्च सम्मान महत्तर सदस्यता से विभूषित किए जाने पर नामवरजी के वक्तव्य को सभी ने सराहा क्योंकि रामविलास शर्माजी ने अपने विपुल एवं विद्वत्तापूर्ण लेखन से न केवल हिंदी बल्कि भारतीय भाषाओं को सम्मानित स्थान दिलाया है। साथ ही, अकादेमी को 'देर आयद दुरुस्त आयद' का भी पाठ पढ़ाया। 'भारतीय सौंदर्य बोध' और तुलसीदास पुस्तक के लोकार्पण पर नामवरजी ने कहा था, 'सौंदर्य बोध वस्तुतः इन्द्रिय बोध, भावबोध और विचारधारा-- तीनों का समन्वय है और इसे केवल विचारधारा से जोड़कर

नहीं देखा जा सकता। इस कृति का महत्त्व इस बात में है कि यह समस्त कलाओं के अंतर्संबंध को ध्यान में रखकर लिखी गई है। हालांकि यह कृति अधूरी रह गई लेकिन कभी-कभी अधूरा संपूर्ण से ज्यादा सुंदर होता है, जैसे कि दूज का चांद।'

30 मई, 2000 को डॉ. शर्मा के निधन पर वे एक पारिवारिक सदस्य की तरह विकासपुरी स्थित उनके घर में अन्यान्य लेखकों और प्रशंसकों के साथ लगातार उपस्थित रहे।

एक दिन नामवरजी साहित्य अकादेमी में अचानक मेरे पास आए और अपना एक लिखित आलेख मुझे सौंपते हुए कहा, 'राजकमल से अशोक या कोई आएगा इसे ले जाने। आप भी देख लीजिएगा।' वे कुछ जल्दी में थे। यह 'रामविलासजी की बरसी पर' प्रकाशित 'इतिहास की शव साधना' वाला वही लेख था, जिसकी चर्चा-कुचर्चा उनकी अब तक लिखी किसी कृति से अधिक हुई। यह लेख 'आलोचना' (सहस्राब्दी अंक 5, 2001, अप्रैल-जून) में छपा और जिसके छपने के साथ ही पूरे साहित्य जगत में जलजला-सा आ गया। यह मेरा सौभाग्य था कि मैं उस लेख का पहला पाठक था। मैंने वह लेख दो-दो बार पढ़ा। मैं तनिक हैरान भी हुआ कि रामविलासजी को 'केवल जलती मशाल' बतानेवाले और एक कृतज्ञ शिष्य के नाते उन्हें गुरु माननेवाले नामवरजी इस लेख में एक नए स्वर और हमलावर तेवर के साथ उपस्थित हैं और वह भी उनकी मृत्यु के साल भर बीतते-न-बीतते उन्हें सादर स्मरण करते हुए। नामवरजी ने उक्त लेख में अपने तर्क जुटाए थे और उनका अंदाज़े बयां तो वैसे भी लाजवाब होता है। उसी दिन चार बजे के आसपास नामवरजी दोबारा मुझसे मिले। मैंने बताया कि राजकमल से कोई नहीं आया। उन्होंने अपने लेख के बारे में पूछा तो मैंने यही कहा-- 'सर, थोड़ी ज़्यादती हुई है... वैसे दो किताबों के साथ प्रकाशन वर्ष गलत जा रहा है, मैंने पेंसिल से ठीक कर दिया है।' नामवरजी ने इतना ही कहा-- 'ठीक किया... वैसे आप तो रामविलासजी के भक्त हैं।'

मैंने सोचा, कभी-कभार लिखने से छपने तक बहुत-सी चीजें बदल भी जाती हैं और इसे नामवरजी से बेहतर कौन जानता है! लेकिन वह लेख शब्दशः और हू-ब-हू छपा और सप्ताह भर में पूरी हिंदी पट्टी को हिला गया। जिसे देखो, वही इसे गलत-सही बताने में जुटा था। मुझसे भी कई लोगों ने मिलकर अपना आक्रोश व्यक्त किया, प्रतिक्रिया जताई। चूंकि डॉ. शर्मा हो या डॉ. सिंह-- मैं ठहरा दोनों का एक-जैसा ऋणी, एक समान उनका कृतज्ञ और स्नेहधन्य। ऐसे में मेरे लिए बड़ी असमंजस की स्थिति थी। कई लेखक मित्र, जो नामवरजी के घोर प्रशंसक और हिमायती थे, वे भी अकादेमी में आकर मुझसे मिलने लगे क्योंकि उन्हें रामविलास शर्माजी के साथ मेरी आत्मीयता की जानकारी थी। कहीं-कहीं लामबंदी भी शुरू हो गई और दक्षिणपंथी ताकतों ने इसे सांस्कृतिक राष्ट्रवाद से भी जोड़ दिया। कई पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तिकाओं में राम(विलास) बनाम नाम(वर) का प्रायोजित छायायुद्ध भी चलाया गया। मैं उन दिनों अपनी एक पुस्तक 'युग संधि के प्रतिमान' को अंतिम रूप दे रहा था और इसमें एक निबंध 'हिंदी आलोचना में राम-नाम ही सत्य'-- जो दो दिग्गज और दिग्विजयी आलोचकों-- रामविलासजी और नामवरजी के अवदान पर लिखा गया था, छपने से रोक लिया। हालांकि इसका एक अंश जोकहरा (आजमगढ़) में आयोजित एक साहित्यिक संगोष्ठी में पढ़ा गया था, जिसमें स्वयं नामवरजी और आयोजक विभूति नारायण राय (संपादक, वर्तमान साहित्य) उपस्थित थे। मुझे लगा, मोटे तौर पर इसमें मैंने एक पाठक की अपेक्षा को ध्यान में रखकर

दोनों आलोचकों की आलोचना दृष्टि का आकलन किया है। यह बात आज भी सही है कि आधुनिक हिंदी आलोचना का कोई पर्व इन दोनों महारथियों के उल्लेख और उद्धरणों के बिना समाप्त नहीं होता। लेख की शुरुआत नागार्जुन की उस प्रसिद्ध कविता पंक्ति से हुई थी-- 'अगर कीर्ति का फल चखना है... तो लेखक और पाठक को नांधे रखना है।'

खैर, धीरे-धीरे उक्त विवाद शांत हुआ। आलोचना की धरा तभी उर्वर रह सकती है जब-- सम हो या विषम-- विचारधाराओं की अबाधित निरंतरता उसे सींचती रहे। 'इतिहास की शव साधना' की नकारात्मक हो या सकारात्मक, जैसी भी व्याख्या की गई हो, इसने 'परंपरा' के अभिज्ञान एवं अनुशीलन की महत्वपूर्ण परिभूमि प्रदान की। इसे नामवरजी ने आत्म-समीक्षा भी बताया है। इस लेख के अंत तक पहुंचते हुए, एक कृतज्ञ छात्र-अध्येता की तरह वे लिखते हैं-- 'अब न राहुलजी हैं, न द्विवेदीजी और न रामविलासजी। यह एक भरी-पूरी परंपरा है। परंपरा भी और पूर्व-परंपरा का उत्तर-चरण भी। मृत्यु के बावजूद यह परंपरा मेरी दृष्टि में शव नहीं है। यही कारण है कि प्रेत की तरह हमारे ऊपर मंडराती भी नहीं, कि मैं जाक देरिदा के 'मार्क्स की प्रेतात्मा' की तरह डॉ. रामविलास शर्मा का विखंडन करूं!... क्योंकि राहुलजी और द्विवेदीजी की तरह रामविलासजी भी मेरे अंदर जीवंत और जाग्रत हैं। यह आत्म-समीक्षा आत्म-संघर्ष भी है, जिसे कुछ लेखकों ने अपने 'अंदर का दानव' कहा था।'

पिछले साल नामवरजी की नब्बेवीं जन्मगांठ के अवसर पर 27 जुलाई, 2015 को राजकमल प्रकाशन समूह के स्वामी अशोक माहेश्वरी ने इंडिया इंटरनेशनल सेंटर, नई दिल्ली में उनके अभिनंदन के लिए एक आयोजन किया था। इसमें नामवरजी के कई प्रशंसक, लेखक, पत्रकार उपस्थित थे, मैं भी। कार्यक्रम तभी आरंभ होता जब वे आते। उस दिन वे जे.एन.यू. छात्रों एवं अध्यापकों के बीच भी उपस्थित हुए थे। लेकिन जब यह सूचना प्रसारित हुई कि भारत के पूर्व राष्ट्रपति अब्दुल कलामजी का निधन हो गया है तो नामवरजी ने उक्त आयोजन में आने से मना कर दिया। केदारजी, डॉ. नंदकिशोर नवल, ओम थानवी, अपूर्वानंद, पंकज सिंह आदि ने भी उन्हें कुछ समय के लिए आने का आग्रह किया, पर वे अपने निश्चय पर अडिग रहे। आयोजकों और उनके मित्रों ने उन्हें कई बार मनाया, फोन मैंने भी किया, उनका उत्तर वही था। साथ ही, यह आदेश भी कि अब कोई मुझे फोन न करे। तब हम सबने पंकज सिंह के प्रस्ताव के अनुरूप बड़े से कार्ड बोर्ड पर उन्हें 'जन्मदिन की शुभकामनाएं' लिखकर अपने-अपने हस्ताक्षर किए और उनके घर भिजवा दिया। इसके बाद हम सभी इस अधूरे जलसे में आयोजित दावत में शामिल हो गए।

बाद में पता चला कि देर रात नामवर सिंहजी अपने भाई काशीनाथ सिंह के साथ समारोह स्थल आए थे और वहां उपस्थित कुछेक लोगों ने उन्हें गुलदस्ता वगैरह देकर सबकी तरफ से जन्मदिन की शुभकामनाएं दीं।

ऐसे ही एक साहित्यिक आयोजन के साथ उनके पचहत्तरवें वर्ष में आयोजित अभिनंदन का उल्लेख यहां आवश्यक जान पड़ता है, जो तिरुवनंतपुरम, केरल में केरल हिंदी परिषद् के सहयोग से अकादेमी के एक आयोजन के दौरान 2002 में आयोजित किया था। इस आयोजन में उन स्थानीय अनुवादकों की सहायता से हिंदी में मलयालम और मलयालम से हिंदी में, कुछ चयनित कविताओं का परस्पर अनुवाद भाषा विशेषज्ञों के निर्देश में किया जाना था। परिषद् के कर्मठ सचिव और

सुप्रसिद्ध हिंदी सेवी श्री वेलायुधन नायर चाहते थे कि इस अनुवाद कार्यशाला का उद्घाटन नामवरजी करें। घोर व्यस्तता काजीवन जीनेवाले नामवरजी के लिए तीन-चार दिनों तक बाहर रह पाना कठिन था, फिर भी वे मान गए। मुझे चूंकि ट्रेन से वहां जाना था, इसलिए मैं पहले निकल गया। इस आयोजन की नव्यता से साहित्य प्रेमियों और परिषद् के अधिकारियों और अध्येताओं में बड़ा उत्साह था। श्री नायर ने स्टेशन पर स्वयं मेरी अगुवानी की, मेरा सामान कार पर रखवाया और वहीं से मुझे 'द हिंदू' समाचार-पत्र के कार्यालय ले गए। वहां किसी संवाददाता ने इस कार्यक्रम की रूपरेखा और उद्देश्य के बारे में पूछा। उत्तर यही था कि हिंदी और मलयाळम में लिखी गई और लिखी जा रही श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण कविताओं का परस्पर अनुवाद हो। दूसरे, दोनों ही भाषाओं में (बल्कि भारत की अन्यान्य भाषाओं में भी) पेशेवर अनुवादकों की ऐसी शृंखला तैयार हो, जो सटीक और प्रामाणिक अनुवाद प्रस्तुत करने में सक्षम हों।

दूसरे दिन 'द हिंदू' ने इस समाचार को बॉक्स में छापा और सूचित किया कि इस कार्यक्रम का उद्घाटन हिंदी के वरिष्ठ आलोचक और जे.एन.यू. के प्रो. डॉ. नामवर सिंह करेंगे। इस बीच नामवरजी भी हवाई यात्रा कर तिरुवनंतपुरम आ गए थे। शाम को हिंदी परिषद के सभागार में जब कार्यक्रम का उद्घाटन हुआ तब तिल रखने तक की जगह नहीं थी। मंच फूल मालाओं से सुसज्जित था। छात्र, अध्यापक, साहित्यकार और पत्रकार बड़ी संख्या में उपस्थित थे। हमारा स्वागत परंपरागत उत्तरीय और माला पहनाकर किया गया। हम सबका भाषण तो औपचारिकता मात्र थी वहां तो सभी नामवरजी को सुनना-गुनना चाहते थे। नामवरजी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में भारतीय साहित्य में कविता विधा की केंद्रीयता पर विशेष जोर दिया। अकादेमी द्वारा स्थगित उस योजना को फिर से बहाल करने पर बल दिया जिसमें भारतीय भाषाओं की विशिष्ट कविताओं का परस्पर अनुवाद कर 'भारतीय कविता' शृंखला के अंतर्गत प्रकाशित किया जाता था। लेकिन इसके लिए पहले भी और आज भी आवश्यक यह था कि मूल और लक्ष्य भाषा में सुयोग्य अनुवादकों की समर्पित टीम तैयार की जाए, जिनकी अनुवाद क्षमता असंदिग्ध हो। ऐसी अनूदित सामग्री पाठनिष्ठ, प्रामाणिक होने के साथ पठनीय भी हो। उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण रूसी लेखकों की कृतियों के हिंदी अनुवाद का भी जिक्र किया और बताया कि ये अपठनीय हैं। इस कार्यशाला को भी सफल तभी कहा जाएगा जब अनुवादकों की आवश्यकता को हमारे विद्यालय, विश्वविद्यालय और शिक्षा संस्थान महत्त्व देंगे। नामवरजी का उद्बोधन इस महत्वपूर्ण सूचना के साथ संपन्न हुआ कि जे.एन.यू. में भी हमने अनुवाद विभाग खोला है, जहां अनुवाद अध्ययन और शोधकार्य आरंभ किया गया है। कहने की जरूरत नहीं, प्रस्तुत आयोजन की सार्थकता एवं सफलता के लिए यह उद्बोधन कितना उपादेय था।

लेकिन अभी नामवरजी का जादू तो शुरू ही हुआ था। अपने धन्यवाद ज्ञापन में परिषद् के रचनात्मक सहयोग का आभार जताते हुए जब मैंने यह बताया कि डॉ. नामवरजी के पचहत्तर वर्ष पूरे हुए हैं और 'नामवर के निमित्त' नामक आयोजन द्वारा देश के विभिन्न स्थानों पर कार्यक्रम संपन्न हो रहे हैं तो सभागार में तालियों की गड़गड़ाहट के साथ उनके अभिवादन में सभी अपने-अपने स्थानों से उठ खड़े हुए। यह एक विरल और विलक्षण घड़ी थी। हमें यह लगा ही नहीं कि हम दिल्ली से इतनी दूर, किसी अपरिचित जगह में हिंदी के एक आलोचक को इतने आदर के साथ सम्मानित होते देख रहे हैं।

लेकिन इस कार्यक्रम का 'उत्तरमेघ' अभी बाकी था, जो दूसरे दिन शाम को नामवरजी से आरंभ हुआ और उन्हीं से संपन्न, क्योंकि यह आयोजन नामवरजी के अभिनंदन उत्सव में परिणत हो गया। छात्राओं द्वारा सरस्वती वंदना के बाद फूलमाला, श्रीफल, उत्तरीय और टोकरी भर मसाले-मेवे-मिठाई के साथ उनके शतायु होने की कामना वाले बैनर के साथ सुसज्जित मंच पर वहां के संस्कृति मंत्री, वरिष्ठ कवि ओ.वी. एन कुरुप, डॉ. एन.वी. कृष्णा वारियार, बालकृष्ण पिल्ले एवं मलयाळम के कई सुप्रतिष्ठ आलोचक और हिंदीसेवी विराजमान थे। नामवरजी इस अप्रत्याशित अभिनंदन समारोह और वक्ताओं द्वारा उनके सम्मान में प्रदत्त हिंदी व्याख्यान से अभिभूत थे। अपने धन्यवाद संबोधन में इसे उन्होंने सर्वथा अकल्पनीय बताया और कहा कि इस स्नेहपूर्ण सम्मान के लिए वे केरल हिंदी परिषद के आजीवन कृतज्ञ रहेंगे। उन्होंने केरल के महान संतगुरु स्वाति तिरुमाल का विशेष उल्लेख किया, जिन्होंने हिंदी में पद रचना की थी। आज भी केरल में हिंदी ही नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं का जितना सम्मान है और पठन-पाठन के साथ अनुवाद कार्य किया जा रहा है वह अन्य दक्षिण भारतीय भाषाओं के लिए स्पृहणीय है।

इस अप्रत्याशित और यादगार समारोह के बाद, आयोजित दावत में उन्होंने प्यार से मुझे डांटते हुए मुझसे कहा, 'यह सारा षड्यंत्र आपका किया धरा है साहा साहब! अब इतनी कृपा जरूर कीजिएगा कि यह भारी-भरकम टोकरी दिल्ली पहुंचकर मेरे घर भिजवा दीजिएगा।'

●

सरस्वती पुत्र को प्रणाम

हरिवंश

यह उक्ति कि 'स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान सर्वत्र पूज्येत' (राजा की पूजा अपने घर या राज्य में होती है, विद्वान की पूजा सर्वत्र होती है) सुनी बाद में, अनुभव से उसे समझा पहले।

1972 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय और बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, दोनों में एडमिशन हो गया था। पर रहा बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में। आज 44 वर्षों बाद, जब वे दिन याद आते हैं, तो बिड़ला छात्रावास की वह लॉबी याद आती है, जिसमें हम कई छात्र परिवार की तरह रहते थे। उनमें कुछ छात्र चंदौली (बनारस के पास) के थे। एकाध रामगढ़ और जीयनपुर गांवों (चंदौली के पास) के आस-पास के। आदरणीय नामवरजी का जन्म बनारस के इसी जीयनपुर में हुआ। कमालपुर से उन्होंने मिडिल की पढ़ाई की। वहां के एक छात्र भी सहपाठी थे। इन्हीं साथियों से नामवरजी की आरंभिक जानकारी मिली। नाम तो उनका उदय प्रताप कॉलेज में इंटरमीडिएट में पढ़ते हुए सुना था, पर बहुत नहीं। विश्वविद्यालय के बिड़ला छात्रावास की अपनी लॉबी में हम छात्र बैठते, गप्प करते। उन दिनों हम छात्रों के बीच प्राध्यापकों की विद्वत्ता, आचरण, उनकी सादगी, हम छात्रों से व्यवहार-स्नेह आकर्षण के विषय होते। श्रद्धेय मालवीयजी से लेकर, आचार्य नरेंद्र देव, डॉ. राधाकृष्णन वगैरह के जीवन की किंवदंतियां तो हम सुनते ही, विश्वविद्यालय या हॉस्टल में काम करनेवाले बुजुर्ग लोगों से। साथ ही विद्वान प्राध्यापकों के जीवन के प्रसंग, उनकी जीवनचर्या भी हमारी पीढ़ी के छात्रों में रुचि का विषय होती। तब इंटरनेट की दुनिया नहीं थी और संबंध, सूचना और मशीनों के माध्यम से नहीं बनते थे। हम सुनते, विज्ञान के अमुक प्राध्यापक, शोध, पठन-पाठन, अध्ययन-मनन में इतना मशगूल रहते हैं कि वे रात भर लैब या लाइब्रेरी में ही रह जाते हैं। भूल जाते हैं बाहर की दुनिया। खाना-पीना। फलां अध्यापक की जिह्वा पर सरस्वती विराजतीं हैं। अपने सीनियर छात्रों से यह भी सुनते कि पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदीजी (तब तक वह अवकाश ग्रहण कर चुके थे) की कक्षा में विज्ञान व आईटी के छात्र आकर बैठते, सुनते रहे हैं। कक्षा में बैठने की जगह नहीं होती थी, पर लोग नीचे बैठकर सुनते थे। हमारे समय में हिंदी में आदरणीय शिव प्रसादजी व आदरणीय काशीनाथजी थे। हालांकि मैं अर्थशास्त्र का विद्यार्थी था, स्नातक में हिंदी थी, पर इनकी कक्षाओं में बैठता-जाता। इसी तरह अन्य विषयों के उद्भट विद्वानों-प्राध्यापकों की चर्चा विश्वविद्यालय कैंपस में सार्वजनिक चर्चा का हिस्सा होती।

विश्वविद्यालय में घूमते हुए ऐसे अध्यापक दिखायी देते, तो हमें सीनियर छात्र दूर से दिखाते कि देखिए वे फलां हैं। वे पैदल चल रहे होते या रिक्शा से दीखते या साइकिल से। आज 44 वर्ष

पहले के इन कई प्राध्यापकों की आभा याद करता हूं, तो एक अद्‌भुत श्रद्धा व आदर का भाव उपजता है। उन अध्यापकों की विद्वत्ता व सादगी और छात्रों के प्रति स्वाभाविक स्नेह। वह बाजार की दुनिया की शिक्षा नहीं थी। एक अघोषित आदर, श्रद्धा या सम्मान ऐसे लोगों के प्रति हमारी पीढ़ी में भी रहीं। बिना मिले, व्यक्तिगत रूप से जाने। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय राजनीतिक रूप से अति जागरूक और संवेदनशील विश्वविद्यालय रहा है। याद है बड़े और उग्र छात्र आंदोलनों के बीच अचानक कोई ऐसा अध्यापक छात्रों की भीड़ में आ जाता, अकेले, निहत्थे, तो भीड़ मौन। एक दूसरे से आंख चुराती भीड़, उस अकेले सरस्वती पुत्र प्राध्यापक (सभी नहीं, जिनकी विद्वत्ता-आचरण का यश गूंजता था) के सामने छात्रों की भीड़ मौन, असहाय। इस अनुभव का गवाह खुद रहा हूं।

उन्हीं दिनों, उसी दौर में डॉ. नामवर सिंह की चर्चा, हम छात्रों के बीच प्रायः होती। हमारे साथी, जो उनके गांव के आस-पास के थे, वे करते। विश्वविद्यालय के सीनियर छात्र करते। यह भी बताते कि वे विचार से कम्युनिस्ट हैं, पर अद्वितीय प्रतिभा के धनी हैं। बेजोड़ प्राध्यापक हैं। अद्‌भुत वक्ता भी। फिर चर्चा चल निकलती। उनको अपनी आस्था और सिद्धांत के कारण जीवन में क्या कीमत चुकानी पड़ी?

1974 में विश्वविद्यालय में 'मानस चतुश्शती समारोह' हुआ। शायद एमपी थिएटर मैदान में। कुलपति डॉ. कालू लाल श्रीमाली (भारत सरकार के पहले शिक्षा मंत्री) थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी थे। जेपी थे। उन्हीं दिनों नामवरजी भी विश्वविद्यालय में आए। शायद कला संकाय के प्रेक्षागृह में। उन्हें सुनने के लिए हम छात्रों की भीड़ उमड़ी थी। हमें पीछे जगह मिली। पहली बार दूर से उन्हें वहीं देखा। ऊंची कद-काठी। सफेद, खद्दर कुरता-धोती और चप्पल, यही ताना-बाना। सहपाठी छात्रों से उनके बारे में जो सुना था, वह कम लगा। अद्‌भुत वक्तृत्व। हम सब युवा छात्र थे। बहुत कुछ राजनीतिक-सामाजिक समझ नहीं थी। पर लगा कि इस व्यक्ति को सारे लोग जिस खामोशी व आदर से सुन रहे हैं, वह उल्लेखनीय है। तुलसीदास पर सहज व सरल तरीके से इतनी नयी बातें, लगा ऐसे अध्यापक को किन लोगों ने महामना के इस विद्यामंदिर से जाने के लिए बाध्य किया? उत्सुकता थी, तो हम छात्र उनके बारे में और पता करते, जानते। सुना कि विश्वविद्यालय में वह अति लोकप्रिय थे। उस विश्वविद्यालय में 1953 में वह अस्थायी पद पर नियुक्त हुए, तब हमारा जन्म भी नहीं हआ था। 1959 में पार्टी निर्देश पर वह चकिया-चंदौली से लोकसभा उपचुनाव में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के प्रत्याशी थे। चंदौली के छात्र बताते थे (जो उन्होंने बुजुर्गों से सुना था) कि पराजय तय थी, पर जिस प्रतिबद्धता से वह लड़े, वह अद्वितीय था। चुनाव में हारे और उन्हें विश्वविद्यालय से हटाने का काम भी हुआ। बड़ा अटपटा लगता कि हमारे दौर में विश्वविद्यालय में अनेक प्राध्यापक हैं, जिनकी राजनीतिक प्रतिबद्धता साफ थी। झुकाव स्पष्ट था। शाखा लगाने से लेकर कांग्रेसी नेताओं के दरबार में आशीर्वाद पाने की होड़ वाले अध्यापक। ऐसे लोग हमारे समय में (1972-77) विश्वविद्यालय में थे। उनमें से कई शायद अपनी राजनीतिक पूंजी के कारण ही वहां तक पहुंच सके थे। पर एक सरस्वती पुत्र क्यों यहां से जाने के लिए विवश किया गया?

कुछ वर्षों बाद जब चीजों को और समझा, जाना, तब लगा, नहीं नामवरजी की राजनीतिक प्रतिबद्धता से लोगों को परेशानी नहीं रही होगी। असल परेशानी रही होगी उनकी प्रतिभा से। उनके व्यक्तित्व से। बहुत बाद में मिलने का अवसर मिला, तब वह देश-दुनिया में बड़े स्थापित व

सम्मानित नाम बन चुके थे। फिर भी उनका व्यक्तित्व चुंबकीय है। वह आपसे आपके समान होकर सहज व्यवहार करते हैं। कहीं उनकी विद्वत्ता, उनके यश, उनके नाम, उनके सम्मान का आतंक उनके सामनेवाले पर नहीं होता। यह असाधारण बात है। किसी भी उम्र के व्यक्ति से उनका सहज, सरल, आत्मीय रिश्ता बनता है। इस असाधारण प्रतिभा का आदमी जब हिंदी के पुराने मानस के विद्वानों के बीच होता होगा, तो उनमें स्वाभाविक जलन-ईर्ष्या या एक हद तक आत्महीनता का बोध होता होगा। राजनीति से अधिक जलन, राग-द्वेष बौद्धिकों की दुनिया में भी है। नामवरजी को जब नजदीक से सुना, जाना, मिला, तो लगा कि वह तो कई अन्य विषयों पर समान दखल रखते हैं। समाज विज्ञान से लेकर दूसरी विधाओं पर भी उनका असाधारण अध्ययन-अधिकार है। हिंदी की दुनिया तो परंपरागत अर्थ में समाजविज्ञान या अन्य विधाओं से अलग-थलग थी। पर नामवरजी जैसे उद्‌भट विद्वानों ने उसे संपूर्णता में देखा। इस अर्थ में वह मुझे समाजविज्ञानी लगते हैं। तब हिंदी की सीमित दुनिया में विश्वदृष्टि से संपन्न एक विद्वान रहा होगा, वह भी डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का सबसे प्रिय शिष्य। उसे हिंदी संसार के खुद को स्वयंभू माननेवाले लोग कैसे सह या पचा पाते? बात इतनी ही रहती तो शायद स्थिति कुछ भिन्न हो सकती थी, पर नामवरजी, एक तो अद्वितीय प्रतिभाशाली, दूसरे मूलतः हिंदी के, पर कम समय में विश्वदृष्टि वाले समाज विज्ञानी की पहचान बना लेनेवाले! और, इन दोनों चीजों के साथ बेमिसाल स्वाभिमान एवं खुद्दारी का होना। उनके व्यक्तित्व में यह अद्‌भुत संगम है। इन तीनों चीजों के संयोग से वह बने हैं। इसी कारण इसकी कीमत उन्हें जीवन में बहुत चुकानी पड़ी।

1959-1960 के बीच वह सागर विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में रहे। पर विश्वनाथ त्रिपाठीजी के शब्दों में कहूं तो, 'बेहद विद्यार्थी-प्रिय अध्यापक' को एक साल में वहां से भी जाना पड़ा, क्योंकि उनकी प्रतिभा, उनका स्वभाव, उनका मिजाज मठी या अनुयायी या आगे-पीछे करने या किसी के कंधे पर चढ़कर कुछ बनने का तो कभी रहा ही नहीं। खादी का सफेद कुर्ता, धोती, चप्पल करीने से पहने हुए, वह मार्क्सवाद जीते थे। मार्क्सवाद-साम्यवाद के विचारों से असहमति अपनी जगह है, पर दादा धर्माधिकारी (सर्वोदय चिंतक) ने सही कहा है कि मार्क्स के पहले किसी भी पीर-पैगंबर या धर्म प्रवर्तक ने यह नहीं कहा कि गरीबी और अमीरी का निराकरण हो सकता है, होना चाहिए और होकर रहेगा। यह भी कहा कि 'अमीरी और गरीबी, भगवान की बनायी हुई नहीं है। किसी भी धर्म में उसका विधान नहीं है, और यदि कोई धर्म, इस भेद को मंजूर करता है, तो वह धर्म गरीब के लिए अफीम की गोली है'। इस तरह समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के दर्शन को माननेवाले नामवरजी भला, विभागाध्यक्षों के आगे-पीछे कैसे होते? सुना सागर में हिंदी के विभागाध्यक्ष बड़े विद्वान आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी थे। विद्वत्ता में अद्वितीय थे, ऐसा बड़े सम्मानित लोगों से सुना। एक बार सागर जाना हुआ। पत्रकारिता पर व्याख्यान देने। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर बलराज गुप्त वहां कुछ दिनों के लिए गए थे। उन्हीं के आमंत्रण पर। सुना कि वाजपेयीजी का अपना दरबार चलता था। उनके आस-पास उनके अनुयायी ही रह सकते थे। हां में हां मिलानेवाले। शागिर्दों या समर्थकों की फौज लेकर विभागों में तुच्छ राजनीति तो हमारे विद्यामंदिरों की संस्कृति ही बन गयी है। यह साहित्य में सामंतवादी प्रवृत्तियों-रुझानों का दौर था। कोई अध्यापक आपके सामने न बैठे। आपकी अनुमति के बगैर कुछ न करे। बातचीत में, व्याख्यानों में या सभाओं

में अपनी अलग राय न रखे। समानता के साथ व्यवहार करे। भला अनुयायियों की फौज लेकर चलने वाले लोग, खुद से असहमति रखनेवाले प्रतिभावान लोगों को कैसे सह सकते थे! इस तरह एक साल में ही 26 अप्रैल 1960 को रजिस्ट्रार ने उन्हें अचानक पत्र भेजा। नौकरी खत्म। कारण कुछ भी नहीं बताया गया।

इसके बाद नामवरजी ने अपनी शर्तों पर जिंदगी जी। 1960 से 1965 तक बनारस में रहकर स्वतंत्र लेखन किया। 1965 में 'जनयुग' साप्ताहिक के संपादक बन दिल्ली गए। दो वर्षों तक राजकमल प्रकाशन के साहित्यिक सलाहकार रहे। फिर 1967 से 'आलोचना' त्रैमासिक का संपादन किया। 1970 में जोधपुर विश्वविद्यालय (राजस्थान) के हिंदी विभाग के अध्यक्ष पद पर प्रोफेसर के रूप में लौटे। 1960 से 1970 यानी दस वर्षों तक नामवरजी जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति को हिंदी पठन-पाठन संसार में जगह नहीं मिली। शायद ही दुनिया के किसी और देश में कोई समाज या व्यवस्था, अपने इतने प्रतिभाशाली व्यक्ति को हाशिए पर रखती हो। बगैर किसी अनुचित काम के। गौर करिए, हिंदी समाज की इस सामाजिक-राजनीतिक विजन-दृष्टि पर। कितना संकीर्ण? इससे छात्रों का कितना नुकसान हुआ होगा? एक श्रेष्ठ अध्यापक से छात्र न पढ़ें, यह करने वाले कौन लोग रहे होंगे? उनका क्या मकसद रहा होगा? संभव है, जिन लोगों ने एक दशक तक नामवरजी को शिक्षा संस्थानों से दूर रखा, उससे उनके निजी अहं की तृप्ति हुई हो पर समाज और शिक्षण संस्थानों ने क्या कीमत चुकायी? आज जब हम नामवरजी पर चर्चा कर रहे हैं, तो हिंदी समाज को इन अप्रिय सवालों से भी आत्मदर्शन करना चाहिए।

मैं था अर्थशास्त्र का विद्यार्थी, पर हिंदी का संसार हमारी रगों में है। दक्षिण से लेकर वाम विचारोंवाले अनेक हिंदी लेखक मेरे प्रिय हैं, क्योंकि इन सब को पढ़कर निजी दृष्टि विकसित हुई कि क्या ठीक है या गलत? यह पूरी संभावना है कि दूसरे हमारे निजी विचार से सहमत न हों, पर समाज एकरसा हो नहीं सकता, एकमत हो नहीं सकता। इस तरह से 60 के दशक का हिंदी पठन-पाठन संसार बहुत अनुकूल नहीं था। बाद में प्रिय लेखक काशीनाथ सिंह की पुस्तक 'याद हो कि न याद हो' पढ़ी। काशीनाथजी के संस्मरण अद्‌भुत हैं। इस पुस्तक में 'गरबीली गरीबी वह' अध्याय है। मन छू लेनेवाला। परिवार की स्थिति,आर्थिक संकट, बाहर से लोगों का षडयंत्र, पर इस बीच भी नामवरजी का निर्विकार रहना, इसी लेख से जाना। पहली मई उनका जन्मदिन था,उसी दिन नौकरी भी गयी। कैसे इलाहाबाद के सर्वश्रेष्ठ वकील ने कहा कि बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से उनका निष्कासन अवैध है। साथ राय दी कि इस मामले में निश्चित कामयाबी मिलेगी। पर नामवर सिंहजी ने यह कहते हुए पांव पीछे खींच लिए, 'जिस विश्वविद्यालय में सम्मान के साथ मैंने छह-सात साल पढ़ाया है, उसी विश्वविद्यालय में मैं अदालत के हुक्म से नहीं पढ़ाऊंगा।'

कहते हैं कि संकट में ही असल परीक्षा होती है। आग में ही सोना निखरता है। नामवरजी के घर के जो हालात थे, उसमें इस तरह का निर्णय कोई सामान्य आदमी नहीं कर सकता। 1960 से 1965 तक उनके पास कोई काम नहीं था। घर में हालात अच्छे नहीं थे। लोग फब्तियां कसते थे। हिंदी का संसार वैसे भी परनिंदा-परचर्चा में श्रेष्ठ रहा है। उन वर्षों का वर्णन काशीनाथजी ने जिस रूप में किया है, वह मर्मस्पर्शी है। कई बार कठिन क्षणों में, नामवरजी के ऐसे संघर्ष से हम जैसे सामान्य लोग भी प्रेरित होते रहे हैं। गांव से निकले नामवरजी किसी के कंधे पर चढ़कर

सफल-यशस्वी नहीं हुए। एक और अपने प्रिय लेखक विश्वनाथ त्रिपाठीजी की पुस्तक 'गंगा स्नान करने चलोगे' पढ़ रहा था। जगह-जगह नामवरजी के बारे में पढ़ते हुए (लेख का शीर्षक 'हक अदा न हुआ') मन बेचैन हुआ। कैसे नामवरजी ने अपना खर्च घटा दिया था। दूध पीना बंद कर दिया था। पान-जर्दा की जगह खैनी-चूना चलने लगा था। फिर विश्वनाथजी कहते हैं, नामवरजी की मां, ने जो अपने बड़े बेटे को सबसे अधिक मानती थीं, विश्वनाथजी से धीरे से पूछा, 'का बबुआ! अब हमरे बचवा की नौकरी न लगी?' पढ़कर मन और चित्त दोनों अस्थिर हुए। समाज ने सरस्वती पुत्र की क्या स्थिति बना दी थी! पर उतना ही प्रेरित हुआ इन कठिन दिनों में उनकी जीवनशैली पढ़ कर। कैसे आन-बान-शान से वह अपनी शर्तों पर इस कठिन दौर में जीते और सृजन करते रहे। साथ ही अपने विरोधियों के खिलाफ कभी ओछे स्तर पर नहीं उतरे। न बातचीत या आचरण में। कभी खुद को नौकरी से हटानेवाले हिंदी के विद्वानों-विभागाध्यक्षों पर सार्वजनिक या निजी टिप्पणी नहीं की। बड़े इंसान का यह बड़ा आचरण! यही तो उन्हें भीड़ से अलग करता है।

कई बार लगता है, संघर्ष ही इंसान को ताकत देता है। उसको मांजता, निखारता और यश के शिखर तक पहुंचाता है। नामवरजी की प्रतिभा और यश को षडयंत्रों से रोका नहीं जा सका। वह निखरे और उपलब्धियों के शिखर तक पहुंचे। पर यह सब भौतिक कामयाबी रही।

मेरा उनसे निजी परिचय 1991 में हुआ। मैं प्रधानमंत्री कार्यालय में था। उनके गांव के नजदीकी कविजी से मुलाकात हुई। वह चंद्रशेखरजी के साथ थे। अपने ढंग के अनूठे कवि, लेखक। उनके साथ एक दिन नामवरजी के पुत्र विजय से मुलाकात हुई। विजय के साथ उन दिनों संबंध रहा। मेरे मन में नामवरजी के लिए अगाध श्रद्धा थी, बिना मिले या व्यक्तिगत तौर पर जान-पहचान के विजय से उनके बारे में पूछता। उनकी दिनचर्या क्या रहती है? वे कितना पढ़ते हैं? वगैरह-वगैरह। उन्हीं दिनों एक बार मिलना हुआ मार्कण्डेय सिंहजी से, जो पहले दिल्ली पुलिस कमिश्नर थे। फिर उपराज्यपाल बने। वहीं पता चला कि नामवरजी और वह उदय प्रताप कॉलेज में साथ विद्यार्थी थे। तब भी अभिन्न मित्र थे। उनसे नामवरजी के विद्यार्थी जीवन की प्रतिभा की चर्चा वहां बैठे लोगों के साथ हमने भी सुनी। शुरू से ही लोगों से, खास कर बड़े लोगों से मिलने में एक संकोच रहा है। पर नामवरजी से मिलने की उत्सुकता थी। अवसर आया। कविजी ने चंद्रशेखरजी की जेल डायरी का एक नया संस्करण निकाला था। 1991 में। हमारा मन था कि नामवरजी सहमत हों, तो वही आएं। लोकार्पण करने। वह आए। प्रत्याशित रूप से प्रखर वक्तव्य दिया। आश्चर्य लगा कि एक-एक चीज पढ़ कर आए थे। बाद में उनके संसर्ग से समझा कि नए लेखकों को पढ़कर प्रोत्साहित करने, उन्हें आगे लाने की अद्‌भुत क्षमता उनमें है। विश्वनाथ त्रिपाठीजी के संस्मरण से और यह बात खुली कि कैसे उन्होंने धूमिल की 'अज्ञातप्राप्त लघु पत्रिका' में छपी एक कविता का हवाला दिया और धूमिल मशहूर हो गए। इसी तरह उषा प्रियंवदा की कहानी (वापसी), शेखर जोशी की कहानी (बदबू), अमरकांत की कहानी (हत्यारे) और निर्मल वर्मा की कहानी (परिंदे) की श्रेष्ठता की पहचान पहले उन्होंने की। मुक्तिबोध की कविता (अँधेरे में) को 'सबसे पहले नामवरजी ने केंद्रस्थ किया'। यानी नामवरजी की पैनी, अचूक और प्रतिभाशाली दृष्टि कैसे प्रतिभाओं को पहचानती है, यह उनका विलक्षण गुण है। युवा प्रतिभाओं की एक-एक चीज पढ़ना और उनका उल्लेख, वह करते रहे हैं। इस प्रयास से कवियों-लेखकों-उपन्यासकारों-समीक्षकों की नयी पीढ़ी खड़ी- प्रेरित होती रही है।

नामवरजी व्याख्यान के लिए हम सब एक बार रांची लाए। बार-बार बताने की जरूरत नहीं कि उनके व्याख्यान लोग डूबकर सुनते हैं। अगले दिन सुबह उन्हें घर पर नाश्ते के लिए न्योता। आए। बहुत सादा खाना। किताबें रखने का शौक पुराना है। उन्हीं दिनों काशी नागरी प्रचारिणी से प्रकाशित बनारस से एक पुस्तक लाया था। विवेकानंद पर, हिंदी में। कहीं मिल गयी थी। 90-100 वर्ष पुराना प्रकाशन। उनसे चर्चा की। उन्होंने तुरंत देखने की इच्छा प्रकट की। खोजकर लाया। कुछ पढ़ा, फिर कहा, 'तुम इसे मुझे दे दो'। विद्या के प्रति अनुराग देखकर मुझे इतनी खुशी हुई कि आम तौर से पुरानी व दुर्लभ पुस्तकें खोजकर खरीदने और उन्हें न देनेवाला मैं, उन्हें तुरत वह पुस्तक देकर अंदर से बहुत अच्छा अनुभव किया। इसके बाद कुछ वर्षों तक उनसे बीच-बीच में मिलना होता रहा। कभी भोपाल में, कभी रांची में, कभी दिल्ली में। कार्यक्रमों में इतनी सहजता और स्नेह से मिलते कि कई बार अटपटा लगता। ठेठ बनारसी भाषा में पूछते, कब आए, कहां ठहरे हो। अनेक जाने-माने लोगों से घिरे रहने के बावजूद, इतने बड़े इंसान की आत्मीयता हमेशा मन को छूती रही।

चंद्रशेखरजी 75 वर्ष के हो रहे थे। उनकी जेल डायरी, पुस्तकों का हम सब संपादन कर रहे थे। हमारे प्रिय मित्र कृपाशंकरजी (जो इस काम के अगुआ थे) के माध्यम से हम सबने नामवरजी से अनुरोध किया कि वह कुछ दो शब्द/भूमिका लिखें। हर चीज को पढ़कर वह अपनी राय देते हैं। उनके लेखन-कथन के बारे में कहने की जरूरत नहीं है। कृपाशंकर से कहता, उनका स्नेह इस काम को मिले, तो हम सबकी आंतरिक ताकत बढ़ेगी।

बाद में प्रभाषजी के साथ, नामवरजी के 75 वर्ष पूरे होने पर 'नामवर निमित्त' कार्यक्रम चला। देश के मशहूर शहरों, जगहों पर। आदरणीय प्रभाषजी इस मत के थे कि नामवरजी का 75 वर्ष पूरा होना, हिंदी समाज के लिए गौरव व फख्र की बात है। हिंदी राज्यों में जगह-जगह इस प्रसंग की चर्चा होनी चाहिए। इसी अवधारणा के तहत प्रभाषजी की अगुवाई में यह कार्यक्रम संपन्न हुआ। इसमें कई जगहों पर नामवरजी को सुनने का मौका मिला। उन्हें जब सुनता हूं, लगता है, वह जितना अधिक लिख पाते, वह अनूठी संपदा होती। फिर लगता है कि देश-दुनिया में घूम-घूम कर अलग-अलग विषयों पर बोलना, यह भी लेखन जैसा सृजनात्मक और कठिन काम ही तो है।

प्रभाषजी की स्मृति में स्थापित ट्रस्ट की बैठकों-कार्यक्रमों में बीच-बीच में उनसे मुलाकात होती रही है। इधर कुछेक वर्षों से यह अवसर कम मिला है। पर उनके बारे में छपी चीजों को ढूंढ़-ढूंढ़ कर पढ़ता हूं। खासतौर से काशीनाथजी की पुस्तकें (पहला,'याद हो कि न याद हो', दूसरा 'घर का जोगी जोगड़ा', तीसरा, 'काशी के नाम'), (नामवर के विमर्श) और विश्वनाथ त्रिपाठी की पुस्तक (गंगा स्नान करने चलोगे)। कुछेक वर्षों पहले उनके अपने पुराने भाषणों, आलेखों, टिप्पणियों पर राजकमल से एक शृंखला ही प्रकाशित हुई। गुजरे साठ वर्षों के दौरान उनकी लिखित सामग्री संकलित हुई, जो असंकलित थी, वह पढ़ता रहा हूं। कहने की जरूरत नहीं, इतनी संपन्न दृष्टि, विवेचनात्मक और तीक्ष्ण विश्लेषणात्मक क्षमता, सरस्वती अपने चुनिंदे पुत्रों को ही देती है। वह स्वस्थ रहें, शतायु हों। इसी तरह हम सबके लिए प्रेरणा और हिंदी समाज के गौरव के केंद्र बने रहें, यही कामना है।

●

हिंदी का सौभाग्य

संतोष भारतीय

नामवर सिंह हमारे बीच हैं, यह हिंदी का सबसे बड़ा सौभाग्य है। वे अपनी उम्र का जो हिस्सा जी चुके, वो नामवर सिंह बनने का हिस्सा था। लेकिन अब जो जीवन वे जी रहे हैं, वो नामवर सिंह कैसे बने और नामवर सिंह होने का क्या मतलब है, यह देश को बताने का हिस्सा है। वे हिंदी साहित्य के लिए एक ऐसी मिसाल हैं, जो अपने आप में पूरे ग्रंथ में परिवर्तित हो चुका है।

नामवर सिंह लेखक, आलोचक व विश्लेषक हैं। कितने भी नाम व उपनाम उनके आगे जोड़ दिए जाएं वो सब एक शब्द के आगे कम हो जाते हैं और वो शब्द है नामवर सिंह। एक ऐसा सहज इंसान जो न मुस्कराते हुए भी मुस्कराता हुआ लगता है। एक ऐसा इंसान जिसके पास यादों के इतने खजाने हैं कि अगर वो लिखने बैठे तो उनके जीवन का बचा हुआ समय भी कम पड़ जाए। नामवर सिंह के रिश्ते हिंदी साहित्य के लोगों से अपनत्व के रहे और तनाव भरे भी। लेकिन साहित्य से इतर उनके रिश्ते जिन लोगों से रहे, उनसे बहुत अपनत्व भरे और खास रहे। जो लोग उनसे असहमत रहे, उन्हें भी नामवर सिंह के रूप में एक बहुत पारिवारिक, दोस्ताना और आशीर्वाद का हाथ रखने वाला व्यक्तित्व मिला। नामवर सिंह को मैंने दो भूतपूर्व प्रधानमंत्रियों के साथ बहुत नजदीक से देखा है जिनमें विश्वनाथ प्रताप सिंह और चंद्रशेखर का नाम शामिल है। नामवर सिंह जब वीपी सिंह के साथ बैठते थे, तो न जाने कितनी गाथाएं, कितनी बातें, कितने संस्मरण दोनों एक दूसरे से बांटते थे और जब नामवर सिंह चंद्रशेखर के साथ बैठते थे, तो मिट्टी की उठती सुगंध जैसी सोंधी मिठास लिए बातों के अनवरत संस्मरण दोनों एक दूसरे से बांटते थे। ये शब्दों में ढलने वाले समय के आख्यान हैं ही नहीं, जिन्होंने नामवर सिंह को विश्वनाथ प्रताप सिंह और चंद्रशेखर के साथ बातें करते देखा है, वही समझ सकते हैं कि बीच का मौन भी कितना ज्यादा बात कर सकता है। मौन को मुखरित होते देखना चाहते हैं तो आज भी नामवर सिंह को उनके दोस्तों के साथ बैठा दीजिए और फिर देखिए मौन कैसे मुखरित होता है।

नामवर सिंह को लेकर इतिहास का एक संपूर्ण कालखंड हमारे साथ है, पर मुझे सबसे ज्यादा दुःख इस बात का होता है कि साहित्य, कविता और पत्रकारिता के क्षेत्र में आने वाले लोग इस जीवित नामवर सिंह नाम के जीवित कालखंड से कोई भी लाभ उठा नहीं पा रहे। होना तो यह चाहिए कि हफ्ते, 15 दिन या महीने में एक दिन नामवर सिंह के साथ वे सारे लोग बैठें, जिन्हें साहित्य, लेखन, कविता और पत्रकारिता में रुचि है। वे नामवर सिंह से जानें कि चीजें कैसे निर्मित होती हैं, घटनाएं कैसे घटती हैं और उन घटनाओं को कैसे प्रभावित किया जा सकता है, पर आज टेलीविजन, ज्ञान के सबसे उथले दौर में घूम रहे लोगों को भ्रमित कर गया है। नामवर सिंह का एक वाक्य लोगों को

जितना ज्ञान दे सकता है, नामवर सिंह के साथ बैठकर उनके अंदर से निकली ऊर्जा को आत्मसात् कर अपने को जितना धन्य बनाया सकता है, वो आज नहीं हो रहा है। पत्रकारिता के इतने बड़े-बड़े संस्थान खुले हुए हैं, लेकिन वे भी नामवर सिंह को अपने बीच लाने का कोई प्रयास नहीं कर पा रहे हैं। नामवर सिंह इतने सहज हैं कि उन्होंने किसी को मना नहीं किया। छोटी गोष्ठी हो या बड़ी, अगर उन्हें आमंत्रण जाता है, तो वे उसमें जरूर पहुंचते हैं, पर मुझे पुनः इस बात की ग्लानि है कि हमारे साथी उन्हें यूं मान बैठे हैं कि नामवर सिंह स्वयं आएंगे और उन्हें अपने ज्ञान से आप्लावित कर देंगे। यह उल्टी गंगा है, गंगा उल्टी नहीं बह सकती। इसलिए नामवर सिंह के पास जाना और ज्ञान के अपार भंडार में से अपने लिए कुछ ले आना, इसे करना आवश्यक है। विश्वविद्यालयों में हिंदी और पत्रकारिता विभाग में नामवर सिंह के, नामवर सिंह से जुड़े और नामवर सिंह को प्रशंसित करने वाले व्यक्तित्वों के साथ बैठकर चर्चाएं होनी चाहिए, जो नहीं हो रही हैं। अभी वक्त है कि नामवर सिंह नाम के महामानव, जो स्वयं अपने आप में इतिहास का एक कालखंड बन चुके हैं, उनसे हम जितना सीख सकें, सीखें। मेरे जैसा व्यक्ति नामवर सिंह से जुड़ी यादों को लिखे, इससे ज्यादा जरूरी है कि नामवर सिंह के रहते हम क्या-क्या नहीं कर रहे हैं और हमें उसे कैसे सुधारना है, इस पर लिखा जाए। हमें कैसे भाषा की, ज्ञान की, हिंदी की कमियों को व्यावहारिक रूप में कसौटी पर कसना और सुधारना है, क्या कमियां रह गई हैं उन्हें कैसे दूर करना है, अगर हम यह लिखें और अपने साथियों को भी इसके लिए प्रेरित करें, तो शायद वो ज्यादा कारगर होगा। मैं अपनी इस छोटी सी कमी और इच्छा दोनों को अपने साथियों के साथ निवेदन के रूप में रख रहा हूं कि अब भी वक्त है। हम नामवर सिंह से सामूहिक रूप से कुछ ज्ञान ले लें, अगर नहीं तो फिर मुट्ठी खाली रह जाएगी।

●

ज्ञानलोचन

अरुण कमल

डॉक्टर साहब ने सीधे मुझसे नहीं कहा। विजयादशमी के दिन डॉ. खगेंद्र ठाकुरजी आए और संदेश दिया। खगेंद्रजी की बात ही आदेश है, वो भी डॉक्टर साहब की इच्छा। वह तो दूना-तिगुना आदेश है। मुझे कुछ संकोच था। अपने पर विश्वास की कमी थी। कभी कोई संपादन नहीं किया। फिर आलोचना की पत्रिका का संपादन। फिर 'आलोचना' पत्रिका। यह भी था कि डॉ. परमानन्द श्रीवास्तवजी वहां रह चुके थे। तय यह हुआ कि मैं केवल सहायता कर सकता हूं। डॉक्टर साहब जैसे-जैसे कहेंगे वैसे-वैसे करूंगा और शुरू से आखिर तक जहां तक बन सका मैंने यही किया भी।

दिल्ली में राजकमल प्रकाशन के कार्यालय में डॉक्टर साहब ने केदारजी और अशोक माहेश्वरी के सामने मुझे यह दायित्व सौंपा। हमने जलेबियां खायीं और समोसे। डॉ. साहब ने उनकी ओर ताकते हुए कहा, 'बाबा कहते थे ना-ना'। बाबा मतलब नागार्जुन।

आठ साल तक मैंने बतौर सहायक दायित्व निभाया, जहां तक बन सका। नाम जाता था संपादक के रूप में। लेकिन हर बार, प्रायः अंक की रूपरेखा डॉक्टर साहब बताते थे और कुछ सुझाव भी देते थे। बाद में यह कम होता गया। बाकी वो कहते थे, 'तुम कर लो' या 'आप देखिए'। डर तब होता था जब वह 'आप' कहके बात करते। हमेशा मेरा पूरा नाम 'अरुण कमल' एक साथ लेते थे। उन्होंने कभी भी कोई 'काली सूची' या 'संस्तुति' नहीं दी। जब मैंने कहा कविताएं बहुत आती हैं तो इतना ही बोले, यह तो होगा ही। लेकिन मुझको लगता है कि वह भीतर से चाहते थे कि एक-दो कवि हों, बाकी लेख तथा मूल्यांकन। जैसे टाइम्स लिटरेरी सप्लिमेंट में होता था। कुछ बड़े लेख। कुछ छोटे। कुछ तीखे मूल्यांकन। और बहस। उनकी इच्छा रही कि पत्रिका में बहस चले, जिससे वातावरण में वैचारिक स्फूर्ति हो और इसी वाद-विवाद-संवाद से साहित्य की संस्कृति का निर्माण हो। इतना ही नहीं, बल्कि यह भी हो कि हर अंक में गहरी और सुचिंतित राजनीतिक बहसें भी हों। हम एक पक्ष चुनें, और लड़ें। हर अच्छी पत्रिका लड़ाकू होती है। पत्रिका को डाइजेस्ट नहीं बनना चाहिए। विरुद्धों का सामंजस्य नहीं, विरुद्धों का संघर्ष। गाय को भी सींग होते हैं।

इसीलिए उनकी दृष्टि में 'मूल्यांकन' का स्तंभ महत्वपूर्ण है जहां एक श्रेष्ठ कृति को आप चुनते हैं और हीन को छांटते हैं। श्रेष्ठता का वरण तथा उसके हित में प्राण दिए बिना आलोचना का दायित्व पूरा नहीं होता। जाहिर है इसमें भी अनेक तर्क-शाखाएं होंगी। लेकिन डॉक्टर साहब से जब भी बात हुई मुझे ऐसा भान हुआ। खेद है कि मैं उस तरह का काम नहीं कर पाया। न तो वैचारिक बहसें हो पायीं न लड़ाइयां। सबसे कमजोर स्तंभ मूल्यांकन का रहा। अब मैं यह तो नहीं कह सकता कि

लोग अपनी किताब पर खुद ही लिखवा कर भेजते थे या जोर लगाते थे। ये बातें गैर-साहित्यिक हैं। सच तो यह है कि कमजोरी मुझमें रही और कुछ हमारे वातावरण में। 'आलोचना' पत्रिका के आरंभिक दौर और उसके बाद तक का समय सर्वाधिक वैचारिक गहमागहमी का रहा। उत्तर-आधुनिकता ने नई बहसों को जन्म दिया, पर वहां पाठ केंद्र में नहीं रहा। इसलिए आलोचना से ज्यादा 'सिद्धांत' जगाया गया। डॉक्टर साहेब सत्ता विरोधी, जन पक्षधर, श्रेष्ठ साहित्य के हिमायती के तौर पर 'आलोचना' को काम करते देखना चाहते थे जो मैं ठीक से नहीं कर सका।

डॉक्टर साहब से मैंने बहुत कुछ सीखा। प्रायः हर अंक की तैयारी के आस-पास किसी न किसी कार्यक्रम के बहाने दिल्ली जाता और डॉक्टर साहब के साथ कम से कम एक शाम रहने का अवसर पा जाता। अक्सर केदारजी भी रहते। डॉक्टर साहब मोटी-मोटी कुछ बातें-पूछकर फिर दूसरी बातें करने लगते। केदारजी के साथ उनकी बातचीत मेरे लिए पाठशाला होती। सीखने का सबसे अच्छा माध्यम है सत्संग। जैसे सब लोग अपनी-अपनी रसोई से सर्वोत्तम व्यंजन लाएं और मिल-बांट खाएं- अनेक सुस्वादु व्यंजन जिसमें कुछ शिष्यों को भी भेंट जाए। मेरे लिए यही बंसलोचन है, यही ज्ञानलोचन।

ऐसी ही एक बैठक में एक लेख का शीर्षक सामने आया जिसमें 'रिनेसां' लिखा था। डॉक्टर साहब ने कहा यह 'रिनेसॉस' होगा क्योंकि यह इतालवी शब्द है, फ्रेंच नहीं, और कामिल बुल्के वाले शब्दकोश में यही दिया है। मुझे भी कहा कि शब्दकोश से जरूर मिला लो। यहीं हमने जाना कि जब किसी वाक्य में कोई शब्द छूट जाने पर एक चिह्न लगाकर उसे ऊपर जोड़ देते हैं तो इस चिह्न को 'कागपद' कहते हैं। यहीं एक बार संदर्भ-संकेत की चर्चा में उन्होंने इस बात पर थोड़ा क्षोभ व्यक्त किया कि मुझमें शोध-बुद्धि का अभाव है। लेकिन कभी भी उन्होंने किसी चयनित लेख में किसी प्रकार का कोई संशोधन नहीं किया। कई बार मेरे जाने-अनजाने ऐसी चीजें भी चली गईं जो न जातीं तो अच्छा होता। लेकिन उन्होंने न तो कभी उलाहना दी, न कोई संकेत किया, न रोष। उनके बारे में जो मैंने साथ रहकर जाना वो यह कि डॉ. नामवर सिंह अत्यंत लोकतांत्रिक हैं जो सबको होना चाहिए। एक अवसर पर किसी के कुछ पूछने पर मेरी स्वायत्तता के बारे में, उन्होंने इतना ही कहा, 'मैं औचित्य का पूरा ध्यान रखता हूं।'

और मैंने भी यही कोशिश की। आप प्रधान संपादक थे और मैं संपादक। मैंने भी हमेशा इसका ध्यान रखा और जहां तक बन सका पालन भी किया। उन्होंने कभी भी मेरा संपादकीय नहीं देखा, मेरे आग्रह के बावजूद।

जब बीस अंक पूरे हो गए तब मैंने उनसे निवेदन किया कि मैं मुक्त हो जाऊं। कोई कह सकता है कि इसमें निवेदन करने की क्या बात थी, छोड़ देते। लेकिन यह कोई नौकरी तो थी नहीं। देवता को पीठ दिखाने का रिवाज नहीं है। मैंने कई बार केदारजी से भी बाद में कहा लेकिन सब कुछ चलता रहा। कुल इकतीस अंक निकले जिनमें कई बेहद महत्वपूर्ण लेख आदि छपे। कभी-कभी किसी समाज में ऐसा समय भी आता है जब उसकी देह और आत्मा पर ठेले पड़ जाते हैं, चमड़ा रूखड़ा और संवेदनहीन हो जाता है। मैंने देखा कि वैचारिक रूप से हमारा समाज अपनी संवेदन-शक्ति तत्परता और लड़ाकूपन खो रहा है। बड़ी बहसें छोटे स्वार्थों में बदल रही हैं। मैं उन सबका आभारी हूं, जिन्होंने डॉक्टर साहब के कारण और कभी-कभी मेरे कारण अपना बहुमूल्य

सहयोग दिया। पत्रिका तो डॉक्टर साहब की थी। मैं तो संभाल रहा था। इन आठ वर्षों में मैंने उनकी संगत से बहुत कुछ सीखा और यह भी सीखा कि कविता-क्षेत्र का विस्तार विचार-क्षेत्र से भी जुड़ा हुआ है। इधर का जल उधर भीतर-भीतर आता जाता रहता है।

साहब तुम न बिसारिये
लाख लोग मिल जाहिं।
हम अस तुम्हरे बहुत हैं,
तुम सम हमरे नाहिं॥

●

नामवरजी पर कुछ टीपें : पुरानी डायरी से

लीलाधर मंडलोई

नामवरजी पर कुछ बिखरी टूटी बातें हैं। इन बातों में कोई तारतम्य, कोई लय होगी कहना मुश्किल है जबकि नामवरजी के लिखे और बोले हुए, ये दोनों अंतर्भुक्त होते हैं।

कबीर पर उनकी टिप्पणियां पढ़ी थीं और कबीर के दुख और सच को समझने का रास्ता मिला था। पहले 'ठगिनी क्यों नैना झमकावै, ठगिनी' के रास्ते से। एक रास्ता माया, मुक्ति और मृत्यु को समझकर जीतने का। इसके लिए नामवरजी प्रेमचन्द की कहानी 'कफन' से घीसू और माधव के उस नृत्य को याद करते हैं जिसमें पत्नी की मृत्यु पर दोनों पीकर नाचते हैं। कबीर के दुःख से उनका परिचय इसी कहानी से होता है और वे कबीर की पंक्ति 'नाचु रे मेरे मन मत्त होई' से गुजरते हुए सती के उस शव तक पहुंचते हैं जिसे बांहों में उठाए शिव उन्मत्त नृत्य कर रहे हैं। माया को वे कलवारिन के रूप में देखते हैं जो मद पिला के बौरा देती है। उसी को लांघकर कबीर मुक्ति का उत्सव देखते हैं। विलक्षण पाठ है, मात्र 20 पंक्तियों में। मुझे इन पंक्तियों में शिव से कबीर और कबीर से प्रेमचन्द और प्रेमचन्द से नामवरजी को समझने का मार्ग मिल जाता है। नामवरजी को इस तरह समझने का आनंद पाठक को मिलता है लेकिन हमारे आलोचकों को हर समय कुछ और दिखता है। 'सेंस ऑफ एप्रिशियेसन' का अकाल उत्सव रोजमर्रा की वस्तु है आजकल।

*** *** *** *** ***

एक दूसरा प्रसंग सिर्फ सोलह पंक्तियों का है 'कबीर का सच'। *साखी है-*

'अनल अकासां, मद्धि निरंतर वास

वसुधा ब्यौम बिगता रहै, बिन ठाहर बिस्वास'

नामवरजी बताते हैं संत कवियों के लिखे में अनेक पक्षियों का जिक्र है मसलन चातक, चकोर, भोर और गरुड़। तुलसीदास 'चातक' को स्मरण करते हैं किंतु कबीर अनल को केंद्रीय बनाते हैं- एक अलौकिक पक्षी जो धरती और व्योम से विगत। आकाश उसका घर लेकिन उसका मध्य में निरंतर व्यास। नामवरजी बताते हैं कि कबीर ही वो 'अनल' अलौकिक पक्षी हैं। इस पक्षी का जिक्र किसी और साहित्य में नहीं मिलता। कबीर को जानने-खोजने की प्रक्रिया इन सोलह पंक्तियों से बनती है। कबीर के 'अनल' होने तक इस तरह नामवरजी ले जाते हैं और गुपचुप वहां छोड़कर- खुद खोजने की राह पर चल देते हैं। एक पाठक अपनी तरह से कबीर को जानने के रास्ते पर चल पड़ता है और उसे कुछ विरल अनुभव होता है, भले ही 'अनयन' तथा 'अश्रवण'। भीतर अनुभूति

से आगे ज्ञान का अलक्षित मार्ग अपनी तरह से प्रशस्त होता है।

नामवरजी लेखक की आस्था व मोहभंग का जिक्र करते हुए 'विवेक' पर बात करते हैं। वे बताते हैं अपने विवेक पर पहले भरोसा करो कि अंततोगत्वा प्रत्येक व्यक्ति स्वयं उत्तरदायी होता है। आज भरोसा संगठन पर अधिक है और विवेक की जगह क्षरणावस्था में है। वे कहते हैं जो चीज बुरी है, उसे बुरा कहिए। बुरी चीज के धोखे में रहना विवेक को त्यागना है। कोई चीज सिर्फ इसलिए आज अच्छी नहीं कही जा सकती कि वह कल अच्छी थी। अतीत, वर्तमान और भविष्य की चीजों को विवेक की कसौटी पर कसकर रखना चाहिए। मुमकिन है आपका विवेक संदेह के घेरे में आ जाए लेकिन सिर्फ इसी कारण 'अवसरवाद' के चक्र में घिर जाना, उचित नहीं।

नामवरजी विवेक निर्भरता की बात करते हुए, विवेक पर भी संदेह करते हैं। वे पार्टी में आस्था रखने वालों को चेताते हैं कि अपनी आस्था को विवेक न समझें। दोनों के बीच की बारीक रेखा को पहचानें। बाजदफा विवेक कितना अपना है कितना पराया, इसे समझे बिना अपना विवेक अदृश्य बना रहता है।

लेखक की आस्था, विवेक और व्यक्ति स्वातंत्र्य भी किसी धर्म, संस्था या पार्टी के साहित्य से बनता है और इसे झुठलाया नहीं जा सकता। आस्था एक प्रश्न है, विवेक उस प्रश्न के उत्तर पाने की प्रविधि और इन सबका उत्तर इतिहास में है। अनेक कुपाठों के बीच एक अपना पाठ जरूरी है जिसमें आप निर्मम होकर विचार करें और तभी आपको अर्जुन की तरह एक रास्ता निर्णय लेने का मिलेगा। संदेह करते हुए संदेह का खंडन होगा भले ही आस्था कुछ और कहे। अनास्था का घेरा हो। उस पर विजय प्राप्त करने का कठोर निर्णय लेना ही अकेला मार्ग है। वे बताते हैं कि लेखक की कलम ही उसका अस्त्र है जैसे अर्जुन का धनुष। अब यह आप पर निर्भर करता है कि इसे आप संदेहों से परे जाकर उठाते हैं अथवा नहीं।

*** *** *** *** ***

कविता में होने के कारणों से कविता और उसकी आलोचना पढ़ना, मेरा मुख्य काम होता गया है। नयी कविता को समझने के प्रयास शुरू में कठिन लगते थे। एम.ए. की पढ़ाई के दिनों में, मैं रायपुर में था और मुक्तिबोध की कविता मेरी समझ में अंट न पाती थी। हालांकि मेरे गुरु विभु कुमार ने आधुनिक दृष्टि के रास्ते खोले लेकिन मेरी दृष्टि उतनी आधुनिक न हो सकी थी सो मुक्तिबोध बहुत दूर लगे। जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि, संवेदनात्मक ज्ञान, ज्ञानात्मक संवेदन, कविता के तीन क्षण तो मुझे भारी-भरकम ही लगते थे। इन्हें समझने की जिज्ञासा में जो हाथ लगता अबेर कर 23 जनता फ्लैट में ले आता और साफ-साफ कहूं तो सर मारता।

कुछ साल बीत गए उधेड़-बुन के। फिर 'कविता के नये प्रतिमान' हाथ लगी। उसमें कविता के नये उपकरणों की गहरी शिनाख्त थी। जड़ों से कविता को पहचानने की दिशा थी। नामवरजी नये प्रतिमानों की ओर ध्यान खींचते हुए पाठक को मूल्य, सत्य और उसके स्वअर्जन की ओर ले जाते हैं। वे समकालीन कविता की नाभि को स्पर्श करते हुए मांस-मज्जा की जीवंत धड़क तक कविता को पकड़ने की हिमायत करते हैं ताकि आप आज के संदर्भ में आज की कविता को देखना शुरू करें और भविष्य में उसके संभावित संकेतों को खुलता देख सकें। यह खुलना वे शब्दों, बिंबों,

कथ्य और उसकी सचाई में खोजते हैं। आरंभिक अध्यायों में पहले वे 'कविता क्या है' से पाठक को अपने साथ लेकर, कविता को समझने की आधारभूमि निर्मित करते हैं। यह निर्मिति वे न केवल हिंदी अपितु विश्व की कविता और कवियों और आलोचकों के काम को आज के संदर्भ में रखते हुए उसे अपनी तईं पहले समझते हैं और समकालीन कविता से पाठक को जोड़ देते हैं।

इस तरह जुड़ने से परिवेश और उसके गहन आशयों को समझने और कथ्य की वास्तविक जमीन तक एक पहुंच बनती है। इसी जगह से झांकते मुक्तिबोध दिखेंगे अपनी मौलिक निजता के साथ उस 'अँधेरे में' जो मेरे लिए अभेद बना हुआ था। मुझे वो दिखे और मैं उन तक पहुंचने की जुगत में और पढ़ता रहा। मैं उन इलाकों में भी गया जो मुक्तिबोध की काव्य परिधि में बार-बार उभरते हैं। अर्थात् वही राजनांदगांव उनका घर, चक्करदार सीढ़ियां, तालाब वह भुतहा लोक। मैं जितना कविता में खोज रहा था उतना ही शहर के उस इलाके में... अब भी देर से ही सही जाता हूं... मैं उनकी कविता की परिधि के बाहर बढ़ते अँधेरे में मुक्तिबोध की बीड़ी से उभरी रोशनी में उनके चिंतनशील चेहरे को पढ़ने की कोशिश करता हूं।... मानो उनकी कविता के नए प्रतिमानों को पढ़ता हूं।

मुक्तिबोध की 'अँधेरे में' का जितना पाठ और अध्ययन विमर्श और व्याख्या हुई या अब भी हो रही है, उस तक ले जाने और पाठकों, समीक्षक और आलोचकों को उसका ऐतिहासिक महत्त्व बताने का श्रेय नामवरजी को अधिक जाता है। वे कविता की संरचना में निहित बाहरी और आंतरिक तनाव, हताशा, निर्वासन और राजनीति के भयावह चरित्र के बीच एक आदमी के संघर्ष को पढ़ने के लिए पाठकों को मानसिक रूप से तैयार करते हैं। जो अंततः सृजनात्मक मुठभेड़ में तब्दील होकर कविता के सच तक ले जाती है।

*** *** *** *** ***

नामवरजी ने आलोचना में बहस का वातावरण निर्माण किया। परिदृश्य को जीवंत बनाए रखने को नियोजित कला से परहेज नहीं किया। जरूरी हुआ तो आक्रमण किया...। जरूरी न लगा तो चुप्पी साध ली। बहस लेकिन जो छेड़ी वो अपना काम करती रही। विवादप्रियता उनका गुण से अधिक हथियार बना। इस विवादप्रियता का आनंद अब दूसरे आलोचक ले रहे हैं लेकिन न अब बहस का वो स्तर है और न विवादप्रियता के वो रंग... माहौल इतना उत्तेजनाहीन पहले यानी नामवर सिंह के समय में तो न था...

*** *** *** *** ***

मैंने एक साक्षात्कार में पढ़ा था नामवरजी का यह कथन 'कहानी का विश्वास करो, कहानीकार का नहीं।' दिलचस्प यह है कि चर्चित कहानीकारों का ऐसा रौब गालिब हुआ है कि समीक्षक, आलोचक उनकी कहानियों को ही तवज्जो देते हैं भले ही कहानी में कुछ न हो। और यह बात अभी तक बनी हुई है कि कहानीकारों के आस-पास अंक निकल रहे हैं, कहानीकार पर नहीं। अच्छी कहानियां हाशिए पर हैं और हाशिए की अच्छी कहानियां भी। एक नियोजित माफिया अच्छी कहानियों को दृश्य से बाहर खदेड़ रहा है जिसमें खुद कहानीकार शामिल हैं... ऐसा माना जा रहा है।

*** *** *** *** ***

नामवरजी असंदिग्ध आलोचक न हों लेकिन रचना के प्रति उनकी सहृदयता शुरुआती दौर में भरपूर मिलती है वहीं उनकी आलोचना शीर्ष पर होती है। बाद में संवाद से अधिक वाद-विवाद होते हैं। संवाद का लोकतंत्र परिपक्व कम होता है। विवाद का लोकतंत्र अपना विस्तार करने लगता है। तमाम असहमियों, आलोचनाओं के बावजूद दबे-छुपे और कंजूसी की हद तक, हिंदी समाज यह जरूर कहता है कोई दूसरा नामवर है? इतना तक कि दूसरे नामवर होने की कोई संभावना है? नामवरजी का हासिल तमाम चूकों के बाद यही है कि अभी कोई नामवर सिंह होता नहीं दिखता। नामवर सिंह से मुराद आलोचक नामवर सिंह से है उस व्यक्ति नामवर सिंह से नहीं जो वक्त-जरूरत पर फिसल जाते हैं।

●

अपने नामवरजी : 'ऊपर हिम था, नीचे जल था'

अनामिका

मैंने नामवरजी को पहली बार ग्वालियर के एक बड़े अधिवेशन में सुना था। तब मैं स्कूल में थी। मेरे माता-पिता (प्रो. आशा किशोर-प्रो. श्यामनंदन किशोर) ऐसे स्नेही जीव थे कि सब्जी खरीदने से लेकर साहित्यिक गोष्ठियों तक हम जहां जाते, साथ ही जाते। फिर अचानक पचास की अल्पायु में पिता देहातीत हो गए, रह गईं उनकी स्मृतियां और वे सब लोग मेरी कल्पना का स्थाई नागरिक हो गए जो उनको प्रिय थे, इनमें ही एक थे नामवरजी!

नामवरजी के तुरत पहले पिताजी का सत्र था और मेरा मन था कि उनके सत्र को बाद हम यहां से भाग निकलें- ग्वालियर का किला देख आएं जिसके किस्से मुझे सहेलियों में सुनाने थे पर पिताजी ने कहा- 'थोड़ा ठहरो, इनको भी सुन लें- तब चलते हैं। देखना- जब ये बोलेंगे, तुम भी ऊबोगी नहीं! ध्यान से देखना- ये सिसेरो की वक्तृत्वकला का नमूना है। कहीं एक वाक्य नहीं टूटेगा, कोई भारी-भरकम शब्द नहीं आएगा पूरे भाषण में, सरसता बनी रहेगी। वाद-विवाद, खंडन-मंडन का मजा भी आएगा।'

पिताजी की बात कभी गलत नहीं निकलती थी, उस दिन भी नहीं निकली! पर शाम को नामवरजी से मिलकर, उनकी बातें सुनकर ऐसा लगा कि किले सिर्फ ईंट-पत्थर के नहीं होते, हाड़-मांस का भी कोई भव्य किला हो सकता है। शुरू-शुरू में आदमी नाम का किला बंद-बंद सा हो भी तो बाद में धीरे-धीरे जब वह ऐतिहासिक इमारत बन जाता है, उसके दरवाजे सबके लिए खुलते जाते हैं।

कुछ वर्ष और बीते। बोर्ड-परीक्षा के बाद की घरेलू पंचायत में यह तय हुआ कि अंग्रेजी (ऑनर्स) में ही दाखिला लूंगी। दोपहर में पिताजी ने अपना एक सपना साझा किया, बोले 'बड़ी होकर भारतीय साहित्य और साहित्य-चिंतकों के बारे में अंग्रेजी में अच्छे आलेख लिखना और विश्व साहित्य और साहित्य-चिंतकों के बारे में हिंदी में। लगातार पुल बनाए चलना। इसके बाद कुछ वर्षों तक तुमको विदेशी साहित्य और साहित्य-चिंतन ही पढ़ना होगा, आगे पढ़ाओगी भी वही। इसके पहले कि तुम उधर जाओ, पहले भारतीय साहित्य और साहित्य-चिंतन के आधारग्रंथ पढ़ लो।'

उसके बाद जो किताबें अपने विशाल पुस्तकालय से निकालकर उन्होंने मुझको पढ़ने को दीं, उनमें नामवरजी की भी दो पुस्तकें थीं- 'दूसरी परंपरा की खोज' और 'कविता के नए प्रतिमान'। कहा कि 'इनकी भाषा देखो : एक-एक वाक्य एक तीर की तरह छूटता है। दूसरी बात सीखने-लायक है- पौर्वात्य- पाश्चात्य- दोनों स्थापनाओं की ओर खिड़कियां खुली रखने की क्षमता और बिना किसी

जार्गन या बीज- शब्द के पाठक को पाठ के नाभिकीय तल तक उतार देने लायक सहभोक्ता दृष्टि।'

कविता लिखने लगी थी, इसलिए पहले मैंने 'कविता के नए प्रतिमान' ही उठाया यह पुस्तक पढ़कर उस समय जो मेरे मन में आस्वाद जगा, वह किसी बड़े अखाड़े के धुरंधर पहलवानों की मजेदार उठा-पटक देखकर मिलने वाला अभूतपूर्व आस्वाद था। इतना आभास हो गया कि हिंदी-परिवृत्त में कविता को लेकर क्या मुख्य बहसें हैं, कौन-कौन से विलक्षण पाठ हैं, उन पाठों में ऐसा क्या है जो रस-ध्वनि-वक्रता आदि के पारंपरिक निकषों को शुद्धतावादी प्रस्थापनाओं से आगे ले जाता है- चित्त की अधिक संग्रथित स्थिति की ओर जहां रसों, ध्वनियों और वक्रताओं का संवादी-विवादी प्रतिवादी मेल घटित हो।

ऐसा नहीं है कि भारतीय काव्यशास्त्र 'विरुद्धों के सामंजस्य' की स्थिति, रसों और ध्वनियों के मॉकटेल (मिश्राबु) की स्थिति चर्चा से बेखबर है। ऐसा भी नहीं कि यहां रसभंग या ध्वनि-विपर्यय हर स्थिति में एक दोष के रूप में ही गिना जाता है पर नई परिस्थिति में प्रतिमानों का नया भाष्य तो होना ही चाहिए।

बीसवीं सदी के आरंभ में विश्वयुद्ध, शीतयुद्ध, औपनिवेशिक मकड़जाल का अंत, संयुक्त राष्ट्रसंघ का गठन, अंतरराष्ट्रीय मीडिया का विकास, सोवियत संघ से छपकर आने वाले अद्‌भुत पीपीएच प्रकाशन, पेंग्विन से छपकर आने वाली विश्व-कविता के द्विभाषी संस्करण आदि नए संदर्भ तो गढ़ ही रहे थे। ये कुछ ऐसी बड़ी सांस्कृतिक घटनाएं विश्वतल पर घटी थीं कि इनके आलोक में कविता-आख्यान और नाटक-संबंधी देशी या एशियाई अवधारणाओं का पुनः पाठ होना ही था। भारत में ही नहीं, एशिया के हर महत्वपूर्ण भूखंड में नामवर-सदृश विद्वान अकादमिकों के मन में प्राचीन अवधारणाओं के नए सामाजिक संदर्भन की आकांक्षा बलवती हो, यही स्वाभाविक था। उस युग में प्रायोजित बृहत्तर सभ्यता संवाद परियोजना का एक अहम हिस्सा था पुनरावलोकन और पुनर्रोपण : परंपरा का नई जमीन पर पुनर्रोपण और विश्लेषण।

1968 में 'कविता के नए प्रतिमान' का पहला संस्करण आया था। आज भी उसकी फटी-चिटी-सी पीली प्रति साहित्य अकादेमी पुस्तकालय में सुरक्षित है। बाद में संस्करण उपलब्ध नहीं है यहां पर यह संस्करण उपलब्ध है- जीर्णावस्था में ही सही, पर उपलब्ध है। शायद उस जीर्ण प्रति की स्मृति में यह भी दर्ज हो कि कैसी अफरा-तफरी में यह पुस्तक लिखी गई थी। अब क्यों लिखी गई थी, कैसे लिखी गई थी- यह नामवरजी से ही सुनना अच्छा लगेगा! अपनी मीठी हंसी के साथ (मुंह ऊंचा कर पान का रस मुंह में संभालते हुए) जीवन की विडंबनाओं का अंतरंग विवरण जब नामवरजी देते हैं, उस समय वे कोई और ही नामवर होते हैं- गीता के पिता नामवर, छात्रों के सखा नामवर, हजारीप्रसाद द्विवेदी- जैसे सिद्धयोगी के विनत शिष्य नामवर, काशी के भाई नामवर और वह नन्हा बच्चा नामवर जिसकी- जेब में हनुमानचालीसा खरीदने के भी पैसे नहीं होते थे। श्मशान के रास्ते स्कूले जाते हुए सहपाठी 'हनुमानचालीसा' पढ़ता और बताया भी जाता कि हर शब्द में एक जादू छुपा है, तो नन्हें नामवर के मन में जगता कि काश, एक प्रति उनके पास भी होती; प्रति नहीं है- इसकी क्षतिपूर्ति उन्होंने ऐसे की कि ध्यान से सहपाठी का चालीसा-पाठ सुना और दो- एक आवृत्ति में पूरा पाठ हृदयंगम।

छठे दशक से नवें दशक तक इनकी पाठ-सजग मेधा और अनन्य स्मरण-शक्ति के भास्वर

उदाहरण देश के हर विश्वविद्यालय के सेमिनार- कक्षों में गूंजते ही चले गए। स्तब्ध बैठकर इनके भाषण सोखते अध्येताओं के मन-प्राणों में इनकी आधार स्थापनाएं ऐसी बिखरीं जैसे पुष्ट बीज अभी-अभी तामी गई धरती पर! नामवर-चर्चा की भी खेती हर जगह आज तक प्रबुद्धों में ऐसे लहलहाती है जैसे बाबा भारती की खेती जब वे अपने 'सुल्तान' पर सवार इधर-से-उधर तक उसका जायजा लेते फिरते थे!

कुछ लोग अंड-बंड भी बोलते हैं! कहते हैं कि ये तो सिद्ध वकील हैं- किसी पक्ष से बोल जाएंगे। शेली ने लेखकों को 'unacknowleged legislators of the world' कहा था, तो क्या साहित्य चिंतक लाइसेंसधारी विधायक होने चाहिए कि उनका पक्ष या पार्टी एक हो! सत्य बहुमुखी तो होता ही है, इसीलिए उसे हर तरफ से परखा जा सकता है। और फिर समग्रता में एक बात सामने रखी जा सकती है। बीस-पच्चीस मिनट के व्याख्यानों में बहुधा सच्चाई का हर पक्ष पकड़ा नहीं जा सकता, इसीलिए ऐसा भ्रम होता है कि 'कहने में बात बदल-बदल गई।' फिर कई बार दृष्टि बदल भी जाती है। मंतव्य बदल जाते हैं, एलियट- जैसे सिद्ध आलोचक इसे स्वीकार करते हुए ठिठकते नहीं- ठीक वैसे ही जैसे नामवरजी विमर्शात्मक लेखन के बारे में दृष्टिकोण का परिमार्जन स्वीकारते हुए!

आज जब 'कविता के नए प्रतिमान' की यह जीर्ण प्रति हाथ में उठाई है, ऐसा लग रहा है कि किसी वृद्ध जटायु के घायल पंख का एक-एक रोआं हवा में उड़ता देख रही हूं। नए सिरे से इसे पलटने पर यह मुझे दंगल का अखाड़ा नहीं जान पड़ता, एक हवा-महल-सा जान पड़ता है- जहां चारों तरफ से हवा आ रही हो : पूरब और पश्चिम का 'क्रॉस वेंटिलेशन' वैसे ही सुखद ढंग से घटित हो रहा हो जैसे कि गांधी-नेहरू और टैगोर ने संभावित 'राष्ट्र' में चाहा था। (याद करें गांधी का प्रसिद्ध रूपकः राष्ट्र एक खुली खिड़कियों वाला घर है जहां हम पांव अपनी धरती पर ही रोपकर खड़े हों!)

सभ्यता-संवाद की यह पहल संस्कृत-आचार्यों के काव्य-निकषों के बर-अक्स पश्चिमी आलोचकों के नए काव्य-निकषों का लेखा-जोखा रखती है और जो तकनीक देशी आधुनिकता के सर्जनात्मक लेखकों ने अपनाई थी, वही तकनीक आलोचना पर घटित करते हुए नामवरजी उदाहरण तो हिंदी कविता के प्रमाण-पाठों का लेते हैं, यानी जमीन से अपने पांव नहीं उखाड़ते पर युग-बोध के अनुसार कुछ प्रतिमानों के शुद्धतावादी पक्षों पर युवासुलभ आक्रोश व्यक्त करना भी नहीं भूलते। चूंकि तर्कपद्धति इनकी विकसित है और बात-बात में प्रतिपक्षियों की खाट खड़ी कर देने का प्रत्युत्पन्नमतित्व भी उन्होंने साध रखा है, एक अलग तरह का आस्वाद इनकी आलोचना जगाती है। श्रीलाल शुक्ल, शरद जोशी और मनोहरश्याम जोशी की किस्सागोई वाली व्यंजनात्मक भाषा का आस्वाद! आई.ए. रिचर्ड्स, विलियम एम्पसन, एफ.आर. लीविस, एलेन टेट, एड्मन विलसन, ब्लैकमूर हों या फूको, देरिदा, टेरी इगल्टन- किसी की भाषा में यह मजेदार कहानीपन नहीं मिलेगा जो हिंदी पट्टी के हजारी प्रसाद द्विवेदी, नामवर सिंह, मैनेजर पाण्डेय, विश्वनाथ त्रिपाठी, नित्यानंद तिवारी आदि में जो गांव के स्कूलों से पढ़कर आए और दुनिया के बड़े विश्वविद्यालयों के लिए भी आख्यान बन गए।

पश्चिमी आलोचकों की भाषा में कभी-कभी काव्यत्व के दर्शन तो होते हैं- खासकर वाल्टर बेंजामिन, अडोर्नो आदि की भाषा में, पर यह ठेठ किस्सागोई, और आलोचना को भी बाख्तिनी 'खेल का मैदान' बना देने की मजेदार वृत्ति हिंदी आलोचकों ने ही संभव की- खासकर नामवर सिंहजी ने,

और जो बात उन्होंने रघुवीर सहाय की कविता पर टिप्पणी करते हुए कही, स्वयं उनके भाषिक स्थापत्य पर भी लागू की जा सकती है-

'यह क्रीड़ा-भाव कला-मात्र की बुनियाद है। भरत मुनि ने इसी अर्थ में नाट्य को 'क्रीडनीयक' कहा है! अंग्रेजी के आधुनिक कवि ऑडेन जब कविता को 'ज्ञान का खेल' और 'गहरे अर्थ में तुच्छ' (फ्रिवलस) कहते हैं तो इसी बुनियादी क्रीड़ा भाव पर बल देते हैं.... शाब्दिक मितव्ययिता ही व्यंग्य की जान कही जाती है! इस प्रकार यह क्रीड़ा-कौतुक अर्थ-चमत्कार के साथ ही शिल्प-सिद्धि का भी सूचक है!' (विसंगति और विडंबना)

'उर्वशी', 'कामायनी' श्रीकांत वर्मा और राजकमल चौधरी समेत सप्तक के सभी प्रमुख कवियों के साक्ष्य से मुख्य तर्क नामवरजी यह रखते हैं कि भावों की शुद्धता एक रूमानी अवधारणा है। दूसरे शब्दों में कहूं तो मनुष्य के मन की संरचना इतनी क्लिष्ट है- खासकर विश्वयुद्धोत्तर, उत्तर-औद्योगिक और उत्तर-औपनिवेशिक ऊहापोह के इस दौर में कि प्रेम की गहनतम दशा में भी वह सिर्फ प्रेम के बारे में नहीं सोच रहा होता, उसी वक्त उसे जेब में बचे अंतिम नोट की चिंता सता सकती है या मोर्चे पर छिड़े युद्ध की, नौकरी के आवेदन की या 'घर में क्या पकेगा' इसकी। श्रेष्ठ कविता वो ही है जो इन सारी समानांतरताओं का ताना-बाना पूरी 'जटिलता' और खासे 'तनाव' में दर्ज कर सके- आत्मगत और परिवेशगत विडंबनाओं की प्राामाणिक और किंचित बंकिम (नाटकीय) प्रस्तुति बनकर! मेटाफिजिकल कविता की खासियत एलियट ने भी यही बताई थी 'फेल्ट थॉट'। जहां हृदय-बुद्धि सामंजस्य घटित नहीं होता- रूपकात्मक संकेत या किसी और तरह के 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव में' वहां कविता कमजोर पड़ जाती है- यही कविता का नया प्रतिमान हैः

'जिस शुद्ध, सरल, संकुचित अनुभूति के द्वारा (डॉ. नगेंद्र) कविता की जटिलता समझना-समझाना चाहते हैं, उससे प्रेम के अपवर्ती गीतों की व्याख्या तो शायद हो जाए, किसी श्रेष्ठ कविता की व्याख्या असंभव है।' (अनुभूति की जटिलता और तनाव, पृ.-185)

यह मजे-मजे की चुटकी सामासिक संस्कृति वाले एक अंतरंग समाज में ही संभव है जो आज तक हिंदी पट्टी का है। इसका आधार प्रमेय है राग-द्वेष- पीड़ित एक मग्न किस्म की पारिवारिकता जो 'सबकी खबर ले, सबको खबर दे।' झूठी-सच्ची लंतरानियां फैलाने का मर्ज हिंदी पट्टी का एक शुभेतर पक्ष है, पर इससे हिंदी वालों की अंतरंगता में कोई बाधा नहीं आती, न ही उनका मूल्यांकन प्रभावित होता है- खासकर नामवरजी के यहां जो हर बात पाठ-साक्ष्य से कहते हैं और गहरी इतिहास-दृष्टि के साथ!

नामवरजी के साथ एक खास बात यह रही कि हजारीप्रसादजी के सान्निध्य में इन्होंने परंपरा की बैटरी रीचार्ज्ड रखने की ऊर्जा पाई। फिर कुछ दिनों की अस्थाई नौकरी-शृंखला सिर आन पड़ी। तब फुटपाथों, गलियों और छोटे शहरों के बड़े पुस्तकालयों, वाचनालयों और किताबघरों ने इनकी मेधावी चुप्पियों में गहरी अनुगूंजें भरीं। राजकमल और जोधपुर वाला समय व्यक्ति-प्रबंधन और साहित्य की राजनीति में इनको निष्णात कर गया। उन दिनों ऐसी फिजां थी कि पूरब-पश्चिम- दोनों जगह दुनिया बदलने का सपना परवान चढ़ रहा था। हालांकि साहित्य का पूरा प्रशिक्षण इस बृहत्तर उद्देश्य को निवेदित है कि जजमेंटल होने से, श्रेष्ठता-ग्रंथि से मनुष्य कैसे बचे, पर कभी-कभी पक्षधरता जरूरी भी हो जाती है- खासकर जब आपात्काल हो, और शीतयुद्ध सा छिड़ा हो विचारधाराओं

में। वैसे भी, वंचितजनों का पक्ष ही साहित्य का अंतिम पक्ष होता है। समाज में रहते हुए कोई राजनीति से बिल्कुल अछूता रह भी नहीं सकता, फिर वह तो छठे और सातवें दशक का समय था जब साहित्यिक आलोचना दुनिया के हर विश्वविद्यालय में कायाकल्प से गुजर रही थी, जिधर देखो अकादमिक आलोचक ही दुनिया का बौद्धिक नेतृत्व संभाल रहे थे।

सातवें दशक के अंत में मेरे इकलौते बड़े भाई अमिताभ राजन, जब जे.एन.यू. आए, हमारी हर छुट्टी शिक्षक-वार्ता में बीतती : एस.गोपाल, रोमिला थापर, विपिन चंद्र तो उनके अपने गुरु थे, इसके अलावा नामवर सिंहजी के भी दस-बीस किस्से वे हर बार मेरे लिए झोली में भरकर ले आते- ढेर-सी किताबों के साथ। कुछ भैया की दिलचस्प कहन-शैली का कमाल, कुछ नामवरजी की अपनी बांकी तेजस्विता का- आज तक वे किस्से मेरे मन-प्राणों में गूंजते हैं। किस्सों को जानें दे, पर उनमें सबसे प्रेरक बात यह थी कि उस दौर में नित्य प्रति नामवरजी जे.एन.यू. लाइब्रेरी आते थे, और दुनिया के जितने चर्चित जर्नल थे, उनका दत्तचित्त पारायण करते हुए उनको देखा जाता था!

मॉडर्निज्म एक तरह का भूकंप था जिसने साहित्य-कला का पुराना स्थापत्य ढाहकर रख दिया था- कविता से छंद, चित्रकला से प्रोट्रेट और लैंडस्केप, संगीत से नियमित लय, वास्तुकला से गुंबद और मीनारें, कथा साहित्य से सर्वद्रष्टा एक रेखीय कथानक, नाटक से पांच अंकों वाले भव्य दृश्यबंध (स्पेक्टेकल) झड़-से गए थे। माडर्निज्म ने एक दुरूह सौंदर्यशास्त्र गढ़ा था, दुनिया के सभी बौद्धिकों को चुनौती दी थी।

बौद्धिकों को जो चुनौती दे, वही उनका प्रिय भी होता है। तभी से 'मॉडर्निज्म' अकादमिक जगत का मुंहलगा हो गया। और सिर्फ जे.एन.यू. आदि में नहीं, दुनिया भर में 'मॉर्डर्निस्ट' और 'प्रोग्रेसिव मॉडर्निस्ट कवि-लेखक पाठ्यक्रम का बड़ा हिस्सा हो गए। कोई तो बात होगी कि उस दौर के सभी प्रमुख आलोचक प्रोफेसर ही थे या विश्वविद्यालय के आस-पास पनपने वाले 'लिट्लमैग्जीन' आंदोलन का हिस्सा। 'लघुपत्रिकाएं' विश्वविद्यालय- प्रेस की फंडिंग से छपने वाले बड़े जर्नलों से अपदस्थ तो हुईं, पर अपनी आलोचना- पद्धति अकादमिक आलोचना के कंठ में उतारकर।

नामवरजी का मनःसंवाद 'स्क्रूटनी', 'सदर्न रिव्यू', 'फ्यूजिटिव', 'केनयन रिव्यू', 'सीवानी रिव्यू','क्राइटेरियन' 'टीएलएस', 'नाइन्टीन्थ सेंचुरी नावेल' आदि के बहाने विश्व भर के अकादमिक बौद्धिकों से बना रहा। उनकी बेटी गीता (समीक्षा) बताती है कि अभी भी उनकी आल्मारियां उन छोटे लाइब्रेरी-कार्डों से भरी हैं जिन पर उन्होंने सधे अक्षरों से नोट लिए थे। मुझे विश्वास है, कल वे हिंदी साहित्य की अतुल्य निधि होंगे। अकादमिक आलोचना की इस मूल्यांकनप्रवर, पाठसजग आलोचना पद्धति के पहले आलोचना के नाम पर जो गतिविधियां होती थीं, उनकी मजेदार सूची कुछ ऐसी बनेगी : 'केंद्रीय पंक्ति कंठस्थ करो' (पर्पल पैचेज स्कूल), 'उनका अनुवाद करो, 'ऐतिहासिक तर्कों में उनका विनियोग करो', 'उनकी शैली में तुम भी एक कविता लिखो (इमिटेट)', 'कक्षा में और टेबल-टॉक में सस्वर पाठ करो केंद्रीय पंक्तियों का, और 'जेंटिलमैन' कहलाओ', 'शैली के आधार पर पता लगाओ कि लेखक कौन हो सकता है, (लेखक को ढूंढ़ निकालो)', 'उसकी जीवनी पढ़ो', 'घरेलू-राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों के आलोक में उसकी मनोवैज्ञानिक गुत्थियां टटोलो', 'बोलियों के शब्द ढूंढ़ो', 'अलग-अलग संस्करणों का तुलनात्मक अध्ययन करो', 'पाठ का सारांश लिख दो' आदि।

यह मजेदार सूची देखकर आपको जॉन डन की यह कविता जरूर याद आ गई होगी जो प्रेयसी से कहती है, 'दैहिक संस्पर्श के बिना, मेरी जान, प्रेम ऐसा ही है जैसे कोई सिर्फ सी फीवर यानी लंबे समुद्री बुखार की खातिर समुद्री यात्रा पर निकल जाए।' इसी चिढ़ाऊ अंदाज में 'आराधना' फिल्म में एक गाना फरीदा जलाल भी गाती हैं- 'मैं सब कहूंगी लेकिन वो न कहूंगी तुमको जिसका इंतजार है।' पुरानी आलोचना इसी चिढ़ाऊ अंदाज में बगल से निकल जाती थी। सब कहती थी पर वह नहीं जो कहना चाहिए था! तो इसके बाद मैं भी क्या कहूं? आप स्वयं समझदार हैं। समझ ही गए होंगे कि हिंदी आलोचना को प्रखर वैभव देने वालों में अनन्य हैं हमारे नामवरजी जिन्होंने पाठ का अंतरंग पहचाना और सिर्फ समुद्री बुखार का जायजा लेने की झक में सामुद्रिक यात्रा पर नहीं निकले।

●

मेरे लिए नामवरजी

रामबक्ष

नामवरजी का व्यक्तित्व एक सामाजिक, राजनीतिक व्यक्तित्व है। उनके व्यक्तित्व की या उनके क्रियाकलापों के योगदान की चर्चा के लिए जिस औपचारिकता की आवश्यकता होती है उसकी कोई जरूरत फिलहाल नहीं है। मैंने यह महसूस किया कि सबके अपने-अपने नामवरजी हैं। मेरे भीतर जो नामवरजी हैं वे मेरे हैं। मुझे किसी से नहीं सुनना कि नामवरजी कैसे हैं? मैं जानता हूं। मुझको जो कहना होता है उसको सुनना हो तो सुन लो। आप उनके बारे में सिर्फ आपके हिस्से वाले नामवरजी के बारे में बताना चाहें तो हम सुन सकते हैं। लेकिन एक मूल्यांकन जैसी कोई गोष्ठी करें तो वो अलग तरह की होगी। दूसरा मेरा जीवन, व्यक्तित्व थोड़ा ऐसा ही तो है कि मैं तो व्यक्तिगत चीजों में विश्वास करता हूं। सार्वजनिक मुद्दों पर मैं कम ही बात करता हूं। मुझे लगता है जो लोग करते हैं वे करें।

मेरे दिमाग ये आया कि हम एक इसी विषय पर बातचीत करें कि मेरे लिए नामवरजी क्या हैं? हर व्यक्ति के लिए उनका रूप अलग अलग हो सकता है।

प्रो. नामवर सिंह हिंदी आलोचना के प्रतीक पुरुष हैं। हिंदी संसार पिछले कई वर्षों से उनका जन्मदिन मना रहा है। प्रभाष जोशी ने 'नामवर के निमित्त' शीर्षक कार्यक्रमों की शृंखला शुरू की थी- सारे भारत में नामवरजी के योगदान पर चर्चा हुई- आलोचकों में उनके योगदान पर, विश्वविद्यालयों में उनकी भूमिका पर, हिंदी संसार के शीर्ष सस्थानों में उनकी भूमिका पर खूब चर्चाएं हुई-उनके पक्ष और विपक्ष में बहुत सारी बातें हुई-उनसे हम सहमत या असहमत हो सकते हैं। प्रो. नामवर सिंह हिंदी में अनेक विवादों के केंद्र रहे हैं। लेकिन उनका एक व्यक्तित्व और है- और जो निर्विवाद है- यह उनका शिक्षक का व्यक्तित्व है जिससे मेरा गहरा और लंबा रिश्ता है। मैं उनके इस रूप को पूरी तरह से अपना मानता हूं। कोई किंतु-परंतु इसमें नहीं है।

प्रो. नामवर सिंह हिंदी के महत्वपूर्ण आलोचक हैं और अत्यन्त महत्वपूर्ण शिक्षक भी हैं। हम लोग आज उनके आलोचक रूप पर बात नहीं करेंगे। जो हमारा व्यक्तिगत रिश्ता है वह शिक्षक और विद्यार्थी का रिश्ता है। नामवरजी हिंदी के बहुत महत्वपूर्ण शिक्षक और मार्गदर्शक हैं और कई बार मुझे लगता है कि वे अकेले दम हिंदी विश्वविद्यालय के रूप में हैं और कई असंख्य विद्यार्थियों के अदृश्य शिक्षक हैं।

उनकी पुस्तकें पढ़ के बहुत सारे विद्यार्थियों को ज्ञानवर्द्धन हुआ। जब हम लोगों को छायावाद

समझ में नहीं आ रहा था। छायावादी कवि कल्पना की कैसी-कैसी बातें कर रहे हैं, तब उनकी 'छायावाद' पुस्तक पढ़ी तो पूरी कविता की दुनिया हमारे सामने स्पष्ट हुई। बहुत सारे विद्यार्थियों और उनके शिक्षकों को साहित्य की अवधारणा उनकी पुस्तकों से स्पष्ट हुई। नामवरजी के जो विद्यार्थी उनके शोध निर्देशन में काम कर रहे हैं वे तो उनसे सीधे-सीधे लाभ प्राप्त कर ही रहे हैं, लेकिन भारत के लगभग सभी विश्वविद्यालयों में वे स्वयं जाकर व्याख्यान देकर वहां के अनेक शिक्षकों और विद्यार्थियों को ज्ञान-प्रदान करते रहे हैं। ऐसे कई लोग हैं जो इंतजार करते रहते हैं कि कब नामवरजी उनके शहर में आएं। कब हम उनका भाषण सुनें। जब ज्यादा समय हो जाता है तो हमारे जोधपुर वाले कहते हैं कि अबकी बहुत दिन हो गए नामवरजी नहीं आए। उनका भाषण सुनने का मन करता है। और यही नहीं बंबई में भी, कलकत्ता में भी, हैदराबाद में भी। भारत के सभी बड़े विश्वविद्यालयों में बड़ी संख्या में लोग नामवरजी का इंतजार करते हैं। हिंदी प्रेमियों की एक बड़ी संख्या है जो उनके भाषणों की प्रतीक्षा करती है। कुछ लोग कहते हैं कि अबकी बार उनका भाषण सुन नहीं पाए। अखबार में पढ़ा। कई बार उनका भाषण पिछले भाषण का विस्तार होता है।

इसके अलावा नामवरजी ने हिंदी का एक समग्र पाठ्यक्रम बनाया। हिंदी में यह सौभाग्य किसी भी अध्यापक को प्राप्त नहीं हुआ है। उन्होंने कक्षा 1 से एम.फिल/ पी-एच.डी. तक का संपूर्ण पाठ्यक्रम बनाया। नामवरजी ने एनसीईआरटी का 1 से 12वीं तक का पाठ्यक्रम बनाया। उनके द्वारा बनाए गए इस पाठ्यक्रम का भारत के लगभग सभी विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों पर प्रभाव पड़ा।

हालांकि जेएनयू के लोग मानते हैं और मुझे भी लगता है कि हमारे देश में पाठ्यक्रमों के इतिहास और निर्माण पर अभी कोई व्यवस्थित काम नहीं हुआ है। जब होगा तब पता चलेगा कि नामवरजी के पाठ्यक्रम को पढ़कर कितने लोगों का दिमाग बदला, विकसित हुआ। मुझे लगता है कि उस पाठ्यक्रम के द्वारा भी अदृश्य विद्यार्थी भी लाभान्वित हुए। इसके अलावा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का पाठ्यक्रम, संघ लोक सेवा आयोग का व्यवस्थित पाठ्यक्रम बनाने में नामवरजी का हाथ रहा है। बाद में भी ढांचा वही रहा है। सिर्फ एक किताब को हटाकर दूसरी किताब लगाने पर भी लगता है कि हमने बहुत महत्त्वपूर्ण काम किया। किंतु हमारे पाठ्यक्रम का ढांचा नामवरजी का दिया हुआ है।

कई ऐसे लोग भी हैं जो कभी दिल्ली आते हैं तो सबसे पहले पूछते हैं कि इन दिनों नामवरजी दिल्ली में होंगे या नहीं? वे उनका कार्यक्रम पूछते हैं। बाकी चलो इधर उधर यूजीसी या जो उनको मिलना-जुलना करना होता है, वे करके वह चाहते हैं कि नामवरजी के साथ कुछ समय व्यतीत करें और उनसे साहित्य चर्चा करें। ऐसे कई लोग हैं जिनको नामवरजी कुछ समय अवश्य देते हैं। मुझे लगता है कि वे भी नामवरजी के विद्यार्थी ही है, संयोग से ऐसे हिंदी के कई प्रसिद्ध आलोचक भी हैं।

जब कोई आपकी जिज्ञासा हो, आपके दिमाग में कोई प्रश्न हो, कोई ऐसी जानकारी हो और जो आपकी समझ में नहीं आ रही हो, आपने बीस लोगों से पूछा है तो अंततः आप नामवरजी से पूछ सकते हैं। नामवरजी बता सकते हैं कि फलां विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में यह पुस्तक उपलब्ध है और वहां से आप देख लें। और इस विषय के बारे में ये ये आप और पढ़ लें। इस तरह के विद्यार्थी

जो कि सिर्फ साहित्य के नहीं हैं मानविकी, समाजशास्त्र के भी अनेक ज्ञान-जिज्ञासु लोग नामवरजी से चर्चा करते हैं और लाभान्वित होते हैं। कई बार दूसरे विषयों के लोग इनके बारे में ज्यादा जिज्ञासा रखते हैं। यह हमारे विश्वविद्यालय का सौभाग्य है कि वे इस विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केंद्र के संस्थापक प्रोफेसर एवं अध्यक्ष रहे। इनके बहुत सारे विद्यार्थी विभिन्न विश्वविद्यालयों में पढ़ाते हैं और जो विद्यार्थी पढ़ाते हैं उनके माध्यम से नामवरजी ही बोल रहे होते हैं। संभव है कि विद्यार्थी उतना अच्छा न बोलते हों, कभी-कभी गलत व्याख्या भी कर देते हों, कुछ कम भी कर देते हों लेकिन उनके द्वारा किए गए कामों का विस्तार नामवरजी के माध्यम से ही आता है। ऐसे प्रतिभाशाली, महिमाशाली अध्यापक से शिक्षा ग्रहण करना हमारा सौभाग्य है।

●

नामवरजी के साथ-साथ

राजेंद्र प्रसाद मिश्र

प्रोफेसर नामवर सिंह। जी हां, यह वह नाम है जो न केवल हिंदी जगत में बल्कि भारतीय साहित्य जगत में भी बखूबी जाना जाता है। जो हिंदी प्रेमी विदेशों में रहकर हिंदी में लेखन करते हैं, हिंदी का प्रचार-प्रसार करते हैं, उनसे भी अछूता नहीं है यह नाम। समय-समय पर विश्व के अनेक देशों में आयोजित विश्व हिंदी सम्मेलनों के मंच से भी उन्होंने विदेशों में बसे हिंदी प्रेमियों पर अपनी विशेष छाप छोड़ी है। उन्हें न सिर्फ भारतीय साहित्य, बल्कि विदेशी भाषाओं में लिखे उत्कृष्ट साहित्य और आलोचना की गहरी जानकारी हैं। देश का शायद ही ऐसा कोई साहित्यकार होगा जो यह न चाहता हो कि प्रो. नामवर सिंह उसकी साहित्यिक कृति पर प्रशंसा के दो शब्द लिख या बोलकर उसे कृतार्थ करें।

मैंने प्रो. नामवर सिंह का नाम पहली बार तब सुना था, जब मैं बी.ए. (अंग्रेजी ऑनर्स) की परीक्षा देने के बाद अंग्रेजी साहित्य से एम.ए. करने अपने जिला मुख्यालय के महाराजा पूर्णचंद्र महाविद्यालय, बारीपदा (ओड़िशा) से कटक के रेवेंशा कॉलेज में दाखिला लेने की सोच रहा था। अपनी बी.ए. तक की पढ़ाई मैंने ट्यूशन करके की थी। कटक जाकर एम.ए. करने के लिए भी ट्यूशन का ही सहारा लेना था। जब मैंने यह बात अपने कॉलेज के हिंदी प्राध्यापक डॉ. विजय द्विवेदी से बताई तो उन्होंने सलाह दी कि मैं अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. न करके हिंदी साहित्य में जे.एन.यू. से एम.ए. करूं और एम.ए. करने के बाद अपने महाराजा पूर्णचंद्र कॉलेज, बारीपदा में ही प्राध्यापक बनूं। उस कॉलेज में हिंदी प्राध्यापक का एक पद रिक्त था। सन् 1977 में ओड़िशा के किसी कॉलेज अथवा विश्वविद्यालय में हिंदी साहित्य में एम.ए. करने की सुविधा नहीं थी। सन् 1983 में पहली बार रेवेंशा कॉलेज, कटक में हिंदी का स्नातकोत्तर विभाग खुला। इससे पहले ओड़िशा के छात्र शांति निकेतन, बीएचयू या फिर इलाहाबाद विश्वविद्यालय पढ़ने जाया करते थे। मेरे लिए जे.एन.यू. बिल्कुल नया नाम था। कॉलेज के हिंदी प्राध्यापक ने जे.एन.यू. के नाम के साथ-साथ यह भी कहा कि वहां प्रो. नामवर सिंह हैं। हिंदी के सुप्रसिद्ध आलोचक। पढ़ने के लिए वहां छात्रवृत्ति भी मिलेगी। तुम्हें ट्यूशन नहीं करना पड़ेगा और तुम्हारी पढ़ाई भी अच्छी तरह हो जाएगी। मैंने प्रो. नामवर सिंह का नाम भी पहली बार सुना था। डॉ. विजय द्विवेदी की बात मानकर मैंने जे.एन.यू. जाने का मन बना लिया। लिखित प्रवेश परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद साक्षात्कार की बारी थी। पूरे देश से बीस ही छात्रों का दाखिला होना था। जे.एन.यू. में दाखिला न मिलने पर मेरे पास रेवेंशा कॉलेज, कटक में अंग्रेजी से एम.ए. करने का विकल्प था। इसलिए साक्षात्कार के दिन मैं अधिक चिंतित नहीं था।

साक्षात्कार में भारतीय भाषा केंद्र के अध्यक्ष प्रो. नामवर सिंह ने अन्य प्रश्नों के साथ मुझसे पूछा कि 'सीताकांत महापात्र को जानते हैं', मेरे लिए यह नाम नया नहीं था। सीताकांत महापात्र हमारे मयूरभंज जिले के कलेक्टर थे। तब मैं चौथी कक्षा में पढ़ता था। मैंने कहा, 'सीताकांत महापात्र भारतीय प्रशासनिक सेवा के ओड़िशा कैडर के अधिकारी हैं'। तब मैं यह नहीं जानता था कि सीताकांत महापात्र एक सुप्रसिद्ध ओड़िआ कवि भी हैं। अंग्रेजी और हिंदी साहित्य का विद्यार्थी होने के कारण तब ओड़िआ साहित्य और साहित्यकारों के बारे में अधिक जानकारी नहीं थी। प्रो. नामवर सिंह ने मुझे बताया कि सीताकांत महापात्र ओड़िआ के कवि भी हैं। साक्षात्कार देने के तुरंत बाद मैं जे.एन.यू. पुस्तकालय पहुंचा वहां सीताकांत महापात्र की ओड़िआ से अंग्रेजी में अनूदित कविताओं का एक संग्रह मिल गया। सोचा, काश यह पुस्तक मैंने पहले देख ली होती। मैं तभी से मान गया था प्रो. नामवर सिंह को। बहरहाल शाम को रिजल्ट आया। मेरा नाम दाखिला सूची में था। जे.एन.यू में दाखिला हो गया। रहने के लिए पेरियार हॉस्टल में कमरा मिला, पहले डबल फिर सिंगल। वजीफा महीने में एक सौ पच्चीस रुपए। जे.एन.यू. का समृद्ध पुस्तकालय, प्राध्यापक के रूप में प्रो. नामवर सिंह, डॉ. मैनेजर पाण्डेय, डॉ. केदारनाथ सिंह जैसे प्रख्यात आलोचक व कवि, जे.एन.यू. का स्वच्छंद वातावरण, एक-दूसरे से खुलकर विचार-विमर्श करने की स्वतंत्रता, कुछ अच्छे मित्र। इन सबसे मैं बेहद प्रभावित हुआ। मन ही मन बोला ' सही जगह पहुंच गए हो, अब पढ़ाई में जुट जाओ'। मैंने अपने कॉलेज के हिंदी प्राध्यापक डॉ. विजय द्विवेदी को धन्यवाद दिया। उन दिनों मोबाइल की सुविधा न होने के कारण पत्र लिखकर आभार प्रकट किया।

अब मेरे पास पढ़ने के लिए समय ही समय था। पहले की तरह ट्यूशन नहीं पढ़ाना पड़ा। सारा ध्यान पढ़ने पर था। एम.ए. करके अपने कॉलेज में हिंदी प्राध्यापक बनने का था। जे.एन.यू. का एम.ए. पाठ्यक्रम आसान नहीं था। प्राध्यापक पूरी तैयारी के साथ कक्षाएं लेते थे। अपना विषय पढ़ाते समय उसमें जान डाल देते थे। पचास मिनट का पीरियड कब खत्म हो जाता, पता ही नहीं चलता। गुरुजन जितना समय पढ़ाते थे उससे कई गुना समय हमें लगाना पड़ता था उन विषयों को विस्तार से पढ़कर समझने में। बी.ए. में अंग्रेजी ऑनर्स का विद्यार्थी होने के कारण रूपवादी और मार्क्सवादी आलोचना तथा अंग्रेजी आलोचकों के विचार समझने में दिक्कत नहीं हुई। ये पाठ्यक्रम हमें नामवरजी पढ़ाते थे। क्लास टेस्ट और टर्म पेपर लिखने की प्रणाली लागू होने की वजह से खूब पढ़ना- लिखना पड़ता था। शनिवार को साहित्य अकादेमी के पुस्तकालय में पूरा दिन बिताता। वहां भीष्म साहनी जैसे साहित्यकार को लिखते-पढ़ते देख, उनसे बातें करके खुशी होती थी। वे भी हर शनिवार वहां आते थे। उनका उपन्यास 'तमस' हमारे पाठ्यक्रम में था।

दिल्ली में कहीं सम्मेलन, संगोष्ठी या हिंदी के महत्वपूर्ण नाटक होते तो नामवरजी के साथ जे.एन.यू. की बस में हमारे भारतीय भाषा केंद्र के विद्यार्थी भी जाते। कैंपस लौटते समय नामवरजी वरिष्ठ विद्यार्थियों के साथ कई विषयों पर चर्चा भी करते रहते। नामवर जी के व्यक्तित्व और विद्वता से न केवल हमारे भारतीय भाषा केंद्र, बल्कि जे.एन.यू. के अन्य केंद्रों के शिक्षक व विद्यार्थी भी प्रभावित थे। किसी सेमिनार में अगर कहीं नामवरजी का व्याख्यान होता तो पूरा हॉल भर जाता। हिंदी साहित्य के साथ-साथ विश्व साहित्य का भी गहरा ज्ञान है उन्हें। वे नियमित पुस्तकालय जाते थे। पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं के बीच घंटों खड़े-खड़े पन्ने पलटा करते थे। छात्रों को हमेशा 'आप'

कहा करते थे।

नामवरजी एक अच्छे शिक्षक ही नहीं, जरूरतमंद छात्रों को आवश्यकता पढ़ने पर मदद करने में भी नहीं हिचकते थे। गर्मी की छुट्टियों में हॉस्टल लगभग खाली हो जाते। एम.ए. के छात्र तो निश्चित ही अपने-अपने घर चले जाते। मेरी आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण सर्दी की छुट्टियों में मन मारकर मुझे हॉस्टल में ही रहना पड़ा था। दिल्ली की ठंड के बारे में बताने की जरूरत नहीं। इसलिए गर्मी की छुट्टियां होने से कुछ दिन पहले घर जाने की इच्छा होने लगी। टिकट के पैसे नहीं थे। ओड़िशा दिल्ली से दूर है। एक दिन क्लास खत्म होने के बाद सभी छात्र प्रो. नामवर सिंह के कक्ष से बाहर निकल जाने के बाद मैं कक्ष में रुक गया। साहस जुटाकर मैंने उनसे कहा, 'डॉ. साहब, गांव जाना चाहता हूं गर्मी की छुट्टियों में। टिकट के पैसे नहीं हैं। अगर आप सौ रुपए उधार दे दें तो मैं गांव से लौटकर वापस कर दूंगा'। उन्होंने तुरंत कहा कि हमारे पी.ए. शर्माजी से ले लीजिए, उन्हीं को लौटा दीजिएगा। ऐसे वक्त में जो मदद करता है, उसे इंसान कभी नहीं भूलता। इस बात को नामवरजी भले ही भूल गए हो, उनके लिए इस तरह मदद करना आम बात हो, परंतु मैं नहीं भुला सका। उसके बाद उनके प्रति मेरे मन में श्रद्धा और बढ़ गई। मैंने मन लगाकर पढ़ाई की। जे.एन.यू. की राजनीति में अधिक नहीं डूबा। अपने स्वभाव के कारण तीनों साल मेस सेक्रेटरी और स्टूडेंट फैकल्टी कमिटी का सदस्य रहा। हॉस्टल में रहते हुए ही बैंक ऑफ बड़ौदा में हिंदी अधिकारी के पद पर सन् 1980 में चुन लिया गया और इस तरह जे.एन.यू. में अपने जीवन का बेहतरीन समय बिताने के बाद कर्मक्षेत्र में कूद पड़ा।

बैंक ऑफ बड़ौदा ज्वाइन करने से पहले मैं अपने कॉलेज के हिंदी प्राध्यापक डॉ. विजय द्विवेदी से मिलने ओड़िशा गया था। उनसे पूछा कि डॉ. साहब क्या करूं। बैंक ज्वाइन करूं या कॉलेज में प्राध्यापक के लिए इंतजार करूं ? उन्होंने कहा था, 'मैं तो अब भी चाहूंगा कि तुम कॉलेज ज्वाइन करो। अभी हिंदी के पद निकलने वाले हैं। कुछ समय इंतजार जरूर करना होगा'। अब मैं दुविधा में था। उस समय मैं एम.फिल. का छात्र था। विषय भी नामवरजी ने ही सुझाया था। फणीश्वरनाथ रेणु और गोपीनाथ महांति के कथा साहित्य में आंचलिकता। तुलनात्मक अध्ययन। नामवरजी ओड़िआ साहित्य और साहित्यकारों को अच्छी तरह जानते थे। तब रेणुजी नहीं थे। गोपीनाथ महांतिजी थे। मुझे शोध के सिलसिले में ओड़िशा जाना था। उनसे मिलना था। उनके साहित्य पर कुछ चर्चा करनी थी। उनसे दूरभाष पर संपर्क कर चुका था। हां, एम.ए. करने के बाद सन् 1979 से मैंने ओड़िआ से हिंदी में अनुवाद करना शुरू कर दिया था। इसके लिए नामवरजी और मैनेजर पाण्डेयजी ने प्रेरित किया। केंद्रीय हिंदी निदेशालय में कार्यरत 'भाषा' पत्रिका के संपादक जगदीश चतुर्वेदी और नेशनल बुक ट्रस्ट के हिंदी संपादक रमेश बक्षीजी ने हौसला बढ़ाया। जगदीश चतुर्वेदी ने कहा कि आप जो भी कुछ ओड़िआ से हिंदी में अनुवाद करके लाएंगे, मैं प्रकाशित करूंगा। चतुर्वेदीजी छात्रों की खूब मदद किया करते थे। ऐसे में सीताकांत महापात्र से भी संपर्क हो गया। उनकी ओड़िआ कविताओं का हिंदी में अनुवाद करने के सिलसिले में। गोपीनाथ महांति से मिलने भुवनेश्वर जाने से पहले मैंने सीताकांतजी को फोन किया। भुवनेश्वर में ठहरने की जगह नहीं थी। उन्होंने मेरे ठहरने की व्यवस्था करवाने के साथ ही स्थानीय यातायात के लिए एक गाड़ी भी दे दी। इस तरह भुवनेश्वर में रहना और गोपीनाथ महांति से मिलना आसान हो गया।

बैंक में लगभग तीन साल रहने के दौरान जगदंबा प्रसाद दीक्षित के व्यक्तित्व और कृतित्व से बेहद प्रभावित हुआ। उनका 'मुर्दाघर' उपन्यास उन दिनों चर्चा में था। उसे पढ़कर मैं भी उनका प्रशंसक बन गया था। उनका नाम जे.एन.यू. में भी सुना करता था। उनसे मेरा परिचय डॉ. सोहन शर्मा के जरिए हुआ था। सोहन शर्मा हमारे में बैंक ही थे। मेरे वरिष्ठ शाम को छुट्टी के बाद कभी-कभार उन दोनों मित्रों के साथ मैं भी बंबई घूमने निकल पड़ता था। अपने ओड़िआ अनुवाद के शौक के कारण धर्मवीर भारतीजी से मिलने जाता तो कोई न कोई कहानी हिंदी में अनुवाद करके 'धर्मयुग' में छपने के लिए साथ ले जाता। भारतीजी से मिलना अच्छा लगता था। वे ओड़िआ कहानियों का हिंदी अनुवाद बड़े चाव से छापते थे। वे कहा करते थे कि 'जब भी मिलने आइए, ओड़िआ की कोई अच्छी कहानी अनुवाद करके ले आया कीजिए'। हमारे बैंक से टाइम्स ऑफ इंड़िया प्रेस पैदल का रास्ता था। दोपहर में लंच करके मैं उनसे मिलने चला जाता। इसी बीच सन् 1981 में मेरा विवाह हुआ। बंबई से बाराती बनकर जगदंबा प्रसाद दीक्षित साथ दिल्ली आए थे। शादीवाले दिन 19 जून, 1981 को मैं और दीक्षितजी जे.एन.यू. गए थे नामवरजी, पांडेजी और केदारजी को शाम को शादी में आने का न्योता देने। सभी आए भी। मेरे ये तीनों गुरुदेव न केवल मेरी शादी में बल्कि मेरे बेटे के नामकरण और बेटा-बेटी की शादी में भी सपरिवार शामिल हुए। निश्चित ही ये सभी गुरुजन मेरे पोते के नामकरण में भी आएंगे।

बंबई में मन तो लगने लगा था, पर दिल्ली और जे.एन.यू. का आकर्षण कम नहीं हुआ था। इसलिए सन् 1983 में नेशनल थर्मल पावर कार्पोरेशन लिमिटेड के नई दिल्ली स्थित मुख्यालय में हिंदी अधिकारी के रूप में दिल्ली लौट आया। लौटकर मैंने पुनः वही पुरानी लीक अपना ली। दिन में ऑफिस, शाम को जे.एन.यू. लाइब्रेरी और लाइब्रेरी के बाद कभी नामवरजी, कभी मैनेजर पांडेजी तो कभी केदारनाथ सिंहजी से मिला करता था। जे.एन.यू. लाइब्रेरी में रोज शाम मेरा इंतजार गोरख पांडे किया करते। पांडेजी हमारे पेरियार हॉस्टल में अब भी रह रहे थे। हम एक-दूसरे को समझते थे। बड़े हंसमुख थे। बीच-बीच में उनके गीत सुना करता था, लाइब्रेरी के बाहर रोज साथ चाय पीते थे। जे.एन.यू. में पी-एच.डी. में रजिस्ट्रेशन हो गया था। शोधकार्य में डॉ. मैनेजर पाण्डेयजी का भरपूर सहयोग मिला। उन दिनों पाण्डेयजी और केदारजी बेर सराय के डीडीए फ्लैट्स में आस-पास रहते थे। नामवर सिंहजी जे.एन.यू. कैंपस में।

धीरे-धीरे मैं इन तीनों से घुल-मिल गया। सबका बराबर का स्नेह और आशीर्वाद मिला। इत्तफाक से सन् 1996 में जे.एन.यू. में एसोसिएट प्रोफेसर (हिंदी अनुवाद) के पद पर मेरा चयन भी हो गया। बता दूं कि चयन समिति के एक सदस्य भीष्म साहनी भी थे लेकिन एनटीपीसी से जे.एन.यू. में मुझे दस हजार रुपए महीने का नुकसान हुआ। बाध्य होकर एनटीपीसी लौटना पड़ा। जे.एन.यू. का प्रसंग काफी लंबा हो जाएगा इसलिए संक्षेप में इतना ही कहूंगा कि नामवरजी, केदारजी और मैनेजर पाण्डेय का मार्गदर्शन मुझे मिलता रहा। जहां कहीं भी मेरी भलाई की बात होती, ये तीनों एक हो जाते। ये सभी मुझे अपने ही परिवार का सदस्य समझते थे।

नामवरजी की सुपुत्री समीक्षा की शादी 4 फरवरी, 1995 को हुई थी। शादी की सारी व्यवस्था मैंने और नामवरजी ने की थी। शादीवाले दिन सिर्फ परिवार के ही कुछ लोग थे। अगले दिन भव्य रिसेप्शन हुआ था आईआईसी में। न केवल दिल्ली के बल्कि बाहर के भी हिंदी के मूर्धन्य साहित्यकारों

को निमंत्रण भेजा गया था। काफी भीड़ हुई थी। सन् 1998 में नामवरजी की नतनी का जन्म हुआ था सिरी फोर्ट रोड पर स्थित शमा नर्सिंग होम में। उस समय भी नामवरजी के साथ मैं था। डोंगरी और हिंदी की सुप्रसिद्ध लेखिका पद्मा सचदेव भी साथ थीं।

जब भी नामवरजी की तबीयत बिगड़ती मैं उनके पास होता। एक बार उनकी तबीयत ज्यादा कुछ ज्यादा बिगड़ गई। शायद यह सन् 1998 की बात है। जांच से पता चला कि सीने में कुछ इंफेक्शन हो गया है। इलाज एम्स में चला। दिनभर मैं नामवरजी के साथ रहता। रात को दुर्गा प्रसाद गुप्त उनका ध्यान रखते। वे स्वस्थ होकर घर लौट आए। मेरा मिलना-जुलना हमेशा की तरह बना रहा। उन्हें कहीं किसी से मिलने जाना होता तो मेरे साथ जाना पसंद करते। वे जानते थे कि मैं इधर की बात उधर नहीं करता। ओड़िशा से कोई साहित्यकार दिल्ली आकर नामवरजी से मिलने की इच्छा व्यक्त करता तो मैं उनसे अनुमति लेकर मिला दिया करता। नामवरजी के व्यवहार और उनकी ओड़िआ साहित्य की जानकारी से सभी खुश होते। एक दिन पंडित विद्यानिवास मिश्रजी ने कहा, 'चलो राजेंद्र, जरा नामवर के यहां चलते हैं।' मैं आश्चर्य में पड़ गया। जे.एन.यू. के दिनों में सुना करता था कि दोनों विपरीत ध्रुव के हैं। दोनों में बनती भी नहीं हैं। मैंने सहमते हुए विद्यानिवासजी से पूछा, 'पंडितजी, क्या प्रो. नामवर सिंह के बारे में बोल रहे हैं?' विद्यानिवासजी ने तपाक से कहा, 'कोई और भी नामवर है क्या?' मैंने पंडितजी के घर से नामवरजी को फोन करके बता दिया कि विद्यानिवासजी आपसे मिलने आ रहे हैं। हम दोनों नामवरजी के फ्लैट पर पहुंचे। दो मंजिले फ्लैट पर चढ़ने में पंडितजी को घुटनों के कारण कुछ कष्ट तो हुआ पर वे चढ़ गए। मैंने घंटी बजाई। खुद नामवरजी ने दरवाजा खोला और हमेशा की तरह मुस्कराते हुए बोले, 'आइए, आइए'। उन्होंने झुककर पंडितजी के पैर छुए। मैं हक्का-बक्का रह गया। यह क्या देख रहा हूं। दोनों की आत्मीयता देखकर मैं दंग रह गया। इन दोनों विद्वानों के रिश्तों के बारे में मैंने जो कुछ सुना था, क्या वह सच था? सचमुच वह सब झूठ था। दोनों काफी देर तक खुलकर बातें करते रहे। मैं भी वहां बैठा उनकी बातें सुनता रहा। उनकी बातें सुनकर यह समझ गया कि विद्वानों में वैचारिक मतभेद भले होते हों, पर आपसी रिश्ते मजबूत होते हैं। समय-समय पर ऐसी महान हस्तियों से मैंने जीवन में काफी कुछ सीखा है। मैंने मन ही मन अपने गुरुवर केदारनाथ सिंह की धन्यवाद दिया। उन्होंने ही पंडित विद्यानिवास मिश्र से पहली बार मेरा और ओड़िआ कवि रमाकांत रथ का परिचय साहित्य अकादेमी के एक कार्यक्रम में कराया था। यह मेरा सौभाग्य है कि मैं नामवरजी और विद्यानिवासजी दोनों का विश्वास पात्र रहा। ऐसा कम ही होता होगा।

बहरहाल नामवरजी के बारे में कहने को मेरे पास काफी कुछ है, परंतु संपादक महोदय के निर्देश को ध्यान में रखकर संक्षेप में इतना ही लिखना उचित होगा। नामवरजी शतायु हों, प्रभु जगन्नाथ से मेरी यही प्रार्थना है।

●

हमने नामवर को देखा

सदानंद शाही

मैं जब इस शीर्षक से नामवर सिंह से जुड़ी यादों को सहेज रहा हूं तो इस बात का बिल्कुल भी इल्म नहीं है कि और कितने लोगों ने नामवरजी से जुड़ी स्मृतियों को इसी शीर्षक के अंतर्गत लिखा या सहेजा होगा। किंतु यह जरूर जानता हूं कि मेरे जैसे असंख्य लोग होंगे जिनके पास नामवरजी से जुड़ा अनुभव और संस्मरण होगा और वे इसे लेकर गौरवान्वित अनुभव करते होंगे।

मैंने पहली बार नामवर सिंह का नाम तब सुना जब बी.ए. का छात्र था। बी.ए. की पढ़ाई मैंने अपने निकट के कस्बे पडरौना(अब जनपद) से की है। अपने एक दो अध्यापकों के मुंह से नामवर का नाम सुना करता था। कभी कोई उद्धरण तो कभी कोई संदर्भ। इसी बीच मैं अपने महाविद्यालय में छात्रसंघ का अध्यक्ष चुन लिया गया। उन दिनों छात्रसंघ के उद्घाटन की परंपरा थी। हमारी इच्छा थी कि किसी बड़े साहित्यकार को ही उद्घाटन के लिए बुलाया जाय। हमारे एक अध्यापक प्रेमचन्द सिंह ने नामवर सिंह का नाम सुझाया और उन्हें बुलाने की जिम्मेदारी भी ली पर बात बनी नहीं। सच पूछिए तो उस समय तक मेरे मन में नामवर सिंह की छवि बड़े लेखक के रूप में बनी ही नहीं थी। इसका एक बड़ा कारण यह समझ में आता है कि नामवर सिंह हमारे पाठ्यक्रम में नहीं थे। यह समझ बनी थी कि बड़ा लेखक वही है जो पाठ्यक्रम में है। जब मैं खुद पाठ्यक्रम बनाने वाली प्रक्रिया का हिस्सा बना तब यह समझ दुरुस्त हुई और पता चला कि पाठ्यक्रम में शामिल होने के इतर कारण भी हैं।

खैर बहुत जल्दी नामवर सिंह से पाठ्यक्रम में मुलाकात हो गयी। उन दिनों गोरखपुर विश्वविद्यालय के एम.ए. प्रथम वर्ष के पाठ्यक्रम में प्राचीन भाषा अपभ्रंश विकल्प के रूप में मौजूद थी। अपभ्रंश के पाठ्यक्रम में सिर्फ एक पुस्तक थी- 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग', लेखक नामवर सिंह। उसी समय यह भी पता चला कि यह पुस्तक वास्तव में नामवर सिंह द्वारा एम.ए. की परीक्षा के लिए लिखा लघु प्रबंध है। पाठ्यक्रम में नामवर सिंह की यह पहली उपस्थिति ही इतनी जबर्दस्त थी कि वे सहज ही बड़े और महत्वपूर्ण लेखक के रूप में हमारे मन में बैठ गए। 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग' हिंदी भाषा और साहित्य दोनों के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को समझने-समझाने की दृष्टि से बेहद जरूरी किताब है। यह किताब एम.ए. के छात्र नामवर सिंह ने लिखी है और हम एम.ए. के छात्र इसे पाठ्यक्रम में पाठ्यपुस्तक के रूप में पढ़ रहे हैं, यह बात अचरज की तरह हमारे दिल दिमाग में उतर रही थी। आगे चलकर मैंने अपभ्रंश साहित्य में शोध करने का निर्णय लिया, इसके पीछे प्रेरणा के रूप में नामवरजी की यह किताब ही थी। शोध के क्रम में मुझे यह भी पता चला कि नामवर सिंह की इस किताब का बीज रूप ही एम.ए. के दौरान लिखे उनके

लघु प्रबंध में आया था। किताब को मौजूदा शक्ल देने के लिए नामवर सिंह ने काफी श्रम किया था।

उन दिनों परमानंद श्रीवास्तव हमारे सबसे चर्चित और प्रिय अध्यापक थे। वे कुछ भी पढ़ा रहे हों, उनकी कक्षाएं नामवर सिंह के नाम के बगैर पूरी ही नहीं होती थीं। हमारे अध्यापकों में परमानंदजी ही थे जिनकी नामवर सिंह से नियमित मुलाकात हुआ करती थी। वे इन मुलाकातों की तफसील में चर्चा करते रहते। कहने की जरूरत नहीं कि हिंदी विभागों में ईर्ष्या करने वाले लोग परंपरा से होते आए हैं। परमानंद श्रीवास्तव ऐसे लोगों के सहज आलंबन थे। एक पूरा दल ही था जो परमानंद श्रीवास्तव की निंदा और व्यक्तित्व हनन में लगा रहता था। निंदा के मूल में परमानंदजी की नामवर सिंह से नजदीकी थी। फिराक का मशहूर शेर है-

आने वाली नस्लें रश्क करेंगी हमअस्रों
जब ये ध्यान आएगा उनको तुमने फिराक को देखा था।

परमानंद श्रीवास्तव के हम अस्रों ने रश्क करने का काम आने वाली नस्लों पर नहीं छोड़ा। वे खुद ही रश्क करने लगे। रश्क करने वाले अगर छोटे दिल दिमाग वाले हुए तो उन्हें ईर्ष्यालु होते देर नहीं लगती। ईर्ष्या उन्हें तुरंत निंदक के पद पर प्रतिष्ठित कर देती है। सो परमानंदजी एक समूह के लिए निंदा का स्थायी आलंबन थे। परमानंद की निंदा के क्रम में इस समूह को नामवर सिंह तक पहुंचना ही था। लिहाजा निंदा की यह डोर परमानंद श्रीवास्तव से होते हुए नामवर सिंह तक पहुंचती थी। नामवर सिंह के बहाने यह डोर मार्क्सवाद की निंदा तक पहुंचती थी। एक तरफ नामवर सिंह से प्रभावित और अभिभूत लोग थे तो दूसरी ओर निंदा सबद रसाल वाले लोग।

कुल मिलाकर यह कि नामवर सिंह का जो वृत्त हमारे सामने बना उसमें अभिभूत होने, प्रशंसा करने से लेकर निंदा करने और गरियाने तक का भाव शामिल है। नामवर से अभिभूत लोगों को हमने बतर्जे फिराक रश्क और गर्व करते देखा और पाया। मजे की बात यह कि नामवर के निंदक भी निंदा करते हुए लगभग उसी गर्व और अभिमान से भरे होते हैं जो प्रशंसकों में होता है। आखिरकार वे नामवर सिंह की निंदा कर रहे होते हैं। यह भी कोई मामूली काम नहीं है।

मैंने कई औसत और मझोले कद के लेखकों/अध्यापकों को नामवर की निंदा कर अघाते हुए देखा है। मार्क्सवादी नामवर की निंदा के लिए बिना जाने बूझे मार्क्सवाद की निंदा की जाती रही है। इसका सबसे मजेदार पहलू यह कि अपने को मार्क्सवाद विरोधी के रूप में घोषित और प्रचारित करने वाले भी नामवर को छोटा साबित करने के लिए मार्क्सवादी रामविलास शर्मा का लाठी की तरह इस्तेमाल करते रहे हैं कि रामविलास शर्मा ने यह किया, रामविलास शर्मा ने वह किया, नामवर सिंह ने क्या किया है? रामविलास शर्मा का लेखन ठोस और स्थाई है नामवर सिंह के बयान हवा हवाई हैं- जैसी चलताऊ और सतही बातें। उस समय यह बात समझ से परे थी कि मार्क्सवाद का विरोध करने वाले कम्युनिस्ट रामविलास शर्मा की तारीफ करते नहीं अघाते हैं। खैर आगे चलकर मेरे एक मित्र की अलिखित थीसिस 'अकादमिक बहसों में जाति की भूमिका' से परिचित होने पर इस अचरज का पटाक्षेप हुआ।

किस्सा कोताह यह कि नामवर सिंह की छवि एक किंवदंती के रूप में बनती गई। नामवर सिंह को किंवदंती बनाने और उनकी महिमा गढ़ने में उनके मित्रों, प्रशंसकों, श्रद्धालुओं की तुलना में उनके निंदकों और विरोधियों की भूमिका कहीं ज्यादा है। जैसे ईश्वर की महिमा स्थापित करने में नेति नेति की भूमिका कहीं ज्यादा होती है। कभी लगता है कि इस बात का इल्म सबसे ज्यादा

नामवर सिंह को ही है इसीलिए जब तब वे अपने विरोधियों/ निंदकों के लिए कोई न कोई अवसर उपलब्ध कराते रहे और निंदकों को कभी बेरोजगार नहीं होने दिया। वह नामवर सिंह और रामविलास शर्मा को लेकर होने वाली बहसों का दौर था। दो मार्क्सवादी लेखकों के बीच की बहस, दो व्यक्तित्वों के बीच की बहस बहुधा अकादमिक वातावरण की क्षुद्रताओं में तब्दील हो जाती। इन बहसों का सकारात्मक पहलू भी था। इससे हिंदी के अकादमिक जगत में मौजूद श्रद्धा-भक्ति का घटाटोप कुछ हद तक छंटता और विवेक के स्फुलिंग प्रकट हो जाया करते। इन बहसों ने हिंदी जगत में आलोचना को लोकप्रिय बनाने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई।

इसी वातावरण में और इसी पृष्ठभूमि में मैंने नामवर सिंह को पहली बार देखा। गोरखपुर विश्वविद्यालय का सिल्वर जुबली वर्ष था। विश्वविद्यालय स्तर पर बहुत से आयोजन हो रहे थे। इसी कड़ी में हिंदी विभाग को कोई व्याख्यान आयोजित करना था। तय हुआ कि नामवर सिंह को व्याख्यान के लिए आमंत्रित किया जाए। नामवरजी ने निमंत्रण स्वीकार कर लिया। वह मार्क्स का निधन शताब्दी वर्ष भी था। इसे ध्यान में रखकर नामवरजी ने विषय तय किया-'विचारधारा और साहित्य'।

आयोजन की तैयारियां जोर शोर से हो रहीं थीं। बाहर से आनेवाले विद्वानों के व्याख्यान अमूमन हिंदी विभाग के ही किसी कमरे में हुआ करते थे। बहुत हुआ तो पंत भवन के 113 नंबर कमरे में। यह व्याख्यान विश्वविद्यालय के विशाल प्रेक्षागृह में हो रहा था। कबीर और मध्यकालीन साहित्य के विशेषज्ञ प्रो. रामचंद्र तिवारी हिंदी विभाग के अध्यक्ष थे। वे स्वयं नामवर सिंह को लेने एयरपोर्ट जाने वाले थे। तिवारीजी के अध्यापक और उनके वैदुष्य के लिए हम लोगों के मन में बहुत सम्मान था। हमें लगता था कि हिंदी में उनसे बड़ा कौन हो सकता है? हम लोगों ने तिवारीजी से पूछा कि आप क्यों नामवर सिंह को लेने जा रहे हैं, वे तो आप से छोटे हैं? तिवारीजी ने कहा कि मेरे जाने की दो वजहें हैं। पहली तो यह कि नामवरजी मेरे निमंत्रण पर आ रहे हैं, मेरे अतिथि हैं, इसलिए मुझे जाना चाहिए। दूसरा यह कि नामवरजी उम्र में भले ही मुझसे छोटे हैं लेकिन ज्ञान और प्रतिभा में मुझसे बहुत बड़े हैं, इसलिए मुझे जाना ही चाहिए। तिवारीजी के इस जवाब से हम लोगों के मन में दोनों ही लोगों का कद बढ़ गया। नामवर के महत्व पर तिवारीजी ने एक छोटा सा व्याख्यान ही दे दिया था। जाहिर है यह सब स्वयं तिवारीजी के बड़े होने का प्रमाण था।

नामवर सिंह आए। उनका व्याख्यान हुआ। उन्हें सुनने पूरा विश्वविद्यालय उमड़ पड़ा था। इसके पहले हिंदी विभाग का शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा जिसे सुनने विश्वविद्यालय के सभी अनुशासनों के लोग आए हों। व्याख्यान में और बातों के अलावा नामवर सिंह ने शकुंतला की अंगूठी खोने की बिल्कुल अनूठी व्याख्या की। यह एक युक्ति थी जिससे दुष्यंत के नायकत्व की प्रतिष्ठा हो रही थी। नामवर सिंह की इस व्याख्या ने आगे चलकर हमारे मिथकेतिहास में मौजूद ऐसी अनेक युक्तियों को समझने में मदद की जिनमें स्त्री और हाशिए के समाज को प्रवंचित करने को महिमा मंडित किया गया था। प्रसिद्ध समाजशास्त्री और विश्वविद्यालय के प्रति कुलपति प्रो. एस.पी. नागेंद्र समारोह की अध्यक्षता कर रहे थे। अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में खींचतान कर नामवरजी की व्याख्या पर कुछ सवाल उठाए। नामवरजी उन सवालों से बेपरवाह मंच पर सुरती ठोक रहे थे। नामवर सिंह का अविचलित भाव देखने लायक था। इसी व्याख्यान में मैंने नामवर सिंह को पहली बार देखा था। वे हिंदी के आत्मविश्वास की तरह लगे। वह आत्मविश्वास जिसे गहन साधना, अध्ययन और

अध्यवसाय से अर्जित किया गया था।

नामवर सिंह को दूसरी बार देखने का अवसर भी जल्दी ही आया। मैं दिल्ली गया हुआ था। पता चला कि हरिवंश राय बच्चन की रचनावली का लोकार्पण प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के हाथों होना है। इस अवसर पर बच्चन के साहित्यिक योगदान और महत्व पर नामवर सिंह का वक्तव्य होना था। केदारजी के साथ मैं भी पहुंच गया। मेरे एक दो कतार आगे राजीव गांधी और अमिताभ बच्चन बैठे हुए थे।

त्रिवेणी सभागार में मंच पर शीला संधू, नामवर सिंह, इंदिरा गांधी, बच्चनजी और अजितकुमार विराजमान थे। इंदिरा गांधी तो खैर प्रधानमंत्री थी हीं। वे आपातकाल और संपूर्ण क्रांति के भंवर से निकलकर नए ताप और तेवर के साथ मौजूद थीं। उनकी देहभाषा और व्यक्तित्व में खास तरह की गरिमा और ताप तप रहा था। उनके ठीक बगल में नामवर सिंह ठेठ बनारसी ठसक के साथ बैठे हुए थे। बगल में प्रधानमंत्री की उपस्थिति नामवर सिंह को किसी तरह विचलित नहीं कर रही थी। न तो वे प्रधानमंत्री के बगल में बैठकर गदगद हो रहे थे और न ही इन्दिरा गांधी के व्यक्तित्व की आंच से पिघलकर मोम हो रहे थे। लग रहा था जैसे मंच पर दो प्रधानमंत्री बैठे हों। एक देश का प्रधानमंत्री और दूसरा हिंदी भाषा और साहित्य का प्रधानमंत्री। एक को जनता ने चुना था दूसरे को जनता की भाषा ने।

नामवरजी जब वक्तव्य देने उठे तो उन्होंने सिर्फ और सिर्फ हरिवंश राय बच्चन को संबोधित किया। 'कवि हरिवंश राय बच्चन और उनके साहित्य से प्रेम करने वाले काव्यप्रेमी साहित्यप्रेमी मित्रो!' यह था नामवर सिंह का संबोधन। नामवर सिंह की नजर में वहां कवि हरिवंश राय बच्चन थे और थे उनके साहित्य से प्रेम करने वाले लोग। नामवर सिंह के संबोधन में इन्दिरा गांधी भी बच्चनजी के साहित्य प्रेमियों में से बस एक होकर रह गयीं हालांकि इन्दिरा गांधी सहज ही बनी रहीं लेकिन पूरी सभा हतप्रभ थी।

नामवर सिंह यह संदेश दे चुके थे कि साहित्य की अपनी स्वायत्तता होती है और वह सत्ता के सर्वोच्च शिखर से भी बराबरी के स्तर पर संवाद कर सकता है। इसी क्रम में नामवर सिंह के एक और व्याख्यान की याद आती है। भारतेंदु के निधन की शताब्दी का प्रसंग था। हिंदी में जन्म या निधन शताब्दी समारोहों को कर्मकांड की तरह मनाए जाने की रवायत रही है। ऐसे मौकों पर जय जयकार किया जाता है। नामवर सिंह ने अपने वक्तव्य की शुरुआत में ही कहा कि यह श्रद्धा निवेदित करने का समय है, लेकिन ध्यान रखें कि आलोचक की श्रद्धा भी आलोचकीय ही होती है। फिर उन्होंने भारतेंदु पर एक मूल्यांकनपरक व्याख्यान दिया।

नामवर सिंह ने अपने व्याख्यान के आरंभ में ही एक सूत्र दे दिया। आलोचक की श्रद्धा भी आलोचकीय होती है। हिंदी विभागों में बजने वाले श्रद्धा भक्ति के ढोल के बीच विचार और विवेक की लौ जलाने का नामवरजी का अपना तरीका था।

इस तरह मैंने नामवरजी को पहले पहल देखा। हिंदी के आत्मविश्वास की तरह, सत्ता के सर्वोच्च शिखर से संवाद करने वाले साहस की तरह, विचार और विवेक की लौ की तरह।

आम तौर पर हिंदी साहित्यकार की छवि सुदामा की रही है। वह जहां भी रहेगा याचक की तरह रहेगा। दयनीय और कृपाकांक्षी। नामवर सिंह की उपस्थिति हिंदी के साहित्यकार की छवि बदल देती है। अब वह याचक नहीं एक चुनौती है-एक नयी भाषा में उतरते गहराते आत्मविश्वास की तरह।

●

लोकतांत्रिक परंपरा के प्रकाश स्तंभ

अरुण कुमार त्रिपाठी

नामवरजी से मेरी भेंट वैसी ही रही जैसी प्रभाष जोशी के साथ थी। पहली बार जिस आशा और लोभ के साथ मिला वह पूरा नहीं हुआ इसलिए हिंदी के इस मूर्धन्य आलोचक से मैं निराश हुआ। जनसत्ता के वरिष्ठ साथी और हिंदी के प्रसिद्ध कवि मंगलेश डबराल ने कहा कि नामवरजी से मिल लो वे लाल बहादुर शास्त्री की जीवनी का अनुवाद करवाना चाहते हैं। पुस्तक 1995 में ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से आई थी और उसे शास्त्रीजी के निजी सहायक चंद्रिका प्रसाद श्रीवास्तव ने पांच वर्षों के गंभीर शोध के बाद लिखा था। किताब मेरे पास आ गई थी और मैंने नामवरजी को दिखाने के लिए नमूने के तौर पर कुछ पृष्ठों का अनुवाद कर डाला था। गर्मियों के दिन थे और मैं दिल्ली के यमुनापार इलाके से बस लेकर नामवरजी के दक्षिण दिल्ली के कालकाजी स्थित फ्लैट पर गया। प्रेमपूर्वक मिले और अनुवाद देखा लेकिन तब तक किसी और से उनकी बात हो चुकी थी। उनका निराश करने वाला जवाब मिला और मैं किताब उन्हें वापस करके लौट आया। इस किताब का हिंदी अनुवाद मोतीलाल बनारसीदास जैसा चर्चित प्रकाशक छापने वाला था इसलिए मुझे तीन तरह का लालच था, एक तो अनुवाद हो जाएगा और कुछ धन मिल जाएगा। दूसरे इतने प्रतिष्ठित प्रकाशक से छपने का गौरव मिलेगा। तीसरा लालच यह था कि मेरे पास एक किताब आ जाएगी। तीन तरह की निराशा हुई और हिंदी आलोचना के हिमालय से मैं कोई वरदान पाए बिना लौट आया।

कुछ ऐसी ही मुलाकात अपने प्रधान संपादक प्रभाष जोशी से हुई। कोलकाता विश्वविद्यालय के हिंदी के प्राध्यापक प्रोफेसर शंभुनाथ की पत्रिका 'समकालीन सृजन' के लिए प्रभाष जोशी का इंटरव्यू लेना था। मैं उनके निजी सहायक राम बाबू (जो आजकल मेरे सामने ही रहते हैं) से अनुमति लेकर मिलने गया तो प्रभाषजी का कहना था कि भैया दो दिन बाद आ जाना। चलने लगा तो बोले आप तो अपने यहीं काम करते हो? बाद में प्रभाषजी ने लंबा इंटरव्यू दिया और वह इतनी सुसंपादित भाषा में बोले कि मैंने महज उसका लिप्यांतरण किया और वह बढ़िया इंटरव्यू बन गया।

मेरे मन में यह मलाल रहा कि इन दो विभूतियों के हृदय में मैं वह स्थान नहीं बना पाया जो बन जाना चाहिए था। इस बीच इन दोनों के आलोचकों से भेंट हुई तो वे मेरे मन में उन दोनों की विचित्र किस्म की छवियां बिठाने लगे। शायद मेरा अहम था कि मैं उन छवियों को गहरा करने लगा। इस दौरान 'जनसत्ता' में काम करते हुए पत्रकार राजकिशोरजी के स्नेह के कारण 'नवभारत टाइम्स' में लेख लिखकर थोड़ी ख्याति अर्जित कर चुका था। राजकिशोरजी ने अपनी 'आज के प्रश्न' शृंखला में नियमित स्थान दिया और मुझे लंबे लेख लिखने का अवसर दिया। इस बीच अपने वरिष्ठ साथी

और आजकल देश के जाने माने समाजशास्त्री अभय कुमार दुबे ने 'समय चेतना' नाम की एक पत्रिका निकाली और उसमें संपादकीय सहयोगी बना दिया। उस पत्रिका का विमोचन इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में हुआ और उसकी अध्यक्षता नामवरजी ने की। वहां उनसे संक्षिप्त मुलाकात हुई लेकिन उस आयोजन के मुख्य आकर्षण अभय कुमार दुबे थे इसलिए ज्यादा बातचीत नहीं हुई। वैसे भी मैं किसी से भी अंतरंग संबंध देर से बना पाता हूं इसलिए दूर दूर ही रहा। दफ्तर के ही नियमित स्टाफ के लोग अलग से पत्रिका(व्यावसायिक) निकालें, इस बात से प्रभाषजी काफी नाराज हुए और हम लोगों को बुलाकर उन्होंने हिदायत दी। प्रभाषजी से थोड़ी चिढ़ बनी और मेरे मन में एक और भ्रांति बैठ गई कि प्रभाषजी और नामवरजी एक दूसरे से अलग खेमे के हैं।

प्रभाषजी से हम जनसत्ताइयों की नाराजगी इस वजह से भी थी कि लंबे समय से उन्होंने डेस्क के साथियों की पदोन्नति नहीं की थी और हम लोग थे कि लिख-लिख कर दिल्ली में अपनी जगह बना रहे थे। हम लोगों की चर्चाओं में डेस्क बनाम रिपोर्टिंग जैसे विवाद भी उठते रहते थे। उसी दौरान अभय कुमार दुबे के संपादन में राजकमल प्रकाशन के पचास साल होने पर सात मोनोग्राफ एक साथ निकले, जिनमें दो जीवनियां मैंने लिखी थी जिसमें एक कल्याण सिंह और दूसरी मेधा पाटकर की थी। इन जीवनियों के विमोचन के लिए प्रभाषजी पूर्व प्रधानमंत्री विश्वनाथ सिंह के घर ले गए और उन्होंने बाल ठाकरे की जीवनी के अलावा बाकी सभी पर लिखी गई कृतियों के विमोचन की हामी भरी। हालांकि कार्यक्रम के ऐन मौके पर वे डायलसिस के लिए चले गए और कार्यक्रम बसपा नेता मान्यवर कांशीरामजी की मौजूदगी में वीपी सिंह के घर पर हुआ।

मेरे मन में हिंदी के इन दोनों शिखर पुरुषों की छवियां बदलने लगी थीं। यह परिवर्तन कुछ वैसा ही था जैसे तुलसी बाबा ने शुक्ल और कृष्ण पक्ष के चंद्रमा के माध्यम से सज्जन और दुर्जन व्यक्तियों की पहचान की है। उन पंक्तियों में बाबा ने कहा है कि दुर्जन व्यक्ति कृष्ण पक्ष की चंद्रमा के तरह होता है जिसका प्रकाश प्रथम दृष्टया बहुत तेज होता है और बाद में घटता जाता है जबकि सज्जन पुरुष शुक्ल पक्ष के चंद्रमा की तरह होते हैं जिनका प्रकाश पहले संक्षिप्त होता है लेकिन धीरे-धीरे वह बढ़ता जाता है।

नामवरजी और प्रभाषजी के अलग-अलग खेमे में होने का मेरा भ्रम टूटता गया और जब एक बार दोनों को एक दूसरे का पांव छूते हुए देखा तो मुझे उनके बड़प्पन का अहसास हुआ। प्रभाष जोशी ने छह दिसंबर 1992 को बाबरी मस्जिद गिरने के बाद जिस तरह से संघ परिवार पर हमला बोला उसके नामवरजी बड़े प्रशंसक रहे। उन्होंने कई लेखों और इंटरव्यू में उसका जिक्र किया। प्रभाषजी के जन्मदिन के बहाने नामवरजी को कई बार सुनने और उनके साथ उठने बैठने का अवसर मिला लेकिन लंबी चर्चा कम ही हुई। हम लोग लिक्खाड़ हैं और नामवरजी व्याख्यान ज्यादा देते और लिखते कम हैं इसलिए उन्हें पढ़ कम पाए लेकिन उनको सुनने का आनंद कई बार लिया और जितनी बार सुना उतनी बार लगा कि वे किसी भी पत्रकार से ज्यादा खबरों से अपडेट रहते हैं और किसी भी प्रोफेसर से ज्यादा अकादमिक ज्ञान से भरे हुए हैं।

अपने जेएनयू के एक मित्र जो इन दिनों एक विश्वविद्यालय में विभागाध्यक्ष हैं का कहना था कि नामवरजी को जगह-जगह भाषण करते घूमने के बजाय ठहरकर बैठना और लिखना चाहिए। वे इस बारे में मूर्धन्य आलोचक और बुद्धिजीवी रामविलास शर्मा का उदाहरण पेश करते थे। उनका

कहना था कि रामविलासजी बहुत कम सेमिनारों और गोष्ठियों में जाते हैं और हिंदी समाज को अपने चिंतन और लेखन का ठोस योगदान दे रहे हैं जबकि नामवरजी व्याख्यान दे देकर अपनी प्रतिभा का सही उपयोग नहीं कर रहे हैं। यह बात कहने वाले सज्जन बेहद अध्ययनशील प्रोफेसर हैं और अपनी अतिवादी टिप्पणियों के लिए चर्चित हैं। वे कहा करते थे कि देखो भाई अगर कार्ल मार्क्स भी भाषण देने आ जाएं तो मैं तो उनका भाषण सुनने के बजाय उनकी किताब पढ़ना पसंद करूंगा। आखिर कोई व्यक्ति किताब से ज्यादा अपने भाषण में थोड़े ही कह पाएगा लेकिन उनकी एक विचित्र आदत थी कि वे नई किताब भी लाकर उसे तेजी से पढ़ने के बाद उसके महत्त्वपूर्ण अध्याय फाड़कर रख लेते थे। उनका मानना था कि किसी भी किताब में नई बात महज एक या दो अध्याय में होती है और बाकी अध्यायों में उस बात को कहने की भूमिका बनाई जाती है। यह उनकी अपनी बात का ही अंतर्विरोध था पर वे अपनी बात पर कायम रहते थे।

लेकिन वे रामविलासजी की तुलना नामवरजी से करते हुए जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के कई रोचक प्रसंगों का जिक्र करते थे उनमें एक प्रसंग रामविलासजी के साथ होने वाले किसी सेमिनार का था। रामविलासजी के व्याख्यान के बाद आने वाली प्रश्न की पर्चियों को नामवरजी पढ़ रहे थे और मुख्य वक्ता शर्माजी उत्तर दे रहे थे तभी रामविलासजी ने कहा कि नामवर जरा पान बाहर थूककर आओ। नामवरजी ने उनकी आज्ञा का तत्काल पालन किया और उन्हें पर्याप्त आदर दिया। इस प्रसंग में नामवरजी का बड़प्पन झांकता था लेकिन वे प्रस्तुत इस तरह से करते थे जैसे शर्माजी ने नामवरजी की किरकिरी कर दी।

हिंदी समाज और विशेषकर जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के वे लोग नामवरजी की ज्यादा आलोचना करते हैं जिन्हें या तो उनसे ईर्ष्या है या फिर उनसे कहीं प्राध्यापक की नियुक्ति में मदद की उम्मीद रही। पत्रकारिता में मेरे सहयोगी रहे एक सज्जन आलोचना करते-करते आक्रामक हो जाते हैं जबकि नामवरजी इतने दिनों से आलोचना निकाल रहे हैं, व्याख्यान दे रहे हैं और शायद ही कभी आक्रामक हुए हों। जो लोग उन्हें पूर्वांचल की संस्कृति में रचा बसा या काशी में रचा बसा बताते हैं वे उनकी जड़ों को चिह्नित करते हुए उनकी शाखाओं की ऊंचाई को भूल जाते हैं। नामवरजी दरअसल भारत की लोकतांत्रिक संस्कृति में रचे बसे बौद्धिक हैं और अगर कभी उनका मार्क्सवादी तेवर हिंदी समाज और उसकी आलोचना को विभाजित करता था तो आज लोकतांत्रिक स्वभाव उसे बांधे हुए है।

नब्बे के दशक में जब रामविलास शर्मा दिल्ली आकर विकास पुरी में रहने लगे तो 'जनसत्ता' के लिए नामवरजी, अच्युतानंद मिश्र और मंगलेशजी ने उनका लंबा इंटरव्यू लिया हालांकि वह इंटरव्यू जनसत्ता में छपा नहीं और बाद में 'तद्भव' में प्रकाशित हुआ। उस इंटरव्यू में दो मार्क्सवादी आलोचकों की सोच का अंतर और उनके अध्ययन का समुद्र जैसा विस्तार दिखाई देता है। रामविलासजी हिंदी इलाके में बढ़ती जातिवादी और सांप्रदायिक समस्या से चिंतित थे। इसके समाधान के तौर पर वे हिंदी जाति के निर्माण पर जोर दे रहे थे। उनका यह भी कहना था कि हिंदी के चार प्रमुख प्रदेशों को मिलाकर एक प्रदेश बना देना चाहिए और उसे संकीर्ण मुद्दों से दूर करने की कोशिश करनी चाहिए। उनकी इस अवधारणा के विरुद्ध नामवरजी बोले भी और लिखा भी लेकिन रामविलासजी पर सबसे तीखा हमला अभय कुमार दुबे ने दिल्ली विश्वविद्यालय की एक गोष्ठी में किया। उनके हमले से हिंदी के तमाम अध्यापक तिलमिला गए। सब कहने लगे कि यह हमला तो नामवरजी

ने कराया है। अभय दुबे का कहना था कि यह स्तालिन की राष्ट्रीयता की अवधारणा है जो कब की पिट चुकी है और अब सोवियत संघ के विघटन के बाद तो इस पर चर्चा बंद कर देनी चाहिए।

रामविलासजी के अपार लेखन और अध्ययन की गंभीरता को देखते हुए उन पर किया गया यह हमला अनुचित लगता था। यहां तक कि हजारी प्रसाद द्विवेदी के दूसरे अनन्य शिष्य विश्वनाथ त्रिपाठी भी बहुत आहत थे। वह दौर वैश्वीकरण और उदारीकरण की तेज हवाओं का था और भारतीय जनता पार्टी के उभार का भी। भूमंड़लीकरण और सांप्रदायिकता से बेचैन बुद्धिजीवी तमाम तरह का समाधान ढूंढ रहे थे और उन्हें रामविलासजी की हिंदी जाति की अवधारणा एक समाधान के रूप में लगी लेकिन धीरे-धीरे यह स्पष्ट होता गया कि यह एक किताबी और पुरानी अवधारणा है और उसके आधार पर न तो हिंदी समाज की नई संरचना बन सकती है और न ही सांप्रदायिकता और जातिवाद को रोका जा सकता है। यहां नामवरजी की सोच सही साबित हुई। लगता है नामवरजी ऐसा इसलिए सोच सके कि वे घर में बैठकर महज अध्ययन ही नहीं करते हैं बल्कि बाहर निकलकर समाज के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े मंच से संवाद करते हैं। उन्हें विभिन्न सामाजिक राजनीतिक शक्तियों की हकीकत का अहसास है और वे जानते हैं कि लोकतंत्र की गतिशीलता की दिशा क्या है। इस दौरान रामविलासजी की 'इतिहास दर्शन', 'पश्चिम एशिया और ऋग्वेद' जैसी चर्चित किताबें आईं और 'आजकल' के तत्कालीन संपादक पंकज बिष्ट ने मुझे उनकी समीक्षा का दायित्व दिया। उन किताबों में तथ्य और तर्क तो हैं लेकिन जब उसे अकादमिक लिहाज से देखते हैं तो लगता है कि वह ज्ञान के क्षेत्र में अनधिकृत चेष्टा है। रामविलासजी हिंदी समाज में अपना लोहा मनवाने के लिए अपने विषय का अतिक्रमण करते हुए दूसरे के दायरे में प्रवेश करते हैं। वे बार- बार राहुल सांकृत्यायन को खारिज करते हैं और परोक्ष रूप से अपने को स्थापित करते हैं। इसका अर्थ उस मनीषी की साधना को कम करके आंकना नहीं है लेकिन हर विद्वान के लिए सभी विषय नहीं होते। एक संपूर्ण बौद्धिक होते हुए भी आप कुछ विषयों पर खामोश रह सकते हैं। रामविलासजी में उस धैर्य का अभाव है जबकि नामवरजी में वह पर्याप्त है। इतिहास, राजनीति शास्त्र, दर्शन और अर्थशास्त्र जैसे गंभीर विषयों का अध्ययन नामवरजी के पास भी है लेकिन इन सब पर कलम चलाने को बेचैन नहीं रहते। उनका यह संयम एक तरह की लोकतांत्रिक मर्यादा भी है।

नामवरजी का इतिहास ज्ञान भी अद्‌भुत है और छोटी-छोटी घटनाओं और परंपराओं का जो विवरण उनके पास है वह शायद ही किसी के पास हो। मौका था दिल्ली के इंडिया हैबिटाट सेंटर में मित्र अमरेश मिश्र की रूपा से छपी किताब-- वार आफ सिविलाइजेशन 1857 एडी.के लोकार्पण का। जाड़े के दिनों की गुनगुनी धूप में आनंद प्रधान, अमृता राय, अमरेश मिश्र और शंभुनाथ शुक्ल के साथ बैठकर उनसे इतनी रोचक और ज्ञानवर्धक चर्चा करने का अवसर मिला कि 1857 का तकरीबन नया इतिहास लिखने वाले अमरेश मिश्र भी चकित रह गए। हालांकि यहां इस बात का उल्लेख जरूर किया जाना चाहिए कि रामविलास शर्मा ने इतिहासकार न होते हुए भी सत्तावन की राज्य क्रांति शीर्षक से जो किताब लिखी है वह अपने में अब तक की हिंदी क्या अंग्रेजी में भी लिखी गई किताबों में पहली कतार में आती है। इस बात को नामवरजी भी मान रहे थे और अमरेश मिश्र भी।

आईटीओ चौराहे के पास स्थित गांधी शांति प्रतिष्ठान की एक शाम भुलाए नहीं भूलती। मौका था पत्रकार और रचनाकार प्रियदर्शन के कहानी संग्रह और पत्रकार मनोज मिश्र की रपटों (मैंने दंगा

देखा था) के विमोचन का। राजकमल प्रकाशन से छपकर आई इन पुस्तकों के विमोचन के अवसर पर मंच पर लेखकद्वय के अलावा हिंदी जगत की महत्वपूर्ण विभूतियां थीं। जाहिर है नामवरजी तो थे ही लेकिन उनके साथ प्रभाष जोशी, राजेंद्र यादव, उदय प्रकाश, विभूति नारायण राय, राम बहादुर राय और उदय प्रकाश भी थे और अशोक माहेश्वरी भी मौजूद थे। संचालन का जिम्मा मेरा था। नामवरजी और राजेंद्र यादव की मीठी नोंक झोंक तो चलती ही रहती थी लेकिन उन दिनों उदय प्रकाश और विभूति नारायण राय की ठनी हुई थी। दोनों एक दूसरे के ज्ञान को चुनौती देते घूम रहे थे लेकिन प्रभाषजी और नामवरजी जैसे दिग्गजों का दबाव था कि सभी लोग साथ में एक मंच पर बैठे और मुझे सहजता से संचालन करने दिया। हां बीच में राजेंद्र यादवजी ने मुझे बुलाया और कहा कि हर बार नामवरजी बाद में बोलते हैं इस बार मैं आखिर में बोलूंगा। मैंने वैसा ही किया और पहले नामवरजी को बुलवाया। सामने बैठे जनसत्ता परिवार के श्रोताओं को यह बात कुछ अजीब सी लगी लेकिन नामवरजी एक क्षण के लिए झिझके बिना माइक पर आए और प्रभाषजी के साथ लेखकों और मुझे और श्रोताओं को मुग्ध कर गए। आते ही उन्होंने प्रभाषजी को संबोधित करते हुए फैज का शेर पढ़ा--

सब कत्ल होके तेरे मुकाबिल से आए हैं,
हम लोग सुर्खुरू हैं कि मंजिल से आए हैं।
शाम-ए-नजर, खयाल-ए अंजुम, जिगर के दाग,
जितने चिराग हैं तेरी महफिल से आए हैं।

नामवरजी(और प्रभाषजी) की उपस्थिति का प्रभाव था कि दंगों और कहानियों पर प्रकाशित पुस्तकों के विमोचन के उस अवसर पर मंच पर उपस्थित अंतर्विरोधों के बावजूद न तो कोई 'दंगा' हुआ और न ही कोई कहानी बनी। वाद विवाद के बजाय एक बेहतर संवाद हुआ।

उसके बाद नामवरजी से काव्य संध्याओं और साहित्यिक शामों में कई बार मुलाकात हुई और उनके संस्मरण सुनने को मिले। विशेषकर अपने मित्र और आईएएस अधिकारी उमेश कुमार सिंह चौहान, जो हाल में ही चल बसे, उनकी काव्य गोष्ठियों के बहाने। एक बार तो मंडी हाउस के त्रिवेणी केंद्र में एक कार्यक्रम में हिस्सा लेने के लिए नामवरजी को दूसरी मंजिल के लिए सीढ़ियों से जाते देखा तो दंग रह गया। मैंने सोचा कि एकदम सीधे और सधे कदमों से इस उम्र में अगर हिंदी का शिखर आलोचक सीढ़ी चढ़ रहा है तो उसके लिए कवि से ज्यादा महत्वपूर्ण वह हिंदी समाज है जो तमाम झंझावातों के बावजूद रचनाशील बने रहना चाहता है। नामवरजी उसकी प्राणवायु हैं और उसके लिए प्रकाश स्तंभ हैं।

प्रभाष जोशी के निधन के बाद नामवरजी बहुत दुखी थे और गाजियाबाद में जनसत्ता सोसायटी स्थित प्रभाषजी के फ्लैट पर ही प्रभाष परंपरा न्यास बनाने का निर्णय हुआ। उस बैठक में राम बहादुर राय, जगदीश उपासने, हेमंत शर्मा, आलोक तोमर और नामवरजी के अलावा मैं भी था। न्यास का नाम भी आलोक तोमर का दिया हुआ है। उसके बाद नामवरजी प्रभाषजी की स्मृति में होने वाले हर कार्यक्रम में निरंतर आते हैं और उस परंपरा को कायम रखे हुए हैं जिसे उन्होंने प्रभाषजी के साथ मिलकर कायम किया था।

उसी सिलसिले में आलोचना के पिछले साल(2015 में) आए राजनीतिक विमर्श के दो अंक महत्त्वपूर्ण हैं। इन्हें अपूर्वानंद ने संपादित किया है और इसमें आदित्य निगम और हिलाल अहमद

जैसे राजनीति विज्ञानियों के महत्त्वपूर्ण लेख हैं। जब नामवरजी से पूछा कि आलोचना तो साहित्यिक पत्रिका है लेकिन इसके दोनों अंक पूरी तरह राजनीतिक विमर्श पर केंद्रित हैं, ऐसा क्यों? नामवरजी का कहना था कि जब समाज में मूल्यों का संकट हो तो साहित्य को अपने स्थापित ढांचे को तोड़ना और बदलना पड़ता है। परंपरा का निर्वाह ठीक है लेकिन जरूरत पड़ने पर नई परंपरा डालनी चाहिए। आज जिस तरह से संविधान और स्वाधीनता संग्राम से निकले लोकतांत्रिक मूल्यों पर खतरा मंडरा रहा है उस समय साहित्य क्या विज्ञान भी अपने विमर्श बदले तो आश्चर्य की बात नहीं। उनका कहना था कि साहित्य राजनीति और समाज से अलग कहां है। उसे अपनी सामाजिक जिम्मेदारी उठानी ही होगी। वह खामोश नहीं बैठ सकता। नामवरजी ने इस लेखक से एक इंटरव्यू में कहा था कि नरेंद्र मोदी भले लोकतांत्रिक तरीके से चुने गए हैं लेकिन उनकी कार्यशैली तानाशाह की याद दिलाती है। हमें इससे संभलकर रहना है। उन्होंने याद दिलाया कि हिटलर भी चुनकर आया था और आपातकाल लगाने वाली इंदिरा गांधी भी चुनकर आई थीं। यह है उनकी लोकतांत्रिक प्रतिबद्धता जो उनके व्यक्तित्व में हर जगह स्पष्ट तौर पर दिखती है।

हालांकि बाद में जब दाभोलकर, गोविंद पनसारे और कलबुर्गी व अखलाक की हत्या के बाद लेखकों ने साहित्य अकादेमी के पुरस्कार लौटाने शुरू कर दिए तो नामवरजी ने उसका समर्थन नहीं किया। वे हिंसा और हत्या के खिलाफ थे लेकिन पुरस्कार लौटाने के पक्ष में नहीं। उनके इस रवैये पर उनके बहुत सारे प्रशंसक और कामरेड निराश हुए।

प्रभाषजी अपने अंतिम दिनों में दर्जन भर जगहों पर मुझे भाषण दिलाने ले गए और मेरे साथ भाषण देने गए। वे हर बार मेरी पीठ थपथपाते थे। मेरे मन से उनकी आरंभिक उपेक्षा की टीस कब निकल गई पता ही नहीं चला। इसी तरह नामवरजी मुझे जानते हैं या नहीं जानते मेरी यह बेरुखी तब दूर हो गई जब कवि और पत्रकार पंकज सिंह ने मुझसे कहा कि तुम्हें नहीं मालूम कि मैंने नामवरजी के साथ तुम्हारे लेखन और भाषा पर कितनी चर्चाएं की हैं। मैंने सोचा कि उनकी यही बात उन्हें बड़ा बनाती है कि किसी को बिना बताए ही उसके काम को देखते रहते हैं, खासकर अगर वह हिंदी की सेवा कर रहा है। उसके प्रति मन में सराहना रखते हैं और मौका पड़ने पर कहीं कह देते हैं। यही तो है सज्जन का गुण।

ऐसे में सवाल है कि क्या किसी को प्राध्यापक के लिए नियुक्त न करने और किसी को तरक्की न देने के आधार पर नामवर सिंह और प्रभाष जोशी को जातिवादी और पक्षपाती कहा जा सकता है? हिंदी समाज के इस शिखर पुरुष का मूल्यांकन पैंसठ साल से जारी उसके संवाद और बौद्धिक हस्तक्षेप के आधार पर होना चाहिए वरना हम जब क्षुद्रता से बाहर निकलेंगे तो अपने को माफ नहीं कर पाएंगे। नामवरजी का मूल्यांकन 'कविता के नए प्रतिमान', 'कहानीः नई कहानी', 'छायावाद', 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां' और 'दूसरी परंपरा की खोज' जैसे ग्रंथों के आधार पर होना चाहिए। 'ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत' और 'अस्वीकार का साहस' जैसे अध्याय विद्रोही संदेश देते हैं। हालांकि वे संस्कृति और सौंदर्य व अन्य निबंधों से विद्रोह को संतुलित भी करते हैं। यही संतुलन हमारी लोकतांत्रिक परंपरा है और नामवरजी उसके प्रकाश स्तंभ। भ्रष्टाचार और संकीर्णता के तूफान में लगातार घिरते जा रहे हिंदी समाज का कल्याण तभी हो सकता है जब वह नामवरजी के इस लोकतांत्रिक स्तंभ से अपनी दिशा ले। ●

नामवर जैसा कम्यूनिकेटर दूसरा नहीं

मुकेश कुमार

डॉ. नामवर सिंह पर अकसर ये आरोप लगाया जाता है कि वे लिखते तो हैं नहीं, केवल बोलते हैं। ये काफी हद तक सही भी है और खुद नामवरजी इसे स्वीकार कर चुके हैं, बल्कि अपने पचहत्तरवें जन्मदिन पर आयोजित कार्यक्रम में उन्होंने सार्वजनिक रूप से ये भी कह दिया था कि उनके बोले को ही उनका रचनात्मक योगदान समझ लिया जाए। उसके बाद से टीका-टिप्पणियां थोड़ा कम तो हुईं मगर बंद नहीं हुईं। दरअसल, नामवरजी के प्रशंसकों की तो बहुत बड़ी संख्या है ही मगर उनसे असहमत और अंसतुष्ट लोगों की भी एक बड़ी जमात है। उनकी नाराजगी की कई वाजिब वजहें भी हो सकती हैं, बल्कि होंगी ही, लेकिन ये भी एक सचाई है कि नामवरजी के योगदान को नकारने या उसे छोटा करने का एक अभियान भी चलता रहा है। इस मुहिम में ईर्ष्या-द्वेष की मात्रा भी बहुत रही है। बहुत से आलोचकों को नामवरजी की अखिल भारतीय प्रतिष्ठा एवं लोकप्रियता पचती नहीं है, इसलिए वे उनमें खोट निकालने में लगे रहते हैं। कभी उनके कम लिखने को लेकर सवाल उठाते रहते हैं तो कभी उनकी कथित अवसरवादिता, मठाधीशी को बहाना बनाते हैं। उन्हें हाल-हाल तक ये भ्रम रहा है कि ऐसा करके वे नामवरजी को बौना साबित कर देंगे और लोग और नहीं तो कम से कम उन्हें लेखक मानना तो बंद कर ही देंगे लेकिन वे कभी कामयाब नहीं हुए उल्टे नामवरजी का कद बढ़ता ही रहा। कहने की आवश्यकता नहीं कि वे हिंदी साहित्य के तो केंद्रीय व्यक्तित्व हैं ही, समूचे भारतीय साहित्य जगत में भी उनका एक विशेष स्थान है।

यहां मेरा उद्देश्य हिंदी या भारतीय साहित्य जगत में नामवरजी का स्थान निर्धारण करना नहीं है जो कि न तो मेरे वश में है और न ही मेरे करने से होने वाली है। मैं तो ये बताना चाहता था कि जिसे नामवरजी की सबसे बड़ी कमजोरी बताया जाता रहा है वही उनका अमोघ अस्त्र है। वे अगर आज नब्बे वर्ष की उम्र में भी शिखर पर विराजमान हैं तो उसमें उनकी वाक्शक्ति का सबसे बड़ा योगदान है। सब जानते हैं कि अब वे भूल जाते हैं या विषयांतर कर देते हैं, मगर फिर भी उन्हें सुनने पहुंच जाते हैं। बोलने की कला, महफिल लूट लेने का हुनर उनके पास है और ये बहुत पहले से है। बहुत से लोगों को लग सकता है कि जब वे प्रतिष्ठित हो गए तब लोगों ने उन्हें सुनना शुरू कर दिया, मगर ऐसा है नहीं। बनारस में उनकी कक्षाओं में छात्रों की संख्या के जो किस्से मशहूर हैं वे इस बात का सबूत है कि मामला उल्टा है। आम तौर पर हिंदी की कक्षाओं में छात्रों की उपस्थिति बहुत कम रहती है और वे उसे कतई गंभीरता से नहीं लेते। मगर नामवरजी के व्याख्यान सुनने के लिए दूसरी कक्षाओं के छात्र भी दरवाजों-खिड़कियों तक पर जमा हो जाते थे। इसी से समझा जा

सकता है कि उनकी वाणी में किस तरह की चुंबकीय शक्ति रही होगी। मैंने तो खैर उन्हें बहुत बाद में सुना और उस जादू की कल्पना ही कर सकता हूं और बाद के अनुभवों के आधार पर ही कुछ कह सकता हूं। शायद सन् 1991 में मैंने उन्हें पहली बार भोपाल में सुना था और सुनकर मुग्ध हो गया था। फिर तो जब भी उन्हें सुनने का मौका मिला, कभी नहीं चूका। हर बार मैंने यही देखा कि नामवरजी को सुनने लोग इकट्ठे होते हैं और उनका व्याख्यान पूरा होते ही चले भी जाते हैं। यानी किसी भी दूसरे वक्ता में उनकी रुचि या तो नहीं होती थी या फिर बहुत कम होती थी। सेमिनार के जिस सत्र में नामवरजी होंगे, उसका हिट होना तय रहता था। कुछ लोग कह सकते हैं कि भीड़ तो मदारी और प्रवचन करने वाले भी खूब जुटा लेते हैं, मगर नामवरजी मजमा जुटाने वाले वक्ता नहीं थे या हैं। उनके व्याख्यानों में ज्ञान और स्वतंत्र चिंतन की जो धारा बहती है, लोगों को वही मोहती है। उनकी शैली भी उबाऊ पंडिताऊ नहीं होती, संदर्भ रटे रटाए नहीं लगते, वे सहज ही आते चले जाते हैं। कोई शेर, कबीर का दोहा या तुलसी की चौपाई अनायास ही आकर दिलचस्पी को बढ़ा देती है। साथ ही साथ वे श्रोताओं में जिज्ञासा जगाते चलते हैं। एक सस्पेंस होता है जो खुलता जाता है। लोगों को लगता है कि कुछ महत्वपूर्ण आने वाला है और वह आता भी था, जिससे सुनने वाला मंत्रमुग्ध होता जाता है। उसे लगता है कि ज्ञान की एक सहज नदी बही जा रही है और वह उसमें डुबकियां लगा रहा है।

उपरोक्त बातें बहुत से लोगों को अतिशयोक्ति लग सकती हैं, मगर कम से कम मेरा अनुभव यही है। दूरदर्शन के कार्यक्रम 'सुबह सवेरे' (1998-2004) के दौरान लगभग चार साल तक उनसे नियमित संवाद होता रहा और उसमें भी मैंने कुछ ऐसा ही पाया। कृतियों के चयन से लेकर रिकॉर्डिंग के पूर्व चर्चा और फिर रिकॉर्डिंग के दौरान मैंने हमेशा से महसूस किया कि उनकी हर पंक्ति को ध्यान से सुनना बहुत जरूरी है क्योंकि उसके हर शब्द का महत्व है। यहां तक कि सामान्य गपशप में भी वे महत्वपूर्ण बातें कहते हैं और जिन्हें अगर आप चौकन्ने न हुए तो ग्रहण करने से चूक सकते हैं। शायद यही वजह है कि सुबह सवेरे की साहित्य चर्चा को इस पैमाने पर देखा और सराहा गया। निश्चय ही दर्शकों को उनकी टिप्पणियों में इसीलिए रस मिलता होगा।

इस बात पर अकसर शोक और रोष प्रकट किया जाता है कि मीडिया, खास तौर पर टेलीविजन चौनल साहित्य जगत को अनदेखा करते हैं। ये सचाई भी है कि साहित्य के प्रति उनका रवैया न केवल उपेक्षा का है बल्कि शत्रुता का रूप धर चुका है। साहित्य जगत से जुड़ी गतिविधियों पर ध्यान ही न देना उनकी अघोषित नीति बन चुकी है। उन्हें इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि साहित्य की दुनिया में कौन सी नई प्रवृत्तियां चल रही हैं या क्या कुछ नया रचा जा रहा है। उन्हें केवल बेस्ट सेलर से मतलब है और मतलब है सेलेब्रिटी लेखकों से जो कि जाहिर है कि अंग्रेजी में ज्यादा हैं। यही नहीं, वे साहित्य और साहित्यकारों का मजाक उड़ाने का कोई मौका नहीं चूकते। साहित्य जगत की किसी भी नकारात्मक स्थिति के लिए रचनाओं और रचनाकारों को दोष देना एक फैशन सा बन चुका है। उन्होंने ये धारणा बना ली है कि साहित्य-वाहित्य कोई नहीं देखता और बिकाऊ तो वह है ही नहीं। अब अगर किसी चीज के दर्शक नहीं होंगे और उसमें मुनाफे की गुंजाइश भी नहीं होगी तो वह टीवी के परदे पर आएगी ही क्यों? इसीलिए किसी भी चैनल पर साहित्य या किताबों पर आधारित कोई कार्यक्रम नहीं दिखता। एक अकेला दूरदर्शन है जो एक थका सा कार्यक्रम प्रस्तुत

करता है, जिसका कहीं कोई नोटिस भी नहीं लिया जाता। साहित्य जगत में ही उसकी चर्चा नहीं होती।

टीवी चैनलों में साहित्य की इस निराशाजनक मगर यथार्थपरक स्थिति की ये तस्वीर रखने का मकसद ये है कि जरा ये देखा जाए कि आखिर वह कौन सी बात थी कि करीब डेढ़ दशक पहले हफ्ते में एक बार आने वाला दस से पंद्रह मिनट का एक छोटा सा कार्यक्रम इतनी धूम क्यों मचाता था। सुबह सवेरे में हर शुक्रवार को होने वाली साहित्य चर्चा में ऐसा क्या था कि उसे समूचा साहित्य जगत ध्यान से देखता था, उसकी चर्चा करता था बल्कि इसे साहित्य जगत तक सीमित कर देना भी गलत होगा, क्योंकि हर दिन बोरों में भरकर आने वाली चिट्ठियां बताती थीं कि आम दर्शक भी उसे उतना ही पसंद करते थे। इस छोटे से खंड की लोकप्रियता को देखकर ही हास्य-व्यंग्य के कवि अशोक चक्रधर ने एक सभा में कहा था कि जितना काम साहित्य के लिए किसी और ने नहीं किया होगा उतना मुकेश ने कर दिया है। मेरे लिए ये बड़े सम्मान की बात थी, लेकिन वास्तव में ये छोटी सी साहित्य चर्चा द्वारा अर्जित की गई प्रतिष्ठा थी जो उनके मुख से बोल रही थी। स्पष्ट कर दूं कि 'सुबह सवेरे' की साहित्य चर्चा में हमने अशोकजी की कोई रचना कभी नहीं ली, बल्कि उनका जिक्र भी कभी नहीं किया।

मेरे खयाल से 'सुबह सवेरे' की साहित्य चर्चा की कामयाबी की मुख्य वजह नामवरजी ही थे। उनके अलावा कोई दूसरा होता तो शायद उसे इतने दर्शक न मिलते। ये सही है कि 'सुबह सवेरे' का पूरा कार्यक्रम का संयोजन ही इस तरह का था कि उसे टेलीविजनधारी हर वर्ग के लोग देखना पंसद करते थे। उसमें सुरुचिपूर्ण मनोरंजन और जानकारियों का बहुत अच्छा मिश्रण था, इसलिए वह भारतीय टेलीविजन के इतिहास का सबसे हिट ब्रेकफास्ट शो है। लेकिन उसे हिट बनाने में और साहित्य जगत तक पहुंचाने में नामवरजी का भी विशेष योगदान था। दरअसल, साहित्य जगत में नामवरजी की जो लोकप्रियता और प्रतिष्ठा थी वह भी इस कार्यक्रम से जुड़ गई थी। फिर नामवरजी की किसी रचना के बारे में टिप्पणी एक तरह से उसके अच्छे या बुरा होने के बारे में प्रमाणिक कथन माना जाता था, इसलिए स्वाभाविक था कि हर रचनाकार उत्सुकता के साथ ये जानने के लिए कार्यक्रम देखता था कि देखें नामवरजी किस कृति या लेखक के बारे में क्या कहते हैं। चूंकि नामवरजी के बारे में ये भी विख्यात है कि वे पता नहीं कब किसके बारे में क्या बोल जाएं इसलिए भी जिज्ञासा बनी रहती थी।

मजे की बात ये भी है कि पुस्तक समीक्षा की रिकॉर्डिंग शुरू करने से पहले उनके साथ चर्चा तो होती थी मगर मैं कभी उन्हें अपने सवाल नहीं बताता था। वैसे भी मैं इंटरव्यू के लिए कभी सवाल लिखता नहीं, वह बातचीत के जरिए आगे बढ़ता है, उसी में से सवाल भी निकलते जाते हैं। यही नामवरजी के साथ बातचीत में भी होता था। इसका सबसे बड़ा लाभ ये होता था कि वह कभी तयशुदा लाइन पर नहीं चलता था और उसमें अचानक कुछ नई चीज निकलने या नामवरजी की किसी ऐसी टिप्पणी के आने की संभावना बनी रहती थी, जो कि वैसे नहीं आती। एक दो बार नामवरजी को मैंने असमंजस में भी डाला। एक-दो कृतियां ऐसी थीं जिनके बारे में वे कोई और राय बनाकर आए थे, मगर बातचीत के दौरान वह बिल्कुल उलट गई। नामवरजी को भी शायद इस अचानक वाले खेल में आनंद आता था इसलिए वे मेरे साथ ही साहित्य चर्चा करना पसंद करते थे। एकाध बार कुछ

ऐसी परिस्थितियां बनीं कि किसी और के साथ रिकॉर्डिंग करना पड़ सकता था, मगर उन्होंने मना कर दिया। मुझे इस बात की भी खुशी है कि वे मुझे बहुत छूट देते थे। मसलन, उनके पचहत्तरवें जन्मदिन पर मैंने किसी पुस्तक की समीक्षा करने के बजाए उन पर लगने वाले आरोपों पर तीखे सवाल किए। ये प्रश्न जातिवाद, मठाधीशी और पक्षपात जैसे चुभने वाले मसलों को लेकर थे। उन्होंने इसका बुरा नहीं माना और हंसते हुए कहा-आपके लिए कोई रोक-टोक नहीं है।

कुछ समय पहले योजना बनी थी कि 'सुबह-सवेरे' में चार वर्षों के दौरान प्रसारित हुई साहित्य चर्चाओं को जुगलबंदी के नाम से पुस्तकाकार छापा जाए लेकिन बहुत दुख की बात है कि उनकी रिकॉर्डिंग कहीं मौजूद नहीं है। मेरे पास भी उसकी केवल तीन-चार कड़ियां ही हैं। हिंदी साहित्य की अमूल्य धरोहर थी जो नष्ट हो चुकी है। दूरदर्शन ने उसे संभालकर नही रखा और मैं खुद इस गफलत में रहा कि मेरे पास सबकी तो नहीं, मगर अधिकांश की रिकॉर्डिंग है, जो कि थी ही नहीं। तीन-चार साल पहले फिर ये योजना भी बनी कि क्यों ने उन्हीं कृतियों पर एक बार फिर से बातचीत करके उसकी रिकॉर्डिंग कर ली जाए। इसके लिए पुस्तकों की सूची भी बना ली गई। मगर शायद अब समय बीत चुका है और नामवरजी भी शारीरिक रूप से इतने सक्षम नहीं रह गए हैं कि करीब दो सौ किताबों को फिर से देखें और बात करें लेकिन मेरे लिए यही बड़े संतोष की बात है कि नामवरजी के मन में वे रिकॉर्डिंग छपी हुई हैं और वे हर मुलाकात मे उनका जिक्र करते हैं। साथ ही हजारों ऐसे लोग हैं जो इतने साल बाद भी उन्हें याद रखे हुए हैं।

●

वचन सुनत नामवर मुस्काना!

अनंत विजय

रामचरित मानस के सुंदर कांड में एक प्रसंग है जहां रावण अहंकार में डूबकर हनुमान की पूंछ में आग लगाने का हुक्म देता है। तुलसीदास कहते हैं- बचन सुनत कपि मन मुस्काना। भइ सहाय सारद मैं जाना, अर्थात यह वचन सुनते ही हनुमानजी मन ही मन मुस्कुराए और मन ही मन बोले कि मैं जान गया हूं कि सरस्वती ही रावण को ऐसी बुद्धि देने में सहायक हुई है। कुछ इसी तरह से सालों से हिंदी साहित्य के शिखर पुरुष नामवर सिंह भी मन ही मन मुस्कराते रहते हैं। मुंह में पान की गिलौरी दबाकर। जब नामवर सिंह उम्र के इस पड़ाव पर हैं तो बहुधा उनके मन में इस तरह के विचार उठते होंगे कि उन पर हमला करनेवालों की सोच को आक्रामक करने में सरस्वती ही सहायक हुई होंगी। नामवरजी और उन पर हमलावर लोगों का चोली दामन का साथ रहा है। कभी किसी वजह से तो कभी किसी वजह से। कोई उनको हिंदी साहित्य में ठाकुरवाद का प्रवर्तक कहता है तो कोई नेताओं के साथ सांठ-गांठ का आरोप लगाता है। कभी बाहुबली सांसद पप्पू यादव की किताब 'द्रोहकाल का पथिक' के विमोचन करने को लेकर तो कभी नेताओं के साथ मंच साझा करने को लेकर उन पर हमले होते हैं। जब उन्होंने पप्पू यादव की किताब का विमोचन किया को हिंदी के कुछ क्रांतिकारी लेखक इस बात के लिए नामवर सिंह को घेर रहे थे कि उन्होंने आपराधिक छवि वाले लेखक पप्पू यादव की किताब का विमोचन क्यों किया। इस पूरे विवाद को सोशल नेटवर्किंग साइट्स ने भी हवा दी और मंच भी मुहैया करवाया था। फेसबुक की अराजक आजादी का फायदा उठाकर वहां नामवर सिंह पर जमकर हमले शुरू हो गए। कई टिप्पणियां बेहद स्तरहीन हैं। कुछ नए नवेले क्रांतिकारियों, जिन्हें नामवरजी की साहित्यिक हैसियत का आभास भी नहीं है, ने इस बात को लेकर उनकी लानत मलामत शुरू कर दी थी। इन उत्साही क्रांतिकारियों को इस बात का एहसास भी नहीं है कि जिस विचारधारा के नाम पर वो नामवर सिंह से अपेक्षा कर रहे हैं दशकों तक नामवरजी ने अपने लेखन का औजार भी वहीं से उठाया। उस विचारधारा को विस्तार देने के लिए सतत प्रयासरत रहे। सालों तक प्रगतिशील आंदोलन के अगुवा रहे। कई बाहर तो नामवर सिंह पर सत्ता और ताकत के हाथों खेलने का आरोप भी जड़ा गया है। ऐसा कहनेवाले यह भूल गए कि नामवर सिंह ने हिंदी साहित्य को पिछले पांच दशकों में एक नई दिशा दी है। पहले लिखकर और फिर देश के कोने कोने में जाकर अपने भाषण से हिंदी के नए लेखकों और पाठकों को संस्कारित किया। गैर हिंदी भाषी क्षेत्रों में भी नामवरजी को सुनने के लिए पाठकों और छात्रों की भीड़ जमा होती रही है। नामवरजी के लिखे को पढ़कर कई लोगों ने लिखना सीखा। हिंदी का हर लेखक इस बात के लिए

लालायित रहता है कि उसकी रचना पर नामवरजी दो शब्द कह दें। सार्वजनिक तौर पर नामवरजी के विरोधी लेखक भी अपनी रचना पर येन केन प्रकारेण उनकी राय जानना चाहते हैं। नामवर सिंह की मुहर लगवाना चाहते हैं।

दरअसल किसी किताब के विमोचन आदि के बहाने से कोशिश नामवर सिंह को घेरने की होती है। हिंदी में यह स्थिति बेहद चिंताजनक है कि कई लेखकों की रुचि साहित्य से ज्यादा गैर साहित्यक वजहों और विषयों में होने लगी है। इनमें से कई लेखक तो ऐसे भी हैं जो हिंदी साहित्य में अपनी पारी खेल चुके हैं। और कुछ ऐसे लेखक हैं जिन्हें लगता है कि नामवर सिंह के खिलाफ लिखने पर उनको साहसी लेखक माना जाएगा और इसी बहाने उनको कुछ शोहरत हासिल हो जाएगी। असल में हिंदी साहित्य में सालों से एक अस्पृश्यता भाव जारी है, कार्य में भी और व्यवहार में भी। हिंदी के विचारधारा वाले लेखकों को किसी अन्य विचारधारा के लेखकों के साथ मंच साझा करने में तकलीफ होती है। गाहे बगाहे इसके उदाहरण भी हमें दिखते रहते हैं। एक बार साहित्यिक पत्रिका 'हंस' की सालाना गोष्ठी में मंच पर अशोक वाजपेयी और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से जुड़े विचारक गोविंदाचार्य की पस्थिति मात्र से ही तेलगू कवि और नक्सलियों के हमदर्द वरवर राव वहां नहीं पहुंचे थे। तर्क यह था कि फासीवादी और पूंजीपतियों के विचारों के पोषक और संवाहकों के साथ जनवादी लेखकों का मंच साझा करना उचित नहीं है। हिंदी साहित्य जगत में उस वक्त भी इस पर तीखी प्रतिक्रिया हुई थी। जीवित रहते राजेन्द्र यादव को यह बात माननी पड़ी थी कि अलग अलग विचारधारा के लोगों के बीच विचार विनिमय में कोई भी वाद आड़े नहीं आ सकता है।कई बार नामवर विरोध का एक आधार राजनेताओं के साथ मंच साझा करना होता है। नामवरजी आज उस ऊंचाई पर पहुंच चुके हैं कि मंच और सभा का माहौल उनसे बनता है। वो जहां मौजूद होते हैं वहां के श्रोता और मंचासीन लोग भी नामवरजी को सुनने के लिए उत्सुक रहते हैं। नामवरजी को किसी मंच पर जाने में परहेज नहीं होता है। पिछले दिनों उन्होंने वरिष्ठ पत्रकार हेमंत शर्मा की मानसरोवर यात्रा पर लिखी बेहतरीन किताब 'द्वितियोनास्ति' के विमोचन समारोह में उस वक्त के भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष राजनाथ सिंह, मुरली मनोहर जोशी, रामकथावाचक मोरारी बापू से लेकर योग गुरु बाबा रामदेव तक के साथ मंच साझा किया था। तब भी लगा था कि पहाड़ टूट पड़ा है। इस बात पर भी कई लेखकों ने एतराज जाहिर किया कि नामवर ने भारतीय जनता पार्टी के नेताओं के साथ मिलकर किताब का विमोचन किया। यहां उन पर सांप्रदायिक शक्तियों से मेलजोल का आरोप लगा। मेरा इस बारे में स्पष्ट मत है कि साहित्य और साहित्यकारों को किसी भी तरह की अस्पृश्यता से बचना चाहिए। हम किसी के विचारों को नहीं सुनें या फिर किसी के विचारों का बहिष्कार करें तो यह भी तो एक प्रकार का फासीवाद ही है। इस तरह के वैचारिक फासीवाद का नमूना आपको बहुधा हिंदी जगत में देखने को मिल जाएगा। दरअसल तथाकथित वामपंथी लेखकों ने अपने इर्दगिर्द विचारधारा का एक ऐसा कवच तैयार किया हुआ है जिससे वो असुविधाजनक सवालों से बच सकें। यही मानसिकता उन्हें दूसरी विचारधारा को सुनने या फिर दूसरी विचारधारा के साथ विमर्श करने से भी रोकती है। इससे यह भी पता चलता है कि उनको खुद की विचारधारा पर भरोसा नहीं है। उन्हें लगता है कि दूसरी विचारधारा उनकी विचारधारा पर सवाल खड़े कर सकती है। इन असुविधाजनक सवालों से बचने के लिए वो उनसे बहाना ढूंढ़ते रहते हैं।

सांप्रदायिकता और सत्ता उनकी इस वैचारिक कमजोरी को ढकने के लिए तर्क प्रदान करते हैं। राजनेताओं की उपस्थिति मात्र से या उनके विचारों को सुनने मात्र से भाषा और साहित्य भ्रष्ट नहीं होती है। विचारधारा चाहे कोई भी हो अगर वो वैज्ञानिक होगी तभी लोकप्रिय हो पाएगी वर्ना कुछ ही दिनों में वो नेपथ्य में चली जाएगी। अगर कोई विचारधारा या उसके संवाहक असुविधाजनक सवालों से बचने का शॉर्टकट ढूढते हैं तो तय मानिए कि वो अपनी कमजोरी को छुपाने के लिए ऐसा कर रहे हैं। और मेरा मानना है कि नामवरजी किसी भी मायने में किसी भी मंच के वक्ता से किसी भी तरह के कमजोर नहीं हैं। अगर हम मजबूत हैं और हमें खुद पर भरोसा है तो हमें कहीं भी किसी भी मंच पर जाकर अपनी बातों को मजबूती से रखना चाहिए। नामवर सिंह ऐसा ही करते हैं। कुछ लोग मूर्खता में बेवजह उनकी आलोचना करने के उद्यम में जुट जाते हैं। उम्र के इस पड़ाव पर भी नामवर सिंह को हिंदी में क्या नया लिखा जा रहा है- इसकी जानकारी होती है। नामवर सिंह का विरोध करनेवालों को यह भी सोचना चाहिए कि वो हिंदी की धरोहर हैं। यह हमारी जिम्मेदारी है कि इस धरोहर को संभाल कर रखें।

दरअसल साहित्य और राजनीति के बीच खाई गहरी होती जा रही है, साहित्यकारों और नेताओं के बीच की दूरी बढ़ती जा रही है। सत्तर के दशक के बाद हिंदी में इस प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा था कि लेखकों को नेताओं के साथ मंच शेयर नहीं करना चाहिए। लेखकों ने नेताओं को हेय दृष्टि से देखना शुरू किया था। इनमें वो लेखक ज्यादा थे जो कि अपनी रचनाओं के लिए अजय भवन के संदेशों का इंतजार करते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि राजनीति और साहित्य में दूरियां बढ़ती चली गईं। राजनेताओं के साथ मंच साझा नहीं करने की प्रवृत्ति ने साहित्य और राजनीति के विचारों की आवाजाही को रोक दिया। आयातित विचारधारा की संस्कृति ने अपनी सोच को आगे बढ़ाने के लिए हर तरह के बैरियर लगाए थे। अपनी संस्कृति को छोड़कर हम बाहर से आई संस्कृति के हिसाब से काम करने लगे थे। तभी तो राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा था- 'जातियों का सांस्कृतिक विनाश तब होता है जब वे अपनी परंपराओं को भूलकर दूसरों की परंपराओं का अनुकरण करने लगते हैं। जब वे मन ही मन अपने को हीन दूसरों को श्रेष्ठ मानकर मानसिक दासता को स्वेच्छया स्वीकार कर लेती है। पारस्परिक आदान-प्रदान तो संस्कृतियों का स्वाभाविक धर्म है, किन्तु जहां प्रवाह एकतरफा हो, वहां यही कहा जाएगा कि एक जाति दूसरे जाति की सांस्कृतिक दासी हो रही है। किन्तु सांस्कृतिक गुलामी का इन सबसे भयानक रूप वह होता है, जब कोई जाति अपनी भाषा को छोड़कर दूसरों की भाषा को अपना लेती है और उसी में तुतलाने को अपना परम गौरव मानने लगती है। यह गुलामी की पराकाष्ठा है, क्योंकि जो जाति अपनी भाषा में नहीं सोचती, वह अपनी परंपरा से छूट जाती है और उसके स्वाभिमान का प्रचंड विनाश हो जाता है।' दिनकरजी की बातों को अगर हम वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में देखें तो सारी बातें साफ हो जाती है। दिनकर के इस कथन से सूत्र पकड़ने की जरूरत है जब वो एकतरफा प्रवाह की बात करते हैं।

दूसरी बात यह है कि दूसरों को श्रेष्ठ मानकर मानसिक दास्ता को स्वीकार कर लेते हैं तो विकास अवरुद्ध हो जाता है। आत्मविश्वास की कमी हो जाती हैं। अपने सांस्कृतिक विचारों से मार्क्स के विचारों को श्रेष्ठ मानने का नतीजा आज हम सबके सामने है। किसी मार्क्सवादी कवि में ये नैतिक साहस नहीं है जो दिनकर में था। आज कौन सा कवि लिख सकता है कि 'मर्त्य मानव की विजय

का तूर्य हूं मैं, उर्वशी! अपने समय का सूर्य हूं मैं। अब यह पंक्ति कहने का साहस कवि को है तो उसके पीछे उसका अपनी परंपराओं पर अपनी संस्कृति पर गर्व और विश्वास की ताकत है। उसका आत्मविश्वास है। अपने समय का सूर्य हूं कहना मामूली बात नहीं है। सवाल यही है कि जिस तरह से हमारे साहित्यकार एक पक्ष में खड़े होते चले गए उसने साहित्य को राजनीति का एक पक्ष बना दिया और जब आप एक पक्ष बन जाते हैं तो दूसरा पक्ष आपका अनदेखी करता ही है। साहित्य और साहित्यकारों की अनदेखी तो दोनों पक्षों ने की। संभव है कि नामवर सिंह विचारों की आवाजाही को समझने और जानने के लिए नेताओं के साथ मंच साझा करते हों।

मुझे याद है कि उन्नीस सौ नब्बे इक्यानवे में जब मैं दिल्ली आया था तो उसके चंद दिनों बाद ही नामवर सिंह को पहली बार सुना था। उसके पहले उनसे कई मुलाकातें पटना में हुई थीं। दिल्ली में प्रगतिशील लेखक संघ के सम्मेलन में उनको पहली बार सुना था। वक्ता के तौर पर नामवर सिंह के बारे में कुछ कहना ही नहीं है। उसके बाद दिल्ली में जब फ्रीलांसिंग कर रहा था तब एक अखबार के लिए आलोचना पर परिचर्चा करनी थी। मैंने तय किया कि इस परिचर्चा में नामवर सिंह को शामिल नहीं करूंगा। तब उस पृष्ठ के प्रभारी ने मुझे सचेत भी किया था कि बगैर नामवर सिंह के आलोचना पर कैसे बात हो सकती है लेकिन मैंने किया। मैं ये देखना चाहता था कि हिंदी जगत से इसकी कैसी प्रतिक्रिया मिलती है। साहित्य में चंद लोगों को छोड़कर सबने मुझे मेरे कथित साहस की दाद दी। जिस दिन ये परिचर्चा छपी थी उसी दिन या उसके अगले दिन राजेन्द्र यादव का जन्मदिन था। नामवरजी वहां मिले और जब मैंने उनको प्रणाम किया तो खुश रहो के बाद पहला वाक्य जो उन्होंने कहा वो मुझे आजतक याद है। नामवरजी ने कहा कि तुमने हिंदी में मेरे बगैर आलोचना के परिदृश्य का खाका खींच दिया है। उसके बाद उस परिचर्चा की तारीफ की। फिर तो उनसे मिलने का क्रम जारी ही रहा। वो कई बार मेरे लिखे पर फोन करते थे तो कई बार गोष्ठियों में चुटकी लेते थे। हिंदी भवन में एक गोष्ठी में मेरी ओर देखकर उन्होंने कहा था कि आजकल हिंदी साहित्य में अनंत विजय भी तलवारबाजी कर रहे हैं। पर उनकी हर टिप्पणी में या तो विनोद होता था या फिर दाद।

एक और बात मैं साझा करना चाहता हूं जिस पर साहित्य में कम लिखा गया। नामवर सिंह की राजनीतिक जगत में काफी इज्जत रही है। चंद्रशेखर और विश्वनाथ प्रताप सिंह तो उनको उनकी गाड़ी तक छोड़ने आते थे। बावजूद इसके नामवर सिंह को कभी भी किसी राजनीतिक दल ने राज्यसभा में नामित करने के बारे में नहीं सोचा। नामवर सिंह ने तो विचारधारा की ध्वजा भी उठाई थी और चुनाव भी लड़ा था लेकिन उस विचारधारा ने कभी भी नामवर सिंह को संसद में भेजने की बात नहीं सोचा। बंगाल के हर तरह के छोटे मोटे नेता, प्रोफेसर आदि को राज्यसभा में भेजा गया। नामवर सिंह के बारे में सोचा भी नहीं गया। यह भी गंभीर पड़ताल का विषय है और इस पर कभी कोई कुछ नहीं बोलता है। नामवर सिंह की हिंदी समाज में उपस्थिति एक आश्वस्ति की तरह है जो हम जैसे लेखकों को लगातार प्रेरणा देती है।

●

नामवरजी की चारित्रिक विशेषता है साहस

कृपाशंकर चौबे

आगामी 28 जुलाई को 90 साल के होने जा रहे हिंदी आलोचना के शिखर पुरुष नामवर सिंह तक मेरी पहुंच उनके कथाकार भाई प्रो. काशीनाथ सिंह के मार्फत हुई। नामवरजी की षष्टिपूर्ति पर काशी हिंदू विश्वाविद्यालय के विधि संकाय सभागार में 28-29 मई 1988 को दो दिनी आलोचना सत्र का कार्यक्रम था। उसी कार्यक्रम में काशीनाथ सिंह ने नामवरजी से परिचय कराया। उस कार्यक्रम के लिए नामवरजी ने अपनी स्वीकृति इस शर्त पर दी थी कि उसमें उनकी प्रशंसा के पुल न बांधे जांय, बल्कि सम्यक् व तटस्थी आलोचना हो। मुझे याद है कि पूरे कार्यक्रम में उनकी इच्छा का सम्मान हुआ था। तीन सत्रों में 'रचना की चुनौतियां और आलोचना कर्म', 'आलोचना का सामाजिक दायित्व' और 'मार्क्सवादी आलोचना की समस्याएं' पर विचारोत्तेजक बहसें हुई थीं। विद्यानिवास मिश्र, नागार्जुन, त्रिलोचन, मैनेजर पाण्डेय, मार्कण्डेय, दूधनाथ सिंह, ज्ञानरंजन, परमानन्द श्रीवास्तव, अरुण कमल समेत सत्तर लेखक उसमें शरीक हुए थे। बनारस का वह समारोह इस मायने में अनूठा था कि तमाम लेखकों ने अपने किराए से आकर उसमें भाग लिया था। कार्यक्रम के बाद बी.एच.यू. के गेस्ट हाऊस में नामवरजी से मैंने अखबार के लिए उनका इंटरव्यू किया था। उन्होंने कोई सवाल लौटाया नहीं। सभी सवालों के दो टूक जवाब दिए। उस मुलाकात के बाद विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के लिए नामवरजी से इंटरव्यू करने का सिलसिला दूर तक चल निकला।

एक मुलाकात में मैंने उनसे पूछा था-

आपकी चारित्रिक विशेषता?

नामवर सिंह : साहस।

आपका अभीष्ट गुण?

नामवर सिंह : स्पष्टता।

आपके दुःख की परिकल्पना?

नामवर सिंह : अकेलापन।

आपके सुख की परिकल्पना?

नामवर सिंह : किसी अंतरंग मित्र की प्राप्ति।

आपके निकट क्षम्य दोष?

नामवर सिंह : निंदा

आपके लिए असह्य?

नामवर सिंह : विश्वासघात

आपके काम?

नामवर सिंह : बतरस।

एक अन्य मुलाकात में मैंने नामवरजी से पूछा था-

आप एक सभा में जो कहते हैं, दूसरी सभा में उससे पलट सकते हैं या उससे उलट बातें कह सकते हैं या अपने पूर्ववर्ती वक्तव्य को नकार सकते हैं। मसलन दलित साहित्य पर बोलते हुए आपने दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र को हंसी में उड़ा दिया, फिर शिवपुरी में हुए दलित साहित्य सम्मेलन में आप दलित साहित्य का महत्व प्रतिपादित कर आए?

नामवर सिंह : दलित सौंदर्यशास्त्र का मजाक उड़ाने की बात जिस गोष्ठी के प्रसंग में कही गई है, उसका आयोजन 'हंस' की ओर से राजेंद्र यादव ने दिल्ली में किया था। उस गोष्ठी में मैंने जो कुछ कहा था, उसकी रिपोर्ट 'हंस' में ठीक-ठीक नहीं छप सकी क्योंकि राजेंद्रजी के मुताबिक बीच में टेप खराब हो गया था। मैंने जो कुछ कहा था, आज वह सब हू-ब-हू तो याद नहीं है लेकिन दो बातें ऐसी हैं जिनके बारे में मेरी पक्की धारणाएं रही हैं और मेरा ख्याल है कि उस गोष्ठी में उन्हें मैंने जरूर दोहराया होगा। एक तो यह कि जिस हिंदी साहित्य में किसी समय कबीर और रैदास जैसे दलित वर्ग के संत कवि पैदा हुए, उसमें आज दलित वर्ग के लेखक क्या नहीं हैं? इस पर गहराई से विचार किया जाना चाहिए। जहां तक दलित सौंदर्यशास्त्र और दलित साहित्य शास्त्र का संबंध है, उस दिशा में मेरे देखने में एक ही प्रयास आया था, मराठी में शरद पाटील का एक लेख। उसमें ब्राह्मणवादी सौंदर्यशास्त्र और साहित्य शास्त्र के विरुद्ध विकल्प के रूप में बौद्ध दार्शनिक दिग्नाग के दर्शन के आधार पर एक नया साहित्य शास्त्र रचने की संभावना का प्रस्ताव था। किंतु वह एक प्रस्ताव मात्र था, कोई सुनिर्मित शास्त्र नहीं। संभवतः मैंने इसी तथ्य की ओर इशारा किया था। मैंने इस संभावना का मजाक नहीं उड़ाया था। मजाक उड़ा भी नहीं सकता था। इसका प्रमाण है 'आलोचना' में प्रकाशित मेरा एक लंबा निबंध जिसमें सुभाषित रत्नकोश, सदुक्तिकरणामृत जैसे ग्रंथों में प्रकाशित अनेक निम्नवर्गीय कवियों की मार्मिक कविताओं के आधार पर एक नए काव्य सिद्धांत की ओर संकेत किया था। इन तथ्यों के होते हुए भी कोई बे सिर-पैर का आरोप लगाता है तो उसका प्रतिवाद करना भी मुझे अपमानजनक लगता है।

पर उदाहरण और भी हैं, मसलन (1) दिल्ली की हिंदी अकादमी को आपने कभी तस्करों का गिरोह कहा, फिर उसी के उपाध्यक्ष हुए। (2) कभी आपने अमेरिका के फोर्ड फाउंडेशन से अनुदान लेनेवाले भारत भवन के कार्यक्रमों की अध्यक्षता की, वहीं दूसरी ओर 'सहमत' के अमेरिका विरोधी कार्यक्रम में शरीक हुए। (3) कभी आप भारत भवन के साथ रहे कभी उसके विरुद्ध तनकर खड़े हो गए?

नामवर सिंह : जिस हिंदी अकादमी के बारे में मैंने टिप्पणी की थी, वह विजय मोहन सिंह के सचिव होने के पहले की थी। उसके बारे में दूसरे कई लेखकों की भी ऐसी ही धारणा रही है लेकिन आरोप लगानेवाले इस तथ्य पर पर्दा डालते हैं कि वह उक्ति बहुत कुछ मजाकिया लहजे में कही गई थी। भारत भवन के कार्यक्रमों में ऐसे दूसरे भी लेखक और कलाकार भाग लेते रहे हैं जो या तो 'सहमत' से जुड़े हैं या 'सहमत' के कार्यक्रमों में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे हैं और उन्हें इसमें

कोई विरोध नहीं दिखाई पड़ता। यही नहीं, बल्कि उन पर कोई आरोप भी नहीं लगाया जाता। फिर इस गरीब पर ही निशानेबाजी क्यों? वैसे भारत भवन के कार्यक्रमों में भाग लेकर भी कभी मैं भारत भवन परिवार का सदस्य नहीं रहा। भारत भवन के कार्यक्रमों में इसलिए भाग लेता था क्योंकि साहित्यिक संवाद को मैं जरूरी मानता हूं। संवादों में मैं अक्सर भारत भवन द्वारा प्रचारित साहित्यिक दृष्टि से अपना मतभेद भी प्रकट करता रहा हूं। प्रमाण है 'पूर्वग्रह' में प्रकाशित संवादों की रिपोर्ट। भारत भवन में जाना बंद तब किया जब मुझे लगा कि उस प्रकार का खुला संवाद वहां संभव नहीं है। बस इतनी ही सी बात है, अर्थ लगानेवाले इसका जो भी अर्थ निकालें।

अशोक वाजपेयी ने एक साक्षात्कार में आप पर अवसरवादी होने का आरोप लगाया है। आपकी टिप्पणी?

नामवर सिंह : जिस साक्षात्कार में अशोक वाजपेयी ने यह टिप्पणी की है, वह पुस्तक 'नामवर के विमर्श' नाम से मेरे ही बारे में निकली है और उसमें तुम्हारी भी मुझसे की गई एक बातचीत संकलित है और उस पुस्तक के लोकार्पण के समय पूर्व प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रसाद सिंह ने तुम्हारे प्रश्न व मेरे उत्तर को उद्धृत भी किया था। पुस्तक के संपादक सुधीश पचौरी से अशोक वाजपेयी ने यह बात कही थी। उसी पुस्तक में वह साक्षात्कार भी छपा है जो डा. सुधीश पचौरी ने मुझसे लिया था। अशोक वाजपेयी के साक्षात्कार के ठीक बाद और मुझसे अशोक वाजपेयी के वक्तव्य पर टिप्पणी करने के लिए कहा था। मेरा जवाब उसी किताब में छपा हुआ है जिसमें मैंने स्पष्ट कहा है कि अवसर के अनुकूल बात कहना अवसरवाद नहीं है। विचित्र बात है कि जिस समाचार एजेंसी ने मेरे खिलाफ अशोक वाजपेयी का वह आरोप देशभर में प्रसारित किया जो सुर्खियों में छापा गया किंतु उसने उसी किताब में दिया हुआ मेरा जवाब प्रसारित करना जरूरी नहीं समझा। इसका क्या मकसद हो सकता है? आप स्वयं समझ सकते हैं क्योंकि आप पत्रकार हैं। पत्रकारिता की यह कौन सी नैतिकता है? इस पूरे संदर्भ में सबसे महत्वपूर्ण है- वह अवसर जब पांच महीने पहले छपी हुई किताब के अंश को उछाला गया। यह वही अवसर है जब कुछ पत्रकार राजा राममोहन राय पुस्तकालय प्रतिष्ठान के प्रसंग में मेरे साथ अशोक वाजपेयी का नाम जोड़कर विरोधी अभियान चला रहे थे। इससे ज्यादा इस बात को खोलकर कहने की जरूरत मैं नहीं समझता।

ज्ञानरंजन ने एक इंटरव्यू में मार्क्सवाद से आपके डिगने की बात कही है। आपकी प्रतिक्रिया?

नामवर सिंह : दूसरों के मार्क्सवाद पर प्रश्न लगाने के पहले वे अपनी प्रतिबद्धता का स्पष्ट प्रमाण दें। इससे अधिक मुझे कुछ नहीं कहना है।

नामवरजी से कभी बनारस, कभी दिल्ली तो कभी कोलकाता में मेरी अनगिनत मुलाकातें और लंबी-लंबी बैठकें हुई हैं। उनसे किसी मुलाकात में काशीनाथ सिंह पर चर्चा नहीं हुई हो, ऐसा नहीं हुआ। वे हमें काशीनाथ के आत्मीय के रूप में देखते हैं, इसलिए उनका प्रसंग आता ही था।

बलिया में नामवर : बलिया के लोगों की इच्छा थी कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की जयंती उनकी जन्मभूमि आरत दूबे का छपरा, ओझवलिया में मनाई जाए और उसमें नामवरजी को अवश्य लाया जाए। नामवरजी से मैंने आग्रह किया और वे सहर्ष तैयार हो गये। नामवरजी अपने खर्चे से गुरुधाम पहुंचे। नामवरजी के साथ कई दूसरे साहित्यकार भी 30 अगस्त, 1991 को द्विवेदीजी के गांव पहुंचे। बलिया का वह दृश्य मुझे याद है। रास्ते में बाढ़ का पानी देखकर बाहर से आए

साहित्यकार ठिठक गए थे। नामवरजी एक हाथ चप्पल लेकर दूसरे हाथ से धोती घुटनों तक उठाए पानी में उतर पड़े। त्रिलोचन शास्त्री, विश्वनाथ त्रिपाठी और केदारनाथ सिंह ने उनका अनुगमन किया तब जाकर वे लोग हजारीप्रसाद द्विवेदी जयंती समारोह स्थल पर पहुंच सके। उस समारोह में नामवरजी ने कहा था : 'आज मेरा जन्म सार्थक हो गया। आचार्य द्विवेदी का शिष्य होने और उनके साथ रहने का सौभाग्य मिला था, लेकिन वह भूमि जहां उनका जन्म हुआ, उसके दर्शन का अवसर आज मिला। यह भी उन्हीं का प्रताप है। मैं तो निमित्त मात्र हूं। यदि मैं द्विवेदीजी का शिष्य न होता तो आपका यह स्नेह काहे को मिलता? उनका शिष्य होकर ही मैं आज इस रूप में आपके सामने खड़ा हूं।'

नामवरजी ने यह भी कहा था, 'पंडितजी की जयंती आज ऐसे समय हो रही है, जब पूरा ओझवलिया गांव-चारों ओर से घिरा हुआ है पानी से, पर यहां की धरती में अद्‌भुत शक्ति है जो इसकी रक्षा करती है। जिन्होंने भी पंडितजी का साहित्य पढ़ा है, वे जानते हैं कि इस साहित्य में ओझवलिया गांव, आरत दूबे का छपरा, यहां के रहने वाले लोग कितने रूपों में विद्यमान हैं। उनके बहाने द्विवेदीजी का साहित्य पूरे जीवन जगत को देखने का रास्ता बताता है। कार्यक्रम के बाद अंतरंग बातचीत में काशीनाथजी के बारे में बात चली तो नामवरजी ने कहा कि जिस बी.एच.यू. में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी नहीं टिक सके, मुझे नहीं टिकने दिया गया, वहां काशीनाथ टिक गये, यह मेरे लिए बहुत बड़ी बात है।

दुर्गापुर में नामवर : दुर्गापुर के मित्रों ने मुझसे आग्रह किया कि निराला की मूर्ति के अनावरण के लिए नामवरजी को मैं तैयार करा लूं। हमारे निवेदन पर नामवरजी तैयार हो गए। 14 सितंबर, 1996 की रात साढ़े दस बजे वे कोलकाता आ गये। भारतीय भाषा परिषद के अतिथि कक्ष में ठहरे। सुबह मैं और अरविन्द चतुर्वेद नामवरजी को लेकर हावड़ा स्टेशन पहुंचे। नामवरजी ने पूछा कि ए.सी. का टिकट मिल जाएगा न? मैंने कहा : देखता हूं। कोशिश करता हूं। कोशिश क्या करनी थी? न मेरे पास ए.सी. के टिकट लायक पैसे थे न अरविंद चतुर्वेद के पास। अंततः द्वितीय श्रेणी में हम तीनों रवाना हुए। ट्रेन में नाश्ते की बात चली तो टिकट खरीदने के बाद हमारे पास इतने पैसे थे कि सिर्फ दो खीरे लिए जा सकते थे। हमने दोनों खीरे नामवरजी को दे दिए। उन्होंने हमसे भी खाने को कहा किंतु हमने मना कर दिया तो खीरा खाते हुए नामवरजी ने एक कहानी सुनायी : 'दो लोग रेल में यात्रा कर रहे थे। एक ने खीरे लिए, उसे कई भागों में काटा। हर भाग को वह आदमी काफी देर तक सूंघता फिर ट्रेन से बाहर फेंक देता। सारे खीरे इसी तरह सूंघकर उसने बाहर फेंक दिए। साथ वाले यात्री ने पूछा, आपने फेंक क्यों दिया? मुझे भी तो दे सकते थे। खीरा वाले सज्ज न ने कहा : इसमें जो सुगंध थी, उसे सूंघ लिया। उसी से मुझे तृप्ति मिल गयी और सूंघने के बाद उसमें कुछ बचा नहीं तो फेंक दिया।' इस पर ठहाका लगा। रास्ते में इसी तरह कई कहानियां उन्होंने सुनाईं। दुर्गापुर स्टेशन पर नामवरजी का कार्यक्रम आयोजकों ने भव्य स्वागत किया। फूल मालाओं से नामवरजी लाद दिये गये। दुर्गापुर हाऊस में हमें टिकाया गया। अंगवस्त्रम से स्वागत हुआ। निराला की मूर्ति के अनावरण के बाद समारोह को संबोधित करते हुए नामवरजी ने कहा था, 'निराला की कर्मभूमि रहा है बंगाल। इसलिए उनकी मूर्ति का स्थापित होना विशेष आशय रखता है।'

कार्यक्रम के बाद गेस्ट हाउस में उन्होंने कहा था, 'कृपा, काशी जैसा भाई न मिलता तो शायद इतने वर्ष मैं न जी पाता। यूनिवर्सिटी में दौ सौ पैंसठ रुपये मिलते थे। काशी ही घर चलाते। उसी

में सारे खर्च अंटा लेते। मैंने कुछ नहीं जाना। नौकरी छूटी, तब भी नहीं। जब नौकरी नहीं थी, काशी को पढ़ाने के लिए बनारस लाया था। काशी को तब भी कठिनाइयों से जूझना पड़ा। बी.एच.यू. में जब वे अध्यापक बन गए तो विश्वविद्यालय की राजनीति के कारण उन्हें क्या-क्या परेशानी नहीं झेलनी पड़ी? काशी जैसा भाई मिला, जन्म सार्थक हो गया। किसी को भी जीवन में काशी जैसा भाई मिले तो और कुछ मिलने की जरूरत नहीं होगी।'

बनारस में सोते समय नामवरजी का पैर दबाते थे काशीनाथ। एक पैर काशी दूसरा पैर राम जी। भाइयों के सुख-दुख का ख्याल रखने में न नामवर का जवाब है, न काशी का। काशीनाथ को नामवर का भाई होने के नाते साहित्य में काफी कीमत चुकानी पड़ी। नामवर के दुश्मन काशी के दुश्मन। नामवरजी के दुश्मनों की तो लंबी कतार है। साहस की कमी दोनों में नहीं है। काशी के लेखन पर नामवरजी जब बोले तो विवाद हुआ। 'याद हो कि न याद हो' पर या कहानी 'पांड़े कौन कुमति तोहें लागि' पर उन्होंने टिप्पणी की और इन रचनाओं के वैशिष्ट्य को रेखांकित किया तो कइयों ने कहा, भाई का पक्ष है। इसी तरह पूर्व प्रधानमंत्री चंद्रशेखर की जेल डायरी की भूमिका नामवरजी ने लिखी तो लोगों ने क्या नहीं कहा? पर नामवर हैं कि तय किया तो करेंगे। चंद्रशेखरजी की जेल डायरी की भूमिका लिखने का आग्रह नामवरजी से मैंने ही किया था और यह भी उन्हें बताया था कि चंद्रशेखरजी की कई किताबें राजकमल प्रकाशन से आ रही हैं और वे सभी किताबें प्रभाष जोशी, राम बहादुर राय और हरिवंश, सुरेश शर्मा तथा मेरी देख-रेख में तैयार हो रही हैं तो उन्होंने भूमिका लिखी और कंपोज कराने के बाद नामवरजी की हस्तलिखित भूमिका मैंने हरिवंशजी को देते हुए कहा था-इसे संभालकर रखिएगा। यह आपके लिए अनमोल उपहार है।

नामवरजी कोई टिप्पणी करें, विवाद न हो, यह असंभव है। लिखें तब विवाद, न लिखें, तो विवाद, बोलें तो विवाद चुप रहें तो विवाद। विवाद नामवरजी का संगी साथी है। 'कहानी नई कहानी' में 'परिंदे' को पहली नई कहानी कहने पर ऐसा विवाद कि कभी न थमा। आज लोग कहते हैं कि कहानी की गंभीर आलोचना का सूत्रपात नामवरजी ने किया। दृढ़ता के साथ नामवरजी ने कहानी के लोकतांत्रिक स्वारूप को प्रतिष्ठित किया, छायावाद के महत्व को प्रतिपादित किया और कविता में रूपवाद की मुखालफत की। 'छायावाद', 'कविता के नए प्रतिमान' 'इतिहास और आलोचना' किताबों में नामवरजी की स्थापनाओं से साहित्य में काफी हल्लामचा है। 'आलोचना' पत्रिका के संपादकीय हों या रामविलास शर्मा पर केंद्रित उसका अंक हो, विवाद को मानों नामवरजी स्वयं आमंत्रित करते हैं।

कोलकाता में नामवर : नामवरजी राजा राममोहन राय पुस्तकालय प्रतिष्ठान के चेयरमैन बने तो अक्सर कोलकाता आते। उनकी हर यात्रा में हम उनके साथ होते। कोलकाता में उन्होंने मेरी दो-दो किताबों का लोकार्पण किया। एक कार्यक्रम में तो उन्होंने यहां तक कह दिया कि मैं हजारीप्रसाद द्विवेदी का हनुमान भक्त हूं और वे मेरा मंदिर बनाएंगे। सुनकर मैं संकुचित हो गया था। जब उषा गांगुली ने काशीनाथ सिंह की कहानी 'पांड़े कौन कुमति तोहिं लागि' पर आधारित 'काशीनामा' का मंचन किया तो नामवरजी कोलकाता आए और एक-एक कलाकार से मिले। नामवरजी के 75वें वर्ष में प्रवेश करने पर देश भर में 'नामवर के निमित्त की आयोजन शृंखला का जब कार्यक्रम बना तो कार्यक्रम की रूपरेखा बनाने की पहली बैठक दिल्ली में हुई थी। उस बैठक

में मैं भी शरीक था। उस बैठक में मैनेजर पांडेय, सुधीश पचौरी, केदारनाथ सिंह, प्रभाष जोशी, नित्यानंद तिवारी और सुरेश शर्मा उपस्थित थे। फैसले के तहत दिल्ली, मुंबई, पटना, भोपाल, कोलकाता समेत अनेक स्थानों पर 'नामवर के निमित्त' आयोजन करने का फैसला हुआ। कोलकाता में हुए कार्यक्रम के तीन संयोजक थे- मैं, डा. शंभुनाथ और डा. चंद्रकला पांडेय। नामवरजी सिर्फ हिंदी साहित्य- के ही केंद्रीय व्यक्ति नहीं हैं, समस्त भारतीय भाषाओं में उनकी लोकप्रियता है। कोलकाता में आयोजित 'नामवर के निमित्त' कार्यक्रम में देश की शीर्ष लेखिका महाश्वेता देवी अस्वस्थ होने के बावजूद आना टाल नहीं सकीं। भव्य आयोजन हुआ। महाश्वेताजी ने गीत गाकर सुनाया। हिंदीतर भारतीय भाषाओं में नामवरजी की जनप्रियता के पीछे उनकी जन पक्षधरता, संघर्ष की क्षमता, साहस और सम्यक दृष्टि का ही योग है। जिस नामवर सिंह की उपस्थिति मात्र से किसी कार्यक्रम में चार चांद लग जाते हैं, उसी नामवर को वृत्ति के लिए बनारस से लेकर राजस्थान और दिल्ली की खाक छाननी पड़ी। यहां-वहां भटकना पड़ा। संघर्ष के कठिन दिनों में भी उनका साहसपूर्वक उन्होंने सामना किया। नामवर की नामवरियत को काशीनाथ के संस्मरण के बगैर समझना अंसभव है। लकदक सफेद कुर्ता-धोती में वही छवि हम देख रहे हैं, बीते 28 वर्षों से। वे धीरे-धीरे खुलते हैं। नामवर- काशी का पत्र संवाद 'काशी के नाम' दोनों भाइयों के स्वभाव और उनके आपसी संबंधों का साक्षात्कार कराता है। नामवरजी ऊपर से गंभीर दिखते हैं पर हमने देखा है- भीतर से वे एकदम सरल हैं। बच्चों जैसी दुर्लभ सहजता है उनके भीतर। अपार यश अर्जित करने के बाद भी यह सरलता जस की तस बनी हुई है। हम कई जनसत्ताइयों को नामवरजी 'सहारा समय' में ले गए। तब वे सहारा के सलाहकार संपादक थे। जब वे महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति बने तो मैं वर्धा आ चुका था। जब मैं विश्वविद्यालय के कोलकाता केंद्र में प्रभारी बनकर चला गया तो उन्होंने 18 मार्च 2012 को कुलाधिपति के रूप में विश्वविद्यालय के कोलकाता केंद्र का दौरा किया और वे केंद्र में ही ठहरे और गोष्ठी में कहा कि कृपा के आकर्षण में वे आए हैं। द्विवेदीजी पर मेरी संपादित किताब के बारे में उन्होंने लिखा है, 'इस पुस्तक का संपादन करके तुम तो एक साथ ही ऋषि ऋण, पितृ ऋण और गुरु ऋण सबसे उऋण हो गए इसलिए ऐसे भाग्यशाली युवक को मेरे पास ईर्ष्याभरी बधाई ही देने को रह गई है।' इससे बड़ा प्रमाणपत्र शायद ही अब मुझे इस जीवन में मिले। खास तौर पर उस व्यक्ति से जिसने लिखते और बोलते हुए निरंतर इतिहास बनाया। नामवरजी ने 'इतिहास और आलोचना' में लिखा है, 'इतिहास वही लिखता है जो इतिहास में योग दे।' नामवरजी ने जो इतिहास लिखा है, वह इतिहास स्वीकृत तथ्य है।

●

नामवर एक नदी का नाम

प्रियदर्शन

नामवर सिंह के बारे में लिखने का अधिकार शायद मुझे नहीं है। उनकी छाया में जेएनयू और दूसरे विश्वविद्यालयों के हजारों छात्र निकले जिन्होंने कई साल तक उनसे रोज कुछ न कुछ सुना और सीखा, उनके संसर्ग में बहुत सारे प्राध्यापक, लेखक और बुद्धिजीवी आए, जिनके साथ उनका संवाद चलता रहा, वे बहुत सारे आयोजनों के कर्ता-धर्ताओं से, सरकारी महकमों के अफसरों से और बहुत सारे उन लोगों से रोज मिलते रहे जो उनसे प्रभावित रहे।

इस लिहाज से देखें तो हिंदी साहित्य और आलोचना के इस आचार्य के अर्जुन-भीम पूरे देश में फैले हुए हैं। कुछ युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव भी हैं और कुछ दुर्योधन-दुःशासन भी। साहित्य के इस महाभारत के महारथियों की पंक्ति में मेरी जगह नहीं है। मैं कतार में कहीं बहुत पीछे हूं। निस्संदेह उनके लेखन से, और दिल्ली में अलग-अलग मौकों पर होने वाले उनके भाषणों से जो संभव था, वह सीखने की कोशिश की, लेकिन अपने एकलव्य होने का दावा भी नहीं कर सकता। जाहिर है, ये हजारों लोग नामवर सिंह पर कहीं ज्यादा बेहतर और प्रामाणिक टिप्पणी कर सकते हैं जिन्होंने उनके साथ ज्यादा वक्त गुजारा है, उनको कहीं ज्यादा करीब से देखा है।

फिर भी मैं यह टिप्पणी लिखने का साहस कर रहा हूं तो इसकी एकाधिक वजहें हैं। समकालीन या युवा ही नहीं, बिल्कुल नवोदित लेखकों या पत्रकारों के प्रति नामवर सिंह जितनी उदारता दिखाते रहे हैं, वह हमारे समय के किसी दूसरे आलोचक में नजर नहीं आती है। यह बस वह मंचीय उदारता नहीं है जिसमें वे कई बहुत मामूली लेखकों या कृतियों को महान बनाने में लगे दिखाई पड़ते हैं। इस बात के लिए अक्सर उनकी आलोचना भी होती रही है कि वे बिल्कुल मंच लगी भाषा बोलते हैं और ऐसा करते हुए वे किसी को भी मीरा और कबीर तक साबित करने से नहीं हिचकते। कई बार मुझे लगता है कि ऐसे मौकों पर वे एक तरह का नाटक कर रहे होते हैं। वे अपने पूरे वक्तव्य को ही इतना सपाट और व्यर्थ बना देते हैं कि उससे लेखक फौरी तौर पर भले खुश हो जाए, उसका कोई भला न हो। सुमन केशरी द्वारा संपादित किताब 'जेएनयू में नामवर' में शायद यह गोविंद पुरुषोत्तम देशपांडे का लेख है जिसमें नामवरजी के भाषणों की अलग-अलग श्रेणियां बनाई गई हैं- कहीं बहुत विद्वत्तापूर्ण, कभी सभा देखी और कहीं किसी और ढंग की।

बहरहाल, इस विषयांतर से बचें। नामवरजी की जिस उदारता की बात मैं कर रहा था, उसका वास्ता बिल्कुल नए लेखकों को पढ़ने के उनके उत्साह से है। हिंदी में अगर कुछ भी अच्छा लिखा जाता है तो उसे किसने लिखा है, यह जानने में नामवर सिंह अद्‌भुत उत्साह दिखाते हैं। इसे अपने

अनुभव से भी जानता हूं और अपने मित्रों के अनुभव से भी। यह 1996 का साल था जब मैंने 'जनसत्ता' ज्वाइन किया था। उन दिनों मैं 'जनसत्ता' के संपादकीय लिखा करता था। कई बार ऐसा हुआ कि किसी संपादकीय के बारे में नामवर सिंह ने मंगलेश डबराल को फोन करके पूछा कि यह किसने लिखा है। आने वाले दिनों में 'दुनिया मेरे आगे' के नाम से शुरू हुए दैनिक स्तंभ में मेरी टिप्पणियां छपनी शुरू हुईं तो उन्होंने उन्हें ध्यान से पढ़ना शुरू किया। इसके बाद जब हम एक कार्यक्रम में मिले तब तक नामवरजी को मेरे बारे में सारी सूचनाएं मालूम थीं। यह अनुभव सिर्फ मेरा नहीं है- बहुत सारे दूसरे युवा लेखकों-पत्रकारों का भी है। इससे यह पता चलता है कि नामवर सिंह बिल्कुल नए से नए लेखन और विचार को लेकर कितने सचेत रहते हैं और हिंदी में किसी भी लेखक में जरा सी क्षमता देखकर किस पुलक से भर जाते हैं।

दरअसल एक दौर में युवा लेखन को खोजने-मांजने और प्रोत्साहित करने का सेहरा भले राजेंद्र यादव और उनके 'हंस' के सिर जाता रहा हो, लेकिन इस खोजे-मांजे हुए लेखक को जब तक नामवर सिंह की मान्यता और मुहर न मिल जाए तक तक वह अपने-आप को लेखक नहीं मान पाता है। पिछले दो-तीन दशकों से हिंदी का कोई लोकार्पण समारोह जैसे तभी महत्वपूर्ण लगता है जब उसमें नामवर सिंह मंचस्थ हों। और नामवर सिंह भी बड़ी कृपा और उदारता के साथ तमाम छोटे-बड़े लेखकों और प्रकाशकों का आग्रह स्वीकार करते रहे हैं और उनकी कृतियों को आशीर्वाद प्रदान करते रहे हैं। सतह पर यह बहुत मामूली सी बात लगती है, लेकिन इसको इस तरह देखना जरूरी है कि हिंदी समाज उनसे यह मान्यता क्यों चाहता है? क्योंकि आज की तारीख में वे शायद अकेली शख्सियत हैं जिनकी आवाज हिंदी संसार के हर कोने में सुनी जाती है। लेकिन क्या यह हैसियत नामवर सिंह ने बस इसलिए हासिल की कि वे जेएनयू में वर्षों तक प्राध्यापक रहे, कई प्रकाशनों और पुरस्कारों से जुड़े रहे और 'आलोचना' जैसी पत्रिका के मुख्य संपादक भी रहे? हो सकता है, बहुत सारे लोग इस वजह से भी उनके पीछे या उनके साथ आए हों। हर समाज की तरह हिंदी समाज में भी पद और प्रतिष्ठा के पीछे लगने वाले लोगों की कमी नहीं है।

लेकिन नामवरजी की ताकत इतनी भर होती तो वे कब के अप्रासंगिक हो चुके होते। ओहदों और संस्थानों के बल पर धाक जमाते और फिर किसी शून्य में विलीन हो जाते कई महारथी हमने देखे थे। नामवर सिंह अपने तमाम साहित्यिक कर्मकांडों के बावजूद उनसे ऊपर उठे हुए ऐसे मनीषी आलोचक रहे जिनका दृष्टि पटल बहुत बड़ा है। वे मध्यकाल और आधुनिक काल को फलांगते हुए बिल्कुल समकालीन समय पर आ टिकते हैं और साहित्य की आलोचना को अपने ढंग से एक जनतांत्रिक विस्तार देते हैं। दुर्भाग्य से यह वह काम है जिसे हिंदी में खुद को श्रेष्ठ समझने वाली पंडित परंपरा कुछ उपेक्षा और तिरस्कार से देखती है। उसके लिए साहित्य वह है जो विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है या लेखक वे हैं जो गुजर चुके हैं और जिन पर पी-एच.डी. की जा सकती है। लेकिन नामवर सिंह ऐसी किसी ग्रंथि के दूर-दूर तक शिकार नहीं हैं। वे जिस ठसक से शास्त्रीय साहित्य और परंपरा पर लिखते या बोलते हैं, उसी भरोसे से बिल्कुल अद्यतन लिखी जा रही रचनाओं पर भी टिप्पणी करते हैं। यह वह चीज है जो उनके लिए- और उनके माध्यम से बहुत सारे दूसरे लोगों के लिए भी- साहित्य के क्षेत्र का विस्तार करती है और उसे लगभग पत्रकारिता की परिधि पर ला खड़ा करती है। यही बात पत्रकारिता के साथ भी होती है। नामवरजी की नजर पड़ जाने भर

से कुछ लेखों का साहित्यिक मोल बढ़ जाता है, कुछ लेखकों के भीतर अपने लिखे हुए के प्रति कुछ भरोसा बढ़ जाता है।

दरअसल इस बात को कुछ और विस्तार से समझें तो नामवर सिंह के व्यक्तित्व और उनके योगदान के कुछ और पहलू खुलेंगे। बरसों पहले नामवर सिंह पर केंद्रित 'वसुधा' के विशेषांक के लिए टिप्पणी लिखते हुए मैंने नामवर सिंह और रामविलास शर्मा की तुलना की थी। वैसे तो यह तुलना हिंदी में लगातार होती रही है, लेकिन मेरा संदर्भ उनका लेखकीय योगदान नहीं था, वह स्वभाव था जिससे जुड़कर वे दोनों हिंदी को कुछ दे रहे थे। मैंने लिखा था कि डॉ. रामविलास शर्मा पहाड़ जैसे हैं। इस पहाड़ को हिंदी का संसार बहुत सम्मान के साथ देखता है, उसको पूजता भी है, लेकिन आम तौर पर उस पर चढ़ने की कोशिश नहीं करता। उनके आखिरी दिनों में उनका व्यक्तित्व बिल्कुल हिमालयी लगता था और उनकी मोटी-मोटी किताबें श्रद्धा जगाती थीं। वे अपनी ऋषि जैसी उपस्थिति के साथ बिल्कुल मंत्रों की तरह बोलकर ये किताबें लिखवा रहे थे।

लेकिन रामविलास शर्मा जैसे पहाड़ के मुकाबले नामवर सिंह एक नदी जैसे हैं। यह नदी हिंदी के तटों को सींचती रही है। यह नदी न होती तो हिंदी का पर्यावरण इतना विशाल और हराभरा न होता जितना दिखता रहा है। नामवर सिंह ने यह काम दिल्ली में बैठे-बैठे एक-दो दिन में नहीं किया है। वे पिछले तीन-चार दशकों में पूरे देश की यात्रा करते रहे हैं। छोटी-छोटी जगहों पर, छोटे-बड़े कार्यक्रमों में हिस्सा लेते हुए उन्होंने हिंदी का बौद्धिक मानस सींचा है। दिल्ली में रहते हुए और आज की तारीख में एक ऐसी दुनिया में जीते हुए, जहां इंटरनेट, ऑनलाइन रीडिंग और सोशल मीडिया ने दिल्ली की केंद्रीयता खत्म की है और शहरों और कस्बों को करीब ला दिया है, नामवर सिंह की इस कोशिश का महत्व समझ में नहीं आता है। मगर आज से दस बीस साल पहले, जब हिंदी के छोटे-छोटे शहरों में किताबें नहीं मिलती थीं, पत्रिकाएं देर से पहुंचती थीं और ज्ञान और पठन-पाठन से जुड़ी नई सामग्री दूर की कौड़ी थी तब उस उपेक्षित भूगोल में नामवर सिंह जैसे लेखक-आलोचक का जाना एक बड़ी घटना हुआ करता था। दरअसल नामवर ने हिंदी के दकियानूस और धोती-कुर्ता संसार को आधुनिकता के संस्कार दिए। ऐसा करते हुए उन्होंने देश भर में हिंदी की प्रतिभाओं की अपने ढंग से शिनाख्त भी की और उन्हें बढ़ावा भी दिया। यह अनायास नहीं है कि इन तमाम दशकों में किसी भी बड़े लेखक का अगर अपने समय के किसी आलोचक से सबसे घनिष्ठ संबंध और संवाद रहा तो वे नामवर सिंह रहे।

बेशक, नदियों का जो दुर्भाग्य होता है, वह नामवर सिंह का रहा। उनमें अपने परिवेश की गंदगी घुलती-मिलती रहती है। नदियां कई बार उन्हें बहाकर समुद्र में फेंक जाती हैं और खुद को शुद्ध कर लेती हैं। लेकिन पर्यावरण जैसे-जैसे जहरीला होता जाता है, नदियों की गाद भी बड़ी होती जाती है। नामवर सिंह भी अपने स्रोतों के पास जितने शीतल और शुद्ध हैं, वे अपने प्रवाह में वैसे नहीं रह पाते। उनकी कई बातों के लिए भरपूर आलोचना हुई है। दिल्ली में आकर लगता है कि वे यमुना जैसे हो गए हैं। उनके विचलन कई बार उनके प्रशंसकों को घोर निराशा में डाल देते हैं। उनके कई फैसलों, उनकी कई मैत्रियों, कई आयोजनों में उनकी शिरकत पर सवाल उठते हैं जो कई बार वैध भी होते हैं।

लेकिन इससे नामवर का कद घटता नहीं क्योंकि ये आयोजन, ये फैसले या ये मैत्रियां वह

चीज नहीं हैं जो नामवर सिंह का मूल तत्व बनाती हैं। नामवर बनते अपनी उस विद्वत्ता से हैं जो हमारे समय में लगातार दुर्लभ होती जा रही है। जो लोग यह शिकायत करते हैं कि नामवर सिंह ने नया कुछ नहीं लिखा, सिर्फ भाषणों से काम चलाया है, वे नहीं समझ पाते कि इन भाषणों ने कई बार कई लेखकों को विचार के कितने सारे नए बिंदु दिए हैं। नामवर सिंह द्वारा छोड़े गए सूत्रों के आधार पर टिप्पणियां लिखी गईं, लेख लिखे गए और पूरी किताबें लिखी गईं। नामवर की इस विद्वत्ता को जो चीज अलग तरह की विशिष्टता देती है, वह समकालीनता से उनका संवाद है। यही वह चीज है जो उनके 90 साल का हो जाने के बावजूद उन्हें पुराना पड़ने नहीं देती। बिल्कुल युवा से युवा लेखकों तक उनकी सहज सुलभता, सबके लिए कुछ कह सकने का औदार्य और इन सबके बीच उस मूल तत्व को पहचानने की समझ, जिससे वास्तविक साहित्य बनता है- नामवर को विलक्षण बनाती हैं। यह विलक्षणता बनी रहे, नामवरजी बने रहें, यह नदी हिंदी के तटों को सींचती रहे- यही कामना है।

●

हिंदी आलोचना का रुख मोड़ते नामवरजी

अशोक मिश्र

हिंदी पट्टी! यानी बीमारू प्रदेश जिसमें उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड़, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान आदि राज्य शामिल हैं। आजादी के बाद से इन इलाकों को राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक दृष्टि से पिछड़ा करार दिया गया। इन प्रदेशों की सांस्कृतिक चेतना या यों कहें कि बौद्धिक जागरूकता धीरे-धीरे बढ़ी है। पिछले पांच-छह दशकों के दौरान जो बौद्धिक स्पंदन हो सका है उसके निर्माण में डॉ. नामवर सिंह का नाम प्रमुख है।

जैसा कि सबको विदित है डॉ. सिंह ने मार्क्सवादी आलोचना का रुख अख्तियार किया और उसी की राह चले। उन्होंने उसकी जबर्दस्त पेशबंदी की और तीक्ष्ण रूप से सामने रखा साथ ही भारत से बाहर के पश्चिमी विचारकों के वैचारिक दर्शन, चिंतन से भी परिचित कराया। उन्होंने आलोचना की विषयवस्तु, शैली, तर्क, सामाजिक परिवर्तन, शासक-प्रजा के बीच के संबंध सभी को मार्क्सवादी दृष्टि से देखा और मार्क्सवादी पोजीशन लेकर एक खास समझ को जीवित किया। आज हिंदी आलोचना और नामवर सिंह एक दूसरे के पर्याय बन चुके हैं। वे हिंदी की वाचिक परंपरा के आचार्य बनकर हिंदी पट्टी में घूम-घूमकर साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना का विस्तार करते रहे हैं।

हमें यह ध्यान रखना होगा कि मार्क्सवादी आलोचना एक दृष्टि भर है पर एकमात्र दृष्टि नहीं है। वह कई दृष्टियों में से एक है। मार्क्सवादी दृष्टि के लिए उनका उत्साह कभी-कभी अतिरिक्त हो जाता है जिसे वे अपने तर्कों से कई बार संभाल लेते हैं। अभी यह कहना मुश्किल है कि वह सुदृष्टि है या कुछ और। हिंदी आलोचना की संस्कृति के निर्माण में नामवरजी ने अपने आलोचकीय हस्तक्षेप से बार-बार ऊर्जा भरने का काम किया है। उनका मानना है कि किसी रचना को उसके आस्वादन से नहीं समझा जा सकता। इससे पहले के आलोचक रचना क्या कहती है इसका विश्लेषण किया करते थे। नामवरजी ने आलोचना को इस पद्धति से बाहर निकाला और रचना के सामाजिक संदर्भ और आर्थिक, राजनीतिक संदर्भ की जद में लाने का काम किया। आलोचना की व्याप्ति की। उनका मानना है कि रचना वही है जो अपने समय के यथार्थ से टकराए। उनका मानना है कि साहित्य यथार्थ की प्रामाणिक प्रतिलिपि नहीं होता बल्कि नया यथार्थ रचता है। प्रश्न, प्रतिप्रश्न, व्याख्या, आकांक्षा, उपेक्षा आदि की युक्तियों का इस्तेमाल करते हुए नामवरजी हिंदी आलोचना संस्कृति के केंद्र में बने रहने में सफल रहे हैं। ब्यौरे में न जाते हुए कहा जा सकता है कि वह आलोचना की कला के सिद्धहस्त कलाकार हैं। यह स्व अर्जित पूंजी है। उन्होंने आलोचना की संस्कृति का अनेक स्तरों पर निर्माण किया है। उनके आलोचना कर्म का वैचारिक स्तर पर निरंतर विकास हुआ है। आलोचना के जिस प्रासाद का उन्होंने विस्तार किया है उसके दरवाजे कहीं से भी

बंद नहीं हैं। इस खुलेपन और गतिशीलता के लिए वे सदैव याद किए जाएंगे। इसके कारण उनके मंतव्य का पाठ भी कई तरह से होता है।

हिंदी पट्टी की बड़ी-बड़ी संगोष्ठियों की सांस्कृतिक रपट लिखते हुए मैंने यह अच्छी तरह समझा कि हिंदी के शीर्षस्थ आलोचक नामवर सिंह खबरों में कैसे रहा जाए इसकी कला अच्छी तरह जानते थे क्योंकि उन्हें पता था कि साहित्यिक खबरों को अखबारों में कम ही स्थान मिल पाता है। इसलिए वे कोई ऐसी बात जरूर कहते हैं कि जिसे अखबारों में प्रमुखता से स्थान मिले और ऐसा होता भी रहा। यह समझ राजेंद्र यादव के भीतर भी थी जो विवादास्पद वक्तव्य देने में आगे रहते थे।

डॉ. नामवर सिंह हिंदी पट्टी में साम्यवादी वैचारिक चेतना फैलाने का काम कम से कम पिछले पांच दशकों से कर रहे हैं। इस क्रम में उन्होंने हिंदू, हिंदुत्व और उससे जुड़े फासीवाद पर जमकर प्रहार किया। खंडन खूब है पर विकल्प की ओर कोई स्पष्ट संकेत नहीं दिखता है। चर्चा को मार्क्सवादमय करने के लिए नामवरजी के पास अनेक युक्तियां हैं। पर मुझे लगता है कि शायद यह ऊपरी तह है क्योंकि भारतीय परंपरा में भी उनकी गहरी पैठ है। उन्होंने रूढ़िवादिता, अंधविश्वास, कलावाद, राष्ट्र, लोकतंत्र, परंपरा, अठारह सौ सत्तावन की क्रांति, उत्तर आधुनिकता, आलोचना, फासीवाद, सांप्रदायिकता, जातीयता, विश्व सभ्यता, बाजारवाद, भाषा, छंद, भारतीयता, रस, काव्यशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र, प्रगतिशीलता जैसे विषयों पर खूब जमकर लिखा है। उन्होंने 'दूसरी परंपरा' की बात कर परंपरा में लोकधर्मी नवाचार को जगह दी। यह उन्हें इतना प्रिय है कि कुलाधिपति के रूप में महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में आयोजित हिंदी का दूसरा समय के उद्घाटन समारोह को संबोधित करते हुए विश्वविद्यालय को ही 'हिंदी की दूसरी परंपरा' घोषित कर डाला। उन्होंने सैकड़ों लोकार्पण समारोहों में कहानी, कविता, उपन्यास, संस्मरण, आत्मकथा, आलोचना, हिंदी भाषा, समाजशास्त्र, धर्म, राजनीति, विज्ञान, लघु पत्रिकाओं जैसे विषयों पर व्याख्यान देकर एक नहीं कई पीढ़ियों को लाभ पहुंचाकर एक खास तरह की सांस्कृतिक चेतना से लैस करने की चेष्टा की है।

डॉ. सिंह ने महावीर प्रसाद द्विवेदी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, मुंशी प्रेमचंद, राहुल सांस्कृत्यायन, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, यशपाल, केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा, हरिशंकर परसाई, धूमिल, मुक्तिबोध के अपने आलोचकीय पाठ उनकी खूबियों और कमियों से हिंदी भाषी समाज को परिचित कराया। साथ ही नए लेखकों की प्रतिभा की ओर इशारा कर उनके लेखन को भी प्रोत्साहित करने का काम किया है।

नौंवें दशक के आरंभ में साहित्य की दुनिया में प्रवेश के बाद मुझे नामवरजी के विचारों को जानने की सदैव उत्सुकता रही। क्या बोलते हैं? उनके वाक चातुर्य का क्या कहना! उन्हें साक्षात सुनने का मौका दिल्ली आने पर 1994 में मिला। वह अपने गढ़े तर्कों द्वारा मनोवांछित सिद्ध कर डालने में कुशल हैं। इतिहास, उद्धरण और निर्वचन का अवसरानुकूल उपयोग कोई उनसे सीखे।

मुझे याद आता है कि एक बार वे 31 जुलाई 2009 को 'हंस' की सालाना संगोष्ठी में जो कि 'युवा रचनाशीलता और नैतिक मूल्य' विषय पर आयोजित थी जब अध्यक्षीय संबोधन के लिए आए तो अपनी टिप्पणी में अजय नावरिया के संपादन में निकले 'हंस' के 'नयी नजर का नया नजरिया' विशेषांक की पहले तो जमकर धज्जियां उड़ाईं। उन्होंने कहा कि हमें राजनीति की तर्ज

पर चालू नारों से परहेज करना चाहिए। महज युवा होना नैतिकता की पहचान नहीं है। युवा रचनाशीलता के नाम पर किसी का वरण करने से पहले इस बात की पड़ताल आवश्यक है कि रचनाकार में भाषा की तमीज है या नहीं है। हिंदी में हर दशक के बाद एक नयी पीढ़ी आती रही है पर उसके नैतिक रूप से सही होने का निर्णय देने से पहले हमें प्रेमचंद के सूत्र वाक्य 'हम किसके साथ खड़े हैं' को ध्यान में रखना चाहिए क्योंकि बाहर से युवा दिखने वालों में कई ऐसे भी होते हैं जिनके भीतर पोंगापंथी और सडांध होती है। नामवरजी के यह कहते ही सभागार में कुछ मिनट तक तालियों की गड़गड़ाहट जारी रही। उन्हें जो कहना होता है जरूर कहते हैं और कई बार वे आलोचकीय वक्तव्य से धुनाई भी कर दिया करते हैं। यह नामवरजी की खास विशेषता है।

पहले की तुलना में अब वय अधिक हो जाने के कारण नामवरजी ने लोकार्पण कार्यक्रमों से थोड़ा किनारा किया है। नई दिल्ली के विश्व पुस्तक मेलों में वे अकसर ही पुस्तकों का लोकार्पण करते दिखते रहे हैं। नामवरजी ने कितने लोकार्पण किए हैं कि शायद ही उन्हें याद हो। वर्ष 2016 के पुस्तक मेले में एक दिन वे राजकमल प्रकाशन के स्टाल पर पधारे जिसके बाद उन्हें लीलाधर मंडलोई के साथ भारतीय ज्ञानपीठ के स्टाल की ओर जाना था लेकिन जैसे ही प्रणाम कर मैंने उनसे अनुरोध किया कि महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का हमारा स्टाल सामने ही है, वे मना नहीं कर सके और स्टाल पर आकर लीलाधर मंडलोई, शंभु गुप्त व कई अन्य साहित्यकारों की उपस्थिति में 'बहुवचन' के आलोचना अंक का लोकार्पण भी किया। अंक को उलट-पलटकर सरसरी तौर पर देखा और मेरी ओर देखकर मुसकराए। कुछ देर बैठकर बातचीत करते रहे। बहुत से आरोप लगते रहे हैं पर वे अपनी धुन के पक्के हैं। हमारी कामना है कि वे हमारे बीच रहें और स्वस्थ व प्रसन्न रहें। हमें हिंदी के इस जुझारू आलोचक पर गर्व है।

●

मूल्यांकन

- अशोक वाजपेयी
- पी.एन. सिंह
- रविभूषण
- बलराज पांडेय
- रामशरण जोशी
- गौतम सान्याल
- रामाज्ञा शशिधर

नामवर विफलताएं

अशोक वाजपेयी

यह बड़ी प्रसन्नता की बात है नामवर सिंह हिंदी साहित्य के इतिहास में सबसे दीर्घजीवी आलोचक हैं। उन्होंने हिंदी आलोचना को उसके किताबीपन और अकादेमिक उलझावों से मुक्त कर संप्रेषणीय बनाने में बड़ी भूमिका निभायी है। बहुत कुछ उनके कारण आलोचना हिंदी में हाशिए का मामला न रहकर केंद्र में आई। उसने रचना को प्रभावित करना भी शुरू किया, भले वह रचना से स्वयं भी लगातार प्रतिकृत होती रही है। नामवरजी उन आलोचकों में से हैं जिन्होंने समकालीन और समवर्ती रचनाशीलता पर विचार और उसके विश्लेषण को आलोचना का लक्ष्य बनाकर उसे ऐसी समकालीनता दी जो पहले, कुल मिलाकर, नहीं थी। हिंदी में, कम से कम पिछले दो-तीन दशकों से, जो भी विचार होता है आलोचना में ही होता है और वह उसकी एकमात्र प्रामाणिक विधा है : इसमें भी नामवरजी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आलोचना अंततः वाद-विवाद संवाद का क्षेत्र है और इस क्षेत्र में नामवरजी अरसे से बड़े सक्रिय हिस्सेदार रहे हैं, भले उसके नियामक होने का भ्रम उनके कुछ अनुयायियों को और शायद स्वयं उन्हें होता रहा है। वे अधीत विद्वान हैं और उनकी ज्ञान के कई अनुशासनों में गहरी रुचि रही हैः इस विद्वत्ता का कोई बोझ उनकी आलोचना पर उन्होंने कभी नहीं डाला। हमारे समय और समाज में साहित्य की समझ बढ़ाने और उसके सामाजिक आशयों को देख पाने में नामवरजी ने निश्चय ही योगदान दिया है।

उपलब्धि, भूमिका और प्रभाव के इस संदर्भ में, इस मुकाम पर उनकी कुछ विफलताओं पर ध्यान देना एक तरह से हिंदी आलोचना की कमियों का लेखा-जोखा लेना भी है। याद आता है कि अमरीकी कवि राबर्ट फ्रॉस्ट के अस्सी वर्ष पूरे होने पर एक डिनर आयोजित हुआ था जिसमें शामिल सैकड़ों लोगों ने उसके लिए राशि खर्च की थी। उस समय प्रख्यात अमरीकी आलोचक लॉयनेल ट्रिलिंग ने एक व्याख्यान दिया था जिसमें फ्रॉस्ट की कविता को पूरी तरह से ध्वस्त किया गया था। उनकी स्थापनाओं से सहमति-असहमति को लेकर लंबी बहस चली। पर किसी ने भी इस पर आपत्ति नहीं की कि ट्रिलिंग-ध्वंस फ्रॉस्ट की अस्सीवीं वर्षगांठ के अवसर पर किया गया। मैं इस पूर्वोदाहरण से प्रेरणा लेकर कुछ कहने की धृष्टता कर रहा हूं। नामवरजी का मुझ पर दशकों से स्नेह रहा है और मैं आश्वस्त हूं कि वे इसका बुरा नहीं मानेंगे।

नामवर सिंह अपने साहित्य से अनुराग के लिए विख्यात रहे हैं : उनके पाठक और छात्र सभी इसकी ताईद करेंगे कि उनमें गहरी रसज्ञता है। वे लगातार साहित्य पढ़ते-गुनते हैं। यह इतना अप्रत्याशित भी नहीं है : आखिर आलोचना अनुराग से ही उपजती है। जो अप्रत्याशित है वह,

नामवरजी के मामले में यह है कि उनकी रुचि और दृष्टि के बीच फांक है- थोड़ी बहुत तो सबके यहां होना स्वाभाविक है। पर उनके यहां यह फांक उनकी वैचारिक प्रतिबद्धता के चलते बराबर चौड़ी होती रहती है। इस फांक का उन्होंने कभी एहतराम किया हो ऐसा याद नहीं आता। जो बात गौर करने की है वह यह है कि वे अपने अनुराग और रुचि की, विचारधारा के लिए, बलि देते रहे हैं और ऐसा करने में उन्हें कोई बौद्धिक संकोच या नैतिक बेचैनी हुई या होती है इसका कोई सार्वजनिक साक्ष्य नहीं है। साहित्य के अपने लंबे-गहरे अध्ययन-अध्यापन से वे जानते हैं कि साहित्य उसके निरे विचार में नहीं घटाया जा सकता : उसमें विचार होता है पर उसके अलावा और अकसर उससे अधिक महत्वपूर्ण कई और तत्व होते हैं जो साहित्य को साहित्य बनाते हैं। जब-तब वे इसका अपनी वाचिक अभिव्यक्ति में जिक्र भी कर देते हैं। पर उनका सारा साहित्यिक आकलन विचार पर केंद्रित रहा है इसमें कोई संदेह नहीं। सच्ची-गहरी रुचि विचार से अलग भर नहीं उसके विरुद्ध भी जा सकती है। लेकिन नामवरजी के यहां वह कभी नहीं गई। यह गहराई से सोचें तो साहित्य के सर्जनात्मक उन्मेष का अस्वीकार है। अगर साहित्य विचार और विचारधारा की जकड़बंदी तोड़ नहीं सकता या उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता तो उसे साहित्य मानने में संकोच होना चाहिए। नामवरजी के यहां ऐसा संकोच लगभग गायब है।

नामवरजी का एक दुराग्रह यह रहा है कि साहित्य सामाजिक परिवर्तन का कारक उतना नहीं जितना कि उसका अनुगामी है : उनमें यह आग्रह इतना प्रबल और बद्धमूल है कि उन्होंने कभी इस संभावना या सचाई पर विचार ही नहीं किया कि साहित्य में कई परिवर्तन अपने आप या प्रतिभा के दबाव से होते हैं और उनका जरूरी तौर पर किन्हीं सामाजिक परिवर्तनों से कोई संबंध नहीं होता। साहित्य में अनेक सामाजिक प्रक्रियाएं प्रतिबिंबित होती हैं पर वह निरा प्रतिबिंबित तो कभी नहीं होता- ऐसे प्रतिबिंबिन भी उसमें रूपांतरित हो जाते हैं। यह नामवरजी के एक दिलचस्प अंतर्विरोध को भी व्यक्त करता है : एक ओर तो वे लेखक के व्यक्तिगत स्वभाव और प्रतिभा को स्वीकार करते हैं लेकिन, दूसरी ओर, उनका आलोचनात्मक व्यवहार ऐसा है मानों कि साहित्य व्यक्ति नहीं समाज लिखता है। पिछले कई दशकों से उन्होंने भले रूढ़ मार्क्सवादी पदों जैसे वर्गबुद्धि आदि का इस्तेमाल नहीं किया है, उनके बौद्धिक चित्त में वर्गबोध और उसे साहित्य की रचना और आलोचना में लगभग केंद्रीय मानने का पूर्वग्रह बहुत गहरे धंसा हुआ है।

नामवरजी ने अपनी आलोचना में जो साहित्य-सामाजिकी विकसित की या कि यहां-वहां से जोड़-तोड़ कर विन्यस्त की उसमें साहित्य की स्वायत्तता के लिए कोई जगह नहीं है। इस स्वायत्तता पर जोर देनेवालों पर उनके प्रहार का मुख्य मुद्दा उन्हें समाज-विरोधी बताना रहा है। यह इसके बावजूद कि जिन लेखकों ने इस स्वायत्तता पर बल दिया है उनमें से, उदाहरण के लिए, अज्ञेय और निर्मल वर्मा ने कभी कहीं ऐसी समाज-निरपेक्ष स्वायत्तता की हिमायत या वकालत नहीं की। किसी भी समय विचार और व्यवहार के लोकतंत्र में समाज के बारे में कई अवधारणाएं हो सकती हैं- होती ही हैं। आप किसी अवधारणा से असहमत हो सकते हैं पर उसे इसलिए समाजविरोधी कहना- मानना कि वह आपकी अवधारणा से इत्तफाक नहीं रखता, न तो तर्कतथ्य संगत है, न ही बौद्धिक ईमानदारी। समाज को बदलने के अपने तरीके को ही एकमात्र वैध तरीका माननेवाला आलोचक लोकतांत्रिक नहीं कहा जा सकता।

इस सामाजिकी का हिंदी आलोचना पर गहरा असर पड़ा है। उसमें इन दिनों शिल्प और भाषा को विचार में लेने की जगह बहुत कम है। स्वयं नामवरजी ने, अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के बावजूद, इस सचाई की अधिकतर अवहेलना ही की है कि साहित्य भाषिक संरचना है : उसमें भाषा शिल्पित होकर ही सार्थकता पाती है। साहित्य का सच बिना भाषा में सच हुए संभव ही नहीं है। फिर भाषा भले सामाजिक सम्पदा और उत्तराधिकृत होती है, उसे शिल्पित तो लेखकीय प्रतिभा और कौशल की करते हैं। पर नामवरजी की सामाजिकी में चूंकि उनके लिए जगह नहीं या बहुत कम है, उन्हें कलावादी आग्रह या सरोकार करार दिया गया है। अगर आज की ज्यादातर हिंदी आलोचना में भाषा-विचार और शिल्प-विचार बहुत कम और दृष्टि और विचार से आक्रांति है तो इसे वैधता देन का काम इसी सामाजिकी ने किया है।

इस सामाजिकी के फैलने और व्यापक रूप से प्रचलित होने का एक मोटा कारण तो यह है कि नामवरजी के छात्र बड़ी संख्या में आसेतुहिमालय फैले हुए हैं और उनमें से अनेक को अकादेमिक संस्थाओं में जगह नामवरजी ने ही सीधे उन्हें चुनकर या अपने प्रभाव का उपयोग कर दिलवायी है। ये शिष्य उनकी कीर्ति की ध्वजाएं फहराते रहते हैं और उनमें से बहुत कम ऐसे हैं जो इस सामाजिकी से अलग जाने की हिम्मत कर सकें। उनकी बुनियादी दृष्टि नामवर-दीक्षित होने के कारण, बिना समतुल्य प्रतिभा और अनुभव के, इस सामाजिकी को बनाए रखने और पुष्ट करने को अपना अलिखित-अघोषित धर्म मानती और उससे साहित्य में जो दाखिल-खारिज होता है उसे कृतज्ञता ज्ञापित करने के तरीके के रूप में जस का तस अपना लेती है।

इस मुकाम पर नामवरजी के चार अतिचारों का जिक्र करना उचित होगा। विचारधारा के अतिरेक के अलावा उनके यहां तीन और अतिचार सक्रिय रहे हैं : वाचिकता, अवसरवादिता और सत्ता का आकर्षण। सही है कि किसी हद तक नामवरजी ने हिंदी आलोचना में वाचिक परंपरा की एक तरह से शुरुआत की। कई बड़े और अच्छे लेखक हिंदी में प्रभावशाली वक्ता रहे हैं पर उनमें से प्रत्येक ने अपनी बुनियादी अभिव्यक्ति लिखकर ही की। नामवरजी पहले आलोचक हैं जिन्होंने पिछले लगभग चार दशक लिखकर कम, बोलकर अधिक बिताए हैं। उनके बोले हुए को लिखित में बदलने और संग्रहीत करते हुए चार पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं : चार और आना है। आठ पुस्तक भर नामवरजी से पहले किसी हिंदी लेखक ने नहीं बोला। इसका एक दूसरा पहलू भी है : नामवरजी ने अकसर जो बोला वह कभी लिखा नहीं। अपनी वाक्शूरता और वाग्मिता से वे सारा हिंदी अंचल दशकों से लगभग रौंदते रहे हैं : उसका अधिकांश लिखित में कभी नहीं आया, न आएगा- इन आठ पुस्तकों में भी नहीं। यह कई तरह से अपने को रिकॉर्ड से बाहर रखने जैसा जतन है। राजनेताओं की तरह वे अपना बचाव, मौका आने पर, भले यह कहकर न करें कि 'मैंने तो ऐसा नहीं कहा था और मेरी बात संदर्भ से काटकर देखी जा रही है।' पर यह तथ्य अपनी जगह बना रहता है कि लिखित न होने के कारण उनके कई अभिमत, निंदा-प्रशंसा, प्रहार आदि संवाद और बहस के दायरे से बाहर चले जाते हैं। इसे आलोचकीय अनैतिकता के अलावा कुछ और नहीं कहा जा सकता। आलोचना, प्रथमतः और अंततः, लिखित संवाद, विवेचन और विश्लेषण है। ऐसी वाचिकता उसे रिकार्ड से बाहर रखकर कुछ ऐसा करती है जो एक साथ अनैतिक और आलोचना का अवमूल्यन है। यह, एक स्तर पर, आलोचना को निरे अभिमत, अफवाह या फतवे में बदलने जैसा है। दिल्ली में रहनेवाले हम जैसे

लोग याद कर सकते हैं कि इस दौरान नामवरजी ने अपने वक्तव्यों में लगभग हर वर्ष किसी साहित्यिक आयोजन, पुस्तक, लेखक या पत्रिका के लोकार्पण आदि के अवसर उन्हें खुल्लमखुल्ला और निस्संकोच ऐतिहासिक घोषित किया है जबकि उनमें से प्रायः सभी एक वर्ष भी ध्यान में नहीं रह पाते या पाए हैं। अगर यह उदारता है, जो कि निश्चय ही सबमें स्पृहणीय गुण है, तो आलोचक को उसमें भी विवेक और संयम से काम लेना चाहिए जो कि नामवरजी शायद ही कर पाये या पाते हैं।

बरसों पहले मैंने एक इंटरव्यू में नामवरजी को अचूक अवसरवादी कहा था। उनके यहां अवसर के अनुकूल कुछ कहने-करने की अब एक लंबी परिपाटी बन गई है। सभा-गोष्ठियों में वे श्रोताओं को देकर उन्हें रिझाने की दृष्टि से कुछ कहते हैं : कभी-कभी खरी-खोटी भी सुना देते हैं। लेकिन, ज्यादातर, वे अनुकूल और प्रिय बातें कहकर ही श्रोताओं की प्रशंसा जीतते हैं। लोकतांत्रिक भावना का सहारा लेकर वे ऐसे मंचों पर जाते रहे हैं जिनके आयोजकों से उनका घोर विरोध जगजाहिर रहा हे : वहां वे अपना वैचारिक विरोध प्रगट नहीं करते बल्कि कुछ बेहद निरामिष कहकर संतुष्ट हो जाते हैं। यह दुश्मन के मंच का इस्तेमाल करना नहीं है, जो कि उनकी प्रगतिशीलता की एक घोषित रणनीति रही है। यह उस मंच को अपने इस्तेमाल की अनर्जित छूट देना है। नामवरजी अपनी विचारध ाारा से विपथ होते हैं पर किसी वैचारिक उद्वेलन या किसी रचना या स्थिति या मूल्य-संकट के कारण नहीं : उनका ऐसा विचलन या अतिक्रमण शमशेर बहादुर सिंह या गजानन माधव मुक्तिबोध के अतिक्रमण से कोसों दूर शुद्ध अवसरवादिता के कारण होता रहा है। उनके साहित्यिक आचरण में यह अवसरवादिता एक अंर्तप्रवाह ही बन गयी है। उन्होंने कुछ वर्ष पहले अपने बारे में बात करते हुए यह कहा था कि उन्हें लेखक प्रगतिशील लेखक संघ ने बनाया : अगर यह सच है तो भयानक है- क्योंकि हमारे जाने स्वयं संघ ने लेखक बनाने का दावा कभी नहीं किया। लेकिन शायद यह संघ का समर्थन सुनिश्चित किए जाने की एक अवसरवादी हरकत भर है, गंभीर सचाई नहीं।

यही अवसरवादिता नामवरजी के एक और रुझान का कारण है : उनमें सत्ता के प्रति अतर्कित आकर्षण रहा है। हममें से कइयों ने दिल्ली में उन्हें सत्ताधारियों के साथ मंच पर होने पर बहुत विनम्र होते देखा है। कुल दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। उनका अमृत महोत्सव उनके प्रिय और एक हिंदी दैनिक के संपादक-मित्र ने बहुत जोर-शोर से मनाया था। उसमें समापन के समय पांच-छः राजनेताओं ने नामवरजी की अभ्यर्थना की। उनमें से किसी पर यह लांछन नहीं लगाया जा सकता कि उन्होंने कभी उनका लिखा कुछ पढ़ा होगा। उस समय बचाव में यह कहा गया था कि वे राजनेता हिंदी समाज की ओर से नामवरजी के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने एकत्र हुए थे। सभी राजनेता थे, राजनीति और वर्तमान या भूतपूर्व सत्ताधारी होने की समानता थी- वे संयोगवश एक ही वर्ण के भी थे। हिंदी समाज उसके लेखकों, बुद्धिजीवियों, विद्वानों आदि के बजाय उसके राजनेताओं को अपना सबसे ऊंचा और प्रामाणिक प्रतिनिधि मानता है यह मानने का कोई आधार न तब था, न आज है। हिंदी समाज में बुद्धि और सृजन की, विचार और आलोचना आदि के प्रति बहुत उदासीनता है यह सही है। पर उसमें राजनीति से परे अपनी सर्जनात्मकता और विचारश्सीलता को समझने और उसका आदर करने की तेजस्विता भी है। इस विचित्र अर्भ्यथना के पीछे नामवरजी की सहमति न रही हो यह मानने का कोई कारण नहीं है। दूसरा उदाहरण भवानी प्रसाद मिश्र के पैतृक गांव में हुए एक आयोजन का

है जिसमें मिश्रजी पर केंद्रित एक आयोजन में नामवरजी गए थे और मध्यप्रदेश के तबके मुख्यमंत्री को आना था। वे देर से आए और उन्हें जल्दी ही जाना भी था। नामवरजी ने इस अवसर पर दिए अपने संक्षिप्त वक्तव्य में मिश्रजी के बारे में कुछ नहीं कहा और मुख्यमंत्री की नाहक प्रशंसा में सारा समय लगाया। वे हिंदी के अग्रणी सार्वजनिक बुद्धिजीवी हैं और उनका सत्ता के समक्ष अपने को इस कदर विनम्र और कई बार उसकी चापलूसी करना कतई शोभा नहीं देता। यह एक बड़े आलोचक का अतिचार ही है।

नामवरजी उचित ही साहित्य को सामाजिक संस्था मानते हैं। स्वयं उन्हें संस्था-निर्माता तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन्होंने जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के अलावा कोई और संस्था नहीं बनायी है। अलबत्ता वे कई बनी बनाई संस्थाओं जैसे साहित्य अकादेमी, प्रगतिशील लेखक संघ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, राजा राममोहन राय लायब्रेरी फाउंडेशन आदि में पदासीन रहे हैं। उनकी इन संस्थाओं में भूमिका का विशद विश्लेषण करना लंबा काम है और उसका यह अवसर नहीं है। कुछ मोटी-मोटी बातें कही जा सकती हैं। अकादेमी में जब तक नामवरजी किसी निर्णायक भूमिका में रहे किसी गैरप्रगतिशील को पुरस्कार या प्रोत्साहन नहीं मिल पाया। एकाध अपवाद होंगे पर वे उनकी विचारधारा की अटूट वफादारी के नियम को असिद्ध नहीं करते। सोवियत संघ और यूरोप में साम्यवादी व्यवस्थाओं के विघटन ने मार्क्सवादी विचारधारा के समक्ष गहरा संकट उपस्थित किया। इस संकट पर नामवरजी ने गहराई से न स्वयं विचार किया और न ही उनके नेतृत्व में लेखक संघ ने। अगर उसके रुख में थोड़ी-बहुत उदारता आई तो वह बदली परिस्थिति के दबाव में आई, किसी वैचारिक मंथन के कारण नहीं। संघ का अपार समर्थन उन्हें मिलता रहा है पर नामवरजी के नेतृत्व में उसने कोई नई सार्थक दिशा नहीं पाई और न ही उसमें अपनी दृष्टि के पुनराविष्कार की वैसी कोई उत्तेजना हुई जैसी कि अनेक पश्चिमी बुद्धिजीवियों-लेखकों में संभव हुई। अंततः नामवरजी मार्क्सवाद में भी यथास्थिति के पोषक ही साबित हुए।

साहित्य के संस्थागत रूप की एक अभिव्यक्ति संपादन में भी होती है। नामवरजी ने कोई नई पत्रिका नहीं निकाली : वे कभी कहीं संस्थापक-संपादक नहीं हुए लेकिन उन्होंने पहले से प्रकाशित हो रही दो पत्रिकाओं 'जनयुग' और 'आलोचना' का संपादन किया है। 'जनयुग' भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का मुखपत्र था और नामवरजी ने उसमें साहित्य आदि पर सामग्री शामिल की। पर उसे आज कोई याद नहीं करता। 'आलोचना' को शुरू में नामवरजी ने नया रूप दिया। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने उसे निरा अकादेमिक मंच और समकालीन साहित्य को लेकर लगभग अप्रासंगिक बना दिया था जिनसे नामवरजी ने उसे उबारा। पर धीरे-धीरे लगभग पिछले दो दशकों में उनके संपादन में भी वह अप्रासंगिकता के कगार पर पहुंच गई है। उसमें कई सह संपादक जुड़े और बिछुड़े लेकिन नामवरजी प्रधान संपादक बने हुए हैं। इधर उसमें कुछ रोचक परिवर्तन आए हैं लेकिन नामवरजी का संपादन लगातार क्षीण, दिग्विहीन और नाममात्र का होता गया है। वे एक दैनिक अखबार 'राष्ट्रीय सहारा' के भी सलाहकार-संपादक कुछ वर्ष रहे पर उसमें भी कोई सुधार या प्रासंगिकता लाने में वे सफल नहीं हो सके : उसी समय प्रभाष जोशी और बाद में ओम थानवी के संपादन में 'जनसत्ता' अखबार की बौद्धिक और सांस्कृतिक जगत में जो प्रतिष्ठा बनी वह नामवरजी के संपादन के बावजूद 'राष्ट्रीय सहारा' को कभी नहीं मिल सकी।

इस विश्लेषण में अगर हम फिर आलोचना-कर्म की ओर लौटें तो यह नोट करना जरूरी है कि समकालीन साहित्य-दृश्य में अपनी उपस्थिति और सक्रियता के बावजूद नामवरजी ने अपने ही प्रिय लेखकों जैसे मुक्तिबोध, शमशेर, नागार्जुन, निर्मल वर्मा, रघुवीर सहाय आदि पर ऐसा कुछ नहीं लिखा है जो इन लेखकों को समझने-बूझने के लिए पढ़ना अनिवार्य लगे। इनमें से किसी पर नामवर-समझ की कोई तह कभी नहीं जम सकी। ऐसी कोई साहित्यिक कृति भी याद करना मुश्किल है जिसे समझकर पढ़ने-समझने में नामवरजी की कोई विशद व्याख्या अनिवार्य लगती हो।

इस मुकाम पर उनके अज्ञेय के साथ आलोचनात्मक व्यवहार की कुछ व्याख्या जरूरी है। यह सभी जानते हैं कि लगभग पचास वर्ष नामवर सिंह अज्ञेय के विरुद्ध डटकर मोर्चा सम्हाले रहे हैं। उन्हें अभिजात, समाजविरोधी, पश्चगामी आदि बताने में भी वे अग्रणी रहे हैं। यह दिलचस्प है कि यह अज्ञेय-विध्वंस उन्होंने कभी बाकायदा उन पर विस्तार से कुछ लिखकर नहीं किया। वे अज्ञेय के विरुद्ध अधिकतर बोलते, कटूक्तियां आदि करते रहे हैं। अज्ञेय की उपस्थिति में, अपने अवसरवादी चरित्र के अनुरूप, उनकी जरूरत से अधिक प्रशंसा करते थे लेकिन पीठ पीछे और अपने प्रगतिशील मंचों पर उन पर जमकर कटाक्ष और प्रहार। एक उदाहरण काफी होगा।

भारत भवन ने 'समवाय' नाम से 1986 में पहली आलोचना-वार्षिकी आयोजित की थी जिसमें अज्ञेय और नामवर सिंह दोनों ही शामिल हुए। उसमें नामवरजी ने कहा : 'हिंदी की आज की आलोचना को देखते हुए कभी-कभी लगता है कि लेखक ऐसे लिख रहा है जैसे इसकी भाषा में रामचन्द्र शुक्ल कभी हुए ही नहीं या ऐसे लिख रहा है जैसे इसकी भाषा में हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, अज्ञेय, मुक्तिबोध, निर्मल वर्मा ने आलोचना लिखी ही नहीं है। उसके थोड़े दिनों बाद फरवरी-मार्च 1987 में विवेचना के प्रगतिशील मंच पर नामवरजी ने कहा : 'गद्य का पतन जिनके कारण हुआ है इतने गंभीर आदमी हैं। अज्ञेय चिड़ियाघर के किसी चिंपांजी के समान गंभीर व मनहूस दिखाई देते हैं। अज्ञेय, निर्मल वर्मा, रमेशचंद्र शाह जिन्हें सही गद्य तो लिखना आता नहीं पर भारी चिंतन की बात करते हैं....।' इस पर 'पूर्वग्रह' पत्रिका ने सप्रमाण आपत्ति की लेकिन नामवरजी ने कोई उत्तर या स्पष्टीकरण नहीं दिया।

फिर 2011 में जब अज्ञेय जन्मशती मनाई गई तो नामवरजी ने अज्ञेय की कविताओं का एक संचयन तैयार किया और उसकी भूमिका में लिखा : 'देश-काल की दृष्टि से अज्ञेय की कविता की दुनिया अन्य हिंदी कवियों से कहीं अधिक व्यापक है।... वह आधी दुनिया के साथ-साथ लगभग आधी शताब्दी तक फैली हुई है।.... ध्यान से देखें तो अज्ञेय हिंदी में प्रकृति के शीर्षस्थ चित्रकार हैं।.... क्या मजाल कि उनकी कविता में भूल से भी कोई फालतू शब्द आ जाए।.... सच तो यह है कि अज्ञेय ने अपनी अप्रतिहत सृजन-यात्रा में प्रयोग से आगे बढ़कर अपना एक नया भरा-पूरा काव्यसंसार रचा जो सभी वादों से ऊपर है और टिकाऊ भी।' इसी भूमिका के समापन पर अज्ञेय 'चिंपांजी' के बजाए 'अमृतपुत्र' हो गए हैं। यह नोट करने की बात है इस मत-परिवर्तन में नामवरजी ने इसका उल्लेख तक नहीं किया है कि उन्होंने अपने पहले के, लगभग एक अधसदी में फैले, रुख में यह क्रांतिकारी परिवर्तन क्यों और कैसे करना जरूरी समझा है। यह एक और तरह की बौद्धिक अनैतिकता है। या कि शायद उनकी बद्धमूल अवसरवादिता का एक और नमूना!

युवा लेखकों के प्रोत्साहक होना एक बात है, उनकी अकारण और अक्सर निराधार प्रशंसा करना

बिलकुल दूसरी। नामवरजी युवाओं की प्रशंसा करने में, इस समय, अग्रणी वरिष्ठ हो गए हैं। इसका एक कारण तो शायद अपने प्रभाव का क्षेत्र संरक्षित करना है और दूसरा अवसरवादिता के लिए एक नए युवा अवसर का थोड़ा निर्लज्ज लाभ उठाना।

नामवरजी का लंबा बौद्धिक जीवन अनेक अवसरों पर कुछ शक्तियों का विरोध करते बीता है। हाल में, उनके लंबे शरण्य जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय पर जब उन्हीं शक्तियों ने हमला किया, जिनका नामवरजी विरोध करते रहे हैं, तो उस पर नामवरजी ने कुछ नहीं कहा, चुप्पी साध ली। नेहरू विश्वविद्यालय मार्क्सवादियों का गढ़ रहा है और उस पर जो प्रहार हुआ वह सत्तारूढ़ शक्तियों का सोचा-समझा आक्रमण है। ऐसे समय पर सार्वजनिक हस्तक्षेप से अपसरण नामवरजी के स्वभाव में तो नहीं है पर शायद यह भी एक किस्म का अवसरवाद है। यह समझना कठिन है कि यह उनके लिए चुप्पी का अवसर क्यों-कैसे है।

विफलता की यह आलोचक-गाथा शिक्षाप्रद है। अपनी आलोचना में, जिसमें उनके बोले गए पर कभी लिखे न गए सैकड़ों वक्तव्य शामिल हैं, नामवरजी ने अपने विरोधियों के मतों का अथक सरलीकरण और कुपाठ किया है : अगर यह निबंध भी कुछ ऐसा ही कुपाठ है तो वे आपत्ति नहीं कर सकते क्योंकि उनकी विफलता में हममें से अनेक आलोचकों की विफलता के भी सूत्र हैं। ●

कुछ बातचीत, कुछ टिप्पणियां

पी.एन. सिंह

गाजीपुर जैसे छोटे जनपद में नामवरजी का आना यहां की वैचारिक-साहित्यिक मनीषा के लिए गौरव की बात हुआ करती है। उनको सुनना आनंददायी ही नहीं बोधदायी भी होता है। जब मूड में होते हैं तो उनके मुख से शब्द नहीं मंत्र फूटते हैं और अपने सामान्य से सामान्य श्रोताओं को भी वे उस रसभूमि तक ले जाते हैं जहां उन्हें कभी उनके शिक्षक आचार्य केशवप्रसाद मिश्र ले जाया करते थे। नामवरजी ने अपनी लेखनी को ही नहीं अपने वाक् को भी साधा है जो एक विरल संयोग है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के बाद नामवर सिंह हिंदी मंच के चक्रवर्ती हैं। बहुतों को शिकायत है कि वाग-विदग्धता के चलते उनकी बहुत बड़ी लेखकीय क्षति हुई है। इस संदर्भ में केदारजी जैसे उनके आत्मीय को भी उनसे शिकायत है। एक सीमा तक शिकायत जायज भी हैं; लेकिन इसकी अपनी विशिष्ट उपलब्धियां भी हैं।

4 अप्रैल 2003 की शाम गाजीपुर के आदर्श स्कूल के प्रांगण में समकालीन सोच परिवार द्वारा आयोजित संगोष्ठी में नामवर सिंह का व्याख्यान उनकी समझ और ईमानदार सेक्युलर निष्ठा की अभिव्यक्ति भी था। पूर्व-निश्चित विषय था 'संस्कृति और समालोचना', लेकिन संगोष्ठी में उमड़ी भीड़ को देखते ही तत्क्षण विषय बना : 'हिंदुत्ववादी सांप्रदायिकता और अमरीकी युद्धवाद।' हिंदू संस्कृति के संदर्भ-ग्रंथ रामायण, महाभारत और मानस की परंपरा उनकी सेक्युलर व्याख्या के केंद्र में रही। वैसे कुल मिलाकर, व्याख्यान विषय के दायरे में ही था। भारतीय संस्कृति के कतिपय प्राचीन मानकों के संदर्भ में सांप्रदायिक हिंदुत्व की समालोचना प्रस्तुत करते हुए उन्होंने अपने मानवीय सेक्युलर परिप्रेक्ष्य को बारीकी से प्रस्तुत किया। समूचे व्याख्यान में अमूर्त सिद्धांत- कथन का सहारा नहीं लिया गया। चूंकि मंतव्य ठोस उद्धरणों एवं अनुभवों की रोशनी में मूर्त हुआ था, इसलिए निस्संदेह प्रभावी था। नामवरजी के व्याख्यानों की यही ताकत है। अंत में सोद्देश्यता उजागर होती है, फरमान के रूप में नहीं, निष्कर्ष के रूप में।

नामवर-केंद्रित इस संस्मरणात्मक आलेख में उनके तीन वक्तव्यों को उद्धृत करना चाहूंगा, क्योंकि ये वास्तविक नामवर को समझने में सहायक हैं :

1. 'सत्य के लिए किसी से न डरना। गुरु से भी नहीं, वेद से भी नहीं।'

2. 'लोगों को जितनी शिकायतें मुझसे हैं, उतनी मैं अपने आप से करता हूं। इरादे बांधता हूं, जोड़ता हूं, तोड़ देता हूं।'

3. 'आप हर सूरत में अनिवार्य हैं, हर सूरत में प्रासंगिक हैं, इसलिए आप से सबसे ज्यादा

शिकायतें हैं।'

प्रथम वक्तव्य उनके गुरु हजारीप्रसाद द्विवेदी का है, दूसरा नामवरजी का अपना है, और तीसरा सुधीश पचौरी का उनके बारे में है। पहला उद्धृत वक्तव्य नामवर सिंह के साहसी बौद्धिक विवेक का परिचायक है। हमारी आर्य परंपरा में गुरु और वेद की केंद्रीयता रही है। एक लंबे समय तक वेद-सम्मत होकर ही लोक-सम्मति पायी जा सकती थी। गुरु एवं आचार्य सम्मान्य ही नहीं सशक्त भी रहे हैं। आचार्य-सम्मत हुए बगैर विश्वविद्यालयों में नियुक्ति की गुंजाइश ही नहीं थी। इस स्थिति को नामवरजी से अधिक शायद ही किसी ने झेला हो। फिर भी, कुल मिलाकर, उनके जीवन का ग्राफ ऊर्ध्वगामी ही रहा है। उनका निर्माण अपने बलबूते हुआ है और नितांत प्रतिकूल परिस्थितियों में। उनके अकादमिक जीवन की एक-एक इंच जमीन उनके अध्ययन, अध्यवसाय और संघर्षों द्वारा कमाई हुई है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ही उनके संबल थे, लेकिन वह दुनियावी मामलों में बिल्कुल मासूम थे। अतः वे जितने यशस्वी थे, उतने शक्ति-संपन्न नहीं थे। किसी ने कहीं लिखा है कि बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में वे विभागाध्यक्ष जरूर थे, लेकिन नियुक्तियों के मामलों में नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ. नगेन्द्र की ही चलती थी, और इन दोनों ने नामवर सिंह को यथासंभव दरकिनार ही रखा। अतः नामवरजी हिंदी की जटिल अकादमिक दुनिया में एक लंबे समय तक अकेले थे। उनकी शैक्षिक तेजस्विता और मार्क्सवादी विवेक उनके लिए ही अभिशाप थे। अतः उनका लेखक व्यक्तित्व आर्थिक एवं वैचारिक संघर्षों के ताप में पका है और इसी कारण अनेक प्रकार के झंझावातों के बीच भी तना रहा।

मैं 'म्यूट इंग्लोरियस मिल्टन' के सिद्धांत में विश्वास नहीं करता। प्रतिभा पाताल तोड़कर ऊपर आती है। प्रतिकूल परिवेश उसे परेशान कर सकता है, पराभूत नहीं कर सकता। दरअसल, प्रतिभा-प्रस्फुटन कभी निरापद नहीं होता, क्योंकि यह प्रकृत्या प्रवाह-पतित नहीं होता। कबीर हों या कार्ल मार्क्स, तुलसी हों या शेक्सपियर अथवा मिल्टन, गांधी हों या लेनिन, मुक्तिबोध हों या ग्राम्शी, अंबेडकर हों या मार्टिन लूथर किंग, सबने अपनी मौलिकता के चलते झेला है।

नामवरजी ने अपने वैचारिक संघर्ष की कीमत प्रायः एक दशक तक अकादमिक उपेक्षा एवं आर्थिक असुरक्षा के रूप में चुकाया है। उनके छोटे भाई काशीनाथ के निबंध 'गरबीली गरीबी वह' के दो वाक्य कौंध जाते हैं, जब भी नामवरजी के बारे में कोई चर्चा होती है-

मैंने आज तक किसी ऐसे आदमी की कल्पना नहीं की थी जिसके सारे दुखों, सारी परेशानियों, पराजयों, तिरस्कारों और अपमानों का विकल्प अध्ययन हो। चुनाव हारने और अच्छी-खासी नौकरी जाने का सियापा घर में हो और वह आदमी खर्राटे ले रहा हो, या कमरा बंद करके किसी लेख की तैयारी कर रहा हो या पढ़ी गयी किताब से नोट ले रहा हो।

संदर्भ 1959 का है जब नामवरजी चंदौली से सी.पी.आई के प्रत्याशी के रूप में बाईइलेक्शन हारे थे। हार तो पूर्व-निश्चित थी, लेकिन कम्युनिस्ट पार्टी को कोई योग्य प्रत्याशी चाहिए था जो डॉ. लोहिया और कांग्रेसियों के लिए वैचारिक चुनौती बन सके। चुनाव बाद, सत्र समाप्त होते ही आठ-साढ़े आठ साल की विश्वविद्यालयी नौकरी चली गई। विश्वविद्यालय प्रशासन ने यू.जी.सी. की प्लान पोस्ट को बीच में ही समाप्त करने का निर्णय ले लिया और द्विवेदीजी चाहकर भी कुछ न कर सके। लेकिन द्विवेदीजी की ही पहल पर सागर विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति डी.पी. मिश्र

ने बिना प्रार्थना-पत्र एवं साक्षात्कार के, विभागाध्यक्ष आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के विरोध के बावजूद, सीधे प्रोफेसर पद पर अस्थायी नियुक्ति दी थी, जिसे वर्ष बीतते-बीतते आचार्य वाजपेयी ने, कुलपति के न चाहने के बावजूद, सत्र-समापन के साथ ही, विश्वविद्यालय कार्यकारिणी से समाप्त करा दिया।

उस नियुक्ति के बारे में भी डॉ. नामवर सिंह ने एक दिलचस्प बात बताई। द्विवेदीजी ने डी. पी. मिश्र को व्यक्तिगत सिफारिशी पत्र भी लिखा था, जिसमें उन्होंने बी.एच.यू. की समूची घटना का विवरण दे दिया था। मिश्रजी ने उज्जैन विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति शिवमंगल सिंह 'सुमन' से भी पूछा था और उन्होंने भी नियुक्ति संबंधी अपनी सहमति जताते हुए यह भी कहा था, 'मेधावी है लेकिन कम्युनिस्ट है।' फिर भी, सागर से कुलपति का तार मिला। नामवरजी सागर गए और कार्यालय में ही श्री मिश्र से मुलाकात की लेकिन कुलपति ने 8 बजे शाम आवास पर मिलने के लिए कहा। वे शाम को आवास पर थोड़ी देर से पहुंचे थे जिसका उन्हें स्पष्टीकरण भी देना पड़ा था। कुछ एक अनौपचारिक बातों के बाद श्री मिश्र ने सीधे पूछा था : 'आप कम्युनिस्ट है?' 'जी', नामवरजी ने स्वीकारा। 'आपने चुनाव भी लड़ा है?', तुरंत दूसरा प्रश्न सामने था। 'जी, और हार भी गया', जवाब था। फिर मिश्रजी ने थोड़ी और गंभीरता से प्रश्न किया, 'अगर आपको यहां के प्रोफेसर पद और कम्युनिस्ट पार्टी के बीच चुनाव करना पड़ा तो किसे चुनेंगे?' नामवरजी के उत्तर में शालीन दृढ़ता थी- 'पंडीजी, वैसे तो दोनों के बीच कोई अंतर्विरोध नहीं है, और शिक्षक के रूप में मैं दोनों के प्रति निष्ठावान रहा हूं, लेकिन अगर चुनाव की विवशता आती ही है तो मैं कम्युनिस्ट पार्टी को ही चुनूंगा'। मिश्रजी ने थोड़ी चुप्पी के बाद फिर पूछा- 'ऐसा क्यों? आप बेरोजगार हैं।' नामवरजी का तत्क्षण उत्तर था, 'पंडीजी, अगर इतने बड़े समझौते के साथ प्रोफेसरी चुनूंगा तो मैं अपनी ही निगाह में गिर जाऊंगा, और यह मेरे लिए आत्म-हत्या की स्थिति होगी। इतना ही नहीं, मैं आपकी निगाह में भी दो कौड़ी का आदमी हो जाऊंगा, और आप यह भी सोच सकते हैं कि भारतीय कम्युनिस्ट ऐसे ही दो कौड़ी के होते है।' श्री मिश्र कांग्रेस के कद्दावर लोगों में थे और स्वाधीनता संग्राम में बढ़े, तपे थे। उनके पास राष्ट्रवादी उदार विरासत थी। वे भी मूलतः राजनीतिक व्यक्ति थे। उन्हें नामवरजी का उत्तर पसंद आया। मिश्रजी ने निर्णायक स्वर में कहा कि कल दस बजे कार्यालय से नियुक्ति-पत्र लेकर तुरंत ज्वॉइन कर लीजिए। नामवरजी थोड़ा असमंजस में थे, क्योंकि इसके लिए वह अपेक्षित तैयारी करके नहीं आए थे। लेकिन कुलपति ने पुनः कहा कि ज्वॉइन करके दो-चार दिन पढ़ाकर छुट्टी ले लीजिएगा, नहीं तो विभाग में बहुत सारे मुकदमेबाज हैं, स्टे आदि ले आ देंगे। उन्होंने आगाह भी किया- नन्ददुलारे वाजपेयी के साथ एडजस्ट कीजिएगा, वे आपकी नियुक्ति के पक्ष में नहीं हैं। तकनीकी दृष्टि से नियुक्ति अनियमित थी क्योंकि प्रोफेसर पद के लिए अपेक्षित 10 वर्ष के अनुभव में अभी एक-डेढ़ साल कम थे। वैसे मिश्रजी ने इसके लिए भी कानूनी औपचारिकता पूरी कर ली थी।

विभाग में वाजपेयीजी की तूती बोलती थी, और नामवरजी की प्रोफेसरी अस्थायी थी। अतः वही हुआ जो होना था। तरह-तरह के दुष्चक्र रचे गए। वैचारिक असहमति को अनुशासनहीनता और विरोध की संज्ञा दी गयी। सेवा के स्थायीकरण के समय एक लंबा विभागीय आरोप-पत्र प्रस्तुत किया गया। परिणामतः उनकी सेवा समाप्त कर दी गयी। वी.एस. पाठक जैसे मित्रों ने न्यायालय की शरण लेने को कहा, लेकिन न्यायालय का दरवाजा तो बनारस में भी नहीं खटखटाया था जहां इसके लिए

पर्याप्त कानूनी आधार था। गुरुदेव ने कानूनी लफड़ों से बचने की सलाह दी थी। अतः इलाहाबाद होते हुए बनारस लौट आए। बाद में पता चला कि स्थायीकरण के पैनल में कुलपति ने आचार्य द्विवेदी को नामित किया था और कुलपति कार्यालय से पत्र निर्गत भी हुआ था, लेकिन उसे पोस्ट ऑफिस से ही गायब करा दिया गया था। कुछ ऐसी ही प्रतिकूल स्थिति 1969 में जोधपुर विश्वविद्यालय में भी पैदा करने की कोशिश की गयी थी जब कुलपति श्री वी.वी. जॉन ने नामवरजी को सीधे, बिना साक्षात्कार वगैरह के प्रोफेसर नियुक्त किया था। नामवरजी ने हंसते हुए बताया कि मेरी नियुक्तियों के संबंध में एक विचित्र बात यह रही है कि जहां भी मैंने अप्लाई किया वहां मेरी नियुक्ति नहीं हुई, और नियुक्तियां वहां-वहां होती रहीं जहां के बारे में मैंने सोचा तक नहीं था, और बिना प्रार्थना-पत्र के हुईं और उन लोगों द्वारा की गईं जिनसे मेरा परिचय तक नहीं था। यह भी दिखता है कि नियुक्तियां उनके द्वारा की गईं जो हिंदी से नहीं जुड़े थे। कहा यह भी जा सकता है कि हिंदी के मठाधीशों ने नामवर को यथासंभव दरकिनार करने का ही प्रयास किया, और जो सीधे हिंदी साहित्य से नहीं जुड़े थे उन्होंने उनकी प्रतिभा का सम्मान किया। इसे हिंदी विभागों में व्याप्त अकादमिक वातावरण पर एक गंभीर टिप्पणी के रूप में भी लिया जा सकता है। प्रसंगात नामवरजी ने यह भी बताया कि प्रोफेसर होने के बाद बहुत सारी नियुक्तियों में मेरा निर्णायक हस्तक्षेप रहा है, और कभी-कभार किसी का 'फेवर' भी करना पड़ा है, लेकिन वास्तविक मेरिट की कीमत पर कभी किसी का फेवर नहीं किया है और इसके चलते अनेक निकटस्थ लोगों की नाराजगी भी झेली है। इस संदर्भ में उन्होंने अपने जे.एन.यू. के हिंदी विभाग की विशेष चर्चा की।

मेरी समझ है कि प्रतिभा द्विवेदीजी के 'कुटज' की तरह होती है जो पाषाणवत् परिवेश की चुनौतियों को भी चीरती, अतिक्रान्त करती, उर्ध्ववत होती लहलहाती है। प्रतिभा, मनस्विता और साहस का संयोग व्यक्ति को विरल ऊंचाइयों तक ले जाता है। नामवरजी जहां पहुंचे हैं दरेर कर पहुंचे हैं। फिर भी अपनी अकादमिक उपलब्धियों के बावजूद वे लगभग एक दशक तक अकादमिक पीठों द्वारा उपेक्षित रहे। तेजस्वी शिक्षक थे और विभाग में दांत निपोर कर नहीं जी सकते थे। प्रतिभावान होने के साथ-साथ कम्युनिस्ट भी थे। प्रतिभा समझौता नहीं जानती और बहुतों को ईर्ष्यालु बनाती है। गुरुडम के उस दौर में कम्युनिस्ट होना तो शैतान होने जैसा था। विभागों के सामंती माहौल में लोगों के बीच प्रमुखतः रसवादी दृष्टि का ही बोलबाला था। वह 'फ्रीडम फॉर कल्चर' का भी जमाना था जब साहित्य की 'स्वायत्तता', 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' और 'अनुभूति की प्रामाणिकता' के नाम पर अमरीकी पूंजीवाद भारतीय बुद्धिजीवियों के बीच अपनी वैचारिक जगह बना रहा था। हिंदी संसार में अज्ञेयजी इसके नेता थे और 'परिमल' समूह अपनी लोहियावादी आक्रामकता के साथ कम्युनिस्ट-विरोध का साहित्यिक नेतृत्व कर रहा था। इतिहास और आलोचना, और वाद-विवाद-संवाद इसी वैचारिक संघर्ष की उपज हैं। इसी वैचारिक संघर्ष में नामवरजी का आलोचक व्यक्तित्व निखरा और कमोबेश प्रगतिशील बौद्धिक खंड का निर्माण एवं विस्तार हुआ और प्रगतिशीलता के साहित्यिक मानदंड कुछ उदार और साहित्यिक बने जिसके लिए मार्क्सवादियों का एक उत्साही तबका उन्हें रूपवादी, अवसरवादी और समझौतावादी घोषित करता रहा। इस प्रकार उन्हें मार्क्सवादी मुल्लाओं से भी संघर्ष करना पड़ा था जो साहित्य के रूपगत आयाम और उसकी निजता की अनदेखी करते थे और साहित्य को विचारधारा का पर्याय तथा साहित्यकार को पार्टी कार्यकर्ता मानते थे।

1991 में नामवरजी ने गाजीपुर में समकालीन सोच द्वारा आयोजित संगोष्ठी में लेखकीय प्रतिबद्धता को स्पष्ट करने के लिए रघुवंश से एक पंक्ति को उद्धृत किया था- 'वनाय पीत प्रतिबद्ध वतनां धेनुमृषेर्मुमोच' अर्थात् दूध पी चुकने के बाद (गाय को) जिसका बछड़ा (खूंटे से) बांध दिया गया हो, ऋषि ने जंगल में चरने के लिए छोड़ दिया। लेखकीय प्रतिबद्धता के संदर्भ में यह एक खूबसूरत एवं अभिव्यक्तिशील बिंब है। गाय अपने ममत्व से अनुशासित है। वह दूर बंधे बछड़े से संबद्ध जंगल में चरती है। दूध की यह अनिवार्य शर्त है। जंगल में यथासंभव दूरी तक उसे घूमना-चरना भी है, अन्यथा दूध की गुणवत्ता प्रभावित होगी। यहां बंधन और खुलापन दोनों हैं। यहां दूध साहित्य है, गाय रचनाकार, बंधा बछड़ा विचारधारा, और घूमना-चरना अध्ययन एवं अनुभव का विराट क्षेत्र। अगर गाय और बछड़े की परस्पर संबद्धता दूध की अनिवार्य शर्त है, तो दूध की मात्रा और गुणवत्ता की शर्त गाय का चरना-घूमना है। उस अवसर पर उन्होंने विचारशील प्रतिबद्धता की बात उठाई थी और 'अंध-प्रतिबद्धता' की जगह 'ईमानदार संशयवाद' को अधिक समझदार, नैतिक लेकिन दुष्कर माना था। उन्होंने यह कहा था कि अगर रचना में विचारधारा अपनी घोषणा करने लगे तो वह रचना के लिए लाभकर तो नहीं ही रहती, ईमानदार भी नहीं होती। अंध आस्था की भी यही स्थिति है। आशय यह कि अंध प्रतिबद्धता चाहे लौकिक हो या पारलौकिक, रचनात्मक नहीं होती। रचना या आलोचना जिसमें अन्वेषण का भाव न हो, जिसके पास व्यक्तिगत सुख-दुख, उल्लास-अवसाद का बोध एवं अनुभूति न हो, और जो अमूर्त आस्था या विचारधारा को केंद्रीयता प्रदान करती हो, वह कालजयी नहीं हो सकती।

नामवरजी का कहना है कि अमूर्तन मानव-विरोधी होता है। मार्क्सवाद, वेदांत, इस्लाम और हिंदुत्व ऐसी ही अमूर्त संज्ञाएं हैं। इनसे भिन्न हिंदू या मुसलमान मूर्त सत्य है जो मुस्कराता है, हंसता है, उल्लसित होता है या उदास होता है, दुःखी होता है, रोता है, बिलखता है। साहित्य व्यक्ति के इस सुख-दुख की अनदेखी नहीं कर सकता। दरअसल, सैद्धान्तिक अमूर्तन की ऊंचाई से व्यक्ति के छोटे-छोटे सुख-दुख नहीं दिखाई देते। कहा जा सकता है कि अमूर्त संज्ञाएं केवल समर्पण और शहादत मांगती हैं, और अंततः आदमी उनका लक्ष्य नहीं बल्कि उनका शिकार बनता है। इसके ठीक विपरीत विचारशील प्रतिबद्धता, थोड़ी मूक एवं अदृश्य, विचारधारा और साहित्य दोनों के लिए शुभ होती है। इससे व्यक्ति अपनी सोच-समझ और अनुभव-अनुभूति में सृजनात्मक होने का साहस दिखा पाता है।

नामवरजी ने पालेमिक्स भी की है और खूब की है। एक दौर में 'परिमल' गुट के विरुद्ध और इधर रामस्वरूप चतुर्वेदी और रामविलास शर्मा के विरुद्ध। इधर छठें और सातवें दशक की पालेमिकल मुद्रा कुछ अतिरिक्त उग्रता के साथ लौटी दिखती है, शायद इसलिए कि यह दौर भी असाधारण था। ये दोनों ही उग्र हिंदुत्व को सांस्कृतिक आधार देते लगते हैं। फिर भी अगर डॉ. बच्चन सिंह को उद्धृत करूं तो नामवरजी की ये टिप्पणियां 'बैड टेस्ट' में लिखी गयी हैं। अर्थात बिंदु सही हैं, लेकिन अभिव्यक्ति में अनपेक्षित कटुता है, आक्रामकता है। ऐसी टिप्पणियॉ राजेन्द्र यादव और मुद्राराक्षस की कलम से फबती हैं, लेकिन नामवरजी की कलम से खटकती हैं। फिर भी, कुल मिलाकर, नामवरजी अपनी आलोचना में अधिक सावधान और सृजनात्मक रहे हैं। परिमल संप्रदाय के विरुद्ध अपनी 'पालेमिक्स' के बावजूद, उन्होंने विजयदेव नारायण शाही और रघुवीर सहाय की प्रतिभा को

स्वीकारा और मुक्तिबोध को सृजन और आलोचना के एक मानक के रूप में प्रस्तुत किया। नयी कविता की समझ और समालोचना के लिए 'नयी समीक्षा' के आलोचनात्मक उपादानों को स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं दिखाई। निर्मल वर्मा को पहचानने में विचारधारा को आड़े नहीं आने दिया। असल में, भाषा, शिल्प एवं रूपगत उपलब्धियों के प्रति जो संवेदनशील नहीं है वह विश्वसनीय समालोचक नहीं बन सकता। दूसरी परंपरा की खोज में आचार्य शुक्ल को लेकर चूक हो गयी थी, क्योंकि केवल कबीर को ही निकष मानकर आचार्य शुक्ल को 'पहली परंपरा' से आत्यंतिक रूप से सटा देना उचित नहीं था। दरअसल, आचार्य शुक्ल हिंदी आलोचना के प्रस्थान-बिंदु हैं जिनमें तरह-तरह की परस्पर-विरोधी स्थापनाएं संभव हैं। लेकिन भूल का एहसास हुआ और नामवरजी ने उनके निबंधों का एक सशक्त भूमिका के साथ संपादन किया और फिर अपने व्याख्यानों के माध्यम से अपेक्षित सुधार-परिष्कार कर लिया। गत 5 अप्रैल 2005 को विभूति नारायण राय के गांव से लौटते हुए उन्होंने बताया था कि 'नए तथ्यों की रोशनी में मुझे पीछे हटने या अपने पूर्व की स्थापना को सुधारने में कोई हिचक नहीं होती।' यह भी बड़े साहस का काम है जो कम ही लोगों में दिखता है। यही आलोचनात्मक साहस नामवर को अर्थवत्ता प्रदान करता है और उन्हें प्रासंगिक बनाए रखता है। आस्थावादी की तरह किसी पूर्व-निश्चित छोर से विश्वासपूर्वक आंख बंद किए बोलते अथवा लिखते जाना आसान है। छोर से केवल शर-संधान संभव है, समझ और व्याख्या नहीं। छोरों के बीच संवाद नहीं बनता। 'इक्सक्लूसिव सत्य' नहीं बल्कि 'कंस्टीट्यूटिव सत्य' संवाद निर्मित करता है। संवाद निर्मित करने की ताकत नामवरजी को अन्यों से अलग करती है। आखिर समालोचना सर्वप्रथम कृति के साथ खुला, संवेदनशील संवाद ही तो है। इसी कारण नामवरजी का सबसे विवाद है, फिर भी वह सबके लिए अनिवार्य हैं- जितना राजेन्द्र यादव या अशोक वाजपेयी के लिए उतना ही रामबृक्ष या अजय तिवारी के लिए भी।

अब तक नामवर सिंह के निर्माण की चर्चा हुई थी जिसमें यह बताने की कोशिश थी कि उनकी प्रतिभा का प्रस्फुटन टामस ग्रे के 'म्यूट इंग्लोरियस मिल्टन' के सिद्धांत का खुला उल्लंघन है। अर्थात्, नामवर सिंह प्रतिकूल परिस्थितियों की धधकती आग में बढ़े-पके हैं और इस रूप में उनके अकादमिक जीवन की एक-एक इंच जमीन अर्जित है। यूं तो शरीर भी गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध अपने अस्तित्व को एसर्ट करता है, लेकिन अगर यह एसर्शन सामाजिक, वैचारिक अथवा सर्जनात्मक है तो यह यांत्रिक अथवा सहजात नहीं होता। इसमें स्वीकार-अस्वीकार, समझौता-संघर्ष, अग्रसरण-अपसरण, अपलाप-संलाप, इत्यादि के टेढ़े-मेढ़े, ऊबड़-खाबड़ रास्ते होते हैं। इनमें असीम भटकावों के बीच भी एक अनवरत झिलमिलाता केंद्रीय संकल्प होता है जिसके अभाव में बड़ी से बड़ी प्रतिभा भी अपना कोई चिह्न नहीं छोड़ पाती।

इस तरह गाजीपुर प्रवास में उनसे बातचीत का अकूत अवसर मिला था, जिसमें अपनी ओर से नामवरजी की इसी केंद्रीयता को समझने की चेष्टा थी।

उन्होंने अपने जीवन के तीन 'मार्गदर्शक सिद्धांतों' को कुछ भी यों सूत्रबद्ध किया था :

- एक, आत्म-सम्मान की कीमत पर कुछ भी नहीं किया है और इसके लिए जीवन में संघर्ष तो करना ही पड़ा है, बहुत कुछ खोया भी है।
- दो, जीवन में उऋण होते रहने की अनवरत चेष्टा करता रहा हूं, अर्थात् किसी ने जिंदगी

के किसी मोड़ पर अगर उपकार किया है तो चुपचाप यथासमय और यथासंभव उसे लौटाने के लिए प्रयासरत रहा हूं और

- तीन, नए तथ्यों और तर्कों की रोशनी में अपना सतत् पुनरीक्षण करता रहता हूं जिसके लिए आलोचना का पात्र भी बनता रहा हूं। मुझे 'कन्सिस्टेंसी' अर्थात संगति की चिंता नहीं रहती। वस्तुतः मैं तो जड़ प्रतिबद्धता को बंजर मानता हूं जिससे न व्यक्ति ही समृद्ध होता है और न विचारधारा अथवा व्यवस्था ही।

ये तीनों ही उनके निजी, सामाजिक एवं अकादमिक जीवन-बोध के केंद्र में हैं जिनके चलते नामवर 'नाम-वर' बने हैं।

दरअसल, नामवरजी अकादमिक संबंधों की विराट दुनिया के आदमी हैं जिसमें पसंदगी-नापसंदगी के पैमाने बिल्कुल भिन्न हाते हैं। इसमें सगे-संबंधियों की पिटी-पिटायी अपेक्षाओं के लिए जगह नहीं होती। इसमें निर्वाह नहीं, निर्णय चलता है। यहां विचारधारात्मक और काव्यशास्त्रीय मानक आड़े आते हैं। नामवरजी डॉ. बच्चन सिंह की ग्राम्शी संबंधी समझ को प्रश्नांकित करते हैं और उनके समूचे समालोचनात्मक लेखन को 'औसत दर्जे' का बताते हैं, और डॉ. बच्चन सिंह कविता के नए प्रतिमान की मौलिकता को प्रश्नांकित करते हैं और दूसरी परंपरा की खोज के निष्कर्षों से सर्वथा असहमत हैं। केदारजी अपनी स्वाभावगत शालीनता के साथ नामवरजी के आलोचक-व्यक्तित्व के भविष्य के प्रति आश्वस्त नहीं दिखते, और नामवरजी केदारजी के कवि-व्यक्तित्व को श्रीकान्त वर्मा का दर्जा भी नहीं देते, क्योंकि इनकी 'लाइक्स-डिस्लाइक्स में स्पष्टता एवं दृढ़ता का अभाव है।'

गीतकार ठाकुर प्रसाद सिंह ने एक अनौपचारिक बातचीत में मुझे बताया था कि 'नामवर बहुत ही शरारती आलोचक हैं', और इस पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने अपना एक अनुभव सुनाया था। एक गीत-संकलन, संभवतः 'दो जोड़ बांसुरी' की समीक्षा लिखवाने के लिए वह लखनऊ से दिल्ली गए थे। उम्र में नामवरजी से बड़े थे और आरंभिक दिनों में नामवरजी उनके आवास पर कुछ दिनों तक रहे थे और उन्होंने इनकी मदद भी की थी। इस स्मृति के साथ वे दिल्ली पहुंचे थे। नामवरजी ने संकलन के गेटअप इत्यादि की तारीफ तो की, कई-एक गीतों को भी सराहा, लेकिन समीक्षा लिखने से साफ इनकार करते हुए कहा कि इससे 'हाथ कट जाएगा' और प्रस्ताव रखा कि दिल्ली में एक लोकार्पण समारोह आयोजित किया जाय जिसमें मैं पुस्तक पर बोल दूंगा और इसे अपेक्षित पहचान मिल जाएगी। यही किया भी। अग्रज नवगीतकार शम्भुनाथ सिंह के आयोजन में मुख्य वक्तव्य देते हुए उन्होंने नवगीत को खारिज कर दिया जिसका मलाल उमाशंकर तिवारी और गुलाब सिंह को अभी हाल तक रहा है। वैसे शंभुनाथजी खुश थे कि 'चलो, नामवर आया तो'।

नामवरजी के कथन और लेखन में जो जगह-जगह फांक दिखती है वह उनके व्यक्तिगत संबंधों, उनकी साहित्यिक मान्यताओं एवं अपेक्षाओं के बीच के तनाव के चलते है। इसे कुछ लोग 'मुंहदेखी' बताकर उन्हें निन्दित भी करते हैं। ऐसे लोग संबंध और सिद्धांत के कशमकश को दरकिनार कर सोचते हैं, जिसके बिना व्यक्ति या तो अप्रामाणिक है या ठूंठ अमूर्तन का शिकार। नामवर की अर्थवत्ता इसमें है कि इस कशमकश के बावजूद उन्होंने लेखन में अपना आलोचकीय विवेक बचाए रखा। वर्ष 2003 के लिए साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत कमलेश्वर की चर्चित कृति कितने पाकिस्तान? पर अपनी टिप्पणी देते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा था कि यह एक 'कमजोर किताब' है,

और कुल मिलाकर उपन्यास न होकर 'सनसनीखेज पत्रकारिता' है। नामवर और कमलेश्वर प्रलेस में वैचारिक सहचर रहे, और इसलिए ही यह टिप्पणी नामवर के आलोचकीय विवेक का प्रमाण है।

नामवरजी लेखक हैं, आलोचक हैं और वार्ताकार भी हैं और इन्ही रूपों में वे कृतज्ञता-ज्ञापन भी करते रहते हैं। एक लेखक से यही अपेक्षा भी बनती है। गाजीपुर में बातचीत के दौरान अपने लेखकीय व्यक्तित्व के विकास के संदर्भ में वे गांव के स्कूली अध्यापक जयचन्द सिंह, यू.पी. कॉलेज के तारा प्रसाद सिंह और मार्कण्डेय सिंह तथा बी.एच.यू. के आचार्य केशव प्रसाद मिश्र और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की चर्चा किसी-न-किसी रूप में करते ही रहते हैं। स्कूली अध्यापक जयचन्द सिंह ने अध्ययन के प्रति चाह जगाई, अंग्रेजी के अध्यापक तारा प्रसाद सिंह ने व्याकरण का बोध दिया जो हर अशुद्धि को 'वन मर्डर' (एक हत्या) के बराबर बताते। इस संदर्भ में वे कॉलेज के तपे-तपाए 'हिंदुस्तानी-अंग्रेज' प्रिंसिपल जे.पी. सिंह को भी नहीं बख़्शते थे जो अंग्रेजी के ज्ञाता के रूप में प्रतिष्ठित थे। वे उनकी अंग्रेजी में लिखी 'नोटिसेज' में भी अपेक्षित सुधार के बाद लौटा देते, क्योंकि वे प्राचार्य और शिक्षक के स्तर पर अशुद्धियों का होना अक्षम्य मानते। नामवरजी मारकण्डेय सिंह की साहित्यिक प्रतिभा से अभी भी अभिभूत रहते हैं। उन्हीं से साहित्यिक संस्कार मिला जिसके बलबूते नामवर ने हिंदी साहित्य में चलना सीखा। मारकण्डेय सिंह रीतिकालीन संस्कारों वाले व्यक्ति थे और अपनी साहित्यिक क्षमता के चलते उनका संबंध महाविद्यालयी अध्यापकों से कम, शहर और विश्वविद्यालय के साहित्यिक दिग्गजों से अधिक रहता। उनके बारे में नामवरजी ने एक रोचक संस्मरण भी सुनाया। सेवाकाल के अंतिम दिनों में पी-एच.डी. एक विवशता बनी, क्योंकि विभाग में नवागन्तुक प्रवक्ता डॉ. मोती सिंह अपनी डॉक्टर उपाधि के चलते श्रेष्ठता-बोध से पीड़ित रहते और इसी आधार पर वे मारकण्डेय सिंह की वरिष्ठता को अतिक्रान्त कर विभागाध्यक्ष भी हो जाते। उस समय नामवरजी बी.एच.यू. में पढ़ाने लगे थे और आचार्य द्विवेदी के विश्वासपात्र भी थे। मारकण्डेय सिंह ने द्विवेदीजी के निर्देशन में शोध करने का निश्चय किया। दोनों एक-दूसरे से परिचित भी थे, लेकिन शोध के संदर्भ में नामवरजी ही माध्यम बने। बातचीत हुई और रीतिकाल के शास्त्रीय आयाम पर मारकण्डेय सिंह ने एक भारी-भरकम एवं गंभीर सिनॉप्सिस लिखी और द्विवेदीजी को उनके आवास पर सुनाया। द्विवेदीजी ने कोई टीका-टिप्पणी न कर उनके वैदुश्य की प्रशंसा की और उसे ही रजिस्ट्रेशन हेतु प्रस्तुत करने को कहा। वहां से रिक्शे पर लौटते समय मारकण्डेय सिंह ने कुछ यूं कहा- 'अब मैं इनके साथ शोध नहीं करूंगा। मेरी सिनॉप्सिस की स्थापनाओं में अनेक त्रुटियां हैं जिनकी ओर उनका ध्यान ही नहीं गया- तुम्हारे गुरु के पास विस्तार तो है, लेकिन गहराई नहीं है और इसलिए अब शोध की बात समाप्त।' बी.एच.यू. में वह किसी और को ऐसा नहीं मानते थे जो उनका शोध-निर्देशक हो सके।

नामवरजी पं. केशव प्रसाद मिश्र की भी प्रशंसा करते नहीं अघाते। आचार्य मिश्र के पास हिंदी, संस्कृत और अंग्रेजी का अगाध ज्ञान था और अपने छात्रों को काव्य के रसात्मक मर्म को समझाने और उसे अपने छात्रों की अनुभूति के स्तर तक उतार देने की उनमें विरल क्षमता थी। आदर्श शिक्षक के रूप में नामवरजी आचार्य मिश्र की ही विशेष चर्चा करते रहे। काव्य का मर्म काव्य में प्रयुक्त शब्द की लय में है और मिश्रजी के पास उस लय की पकड़ थी। प्रगतिशील समालोचना में वैचारिकता के लिए जगह बनाते हुए नामवरजी ने काव्यत्व को जो मुखरता दी है वह आचार्य केशव प्रसाद मिश्र

द्वारा पैदा किए गए संस्कारों का ही परिणाम है। वैसे नामवरजी का अपना काव्य-संस्कार कमजोर नहीं था, जैसा कि उनके आरंभिक गीतों के फुटकल उद्धरणों में दिखता है।

हिंदी समालोचना के तीन प्रमुख समालोचकों-रामचन्द्र शुक्ल, रामविलास शर्मा और नामवर सिंह ने कविताएं भी लिखी हैं। प्रथम दो के तो काव्य-संकलन प्रकाशित हैं, लेकिन नामवरजी का अभी तक प्रकाशित नहीं है। इसके प्रकाशित हो जाने के बाद ही इन तीनों की काव्य-संवेदना का तुलनात्मक अध्ययन रुचिकर होगा और संभव है इनमें इन तीनों की आलोचकीय विशिष्टताओं के संदर्भ में कुछ रोशनी भी मिल जाए। जहां तक आचार्य द्विवेदी से लगाव और उनके व्यक्तित्व के प्रभाव का प्रश्न है, वह तो नामवरजी के व्याख्यानों के दौरान अनवरत उजागर होता रहता है। बिना 'गुरुदेव' के उल्लेख, संस्मरण अथवा संदर्भ के उनका कोई व्याख्यान पूरा ही नहीं होता। दूसरी परंपरा की खोज गुरुदेव की प्रतिभा की सर्वोत्तम नीराजना है।

अपनी बातचीत, व्याख्यानों एवं पत्रकार-वार्ता के दौरान नामवरजी ने तुलसीदास, महात्मा गांधी, रामविलास शर्मा और राहुल सांकृत्यायन की भी विशेष चर्चा की। 'सांस्कृतिक संकट' पर गाजीपुर में बोलते हुए उन्होंने तुलसीदास के 'मानस' को केंद्र में रखा और उसे पारिवारिक एवं सामाजिक मर्यादाओं के मानकग्रंथ के रूप में परिभाषित किया। नामवरजी के लिए 'मानस' सामाजिक समालोचना का वैसा ही कालातीत मानक संदर्भ है जैसा कि एफ.आर. लीविस के लिए कल्चर अर्थात् संस्कृति थी। अतः तुलसी के संदर्भ में गढ़ा गया दलित-विमर्श या राहुल-यशपाल-रांगेय राघव का मार्क्सवादी विमर्श उन्हें 'नासमझ' लगता है। वे पूछते हैं-'तुलसी को हिंदी साहित्य से खारिज कर देने पर इसमें क्या और कितना महत्वपूर्ण बचेगा?' लेकिन ध्यातव्य है कि 'दूसरी परंपरा की खोज' में नामवरजी ने तुलसी को वर्ण-संस्कृति का प्रतीक माना है और उनकी वर्णवादी परंपरा में आचार्य शुक्ल एवं रामविलास शर्मा को रखकर एक वैकल्पिक 'दूसरी परंपरा' को रेखांकित किया है, जिसके केंद्र में कबीर और आचार्य द्विवेदी हैं। द्विवेदीजी तो अपने आरंभिक दौर में ही काशी के ब्राह्मणों के बीच 'शूद्र' की तरह रहे-'ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत'।

लेकिन लगता है कि इधर नामवरजी की दृष्टि बदली है और अब वह परंपरा को सांप्रदायिक दोहन से बचाना चाहते हैं। वर्तमान हिंदुत्व इसे सांप्रदायिक बनाकर विकृत कर रहा है। 'रामायण', 'महाभारत', 'मानस', कबीर और भारतेन्दु को अपने सामाजिक-सांस्कृतिक विमर्श के केंद्र में रखने के पीछे नामवरजी की यही चिंता काम कर रही है। लगता है, इधर रामविलास से दूरी घटी है और दोनों ही मुख्यधारा के पक्ष मे लगभग खड़े हैं। अंतर इतना भर है कि रामविलासजी उत्साह में अक्सर परंपरा की कमजोरियों की अनदेखी करते हैं, नामवरजी निशेधात्मक को छिपाए बगैर सकारात्मक पक्षों पर रोशनी डालते हैं।

नामवरजी अब गांधी को भी केंद्र में रखने लगे हैं। अपने मऊ के व्याख्यान मे उन्होंने गांधी पर विशेष बल दिया। उनसे पूर्व मैंने समकालीन सांप्रदायिक परिवेश में गांधी की अर्थवत्ता को रेखांकित करते हुए प्रलेस से जुड़े लेखकों से निवेदन किया था कि पूर्वग्रहों से मुक्त होकर वे स्वयं को उस शहीद महात्मा की भूमिका में देखें। कथाकार शकील ने इस आवश्यकता को पुनः रेखांकित किया था। अतः अपने समापन-वक्तव्य में नामवरजी ने वर्तमान भारत की तुलना 1921-22 और 1930-31 के भारत से करते हुए कहा था कि 'स्थिति उतनी ही गंभीर है, लेकिन हमारे बीच कोई

गांधी नहीं है।' दूसरे दिन 6 अप्रैल को गाजीपुर में आयोजित पत्रकार-वार्ता में उन्होंने उस महात्मा को पुनः याद किया- 'गांधी अभी भी एक प्रभावी एवं विश्वसनीय नैतिक संदर्भ है' और 'देश के राजनीतिक विवेक की कसौटी है।' नामवरजी ने भारत-पाक संबंधों में अपेक्षित सुधार के लिए गांधी के रास्ते की ही वकालत की और कहा कि 'एंटम बम की धमकी देना छोड़कर अच्छा पड़ोसी बनने की गांधी जैसी पहल होनी चाहिए।' वर्तमान वैश्वीकरण और बाजारीकरण के वैचारिक दबाव के प्रतिरोध में उन्होंने 'हिंद स्वराज' की अर्थवत्ता को भी रेखांकित किया। मेरी भी समझ है कि पूर्वग्रहों एवं विचारधारात्मक जड़ता से मुक्त होकर महात्मा गांधी का प्रगतिशील पुनर्पाठ होना ही चाहिए। हुआ भी है, लेकिन पर्याप्त नहीं। भाजपा-ठाकरे राज में गोडसे के बयानों को 'गांधी-वध' जैसे शीर्षक से छाप कर बेचना, यह बताता है कि सांप्रदायिक सोच का प्रभावी प्रतिरोध अभी भी गांधी ही हैं। भूलना न होगा, गांधी सांप्रदायिक सोच एवं व्यवहार के राष्ट्रव्यापी, देशज एवं व्यावहारिक प्रतिरोध हैं; वे कोई आयातित वैचारिक निर्मिति या अमूर्तन नहीं है।

रात में खाना खाते समय मैंने कहा था कि मेरे एक मित्र डॉ. रामानन्द राय बी.एच.यू. में अंग्रेजी के प्रोफेसर हैं। उन्होंने एक दिन फोन से मुझे बताया कि उन्होंने आपको परिसर के विश्वनाथ मंदिर के सामने दूर सड़क पर सुबह-सुबह ध्यानमग्न, खड़े देखा था। कई अन्य लोगों ने भी आप में आ रहे धार्मिक रुझान की मुझसे चर्चा की है जिसमें डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव भी शामिल हैं। कई-एक तो यह तक कहते हैं कि हर बूढ़े मार्क्सवादी की यही नियति है।

इस पर नामवरजी ने सविस्तार अपनी बात कही। उन्होंने अपने छात्र-जीवन की चर्चा की और बताया कि नवरात्रि में मैंने गंगा-स्नान के बाद भीगी धोती, आधी पहने और आधी ओढ़े, 03 बजे रात्रि में जलाभिषेक किया है। त्रिलोचन ने भी ऐसा किया है। लेकिन यह 50-60 साल पुरानी बात है। मंदिरों को गौर से देखना, उनके आर्किटेक्चर को बारीकी से देखने-समझने का प्रयास करना, मूर्तियों की बनावट को देखना-परखना, वहां उमड़े भक्तों के भाव-बोध को समझने का प्रयास करना, कोई बुरी बात तो नहीं है। अगर चर्च और मस्जिद की संरचना को देखना-समझना बुरा नही है तो फिर मंदिर को ही देखना बुरा क्यों? उन्होंने कहा कि भक्त-दृष्टि को समझने की कोशिश करता हूं और उसे समझने का मतलब है भक्त की सांस्कृतिक दृष्टि को समझना। अगर नामवरजी की दृष्टि यही है तो इससे असहमत नहीं हुआ जा सकता। साहित्यकार के लिए अनुभव का कोई भी कोना निशिद्ध नहीं है। नामवरजी हिंदू धर्म को मूलतः 'उदार और समावेशी' बताते हैं और अपने 'गुरुदेव' को याद करते हुए कहते हैं कि कर्मकांड एवं अन्य बाह्याचारों को धर्म नहीं कहा जा सकता। बात सही लगती है, लेकिन समस्या यह है कि कर्मकाण्डों से मुक्त धर्म की परिकल्पना भी संभव नहीं लगती। यह सही है कि धर्म दुःख की अभिव्यक्ति ही नहीं, उसका प्रतिरोध भी है, लेकिन व्यवहार में उसकी भूमिका विरेचक की है, जिसकी परिणति व्यवस्थागत स्थितियों एवं बुराइयों से समझौता या उनके प्रति उदासीनता भी है। अतः 'आखिरी कलाम' (उपन्यास) में दूधनाथ सिंह इस धार्मिक चेतना से टकराते दिखते हैं, लेकिन नामवरजी धार्मिक चेतना की ओर से होकर बोलते से लगते हैं। चाहे विवशता जो हो, इसी संदर्भ मे इन्होंने आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की चर्चा की जो विद्वान होने के साथ-साथ स्मार्ताग्रही, नैमिष्टिक ब्राह्मण भी थे। लेकिन बुढ़ापे में संन्यासी की तरह रहते और छुआ-छूत आदि की भावना को बिल्कुल अतिक्रमित कर गए थे। नामवरजी के इस उदाहरण से गांधी

की एक बात अवश्य पुष्ट होती है कि छूत-अछूत की भावना हिंदू धर्म की खासियत नहीं है, जैसा कि डॉ. अंबेडकर सोचते थे; बल्कि यह एक रोग है, जिसका उपचार संभव है। अब तो मुझे भी लगता है कि लोकप्रिय धर्म आमजन की मानसिक आवश्यकता है, ओर वर्तमान तकनीक-संचालित सांस्कृतिक रेगिस्तान में धर्म एक महत्वपूर्ण सर्वसुलभ नखलिस्तान है। काव्य की भी यही स्थिति है जिसकी सूचना मैथ्यू अर्नल्ड ने 19वीं सदी के सातवें दशक में ही दे दी थी। अर्नल्ड ने काव्य को धर्म का संभावित विकल्प मान लिया था, लेकिन अभी भी दोनों का सहअस्तित्व कायम है, व्यवस्था-समर्थक और व्यवस्था-विरोधी दोनों ही रूपों में।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन के बारे में नामवरजी ने कुछ बातें बताई जिनका मन पर गहरा असर हुआ। एक, राहुलजी कभी गुस्से में नहीं आते थे। तीखी से तीखी व्यक्तिगत आलोचना को भी वे हंसते-मुस्कुराते टाल जाते थे। दो, उन्हें कभी किसी व्यक्ति की शिकायत करते नहीं सुना गया। अगर उनसे कोई शिकायत करता भी तो वह ध्यान हटा लेते और पढ़ने-लिखने लगते, और अगर इतने के बावजूद भी शिकायत चालू रहती तो उठकर चले जाते। टोकते नहीं थे, या तो उदासीन हो जाते या अनुपस्थित। तीन, बातचीत, विमर्श के दौरान वे केवल अपना पक्ष रखते, और उसे कभी किसी पर आरोपित करने का प्रयास नहीं करते। अतः उनके साथ संवाद में कभी गतिरोध नहीं पैदा होता। और चार, उनकी समझ स्पष्ट और टिप्पणियां बेबाक होतीं।

एक बार राहुलजी ने नामवरजी को आधुनिक हिंदी काव्य-धारा पर एक पुस्तक संपादित करने की राय दी, यह कहते हुए कि आधुनिक काव्य में उनका प्रवेश नहीं है। नामवरजी कवियों और उनकी रचनाओं की सूची के साथ कुछ दिनों बाद उनसे मिले। बातचीत के दौरान राहुलजी की टिप्पणियों एवं प्रेक्षणों से उन्हें लगा कि वे आधुनिक हिंदी काव्य की सूक्ष्मताओं से भी परिचित थे। नामवरजी में प्रसाद को संकलित करने में कुछ झिझक थी, शायद राहुलजी की अपनी साहित्य-दृष्टि के चलते। लेकिन उन्होंने जयशंकर प्रसाद को उसमें शामिल करने और मैथिलीशरण गुप्त को शामिल न करने की सलाह दी। राहुलजी की दृष्टि में प्रसाद में एक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य के साथ-साथ सशक्त काव्यत्व है, जबकि मैथिलीशरण गुप्त का लेखन 'प्रतिक्रियावादी' है और उनकी कविता 'अति सामान्य' हैं। यशोधरा की चर्चा करते हुए उन्होंने 'सखि वे मुझसे कहकर जाते' को उद्धृत किया और प्रश्न किया कि 'अगर कह-पूछकर जाना चाहते तो क्या जा पाते या पारिवारिक पचड़े में ही एक सामान्य व्यक्ति की तरह पड़े घिसटते रहते?' इस बेबाक टिप्पणी में एक मूलभूत सच्चाई है कि परिवार ऐसा एक दलदल है जिसमें फंसना एक भयानक विवशता है। अनगिनत क्षमतावान लोग भी छोटी-छोटी वफादारियों के फंदों में फंसे छोटे बने रह जाते हैं। संभवतः गांधी अपवाद थे जिन्होंने पारिवारिक जिम्मेदारियों के बीच भी अपनी राष्ट्रीय शर्तों को कायम रखा। शायद अपनी टिप्पणी के माध्यम से राहुलजी अपनी सफाई भी दे रहे थे, और इसे याद रखकर नामवरजी अपनी पीड़ा व्यक्त करते हुए-से लगे। लेकिन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है राहुलजी के प्रति नामवरजी की दृष्टि जो रामविलासजी की दृष्टि से बिल्कुल उल्टी है। रामविलासजी राहुल से केवल टकराते हैं और इसलिए उनमें राहुल-व्यक्ति को लेकर शुद्धतावादी भर्त्सना से अधिक कुछ नहीं मिलता।

बातचीत के दौरान ही नामवरजी ने आलोचना के दायित्व की भी संक्षिप्त चर्चा की। इस दायित्व के इर्द-गिर्द उन्होंने कोई प्रभामंडल नहीं रचा। मात्र इतना भर कहा कि 'आलोचना का दायित्व है

रचना के स्वर को पकड़ना, उसकी रसभूमि तक पहुंचना और साहित्य के सामान्य पाठक को उस तक पहुँचने में मदद करना।' लेकिन अद्यतन आलोचना के दायित्व को इतने से ही नहीं सिमटाया जा सकता। आज का आलोचक मूलतः विमर्शकार है, और वह रचना की रसभूमि पर कम उसकी विचार-भूमि पर अधिक टिकता है। टेरी इगल्टन का कहना है कि पारंपरिक आलोचना आत्म-विलोपी (सेल्फ एबॉलिशिंग) रही है और आज की समालोचना 'टेक्स्ट' से आरंभ होती तो है, लेकिन इसी में खप नहीं जाती। यह इसे अतिक्रान्त कर सामाजिक-सांस्कृतिक विमर्श का रूप लेती है। अर्थात् आलोचना भी एक विचार-संरचना है, मात्र व्याख्या या टीका नहीं। दरअसल, किसी रचना की रसभूमि तक पाठक को पहुंचाने में मदद करना, अर्थात् साधारणीकरण में मदद करना रचना के उपभोग में मदद करना है, उसके विवेचन-विश्लेषण में नहीं। नामवरजी स्वयं भी आलोचना के इस रसवादी आग्रह से असहमत हैं।

इस जिज्ञासा पर कि कहानीपन क्या है? नामवरजी ने कहा कि 'कहानीपन' या 'काव्यत्व' की कोई ठोस, मूर्त परिभाषा देना संभव नहीं है। बहुत सारे साहित्यिक उपकरणों के मेल से कुछ बनता है जो काव्यत्व या कहानीपन का एहसास दे जाता है। इसकी परिव्याप्ति समूची कृति में होती है। यह कोई स्थूल वस्तु नहीं है जिसकी अवस्थिति को किसी खास बिन्दु पर पहचान कर परिभाषित किया जा सके। उन्होंने रूप और कथ्य की अन्विति की बात भी उठाई और कहा कि 'रूप भी कथ्य का ही रूप है।' वस्तुतः यही मूल मार्क्सवादी दृष्टि भी है। इसी संदर्भ में एस.एस. प्रावर ने अपनी पुस्तक मार्क्स एंड वर्ल्ड लिटरेचर में मार्क्स को उद्धृत किया है-'फॉर्म इज नथिंग बट द फॉर्म ऑफ द कन्टेन्ट'। अर्थात कथ्य से तय होता है कि रूप क्या होगा? सफल कृति में विषय-वस्तु को अपना स्वाभाविक रूप मिला है। यह घट और जल के बीच उपलब्ध लगता है जिसे कन्टेन्ट या कथ्य कहते है। वैसे नामवरजी ने यह कहा कि रूप भी कथ्य के स्वरूप को प्रभावित करता है। इस स्थापना में भी कोई दोष नहीं है। इनकी डायलेक्टिक्स को ध्यान में रखना ही होगा, लेकिन कथ्य की केंद्रीयता के साथ।

सारनाथ में आयोजित 'संगमन-9' (अक्टूबर 11-13, 2003) में अपने दूसरे दिन के वक्तव्य में नामवरजी ने कहानीकार के व्यक्तिगत अनुभव की पूंजी को अपर्याप्त बताते हुए, उसे 'प्रोफेशनल' बनाने की सलाह दी थी। उन्होंने गुलेरी बनने का सपना छोड़कर प्रेमचन्द का रास्ता अपनाने पर बल दिया। प्रेमचन्द का लिखा हुआ मात्र अनुभवपरक नहीं है। 'कफन' के घीसू और माधव प्रेमचन्द के अनुभव के हिस्से नहीं थे। इतना ही नहीं, यह कहानी 1935 में जामिया मीलिया में एक रात में लिखी गई थी जहां के तात्कालिक अनुभव से कहानी को कुछ लेना-देना नहीं था। कहानी मूलतः गल्प है। कल्पना-लोक को सृजित करने की क्षमता ही प्रमुख है। अगर कलात्मक-बोध है तो बात-बात से बात निकलती रहती है। एक विचार आता है और फिर स्मृतियों का मेला लग जाता है। 'ईदगाह' में यह पहले से तय है कि हामिद चिमटा ही खरीदेगा और अन्य बच्चे खिलौने खरीदेंगे। इसके बाद मेले का सफर, मेले में खरीद-बिक्री, बच्चों का उत्साह, उनके आपसी तर्क-वितर्क, इत्यादि सब कुछ कल्पना का खेल है, गल्प है, और इसी में कहानीपन निहित है। कुल मिलाकर यह समझ सही है। किसी कृति की समझ और उसके आकलन-मूल्यांकन के लिए हमेशा कृतिकार के निजी अनुभवों और उसके विचारधारात्मक प्रतिबद्धताओं की ओर लौटना फलदायी नहीं होता। कालरिज

के शब्दों में कहें तो अगर कथाकार संदेह को टालने की चित्ति निर्मित कर पाता है, अगर यह कनविन्सिंग है, पाठक को अपने साथ ले चलने में सक्षम है, तो कृतित्व सुरक्षित है। आशय यह कि कहानीपन के केंद्र में कला है, विश्वसनीय स्वप्नलोक गढ़ने की ताकत और हुनर है, लेखक का अनुभव अथवा सरोकार नहीं। स्मृतियां कलम की जाती हैं। कहानी कलमी आम है, बीजू आम नहीं। नामवरजी के वक्तव्यों एवं लेखन में इस प्रकार की स्थापनाएं उनके आलोचकों का ध्यान खींचती हैं जो उन पर रूपवादी होने की तोहमत लगाते हैं। कविता के नए प्रतिमान में यह रूपवाद अपने चरम पर है। लेकिन इस सबके बावजूद, नामवरजी ने प्रगतिशील आलोचना को थोड़ी रूप-चेतना दी है; इसे संतुलन दिया है। आखिर, रूपगत विशिष्टताएं ही साहित्य को अन्य विधाओं से भिन्न एवं विशिष्ट बनाती हैं। ये भी उसकी निजता की एक पहचान है।

बातचीत दलित साहित्य, अस्मिता और राजेन्द्र यादव की ओर मुड़ गई। नामवरजी को दलित रचनाकार दलित-विरोधी मानते हैं। यह बात उचित नहीं है। नामवर सिंह ने दलित रचनाकारों से गुणात्मक अपेक्षा की है, उनका विरोध नहीं किया है। हां, उनके इस दावे को जरूर अस्वीकार किया है कि दलित ही दलित जीवन पर लिखने के हकदार हैं। नामवरजी 'स्वानुभूति' से 'सहानुभूति' को कम महत्ता नहीं देते। कहानीकारों के संबंध में जब भी वे लेखकीय अनुभव की सीमा की चर्चा करते हैं, तब प्रकारांतर से वे 'स्वानुभूति' कल्पनाशक्ति और कला की चर्चा करते हैं। उनकी दृष्टि में इसी त्रिक पर रचना खड़ी होती है। नामवरजी ने हिंदी के दलित साहित्य पर जो तल्ख टिप्पणियां की हैं उनका प्रमुख कारण, संभवतः दलित रचनाकारों द्वारा प्रेमचन्द और प्रगतिशील परंपरा पर आक्रमण और समूचे हिंदी साहित्य को 'ब्राह्मण साहित्य' बताकर इकबारगी खारिज करने का किशोर उत्साह है। अब दलित लेखन संभला है और कुछ आत्मालोची भी बना है। समय के साथ नामवरजी इसे अपेक्षित सहानुभूति के साथ देखने लगे हैं। उन्होंने बातचीत में कहा कि ओम प्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा जूठन को पढ़ने के बाद उन्हें लगा कि दलित जीवन के कुछ ऐसे अँधेरे कोने हैं जिन्हें दलित हुए बगैर देखा-समझा नहीं जा सकता। उन्होंने यह भी बताया कि इस बार वह ओम प्रकाश वाल्मीकि को साहित्य अकादेमी का पुरस्कार दिलाना चाहते थे, लेकिन उनकी नहीं चली। अगर यह पुरस्कार मिल गया होता तो दलित साहित्य को अकादमिक स्वीकृति मिली होती।

इसी क्रम में उन्होंने बताया कि मुझे तुलसीराम से बहुत कुछ सुनने, जानने और सीखने को मिला है और दलित जीवन ओर दलित जीवन-दृष्टि को समझने और तद्नुरूप अपना मार्जन करते जाने में मदद मिली है। लेकिन उनको यह नहीं मालूम है कि तुलसीराम पर उनका क्या प्रभाव पड़ा है। उन्होंने यह भी बताया कि जे.एन.यू. में अंबेडकर चेयर के लिए उन्होंने प्रयास किया। चेयर मिली भी, लेकिन तुलसीराम को उसका लाभ नहीं मिल सका, क्योंकि वह जोड़-तोड़, तिकड़म, इत्यादि नहीं कर सकते थे। डॉ. तुलसीराम से मेरी भी पुरानी मित्रता थी। वे एक नितांत स्वनिर्मित व्यक्ति थे। वे अपनी तरह से अपनी शर्तों पर जीते थे और हमेशा किसी एक छोर पर रहते थे। किचेन से लेकर किताब तक उनकी अपनी शर्तें होती थीं। उनसे संवाद संभव नहीं है। उनके पास अपना सुनाने का भंडार भी इतना बड़ा है कि दूसरों से कुछ सुनने की स्थिति ही नहीं बनती थी। वे संवाद नहीं बनाते, एसर्ट करते हैं, क्योंकि मजबूत पंसद-नापसंदगी के आदमी थे और इस पार या उस पार के तर्क से संचालित होते थे। किसी वाद या विचार को वे आधा-अधूरा नहीं जीते थे, चाहे वह मार्क्सवाद

या अंबेडकरवाद हो।

नामवरजी की दृष्टि में राजेन्द्र यादव पिछड़ावाद, स्त्रीवाद, दलितवाद से परेशान दिखते हैं और उनमें लोकप्रिय होने का अपार्चुनिज्म है। अब वे लेखन से भी कट कर साहित्य में शिगूफा छोड़ने वाले संपादक हैं। राजेन्द्र यादवजी की सोच में इकहरापन है और इसलिए भाषा में उग्रता है। उनके पास परंपरा-बोध नहीं है, अन्यथा वे सांस्कृतिक उच्छेदनवाद के शिकार नहीं होते। पिछड़ावाद, स्त्रीवाद और दलितवाद को तो उन्होंने अपनी साहित्यिक अस्मिता, आईडेंटिटी से जोड़ रखा हे। नामवर सिंह को राजेन्द्र यादव से तुलसीदास को लेकर भी शिकायत है। वह उनकी तुलसी-संबंधी समझ को 'अधूरी बताते हैं। तुलसीदास में बहुत-कुछ हमारे काम का है। अगर तुलसी के धर्म-रूप को नकार भी दिया जाय तो उनका कवि-रूप शाश्वत महत्व का है। नामवरजी का तो यह भी कहना था कि तुलसी को खारिज कर देने के बाद हिंदी साहित्य 'दरिद्र' हो जाएगा। शेक्सपियर में भी 'ऐंटी-सेमिटिज्म' है, लेकिन इतने मात्र से इंग्लैण्ड की सेक्युलर इन्टेलिजेन्सिया ने उन्हें खारिज नहीं किया। अगर शेक्सपियर के साथ कार्लाइल हैं तो तमाम वामपंथी लेखक भी हैं। यह इंग्लैंड के स्वस्थ परंपरा-बोध का द्योतक है।

स्पष्ट है, नामवर सिंह इलियट की 'परंपरा' और लीविस की 'महान परंपरा' (ग्रेट ट्रेडीशन) के बहुत निकट हैं। परंपरा की मुख्यधारा नए-नए अनुभवों को आत्मसात करती अतिक्रमित होती रहती है, जिसकी समझ गांधी के पास है लेकिन अम्बेडकर के पास नहीं है, प्रेमचन्द के पास है लेकिन संप्रति दलित लेखन के पास नहीं है, या नामवर के पास है और राजेन्द्र यादव के पास नहीं है। संस्कृति और परंपराओं के निर्माण में 'सामूहिक अवचेतन' (collective unconscious) की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। रेमंड विलिएम्ज इसे 'सांस्कृतिक अनुवांशिकी' (cultural genetics) के रूप में देखते हैं। संस्कृति कोई जड़ इयत्ता नहीं है। लघु परंपराओं से इसका द्वंद्व इसे समृद्ध बनाता है। आरंभिक दिनों में सर्वहारा संस्कृति (proletkult) की सबसे बड़ी सीमा यही थी कि इसमें प्राचीन ईसाई संस्कारों पर अपने वर्चस्व का उत्साह था, जिसके फलस्वरूप इसका अपने समाज से संवेदनात्मक जुड़ाव नहीं हो पाया। इन तथ्यों को दरकिनार कर किसी भी प्रकार का सामाजिक-सांस्कृतिक अभियंत्रण (socio-cultural engineering) प्रति-उत्पादक होता है। आश्चर्य नहीं, नामवरजी 'सामुदायिक अस्मिता' (community identity) के प्रश्न को 'महत्वपूर्ण' मानते हैं। सोवियत संघ में यात्राओं के दौरान इसका इन्हें बार-बार एहसास हुआ है। दागिस्तानी महाकवि हम्जातोव ने अपनी आत्मकथा में लिखा भी है कि 'मैं दो लाख भाषा-भाषियों का कवि हूं।' नामवरजी की दृष्टि में कविता का इस अस्मिता के साथ निकट का रिश्ता है। बात सही भी है, क्योंकि कविता जातीय स्मृतियों से कट कर नहीं जी सकती।

कहानी की भाषा का प्रश्न उठते ही कथाकार काशीनाथ सिंह का नाम अनचाहे भी सामने आता है, क्योंकि उन्होंने एक भाषा गढ़ी है जो अन्यों से सर्वथा भिन्न है। नामवरजी इसे 'जमीनी खुरदुरी, ताजी और जीवंत' बताते है। इसमें 'जमीनी मुहावरों, अनुभवों और तल्खी' का समुच्चय है। लेकिन मेरे बहुत सारे मित्रों को यह भाषा 'नंगी' और 'अश्लील' लगती है। मेरे अभिन्न डॉ. कैलाशनाथ पाण्डेय अक्सर काशीनाथ की 'बेपर्द भाषा' की शिकायत दर्ज करते रहते हैं, और उनकी एक कहानी 'कलकत्ते में बॉकेलाल' की चर्चा करते हुए कहते हैं कि इसे परिवार में नहीं पढ़ा जा सकता, यद्यपि

इसके वर्णन की सजीवता के वे कायल भी हैं। काशी का अस्सी पढ़ना मेरे लिए भी चुनौतीपूर्ण था। अतिशय यथार्थवादी उत्साह खटकता है। लेकिन थोड़ा इनिशिएशन हो जाने पर अद्‌भुत आनंद देते हैं काशीनाथ, कथन की भंगिमा, नाटकीयता, कल्पना की चपलता, वर्णन में सूक्ष्म सजग अनगढ़ता, अनुभवों की ताजगी, हास-परिहास, व्यंग्य-विडंबना, यथार्थ-बोध, इत्यादि के सहारे, कहानीपन को बचाए हुए, वह एक चासनी तैयार करते हैं जिसका अपना एक बेजोड़ स्वाद है। उनकी भाषा पहाड़ी चश्मे की तरह सहज वेग से भीतर से बाहर की ओर फूटती भाषा है। 'पांड़े कौन कुमति तोहें लागी' में यथार्थ का उद्‌घाटन अत्यंत ही सृजनशील है। आर्थिक अभाव और बाजारीकरण की मार झेल रहे संस्कार-विजड़ित शास्त्रीजी पर यथार्थ भारी पड़ता है और उनके सारे शास्त्रीय विधि-विधान छितरा जाते हैं और उनका समूचा जीवन एक कुटिल पाखंड बन जाता है जिसमें कोई त्रासद संभावना भी नहीं है। खैर, नामवरजी भाषा के पारखी हैं और अगर इन्हें काशीनाथ की खुरदुरी, अनगढ़ भाषा अच्छी लगती है तो इसके अन्य बहुत सारे आधार भी अवश्य होंगे।

नामवरजी नक्सल राजनीति के समर्थक नहीं हैं। वे इसमें भावुकता का पुट देखते हैं। उनकी दृष्टि में यह 'ईमानदार रोमान है जो आत्मघाती' होता है। इसकी सोच-समझ में वस्तुनिष्ठता नहीं है; यह वस्तुनिष्ठ परिस्थितियों का आकलन ठंडे दिल-दिमाग से नहीं करता। इसी संदर्भ में उन्होंने ग्राम्शी की अवधारणा 'पेसिमिज्म ऑफ इन्टलेक्ट एंड आप्टिमिज्म ऑफ विल', अर्थात 'बुद्धि में नैराश्य लेकिन इच्छाशक्ति में आशावाद' की याद दिलाई और कहा कि जब आशावाद बुद्धि में घुस जाता है तो विश्लेषक के निष्कर्ष आत्मनिष्ठ हो जाते हैं, और इन निष्कर्षो से संचालित राजनीति रोमांचक आत्मघात का शिकार बन जाती है। आशय यह कि सोच और विश्लेषण के स्तर पर थोड़ा 'नैराश्य' इन्हें यथार्थपरक एवं संतुलित बनाए रखता है। उनकी दृष्टि में नक्सल आंदोलन इस बौद्धिक नैराश्य से या तो अपरिचित है या इसके प्रति उदासीन है। व्यक्तिगत रूप से मुझे प्रचलित मार्क्सवादी विचार-संरचना भी इससे बेखबर ही लगती है। सामाजिक विकास का जो एकरेखीय खाका तैयार किया गया, व्यवस्थाओं के विभिन्न सोपानों को जिस ऊर्ध्वमुखी क्रम में सजाया गया, परकीयकरण (alienation) के प्रश्न को भौतिक स्तर पर ही जिस सपाट तरीके से हल कर लिया गया, श्रमिक वर्ग की सृजन क्षमता में जो निरापद विश्वास किया गया और समाजवाद में रूपांतरण के लिए समाजवादी राज्य की मशीनरी पर जो भोलापन दिखाया गया, इत्यादि इसी बौद्धिक नैराश्य के प्रति उदासीनता के द्योतक हैं। दरअसल, मार्क्सवादी विजन भी 18वीं सदी के पूर्णतावाद (perfectionism) का शिकार है, जिसकी चरम दार्शनिक अभिव्यक्ति गॉडविन में हुई और जिसकी अनुगूंज टाल्सटॉय और गांधी में भी सुनाई देती है। इसी आत्ममुग्ध सपाटपन के चलते समाजवादी सत्ताएं अपने इर्द-गिर्द के परिवर्तनों को आत्मसात् नहीं कर पायीं और परिणाम स्वरूप अपने दायरे में ऐसा कोई विकल्प नहीं दे पायीं जो उन नई पीढ़ियों के अनुकूल पड़ता जो इन क्रान्तियों की ही संताने हैं। खैर.....

1993 में जब उनसे मिला था तो अपनी सी.पी.आई. से सहानुभूति के लिए उन्होंने दो कारण बताए थे : एक, सी.पी.आई. भारतीय कम्युनिस्टों की 'मातृ-संस्था है; और दो, इसकी सभी 'आलोचना' करते हैं। परिहास में उन्होंने आगे कहा था कि जिस चीज की ज्यादा लोग आलोचना करें वह निश्चय ही तुलना में बेहतर होती है। साथ ही, जुड़ाव में निष्ठा होती है और आत्म-प्रमाणन

(self-justification) भी रहता है। साथ ही, जुडाव जितना सकारात्मक रहता है उतना ही प्रतिक्रियात्मक भी। संवेदनशील मन हमेशा कमजोर और पराजित की ओर झुकता है। इसकी जैन्विननेस का प्रमाण भी यही है। इसी कारण इसे अपने रिश्तों एवं कतिपय निष्कर्षों को भी पुनर्परिभाषित करते रहना पड़ता है। आरंभ में नामवरजी से मेरा भावात्मक जुड़ाव भी कुछ विचारधारात्मक और कुछ प्रतिक्रियात्मक था। 1971 में जब मैं गाजीपुर आया था तो यहां के हिंदी दिग्गज नामवरजी की आलोचना में ही लीन रहते थे - एक सज्जन व्यक्तिगत कारणवश और दूसरे विचारधारात्मक कारण वश। अतः मेरा नामवरजी के साथ प्रतिक्रियात्मक लगाव स्वाभाविक था। बाद में नामवारजी को पढ़ने भी लगा, और उत्तरोतर वह प्रतिक्रियात्मक जुड़ाव सकारात्मक सम्मान में बदल गया।

●

नामवर सिंह की उपन्यासालोचना

रविभूषण

1979 में फ्रेडरिक जेम्सन (1934) ने ब्रिटिश चित्रकार और लेखक विंढम लेविस (18.11. 1882- 7.3.1957) पर लिखे अपने मोनोग्राफ 'फेबल्स ऑफ एग्रेशन' में जिस विचार और धारणा को जन्म दिया था, उसने उसके बाद के एक लेख 'बहुराष्ट्रीय पूंजीवाद के युग में तीसरी दुनिया का साहित्य (थर्ड वर्ल्ड लिटरेचर इन द एरा ऑफ मल्टीनेशनल कैपिटलिज्म, 1986) में पूर्ण आकार ग्रहण कर 'राष्ट्रीय रूपक' (नेशनल एलिगरी') की सुचिंतित अवधारणा प्रस्तुत की। इसके पहले 1983 में बेनेडिक्ट एंडरसन की पुस्तक 'इमैजिन्ड कम्युनिटीज : रिलेक्शंस ऑन द ओरिजिन एंड स्प्रेड ऑफ नेशनलिज्म' प्रकाशित हो चुकी थी। उत्तर उपनिवेशवादी विचार और चिंतन ने जो दिशाएं खोजी और खोली थीं, उनसे अछूता और अप्रभावित रहना तीसरी दुनिया के देशों के आलोचकों, विचारों, चिंतकों और बुद्धिजीवियों के लिए संभव नहीं था। नामवर सिंह का उपन्यास-संबंधी चिंतन 1980 से प्रमुख रूप में आरंभ हुआ। प्रेमचंद जन्मशती वर्ष (1980) से।

हिंदी में कहानी- कविता को लेकर जो आंदोलन स्वतंत्र भारत में चले, उस तरह का कोई आंदोलन उपन्यास में कभी उपस्थित नहीं हुआ, 'मैला आंचल' (1954) के प्रकाशन के बाद कुछ समय तक कुछ लोगों ने आंचलिक उपन्यास' की हवा अवश्य चलाई, पर वह कभी प्रभावकारी न रही। नामवर पचास और साठ के दशक में मुख्यतः कहानी और कविता की आलोचना के सिरमौर बने रहे। साठ के दशक में उन्होंने 'प्रेमचंद और तोल्स्तॉय' और 'सांप्रदायिकता का सवाल' (प्रेमचंद और अमृत राय) लेख लिखा। 1965 में दिल्ली आने, 1967 में 'आलोचना' का संपादक बनने, 1970 में जोधपुर विश्वविद्यालय जाने और 1974 में जे.एन.यू. आने के बाद उनका ध्यान उपन्यास की ओर गया। जोधपुर विश्वविद्यालय में 'आधा गांव' को उन्होंने पाठ्यक्रम में रखा था, जिसका काफी विरोध हुआ था। सत्तर के दशक में ही उन्होंने अपने चिंतन का दायरा अधिक बढ़ाया और भारतीय साहित्य विशेषतः भारतीय उपन्यास पर अपना ध्यान केंद्रित करना आरंभ किया। जे.एन.यू. में 'सेंटर ऑफ इंडियन लैंग्वेज' की स्थापना हो चुकी थी और नामवर सिंह को कोर्स 'डिजाइन' करना था। सत्तर के दशक में हिंदी में 'भारतीयता' की विशेष चर्चा होने लगी थी। अखिल भारतीय संदर्भ में उपन्यास को देखने-समझने की दृष्टि उन्हें हजारी प्रसाद द्विवेदी से मिली थी। द्विवेदीजी ने हिंदी भक्ति आंदोलन को सही ढंग से समझने के लिए विभिन्न भाषाओं में रचित भक्ति साहित्य को समझना आवश्यक समझा था। नामवर सिंह को लगा कि, यह बात जितनी सही अपने प्राचीन साहित्य या मध्यकालीन साहित्य के बारे में है, उससे कहीं ज्यादा सही आधुनिक काल के बारे में है। वह इसलिए

है कि अंग्रेजी राज के उपनिवेशवादी दौर में जबकि भारत अखिल भारतीय राष्ट्र के रूप में निर्मित या विकसित होने लगा और सच्चे अर्थ में एक व्यापक भारतीय चेतना का विकास होने लगा तो हमारे भारतीय साहित्य की प्रत्येक भाषा के साहित्य का, भाग्य एक साथ जुड़ गया।' (बात बात में बात, 2006, पृ.-139) तीसरी दुनिया के साहित्य को सत्तर के दशक से जिस नई दृष्टि से देखा गया, उसमें भाषा-विशेष में रचित साहित्य अपने क्षेत्र में सिमटा न रहा, उपन्यास को देखने की एक नई दृष्टि विकसित हो चुकी थी और यह नामुमकिन था कि नामवर उससे परिचित-प्रभाव न हों। एक अखिल भारतीय दृष्टि का विकास आवश्यक था। 'उसके प्रति जागरूक होना पड़ा, यद्यपि इसकी शुरुआत उपन्यासों के माध्यम से हुई थी... एक उत्तर औपनिवेशवादी दौर का भी दबाव था कि हम अपने भारतीय उपन्यास की अलग पहचान करें। (वही) किरन सिंह को दिए साक्षात्कार (1997) में नामवर ने कहा, 'पिछले दो दशकों से मैंने भारतीय उपन्यास के उदय के बारे में सोचना शुरू किया, तो मुझे लगा कि हिंदी उपन्यासों के आधार पर हम न तो हिंदी साहित्य की परिकल्पना सही-सही कर सकते हैं, न भारतीय उपन्यास की। उस दौर में 19वीं शताब्दी के हिंदी उपन्यास, बांग्ला के उपन्यास, गुजराती, उड़िया, उर्दू के उपन्यासों की ओर मेरा ध्यान गया और तब मुझे लगा कि हिंदी में या अन्य किसी भारतीय भाषा में लिखनेवाला आलोचक यदि कोई सार्थक काम अपनी भाषा के लिए भी करना चाहता है, तो उसका परिप्रेक्ष्य अखिल भारतीय होना चाहिए।' (वही, पृ.138)

नामवर संभवतः अकेले भारतीय आलोचक हैं, जिनका उपन्यास-संबंधी चिंतन सर्वाधिक व्यापक है। उपन्यास-संबंधी उनकी भारतीय दृष्टि उनके मन में क्रमशः विकसित होती रही। इंग्लिश नावेल, 'अमेरिकन नावेल', 'आस्ट्रेलियन नावेल', 'रूसी नावेल', 'फ्रांसीसी नावेल' की चर्चा में देश शामिल था। नामवर 'उत्तर औपनिवेशिक दौर की मांग और दबाव' को स्वीकारते हैं, 'जिसने इस भारतीय दृष्टि के विकास के लिए उकसाया' (वही, पृष्ठ 140) पचास के दशक में उन्होंने रूसी उपन्यासकारों को पढ़ा था। वे उपन्यास पर लिखने के पूर्व प्रायः सभी प्रमुख उपन्यासकारों को पढ़ चुके थे। हेमिंग्वे, फ्लाबेयर, स्तांधाल को वे पहले पढ़ चुके थे। आंद्रे जीद का लघु उपन्यास 'स्ट्रेट इज द ग्रेट' भी पढ़ा, जो चिट्ठी-पत्री की शैली में है। नामवर की स्मृति अद्‌भुत है। सुधीर रंजन सिंह को 2003 में उन्होंने बताया कि आंद्रे जीद के इस उपन्यास का अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' पर असर होना चाहिए। 'जिन चीजों को पढ़ा, रस लेने के लिए पढ़ा। आलोचना लिखने में उपयोग के लिए नहीं' (वही, पृ.-183) सत्तर के दशक के पहले तक उनकी आलोचना कविता और कहानी केंद्रित रही है। हिंदी आलोचना की परंपरा काव्य-समीक्षा की थी। कथालोचना पर आलोचकों का अधिक ध्यान नहीं था। नामवर ने हिंदी कथालोचना को तो विचार-चिंतन भूमि प्रदान की, वह उनके पहले नहीं थी। अशोक वाजपेयी के एक सवाल (1984) पर, उपन्यास की ओर आप क्या कभी आकर्षित नहीं हुए?' उन्होंने कहा- 'सातवें दशक के आसपास से जब मुझे 'रागदरबारी', 'आधा गांव', 'नौकर की कमीज', 'कुरु कुरु स्वाह', 'कसप' में तो मुझे लगा कि उपन्यासों के क्षेत्र में कुछ नया हो रहा है, इसलिए कुछ लिखा जाना चाहिए।' (कहना न होगा, 1994, पृ.-73) लेकिन इनमें से किसी उपन्यास या उपन्यासकार पर उन्होंने कभी कुछ नहीं लिखा 'मैला आंचल' को समझने में उनसे 'चूक' हो गई थी। ऐसी 'चूक' कविता और कहानी में नहीं हुई थी उनके जो उन्नीस लेख और व्याख्यान

'प्रेमचंद और भारतीय समाज' (2010) में संकलित हैं, उनमें से केवल दो- 'सांप्रदायिकता का सवाल' (प्रेमचंद और अमृत राय) और 'प्रेमचंद और तोल्सतोय' साठ के दशक के अंत के हैं। इन दोनों लेखों में कहीं भी न तो, 'भारतीयता' का जिक्र है, न हिंदी उपन्यास का। वह बाद में संभव हुआ- प्रेमचंद जन्मशत वार्षिकी के समय से। 1980 से नामवर का गंभीर उपन्यास-चिंतन आरंभ होता है। 1980 से 1983 के बीच के उनके छह आलेख और व्याख्यान- 'विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता' (आलेख, 1980) राष्ट्रीय मुक्ति-आंदोलन और प्रेमचंद' (व्याख्यान, 1980), 'प्रेमचंद और भारतीय कथा-साहित्य में भारतीयता की समस्या' (आलेख, 1981), 'प्रेमचंद : दृष्टि और कला-रचना' (व्याख्यान, 1981), 'प्रेमचंद के वैचारिक अंतर्विरोध और गांधीवाद' (व्याख्यान, 1981) और 'उपन्यास और राजनीति' (आलेख, 1983) में प्रेमचंद और भारतीय उपन्यास के संबंध में उनके विचार प्रकट हुए हैं। नामवर अपनी मौलिक उद्‌भावनाओं और नई स्थापनाओं के लिए सर्वाधिक प्रसिद्ध है। कभी-कभी विवादास्पद भी। भारतीय उपन्यास के संबंध में उन्होंने अपने महत्वपूर्ण विचार अपने एक व्याख्यान और एक आलेख में प्रस्तुत किए। साहित्य अकादेमी ने मार्च 2000 में तिरुवनंतपुरम में केरल विश्वविद्यालय के तुलनात्मक साहित्य केंद्र के साथ 'अर्ली नावेल्स ऑफ इंडिया' (भारत के आरंभिक उपन्यास) पर राष्ट्रीय सेमिनार आयोजित किया था, जिसका उद्‌घाटन भाषण नामवरजी ने दिया था। 'रिफॉर्मुलेटिंग द क्वेश्चंस' शीर्षक से मीनाक्षी मुखर्जी के संपादन में प्रकाशित पुस्तक 'अर्ली नावेल्स ऑफ इंडिया' (2002) में यह संकलित है। हिंदी में आशुतोष कुमार ने इसका अनुवाद 'प्रश्नों का पुनर्सूत्रीकरण' शीर्षक से (हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की वार्षिक शोध-पत्रिका 'अभिनव भारती' 2006-7 व 2007-08) किया, पर इस अनुवाद को लेने के बाद 'प्रेमचंद और भारतीय समाज' के संपादक आशीष त्रिपाठी ने इस उद्‌घाटन-भाषण का शीर्षक बदल डाला- 'भारत के आरंभिक उपन्यास : देश और उपन्यास का साथ-साथ जन्म'। देश और उपन्यास के एक साथ जन्म की अवधारणा अमेरिकी साहित्यालोचक लेसली फिडलर (08.03.1917-29.01.2003) की है, जिनकी पुस्तक 'लव एंड डेथ इन द अमेरिकन नॉवेल' 1960 में प्रकाशित हुई थी। नामवर सिंह ने अपने उद्‌घाटन भाषण में लेसली फिडलर की यह टिप्पणी कही थी- 'देश और उपन्यास साथ-साथ जन्म लेते हैं'। उन्होंने भारतीय संदर्भ में इस टिप्ण्णी की जांच करने की बात कही थी। इस उद्‌घाटन-भाषण के लगभग आठ वर्ष पहले 1992 में उन्होंने 'अंग्रेजी ढंग का नॉवेल और भारतीय उपन्यास' आलेख ('साखी' के प्रवेशांक में प्रकाशित और बाद में 'प्रेमचंद और भारतीय समाज' में संकलित) लिखा था। इसके पहले 1990 में उन्होंने 'भारतीय उपन्यास और प्रेमचंद' पर 15 अप्रैल को प्रेमचंद साहित्य संस्थान में व्याख्यान दिया था। 1980-81 से वे भारतीय कथा-साहित्य और भारतीयता' पर विचार कर रहे थे।

नामवर ने प्रेमचंद जन्मशती वर्ष और बाद के दिनों में भारतीय उपन्यास के उदय और विकास को पश्चिम में उपन्यास के उदय और विकास से सर्वथा भिन्न रूप में प्रस्तुत किया। 'मेरी धारणा है कि पश्चिम में उपन्यास का उदय भले ही एक बुर्ज्वा रूप में हुआ हो, किंतु भारतीय उपन्यास का विकास मुख्यतः औपनिवेशिक दासता में छटपटाते हुए किसान की जीवनगाथा से हुआ है.... ठेठ भारतीय उपन्यास मध्यवर्ग के महाकाव्य के रूप में नहीं, बल्कि ग्रामीण समाज के आख्यान

(नैरेटिव) के रूप में उदित और विकसित हुआ.... यदि समस्त भारतीय भाषाओं के पिछले सौ वर्षों के साहित्य पर दृष्टिपात करें तो उपन्यास की मुख्य जीवंतधारा सर्वत्र वही दिखाई पड़ेगी, जिसका संबंध मूलतः गांवों से है।' ('प्रेमचंद और भारतीय कथा- साहित्य में भारतीयता की समस्या', 1981, प्रेमचंद और भारतीय समाज', 2010 में संकलित, पृ.-71-72) नामवर की भारतीय उपन्यास- संबंधी यह स्थापना एकदम नई और मौलिक थी। हेगेल ने 'उपन्यास' को आधुनिक मध्यवर्ग का महाकाव्य' कथा था। उपन्यास के उदय के संबंध में यह कथन-लक्षण लगभग सर्वमान्य था, नामवर ने भारतीय उपन्यास को 'किसान-जीवन का महाकाव्य' कहकर एक विशेष रूपबंध के सर्वत्र समान जन्म पर प्रश्न खड़ा किया। भारतीय उपन्यास को देखने की एक नई दृष्टि दी। निर्मल वर्मा ने अपने लेख 'उपन्यास की मृत्यु और उसका पुनर्जन्म' (शताब्दी के ढलते वर्षों में' 1995) में इस पर टिप्पणी की और बिना बहस में गए इस परिभाषा को 'भ्रामक' कहा। निर्मल ने हेगेल के सामने बुर्ज्वा वर्ग के विकास के फैले 'समूचे भविष्य' की बात कही और उसके साथ 'भारतीय किसान के अंधकारमय मार्क्स के शब्दों में 'मैलनकोलिक भविष्य का उल्लेख किया और यह लिखा कि इस भविष्य को 'डॉ. नामवर सिंह नहीं देख पाते, जहां भूमि से उन्मूलित होकर भारतीय किसान का वर्ग-संस्कार- उसका 'किसानत्व' ही संकट में पड़ गया है' (वही, पृ.-57-58) अक्सर मिखाइल बाख्तीन (17.11. 1895-07.03.1975) का उल्लेख करने वाले आलोचक उनके लेख 'एपिक एंड नॉवेल' (1941) का उल्लेख करना भूल जाते हैं, जिसमें उन्होंने उपन्यास और महाकाव्य का अंतर किया है। बाख्तीन के 'द डायलॉजिक इमैजिनेशन : क्रोनोटोप एंड हेट्रोग्लोस्सिआ' (1975) उनके भाषा और उपन्यास से संबंधित चार लेखों का संकलन है। 1981 में इन लेखों का अनुवाद कार्ल इमर्सन और माइकेल हॉलक्विस्ट ने किया। मारख्तीन ने महाकाव्य और उपन्यास का अंतर स्पष्ट किया। उनके अनुसार नॉवेल निरंतर विकासमान एकमात्र प्रकार (श्जॉर) है, जबकि महाकाव्य एक संपूर्ण और पुरातन प्रकार है। सभी प्रमुख प्रकारों, (साहित्य रूपों) में नॉवेल लेखन और पुस्तक में तरुण (नया) है, जो अकेले बहुप्रत्यक्ष ज्ञान के नए रूपों के प्रति ग्रहणशील है। बाख्तीन ने उपन्यास की सामान्य विशेषताओं के चार पहलुओं की ओर संकेत किया है। उनके अनुसार उपन्यास को 'काव्यात्मक' नहीं होना चाहिए क्योंकि यह दूसरे काल्पनिक साहित्य में प्रयुक्त होता है। महाकाव्य जहां पुरानी दुनिया से जुड़ा है, वहां उपन्यास को समकालीन संसार से जुड़ा होना चाहिए। प्राचीन साहित्य में ज्ञान नहीं स्मृति रचनात्मक आवेग और शक्ति का स्रोत है। उपन्यास और महाकाव्य में मुख्य अंतर यह भी है कि जहां हम उपन्यास के चरित्रों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं, वहीं महाकाव्य के नायकों के साथ नहीं। बाख्तीन के इस भेद के बाद भी उपन्यास को आज भी 'महाकाव्य' साथ जोड़ा जाता है; नामवर ने भारतीय उपन्यास की चर्चा 'किसान जीवन की महागाथा' के रूप में की। प्रकाश मनु को उन्होंने कहा- 'यह नहीं कहा था कि भारत में उपन्यास किसान जीवन की महागाथा ही है। यदि ऐसा ही रहता, तब तो बिलकुल इकहरा और एकरेखीय विकास इसका होता... मेरा जोर इस बात पर था कि भारत में उपन्यास का उदय भिन्न ढंग से हुआ।' ('बात बात में बात', 2006, पृ. -73) वे स्वीकारते हैं कि ऐसा उन्होंने कभी नहीं कहा कि 'हिंदी उपन्यास का किसान जीवन की महागाथा के रूप में एकरेखीय विकास ही होता चलेगा।' (वही, पृ.-74)

नामवर 'भरतीय उपन्यास के स्वरूप' पर विचार करने के पूर्व 'भारत में उपन्यास के उदय और विकास की रूपरेखा से परिचित' होना जरूरी समझते हैं। नॉवेल पर विचार करते हुए वे केवल अंग्रेजी नहीं पूरे यूरोप में नावेल के जन्म और विकास की चर्चा करते हैं। जहां तक 'नॉवेल' शब्द का प्रश्न है, इस शब्द-विशेष का सभी भाषाओं में प्रचलन नहीं है। 'नॉवेल' शब्द ऐंग्लो-सेक्शन और टयूटानिक भाषाओं में है, पर फ्रेंच, रूसी, इटैलियन और स्पेनिश में 'रोमान' शब्द प्रचलित है नॉवेल के लिए। यह ध्यान देना जरूरी है कि शब्द के बदलने से अर्थ भी बदल जाते हैं, नॉवेल 'का जो अर्थ, रूप, स्वरूप अंग्रेजी में है वह फ्रेंच में नहीं। नामवर 'नॉवेल' और 'रोमान' में 'रूपगत भेद' के साथ 'मूल्यगत भेद' भी देखते हैं। यूरोप में नॉवेल का जहां एक 'ऐतिहासिक और सामाजिक आधार' है, वहां 'रूपगत या मूल्यगत आधार' भी है। उपन्यास को 'मध्यवर्ग का आधुनिक महाकाव्य' ऐतिहासिक और सामाजिक आधार' के कारण कहा गया। योरप में औद्योगिकरण और पूंजीवाद के साथ मध्यवर्ग का आगमन भी सबसे पहले हुआ। इसी कारण योरप उपन्यास का जन्म-स्थल बना। महत्वपूर्ण जन्मस्थल का होना भर नहीं है। इस दृष्अि से नॉवेल को यूरोपीय विधा कहने वाले इसके स्वरूप को अन्य देशों में रचित उपन्यास से नहीं जोड़ सकते क्योंकि प्रत्येक देश और समाज में किसी विधा या रूपबंध के जन्म के अपने भी कारण होते हैं। योरप में नामवर ने नॉवेल में एक मूल्यबोध भी देखा और सभी कथात्मक गद्य प्रबंध को नॉवेल नहीं कहा। एफ.आर. लेविस रिचर्डसन और फील्डिंग को उपन्यासकार नहीं मानते। वे जेन आस्टिन से अंग्रेजी नॉवेल का आरंभ मानते हैं। हेनरी जेम्स तॉलस्तॉय के 'वार एंड पीस' और 'अन्ना केरेनिना' तक को नॉवेल नहीं मानते थे। उनके अनुसार ये दोनों 'उपन्यास की विधागत शर्तें' पूरी नहीं करते। नामवर ने 'उपन्यास' को 'वर्णनात्मक रूप विधा' न मानकर, निर्णयगत (ज्यूडिसियल) माना है। वे निर्णय का मतलब 'मूल्य निर्णय' कहते हैं। योरप में मध्यवर्ग के उदय के साथ उसकी एक जीवन-दृष्टि भी बनी थी 'उसकी कुछ ऐसी विचारधाराएं थीं जो नई रूप विधा को आकार देने में सहायक हुईं।' ('भारतीय उपन्यास और प्रेमचंद', 1990, 'प्रेमचंद और भारतीय समाज' में संकलित, पृ.-57) नामवर दो विचारधाराओं-व्यक्तिवाद और अनुभववाद का जिक्र करते हैं। वे नॉवेल को 'फार्मल रियलिज्म' से जोड़ते हैं। नामवर ने ईयान वॉट का नामोल्लेख नहीं किया है, जिन्होंने 'द राइज ऑफ द नॉवेल' (1957) में 'फार्मल रियलिज्म' की बात की है। इस 'फॉर्मल रियलिज्म' का दार्शनिक आधार देकार्त और लॉक के यहां देखा गया है। क्या भारत में आरंभ में यह 'फार्मल रियलिज्म' था? किस हद तक उस अनुभववाद का उदय हुआ था? किस हद तक हमारे यहां उस विवेकवाद- बुद्धिवाद का उदय हुआ होगा- जिसके द्वारा वह यथार्थवाद विकसित होता है, जिसे हम 'फॉर्मल रियलिज्म' के नाम से जानते हैं?' (वही, पृ.-61)

पश्चिम में 'नॉवेल' पर हुए सभी विचारों से नामवर अवगत हैं। उन्होंने कई प्रमुख विचारों की चर्चा भी की है। वे उपन्यास के गुण, मूल्य और उसकी सभी विशेषताओं को 'अन्ततः सत्ता से जुड़ी' देखते हैं। इस परिभाषा को वे सत्ता या पावर से जुड़े रहने के कारण व्यापक और गहरे अर्थ में राजनीतिक होते देखते हैं। उनका एक लेख 'उपन्यास और राजनीति' है जो 'आनंद मठ' (1882) के प्रकाशन की शतवार्षिकी पर लिखा गया था। ('आलोचना' जनवरी-मार्च, अप्रैल-जून 1983) बंकिमचंद्र को इस लेख में उन्होंने 'भारत का पहला उपन्यासकार' कहा है और 'आनंद मठ' को 'भारत

का पहला राजनीतिक उपन्यास' माना है। 'आनंद मठ' के 1882, 1883, 1886 और 1892 के संस्करणों में उन्होंने कुछ परिवर्तन और 'महत्वपूर्ण तथ्य' आने की बात कही है। काशी, मथुरा, प्रयाग आदि तीर्थों की यात्रा के बाद, 1878 के बाद उन्होंने बंकिम चंद्र की मानसिकता में आए परिवर्तन पर अपना मत भी प्रकट किया- 'इस वैचारिक परिवर्तन की दिशा गलत थी। इसका प्रभाव उनके सर्जनात्मक साहित्य पर भी पड़ा। विचारों में गलत मोड़ के कारण साहित्य की कलात्मकता को भी क्षति पहुंची। (प्रेमचंद और भारतीय समाज, पृ.-44) इस लेख के सात वर्ष बाद 1990 में दिए अपने एक व्याख्यान 'भारतीय उपन्यास और प्रेमचंद' में वे व्यापक रूप से उपन्यास को राजनीति से जोड़ते हैं। नारीवादी आंदोलनकारियों द्वारा 'उपन्यास की परिकल्पना के रूप में ही सत्ता को चुनौती देने का आधार' उन्होंने देखा। नए मध्यवर्ग के उदय के साथ नारी की स्थिति में भी बदलाव आया। योरप में उपन्यास विधा के साथ नारी की कर्ता या कर्त्री के रूप में उपस्थिति सामान्य घटना नहीं थी। 'यह आकस्मिक नहीं है कि आरंभिक अंग्रेजी साहित्य की तीन महान और प्रसिद्ध उपन्यास लेखिकाएं, जेन ऑस्टिन, ब्रोंके सिस्टर्स और जार्ज इलियट नारियां ही थीं।' (वही, पृ.-58) फ्रांस में भी ऐसा हुआ और 'दुर्गेश नंदिनी' में आयशा एक महत्वपूर्ण चरित्र है। नामवर ने योरप में उपन्यास का संबंध केवल मध्यवर्ग से न जोड़कर एक नई नारी के आदर्श या उसकी परिकल्पना के साथ भी जोड़ा है। तर्क यह है कि समाज के एरिस्टोक्रेट न रहते पर इस नई नारी का उदय हुआ। योरप में उपन्यास का जन्म मध्यवर्ग और नई नारी दोनों के साथ हुआ और भारत में किसान तथा नारी का उपन्यास में आगमन हुआ। नामवर ने तीसरी दुनिया के देशों में यूरोप की तुलना में बाद में उपन्यास के आगमन की 'इतिहास सम्मत व्याख्या' की है। लातीनी अमेरिका में कहानी कहने की वाचिक परंपरा थी और भारत में इसकी एक समृद्ध सुदीर्घ लिखित परंपरा रही है। उन्होंने संस्कृत की तुलना में आख्यान की प्राकृत और पाली-परंपरा पर अधिक जोर दिया है पर नौवीं सदी में जैन आख्यान के बाद जो हजार वर्ष का अंतराल आया, उसके कारणों पर वे विचार नहीं करते हैं। नामवर की विशेषता यह है कि वे हमें चिंतन और विचार के लिए अनेक मुद्दे देते हैं, उन पर अपनी तार्किक राय प्रकट करते हैं और श्रोता-पाठक-समुदाय को पर्याप्त आधार सामग्री प्रदान करते हैं। उपन्यास के संबंध में उन्होंने हमारी औपनिवेशिक समझ दूर की। इस प्रकार वे ओपनिवेशिक मानस को स्वतंत्र करते हैं और नए सिरे से सोचने को विवश करते हैं। भारतीय उपन्यास की उनके पहले अपनी स्वतंत्र पहचान विस्तार से किसी आलोचक ने नहीं की थी। रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में 'अंग्रेजी ढंग के नॉवेल' की बात कही थी। नामवर ने 'अंग्रेजी ढंग का नॉवेल और भारतीय उपन्यास' (प्रेमचंद और भारतीय समाज' में संकलित, पृ.-46-53) में सर्जनशील रचनाकारों द्वारा 'पूरा-पूरा अंग्रेजी ढंग का नॉवेल' न बन पड़ने की बात कही। अभी तक एक साथ इस पर विस्तारपूर्वक विचार नहीं हुआ है कि भारतीय भाषाओं में जो आरंभिक उपन्यास लिखे गए, क्या वे 'अंग्रेजी ढंग' के थे? 'अंग्रेजी ढंग का नॉवेल' किसे कहते हैं?

जेएनयू के कवितानंदन सूर्य ने अपने पी-एच.डी. के शोध-प्रबंध (प्रकाशित) 'औपनिवेशिक भारतीय समाज और हिंदी उपन्यास' (1870-1947) में भारतीय उपन्यास से संबंधित नामवरजी की बातों को 'बेहद अंतर्विरोधी' माना है क्योंकि उन्होंने 'श्यामास्वप्न' को यथार्थवाद को उपन्यास की

एकमात्र कसौटी मानकर जहां उसे उपन्यास की कोटि में शामिल न किए जाने की आलोचना की है, वहीं दूसरी ओर शैलीगत भिन्नता के लिए उसे तथा अन्य कई उपन्यासों के लिए 'भारतीय उपन्यास' की अलग शैली भी निर्मित की है। इनका मुख्य प्रश्न यह है कि अगर भारत में रोमांस लिखे भी गए तो उन्हें भारतीय उपन्यास क्यों कहा जाए, 'भारतीय ढंग का उपन्यास' क्यों नहीं कहा जाए? कवितानंदन सूर्य का यह सवाल है कि अगर 'छः माण आठ गुंठ' उपन्यास में बंकिम की तरह बीच-बीच में 'संस्कृत के श्लोक आदि हैं और अगर किसी भी उपन्यास को भारतीय बनाने का यह मुख्य आधार है तो फिर 'परीक्षागुरु' को अंग्रेजी ढंग का उपन्यास कहना बेबुनियाद है क्योंकि संस्कृत के श्लोक, उनकी व्याख्याएं और भारतीय कथाओं के दृष्टांत 'परीक्षागुरु' में भरे पड़े हैं।'

बांग्ला में प्यारे चांद मित्र (1814-1883) का 'अलालेल घर दुलाल' 1858 में प्रकाशित होने से पूर्व 1855 से 1857 के बीच बांग्ला 'मासिक पत्रिका' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था। प्यारे चांद मित्र हेनरी डेरोजियो के यंग बंगाल ग्रुप के एक सदस्य थे। उनके इस उपन्यास की ख्याति इतनी अधिक हुई कि इसकी भाषा-शैली को 'अलाली' कहा गया। जेम्स लौंग ने, जिन्होंने 'नील दर्पण' का अंग्रेजी अनुवाद किया था और उन्हें जुर्माना के साथ सजा भी मिली थी। प्यारे चांद मित्र को 'बंगाल का डिकेंस' कहा था। इस उपन्यास के बाद काली प्रसन्न के 'हुतुम प्यांचार नक्शा' (1862) के बाद बंकिम के ऐतिहासिक रोमांस उपन्यास 'दुर्गेशनंदिनी' (1865) का प्रकाशन हुआ। इसके एक वर्ष पहले बंकिम का अंग्रेजी उपन्यास 'राजमोहंस वाइफ' प्रकाशित हुआ था। यह उपन्यास पहले अंग्रेजी साप्ताहिक पत्रिका 'इंडियन फील्ड' में धारावाहिक रूप से छपा था। रतननाथ सरशार का 'फसाना-ए-आजाद' उनके अपने अखबार 'अवध अखबार' में 1878 से 1885 के बीच धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था। नामवर उस समय उपन्यास के पत्रिकाओं में धारावाहिक रूप से प्रकाशन को 'एक नई घटना' के रूप में देखते हैं। मराठी का उपन्यास 'यमुना पर्यटन' (बाबा पद्मजी द्वारा लिखित) 1887 में, उर्दू में नजीर अहमद का 'मिरात-उल-उरुस' 1868 में, गुजराती में नंदशंकर मेहता का 'करना घेलो' 1868 में और गोवर्धन राम माधव राव त्रिपाठी का 'सरस्वतीचंद्र' 1887 में, तेलुगु में नरहरि सेट्टी गोपालकृष्णनम् का 'रंगराज चरित्र' 1872 में और कुंदुकुरी वीरेस लिंगम का 'राजशेखर चरित्र' 1878 में, उड़िया में रामशंकर राय का 'सौदामिनी' (धारावाहिक रूप से प्रकाशित अपूर्ण उपन्यास) 1878 और उमेशचंद्र सरकार का 'पदमा माली' 1888 में, फकीर मोहन सेनापति का 'छह माण आठ गुंठ' 1897 में, तमिल में सैमुअल वेदेनायक पिल्लै का 'प्रताप मुदलियार चरित्रम्' 1897 में, मलयालम में चंदू मेनन का, 'इंदुलेखा' 1889 में और असमिया में लक्ष्मीकांत बेजंबरोआ का 'पोदम कुंवोरी' 1890 में प्रकाशित हुआ था। भारतीय भाषाओं के इन उपन्यासों का प्रकाशन उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ था। सवाल यह है कि ये उपन्यास 'पश्चिमी ढंग' के थे या किसी अन्य ढंग के? क्या इन उपन्यासों पर एक साथ विचार के जरिए, जो अभी तक नहीं हुआ है, हम किसी निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं? नामवर मलयालम के उपन्यास 'इंदुलेखा' को 'पश्चिमी ढंग के अधिक करीब' देखते हैं और उसकी तुलना में मार्तण्ड वर्मा पर अधिक ध्यान देने को कहते हैं। नामवर भारतीय उपन्यास को 'एक कलमी पौधे' के रूप में नहीं देखते। उनके विचार रामचंद्र शुक्ल और शिशिर कुमार दास के विचार से भिन्न हैं। शुक्लजी ने उपन्यास के ढांचे को

आयातित माना था और उसकी विषयवस्तु हमारी अपनी मानी थी। शिशिर कुमार दास भारतीय उपन्यास को 'पश्चिमी नमूने और देसी आख्यान परंपराओं के बीच के तनाव से उत्पन्न मानते हैं। नामवर इस धारणा पर विचार करते हैं कि क्या उपन्यास 'एक उपार्जित रूप' है? हेडेन हाइट ने 'रूप की अंतर्वस्तु' की धारणा प्रस्तुत की थी। नामवर को यह अवधारणा जंचती है। उनके अनुसार आख्यान 'रूप निर्देशित एक पूर्व निर्धारित अंतर्वस्तु के साथ आता है। रूप स्वयं ही अंतर्वस्तु है' (भारत के आरंभिक उपन्यास : देश और उपन्यास या साथ-साथ जन्म, मार्च, 2000, 'प्रेमचंद और भारतीय समाज में संकलित, पृ.-37) वे उपन्यास को मात्र 'यथार्थवाद' से नहीं जोड़ते, जबकि पश्चिम में यथार्थवाद ही उपन्यास की पहचान है। रामचंद्र शुक्ल ने 'परीक्षागुरु' की प्रशंसा की थी और 'श्यामास्वप्न' की प्रशंसा करने के बाद भी उसे यथार्थवादी रचना नहीं माना था। इस उपन्यास को 'रूप की विधागत कसौटियों' पर खरा नहीं पाया था। नामवर उपन्यास-संबंधी शुक्लजी की धारणा को नहीं स्वीकारते। 'अंग्रेजी ढंग के नॉवेल' को ध्यान में रखकर ही उन्होंने 'भारतीय उपन्यास' की अवधारणा प्रस्तुत की। शुक्लजी ने श्रीनिवास दास के उपन्यास 'परीक्षा गुरु' (1882) को अंग्रेजी ढंग का नॉवेल कहा था। नामवर ने इस ढंग के नॉवल के अन्य देशों में अस्वीकार की बात कही। नैथेनियल हाथोर्न (04.07.1804-19.05.1864) के 'स्कार्लेट लेटर' (1850) और हर्मन मेल्विल (01.08.1819-28.9.1851) के 'मोबी डिक' (1851) को 'रोमांस' मानकर आज भी 'राष्ट्रीय रूपक' के रूप में स्वीकृति की बात कही। इन दोनों अमरीकी उपन्यासकारों ने किसी प्रकार के 'अंग्रेजी ढंग के नॉवेल' का अनुकरण नहीं किया था। उत्तरी अमरीका 'अंग्रेजी ढंग के नॉवेल' को अस्वीकार कर रहा था। नामवर ने देश की स्वतंत्रता से उपन्यास की स्वतंत्रता को जोड़ा। देश और उपन्यास के एक साथ जन्म लेने की लेसली फिडलर की अवधारणा (टिप्पणी) को उन्होंने उदाहरणों से पुष्ट किया। 'अंग्रेजी साम्राज्यवाद से अपने आपको मुक्त कर अमेरिकी प्रतिभा ने आख्यान के रूपबंध में भी स्वतंत्रता प्राप्त की। इस प्रकार उत्तरी अमेरिका में राष्ट्र और उपन्यास का जन्म साथ-साथ हुआ' (अंग्रेजी ढंग का नॉवेल और भारतीय उपन्यास, 1992, 'प्रेमचंद और भारतीय समाज', में संकलित, पृ.-47) इसी लेख में उन्होंने 1857 की पराजय को राष्ट्र की आत्मा द्वारा स्वीकार न किए जाने के बाद कल्पना में जारी 'स्वतंत्रता-संग्राम' की बात कही- 'मनोवांछित भारत। कल्पना का भारत। इस भारत का निर्माण ही मुख्य मुद्दा था। निश्चय ही यह एक प्रकार की कल्पसृष्टि है। कल्प-सृष्टि कल्प-सृजन से संभव है। उपन्यास यही कल्प-सृजन है। गल्प से गल्प की सृष्टि। एक गल्प उपन्यास दूसरा गल्प राष्ट्र। यह दूसरा गल्प गले से जल्दी नहीं उतरता। पर विचार करें तो राष्ट्र भी एक गल्प ही है। कुल मिलाकर राष्ट्र एक प्रतिभा ही तो है... कहना कठिन है कि इसमें कितना वास्तविक है और कितना काल्पनिक। बेनेडिक्ट एंडरसन ने शायद इसीलिए राष्ट्र को 'कल्पित जनसमुदाय' (इमैजिंड कम्युनिटीज) कहा है। (वही, पृ.-47-48)

नामवर सिंह की उपन्यास-संबंधी धारणा-अवधारणा के निर्माण में लेसली फिडलर (1917-2003), फ्रेडरिक जेम्सन (14.04.1934), बेनेडिक्ट एंडरसन (26.08.1936-13.12.2015) और हेडन हाइट (1928) की बड़ी भूमिका है। इस पर अलग से विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है। एंडरसन के 'कल्पित जनसमुदाय' को लेकर उनके मन में एक हिचक है, पर वे उनसे सहमत हैं, संभवतः

पार्थ चटर्जी ने यह सवाल किया है कि अगर राष्ट्र- 'कल्पित जनसमुदाय' है, तो वह किसकी कल्पना है? इसी प्रकार एजाज अहमद ने फ्रेडरिक जेम्सन की राष्ट्रीय रूपक' (नेशनल एलिगरी') वाली अवधारणा पर प्रश्न खड़े किए हैं। 'इन थ्योरी' (1992) के तीसरे अध्याय 'जेम्सन्स रेटॉरिक ऑफ अदरनेस एंड द 'नेशनल एलेगरी' में एजाज ने 'राष्ट्रीय रूपक' वाली अवधारणा पर व्यापक विचार किया है। नामवरजी ने उसी वर्ष (1992) 'अंग्रेजी ढंग का नॉवेल और भारतीय उपन्यास' व्याख्यान दिया, जिस वर्ष 'इन थ्योरी' प्रकाशित हुई थी। अभी तक नामवर ने अपने विचारों का पुनरीक्षण नहीं किया है। नामवर के भारतीय उपन्यास के उदय और विकास संबंधी विचार अंतर्विरोध के बाद भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। वे यथार्थवाद को उपन्यास की एक मात्र कसौटी नहीं मानते। उनके अनुसार उपन्यास 'कल्प-सृष्टि है। 'हजारी प्रसाद द्विवेदी' गल्प को महत्व देते थे। उपन्यासकारों में नामवर ने प्रेमचंद के उपन्यासों पर सर्वाधिक लिखा है और द्विवेदीजी के उपन्यासों के सही प्रशंसक होने के बाद भी अभी तक उन्होंने उनके उपन्यासों पर कोई लेख नहीं लिखा है, जबकि साठ के दशक में ही वे यह स्वीकार रहे थे कि 'चारु चन्द्र लेख' में द्विवेदीजी ने उपन्यास के बंधे-बंधाए फॉर्म को तोड़ दिया है। उसी समय उन्होंने 'चारु चन्द्रलेख' को 'एंटी नॉवेल' कहा था। वे द्विवेदी जी के चारों उपन्यासों में चार 'फार्म' देखते हैं। यह इच्छा प्रकट करने के बाद भी कि उनके उपन्यासों के बारे में लिखना है और विस्तार से लिखना है.... बहुत महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं हजारी प्रसाद द्विवेदी (बात बात में बात, 2006, पृ.-185) उन पर न लिखने के पीछे क्या अपनी उपन्यास-संबंधी दृष्टि पर पुनर्विचार करना नहीं था? नामवर उपन्यास के अंतर्गत 'स्वप्न और फंतासियों' वाली शैली को शामिल करते हैं। उनका ध्यान 'औपन्यासिक ढांचे' पर अधिक है। उन्नीसवीं सदी के यूरोपीय उपन्यास के 'फार्म' को उन्होंने 'मिथ' कहा है- 'न उन्नीसवीं सदी के सभी यूरोपीय उपन्यासों का फार्म एक है और न सभी रूसी उपन्यासकारों ने उस 'फॉर्म' को छोड़ा या बदला।' (विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता, 1980, 'प्रेमचंद और भारतीय समाज', पृ.-32) फ्लाबेयर ओर हेनरी जेम्स को वे उन्नीसवीं सदी के पर्याय रूप में नहीं देखते और रूसी उपन्यासकारों में टॉलस्ताय के अलावा तुर्गनेव और दास्तोव्यस्की का भी उल्लेख करते हैं। निर्मल वर्मा ने रूसी उपन्यासकारों की प्रशंसा इसलिए की थी कि उन्होंने उन्नीसवीं सदी के 'परंपरागत औपन्यासिक ढांचे' के बदले एक 'नई कथात्मक नैरेटिव विधा का अन्वेषण' किया। प्रेमचंद ने इसी प्रकार का 'नवसृजन' किया था, जिसकी पहचान न कर पाने के कारण नामवर निर्मल की आलोचना करते हैं और उनकी 'भारतीयता' को यूरोपीय दृष्टि से निर्धारित' बताते हैं। पूरन चंद्र जोशी को उन्होंने यह श्रेय दिया है कि उन्होंने प्रेमचंद के यहां 'नई अंतर्वस्तु के अनुरूप नए रूप-विधान का सृजन' देखा- 'यथार्थवादी विषयवस्तु के अनुकूल यथार्थवादी शिल्प का सृजन' (वही)

नामवर उपन्यास के विवेचन में 'रोमांस' को महत्व देते हैं। बंकिम चंद्र के तीन उपन्यासों- 'दुर्गेश नंदिनी' (1865), 'कपाल कुंडला' (1866) और 'मृणालिनी'; (1869) में से कोई भी 'अंग्रेजी ढंग का उपन्यास' नहीं है। 'दुर्गेश नंदिनी' को उन्होंने मुख्यतः रोमांस और 'कपाल कुंडला' को 'शुद्ध रोमांस' कहा है। 'अंग्रेजी ढंग का नॉवेल' उनके अनुसार 'यथार्थवादी' दिखाई पड़ने के बाद भी 'अंततः अनुकरणधर्मा थे' जबकि 'उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय 'रोमांस' में 'लोकरंजन' के अलावा- 'एक

राष्ट्रीय भावना भी अंतर्निहित थी। 'वे ऊपर-ऊपर से यथार्थ से दूर दिखते हुए भी अपने निहितार्थ में कहीं अधिक वास्तविक थे : सत्य के निकट, सत्य के निदर्शक। काल्पनिक होते हुए भी ये रोमांस यथार्थ में हस्तक्षेप करने में समर्थ थे। बहुत कुछ अनैतिहासिक होते हुए भी इतिहास के निर्माण में प्रयत्नशील थे।' (अंग्रेजी ढंग का नॉवेल और भारतीय उपन्यास, प्रेमचंद और भारतीय समाज, पृ.-50) स्वाभाविक है, नामवर बंकिम जैसे'रोमांसकारों' के उपन्यासों से 'भारतीय उपन्यास में सच्चे यथार्थवाद का विकास' मानें। क्या रोमांस रहित उपन्यास 'सच्चे यथार्थवादी' उपन्यास नहीं है? क्या प्रेमचंद के रोमांस रहित उपन्यास 'सच्चे यथार्थवादी' उपन्यास नहीं हैं? क्या उन्नीसवीं सदी के भारतीय उपन्यासों में जिस 'सच्चे यथार्थवाद का विकास' हुआ, वही 'सच्चा यथार्थवाद' प्रेमचंद के यहां है? क्या बीसवीं सदी के उपन्यासों का 'सच्चा यथार्थवाद' उन्नीसवीं सदी के भारतीय उपन्यासों के 'सच्चे यथार्थवाद' से अभिन्न है या भिन्न? नामवर ने प्रेमचंद पर महत्वपूर्ण विचार करते हुए भारतीय उपन्यासों के उन्नीसवीं शताब्दी से अब तक के 'यथार्थवाद' पर विचार नहीं किया है- एक ऐतिहासिक क्रम में। निस्संदेह उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में 'इस यथार्थवाद में व्यापकता और गहराई' की बात कही है और फकीर मोहन सेनापति के उड़िया उपन्यास 'छ माण आठ गुंठ' को 'विकास की इस ऐतिहासिक प्रक्रिया की अंतिम परिणति और सर्वोत्तम उपलब्धि' माना। इससे स्वाभाविक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'रोमांस' और 'भारतीय उपन्यास' एक हैं। जहां तक रोमांस' का प्रश्न है यूरोप में 'रोमांस' का लेखन बहुत पहले हो चुका था। यूरोप में 'रोमांसों', 'नोवेलों' और कहानी-काव्यों' (बैलेड्स) से उपन्यास की उत्पत्ति मानी जाती रही है- रोमांसों में यहां स्त्री-पूजा का भाव भी रहा है। पश्चिम में 'रोमांसों' की कथा सामग्री तीन प्रमुख स्रोतों- 'ब्रिटेन के किंग आर्थर और राउंड टेबल' 'फ्रांस के शार्लिमेन और उसके बारह साथियों' और 'रोम से प्राचीन यूनानी कहानियों और रहस्यमय स्थानों की कथाओं' से ली गयी थी। इन रोमांसों का अपना महत्व भी है क्योंकि इनमें 'मध्यकालीन मूढ़ विश्वासों का विरोध' और 'नैतिक अनुभवों के सत्यत्व में पूर्ण विश्वास' प्रकट किया गया है। नामवर ने भारतीय ढंग के रोमांस की बात नहीं की है, जिससे यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या भारतीय और यूरोपीय उपन्यास' समान हैं? अगर यूरोपीय उपन्यास और 'भारतीय उपन्यास' एक नहीं हैं, तो फिर भारतीय और यूरोपीय रोमांस एक कैसे हो सकते हैं?

भारत में नामवर 'कादंबरी', 'दश कुमार चरित्र', 'कथा सरित्सागर' आदि से अलग सर्वथा एक नए रूप-विधान के भीतर विभाजक रेखा की बात करते हैं। कथा और आख्यायिकाओं की भारत में एक सुदीर्घ परंपरा रही है। 'किनको हम उपन्यास मानें किनको न मानें? उन्नीसवीं शताब्दी की यह एक बहुत बड़ी समस्या है। समस्या यह भी है कि इसका विकास कब से माना जाए। इस स्वरूप का निर्धारण और विवेचन बहुत गहराई और विचार से किया जाना चाहिए।' (भारतीय उपन्यास और प्रेमचंद, प्रेमचंद और भारतीय समाज, पृ.-59) अभी भी यह आवश्यकता बनी हुई है। क्या सचमुच 'आधुनिक राष्ट्र उपन्यासों की निर्मिति' है जैसा नामवर ने कहा है? वे राष्ट्र के साथ इतिहास को भी 'उपन्यास के समान ही एक प्रकार की कल्प सृष्टि' कहते हैं क्योंकि इतिहास-लेखन और उपन्यास-रचना दोनों एक साथ हुए और अधिकांश आरंभिक उपन्यास 'ऐतिहासिक उपन्यास' भी हैं। उन्होंने 'अंग्रेजी ढंग का 'नॉवेल और भारतीय उपन्यास', 'भारत के आरंभिक उपन्यास : देश और

उपन्यास का साथ-साथ जन्म' और 'भारतीय उपन्यास और प्रेमचंद' में जो विचार व्यक्त किए हैं, वे महत्वपूर्ण, नवीन और किंचित मौलिक होने के बाद भी विस्तार से विचार की मांग करते हैं। उपन्यास, राष्ट्र, इतिहास सब पर उनके जो विचार इन लेखों-व्याख्यानों में व्यक्त हुए हैं, उन पर और अधिक विचार की जरूरत है। 'राष्ट्र-निर्माण और उपन्यास के बीच के द्वन्द्वात्मक संबंध' की जो बात उन्होंने कही है, वह बीसवीं सदी में विकसित हुई या रुक गई? नामवर ने भारतीय उपन्यास और भारतीय आख्यान-परंपरा पर विचार नहीं किया है- विस्तार से सुचिंतित रूप में। भारतीय आख्यान और भारतीय उपन्यास के सह-संबंध और भेद पर अब भी विचार किया जाना चाहिए। उन्नीसवीं शताब्दी में हिंदी में उपन्यास के संभव न होने के पीछे वे अविकसित मध्यवर्ग को देखते हैं। 'उन्नीसवीं शताब्दी में उपन्यास के नाम पर जो कुछ हमारे यहां आया, उसमें आपको दास्तान, किस्सागोई, आख्यानक और कथात्मकता आदि ये सारी चीजें मिलेंगी, हो सकता है कि ये रोमांस की कोटि में आ जाएं, लेकिन ठेठ पारिभाषिक अर्थ में ये 'नॉवेल बनते हुए दिखाई नहीं पड़ते हैं। इसी अर्थ में मैंने कहा कि भारत में उपन्यास का उदय मध्यवर्ग के महाकाव्य के रूप में नहीं हुआ। क्योंकि भारत में मध्यवर्ग इस लायक नहीं था कि उन्नीसवीं शताब्दी में किसी नई रूप विधा को जन्म दे सके और अपनी संस्कृति का विकास कर सके। (वही, पृ. 62) उन्नीसवीं सदी के अंत में यूरोपीय मध्यवर्ग की तरह भारतीय मध्यवर्ग नहीं था, पर उसका उदय हो चुका था। हिंदी भाषी समाज में मध्यवर्ग का जन्म हो चुका था। अगर ऐसा नहीं होता तो उस समय के भाषा और लिपि-आंदोलन या समर्थन में उसकी कोई भूमिका नहीं होती।

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'उपन्यास और कहानी' लेख ('साहित्य का साथी' में संकलित) में कथा-आख्यायिका और उपन्यास-कहानियों में 'मौलिक भेद' माना है। उन्होंने इस नए साहित्यांग' (उपन्यास) को 'एक शाखा- प्रशाखा वाला विशाल वृक्ष' कहा है और 'औचित्य' को 'उपन्यास की जान' माना है। द्विवेदीजी ने अंग्रेजी शब्द- रोमांस' को भारतीय साहित्य में गद्य काव्य की श्रेणी में रखा। 'रोमांस' में कल्पना की प्रमुखता के कारण उन्होंने इसे 'यथार्थवाद के ठीक विरुद्ध' माना है। लिखा है 'पुराने जमाने के 'वासवदत्ता', 'दशकुमार-चरित्र', 'कादम्बरी' आदि काव्यों से ये आधुनिक उपन्यास भिन्न श्रेणी के हैं। उपन्यास नए यंत्र-युग की उपज है। नए यंत्र-युग ने जिन गुण-दोषों को उत्पन्न किया है, उन सबको लेकर यह नया साहित्यांग अवतीर्ण हुआ है। छापे की कल ने इसकी मांग बढ़ाई है और उसी ने उसकी पूर्ति का साधन बताया है।' (हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, 1981, पृ. 244) नामवर के उपन्यास- संबंधी विचार द्विवेदीजी के विचार से मेल नहीं खाते। नामवर 1980 के बाद उपन्यास पर विचार करते हैं। इस समय तक बहुत कुछ बदल चुका था। 'आरंभिक उपन्यासों के स्थापित मान्यता क्रम (कैनन) पर नामवर ने पुनर्विचार किया। उनका यह सवाल वाजिब है- 'अगर यथार्थवाद को ही उपन्यास की एक मात्र कसौटी मान लिया जाए तो हम 'एकांत के सौ वर्ष' का क्या करेंगे? और कमल कुमार मजूमदार (17.11.1914-09.02.1979) की उस उल्लेखनीय बंगाली रचना 'अंतर्जली यात्रा' (1962) का क्या होगा?' (भारत के आरंभिक उपन्यास, प्रेमचंद और भारतीय समाज, पृ. 38) अगर उपन्यास की कोई एकमात्र 'कसौटी' होती, तो उसे बांग्ला में 'उपन्यास', मराठी में 'कादंबरी' और गुजराती में 'नवल कथा' नहीं कहा जाता। 1862 में पहली बार भूदेव मुखोपाध्याय

ने अपने लेख 'ऐतिहासिक उपन्यास' में उपन्यास शब्द का प्रयोग किया। नामवर ने लिखा है कि बांग्ला से हिंदी ने उपन्यास का रूप-विधान प्राप्त किया। उनसे बहुत पहले रामचंद्र शुक्ल ने बंगला से हिंदी में 'उपन्यास' शब्द और उसके 'रूप-विधान' को लेने की बात कही थी। क्या फकीर मोहन सेनापति के उपन्यास के पहले भारत की जिन भाषाओं में उपन्यास- रचना हुई, उनका रूप-विधान समान था? भारतीय उपन्यासों का भिन्न रूप-विधान अपने जन्म से ही यह स्पष्ट कर रहा था कि उपन्यास की न तो कोई सर्वमान्य परिभाषा होती है और न कोई उसका अपना एक निश्चित रूप-विधान होता है। नामवर ने उपन्यास न लिखते हुए भी भारतेंदु द्वारा उपन्यास की 'सबसे सटीक और सबसे अचछी परिभाषा' 'कुछ आप बीती, कुछ जगबीती' की ओर ध्यान दिलाया 'अर्थात वैयक्तिकता और सामाजिकता का निर्वाह'। वे 'छ माण आठ गुंठ' (1897) को 'पहला भारतीय उपन्यास' मानते हैं। 'फकीर मोहन सेनापति ने उपन्यास को वह अंतर्वस्तु दी, जो भारतीय उपन्यास का मूलाधार होने जा रहा था' (भारतीय उपन्यास और प्रेमचंद', 'प्रेमचंद और भारतीय समाज', पृ. 64)

'भारतीय उपन्यास और प्रेमचंद' शीर्षक से जो दो लेख दो प्रमुख मार्क्सवादी आलोचकों- नामवर सिंह और मैनेजर पांडेय के हैं, उन पर अभी विचार की कोई जरूरत नहीं है, सिवा इस उल्लेख के कि मैनेजर पांडेय ने अपने लेख का आरंभ फकीर मोहन सेनापति से किया है- 'फकीर मोहन सेनापति के बाद भारतीय उपन्यास में किसान- जीवन के यथार्थवादी चित्रण की परंपरा और कला को प्रेमचंद ने विकसित किया।' (उपन्यास और लोकतंत्र, 2013, पृ.-119) नामवर ने उपन्यास की इस धारा (छ माण आठ गुंठ वाली) द्वारा भारतीय उपन्यास को वह विशिष्ट रूप देने की बात कही जो योरोपीय नावेल से उसे अलग करती है। वे तीसरी दुनिया के राष्ट्रीय मुक्ति-आंदोलन का संबंध किसान-संघर्ष और किसान-भूमिका से जोड़ते हैं और सही अर्थों में उपन्यास की अपनी अस्मिता-प्राप्ति का उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार 'भारतीय उपन्यास का मूल स्वरूप', 'किसान-चेतना' है। इस किसान-चेतना को वे केवल प्रेमचंद और रेणु में ही नहीं, बांग्ला के विभूति बंदोपाध्याय, मानिक बंदोपाध्याय, ताराशंकर बंदोपाध्याय, गुजराती में पन्ना पटेल, मराठी में वेंकटेश नागुलकर, कन्नड़ में शिवराम कारंत और मलयालम में तकषी शिवशंकर पिल्लै और एस.के. पोट्टेकाट आदि में मुख्यधारा के रूप में देखते हैं। भारतीय उपन्यासकारों की इस किसान-चेतना को केंद्र में रखकर नामवर ने इस दिशा में भारतीय उपन्यास के विकास (और बाद में ठहराव!) पर कार्य करने को प्रेरित किया है। भारतीय उपन्यास की इस प्रमुख धारा के अतिरिक्त उन्होंने उसकी उस दूसरी धारा का भी उल्लेख किया है जिसकी शुरुआत उन्नीसवीं सदी में हो चुकी थी। इस दूसरी धारा में उपन्यास नारी आदर्श और नारी-स्वाधीनता से जुड़ा था। 'छ माण आठ गुंठ' (1897) के मात्र दो वर्ष बाद मिर्जा हादी रुसवा (1857-1931) का 'उमराव जान अदा' उपन्यास प्रकाशित (1899) हुआ था। इस पर बाद में मुजफर अली ने 1981 में फिल्म भी बनाई। जिस प्रकार नामवर 'छ माण आठ गुंठ' से भारतीय उपन्यास में किसान-चेतना का आरंभ देखते हैं, उसी प्रकार 'उमराव जान अदा' से वे भारतीय उपन्यास में नारी-चेतना और नारी-स्वाधीनता का 'सूत्रपात' देखते हैं। उन्नीसवीं सदी के अंत में वे इन दो उपन्यासों के माध्यम भारतीय उपन्यास की दो प्रमुख धाराओं की बात करते हैं, जिनका भारतीय मध्यवर्ग से कोई वास्ता

नहीं था। वे इसे दूसरी धारा का विकास आगे देखते हैं- शरत चंद्र के यहां और बाद में हिंदी में जैनेन्द्र, अज्ञेय के यहां। ये दोनों धाराएं न तो एक दूसरे से भिन्न हैं, न विपरीत। नामवर ने इन दोनों धाराओं के बीच संबंध देखा है। 'इन दोनों के साथ भारतीय उपन्यास ने वह रूप प्राप्त किया (उपेक्षित और पीड़ित को केंद्र में रखना).... ये संबंध शायद भारतीय उपन्यास को परिभाषित करने में सहायक हों. .. प्रेमचंद ने इन दोनों को एक जगह किया'.... 'सेवासदन' के मूल में नारी है- सुमन और उसके बाद 'प्रेमाश्रम' के मूल में है किसान... 'गोदान' वह उपन्यास है जहां गंगा और यमुना जैसी ये दो धाराएं- नारीवाली धारा और किसान वाली धारा, यानी 'सेवासदन' की और 'प्रेमाश्रम' की दोनों धाराएं- समन्वित और एकीकृत रूप में एकत्र होती है।' (भारतीय उपन्यास और प्रेमचंद, प्रेमचंद और भारतीय समाज, पृ.-65-66) उपन्यास-संबंधी नामवर की जिन कई उद्भावनाओं-स्थापनाओं पर आज विस्तार से विचार की जरूरत है, उनमें भारतीय उपन्यास की इन दो धाराओं वाली उद्भावना पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है, जबकि आज इन दो धाराओं पर विचार करने की सर्वाधिक जरूरत है। राजेंद्र यादव और नामवर सिंह के बीच जो लंबी बातचीत 'तद्भव' में प्रकाशित हुई थी उसमें इसकी कहीं कोई चर्चा नहीं है, जबकि उनका 1990 का यह व्याख्यान प्रेमचंद साहित्य संस्थान की स्मारिका 'कर्मभूमि' में 1994 में 'प्रेमचंद और भारतीय उपन्यास' शीर्षक से प्रकाशित हो चुका था। नामवर ने इन दोनों धाराओं को 'गोदान' में एक ही जगह, एक किसान (होरी) के घर में देखा- 'होरी और धनिया' और गोबर और झुनिया के रूप में 'इन युग्मों के साथ अकेले प्रेमचंद के हाथों दोनों धाराएं एकजुट होकर उस बिंदु पर आ पहुंचती हैं, जहां भारतीय उपन्यास पैदा होने के साथ ही सहसा वयस्क होता है। यह वयस्कता इसलिए उल्लेखनीय है क्योंकि इसी तरह का प्रयास ऐसे ही पिछड़े देश में एक दूसरे साहित्यकार, कथाकार के हाथों हुआ था, जिन्हें हम लेव तोल्सतोय के रूप में जानते हैं, जिसने 'अन्ना करेनिना' और 'युद्ध और शांति' इन दोनों उपन्यासों के द्वारा उस किसान-चेतना और साथ ही उस दुविधाग्रस्त नारी, इन दोनों को अपने उपन्यासों में चरितार्थ किया।' (वही, पृ.-66) यूरोपीय उपन्यास से भारतीय उपन्यास की भिन्नता को लेकर नामवर के जिन विचार-बिंदुओं का उल्लेख किया जाता है, वे उनके दो लेखों 'अंग्रेजी ढंग का नॉवेल' और 'भारत के आरंभिक उपन्यास' में व्यक्त विचारों से अधिक जुड़े हैं, जबकि इन दोनों लेखों के पहले उपन्यास-भारतीय उपन्यास की इन दो प्रमुख धाराओं पर वे विचार कर चुके थे। वे यह कह चुके थे कि यह आवश्यक नहीं है कि जो विधा जहां जन्मे, वहीं उसका विकास भी हो। नॉवेल का जन्म यूरोप में हुआ, पर उसका विकास तीसरी दुनिया के देशों में हुआ। मार्केज इसके शानदार उदाहरण हैं।

नामवर के उपन्यास और उपन्यासकार संबंधी कुछ छिटपुट विचार और टिप्पणी उनके साक्षात्कारों में भी है। दूरदर्शन में सुबह-सवेरे से 'सबद निरंतर' तक कुछ उपन्यासों पर दी गई उनकी राय सामान्य है। सन 2000 में विभूति नारायण और असगर वजाहत ने उनसे और शमीम हनफी से जो बातचीत की थी 'उर्दू और हिंदी के कथा-साहित्य' पर ('वर्तमान साहित्य' का शताब्दी कथा-विशेषांक, जनवरी-फरवरी, 2000, 'साथ-साथ' (2012) में संकलित) उसमें कुछ विचारणीय बातें हैं। इसी के बाद नामवर सिंह के तिरुअनन्तपुरम में आरंभिक भारतीय उपन्यास पर उद्घाटन-भाषण दिया था। इस बातचीत में वे उर्दू में दास्तान, दास्तानगोई की परंपरा का जिक्र करते

हैं और लोक कथाओं-बेताल पच्चीसी' 'सिंहासन बत्तीसी' 'किस्सा तोता मैना' का भी। लोक जीवन की लौकिक परंपरा और संस्कृत की परंपरा के बाद भी हिंदी में उपन्यास का विकास नहीं देखते। वे उर्दू के पीछे सिर्फ 'दास्तानों की परंपरा' माने जाने की बात करते हैं। नामवर हिंदी में देर से नॉवेल की शुरुआत के पीछे' 'कहानी कहने के लिए, नाविलनिगारी के लिए नरेशन के लिए जो गद्य चाहिए' उसका हिंदी में अभाव देखते हैं। इस बातचीत में शमीम हनफी ने नजीर अहमद के 'मेरातुल उरुस' (1869) से भी 'पहले की चीज' का उल्लेख किया था। 'हरियाणा के एक साहब मुंशी गुमानी लाल का एक किस्सा 'रियाजे-दिलरुबा' का। शमीम हनफी ने इस पर अधिक विचार नहीं किया था और आश्चर्य यह है कि उसके बाद भी भारतीय उपन्यास और उर्दू उपन्यास के अंतर्गत अभी तक इसकी अधिक चर्चा नहीं हुई है। नामवरजी ने भी कहीं नहीं की है। इसलिए थोड़ी चर्चा इस पुस्तक के संबंध में जरूरी है। 'मेरातल उरुस' (1869) को लंबे समय तक उर्दू का पहला नॉवेल माना जाता रहा है। यह नॉवेल 1868 से 1869 के बीच लिखा गया था। प्रकाशन के बीस वर्ष के भीतर इसकी एक लाख से अधिक प्रतियां छपी थीं। बांग्ला, ब्रज, कश्मीरी, पंजाबी, गुजराती में इसका अनुवाद हुआ। जी.ई. वर्ड ने इसका अंग्रेजी अनुवाद 1903 में किया था। नामवर सिंह भी उर्दू के पहले उपन्यास के रूप में इसे ही देखते हैं। शमीर हनफी ने बातचीत में उर्दू के जिस दूसरे पुराने नॉवेल की बात कही थी वह मुंशी गुमानी लाल का 'रियाज दिलरुबा' (1832) है, जिसका प्रकाशन रोहतक के जिला जेल प्रेस में 1863 में हुआ था। डॉ. इब्ने कंवल ने इस पुस्तक पर रिसर्च की और उनके परिचय के साथ यह हरियाणा उर्दू अकादेमी, पंचकूला से 1990 में प्रकाशित हुआ था। उर्दू में दास्तानों की एक अच्छी परपंरा रही है। सत्रहवीं सदी के आरंभ में 'दास्तान-ए-अमीर हमजा' (हमजानामा) सत्रहवीं सदी के अंत में 'रेकर्ड' की गई थी और मीर तकी खयाल द्वारा 'बास्ताने-खयाल' का प्रकाशन बाद में हुआ। 'रियाजे दिलरुबा' का प्रकाशन मुंशी केदारनाथ ठेकेदार के निर्देशन में हुआ था। लिखे जाने के लगभग तीस वर्ष बाद इसके प्रकाशन का कोई कारण नहीं बताया गया है। अठासी पृष्ठों की बड़े आकार में प्रकाशित इस पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ में पंद्रह पंक्तियां हैं। इब्ने कंवल के पहले यह पुस्तक अलक्षित थी। साधारण मनुष्य की आर्थिक दुर्दशा, तंगहाली और मुश्किलें इस रचना में वर्णित हैं। यह अलग से विचारणीय है कि 1832 के किस भारतीय उपन्यास में सामान्य जन की दशा-दुर्दशा चित्रित हुई है? इसी कारण 'रियाजे दिलरुबा' को ऐतिहासिक महत्व का उपन्यास कहा गया है। इसमें सामाजिक वास्तविकता का चित्रण है। इसे सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक इतिहास के स्रोत के रूप में भी देखा गया है। पाकिस्तान के उर्दू मजलिस में इस पर बहसें और चर्चाएं हुई हैं। संभवतः अभी तक इसका हिंदी अनुवाद नहीं हुआ है। हनफी साहब ने इस बातचीत में 'इंडियन-पर्सियन' शैली की 'एक लंबी रवायत' का जिक्र किया है। उन्होंने कुर्रतुल-ऐन-हैदर द्वारा खोजी गई रचना का भी जिक्र किया। इस बातचीत के आठ वर्ष पहले 1992 में हसन शाह के 'नश्तर' (1790) का अनुवाद किया था, जो नई दिल्ली के स्टर्लिंग प्रकाशन से प्रकाशित है। इसकी पांडुलिपि खुदा बख्श लाइब्रेरी में सुरक्षित है। अंग्रेजी में यह 'नाच गर्ल' शीर्षक से प्रकाशित है। इसके अमेरिकी संस्करण का शीर्षक 'डांसिंग गर्ल' है। फारसी में यह किस्सा 'रंगीन या अफसाना-ए-रंगीन' है, जिसका उर्दू अनुवाद है 'नश्तर'। कुर्रतुल-ऐन-हैदर इसे किसी भी भारतीय भाषा का पहला 'नॉवेल'

कहती हैं। उर्दू मासिक पत्रिका 'जामिया' (दिल्ली) के अगस्त-सितंबर 1994 के अंक में उन्होंने 'खानम जान का सफर : अफसाना-ए-रंगीन से डांसिंग गर्ल' तक लिखा। इसके पहले बैंगलोर से प्रकाशित 'सौगात' के 1993 के अंक में 'नश्तर : पहला हिंदुस्तानी नावेल' प्रकाशित हुआ था। अभी तक इस नॉवेल' की चर्चा बहुत कम की जाती है- एम. असदुद्दीन के लेख- फर्स्ट उर्दू नावेल : कंटेस्टिंग क्लेम्स एंड डिस्क्लेमर्स' (अर्ली नॉवेल्स इन इंडिया : संपादक- मीनाक्षी मुखर्जी, साहित्य अकादेमी, 2002) के बाद भी।

नामवर ने उर्दू में 'कम्युनिटी' न होने की बात इसी बातचीत में कही और इस ओर ध्यान दिलाया कि इसके बावजूद उर्दू में पहले नॉवेल लिखे गए। 'नॉवेल' के केंद्र में वे 'रीडिंग पब्लिक' को रखते हैं, जिसका मतलब 'कम्युनिटी' के निर्माण से है। नॉवेल को वे एक आख्यान (नरेशन) मानते हैं और इस आख्यान का संबंध 'नेशन या राष्ट्र' से जोड़ते हैं। वे भाभा की पुस्तक 'नेशन एंड नरेशन' का भी उल्लेख करते हैं। होमी के. भाभा की यह पुस्तक उनके द्वारा संपादित है, जिसका प्रकाशन 1990 में हुआ था। इस पुस्तक के लेखों का क्षेत्र व्यापक है- आस्ट्रेलियन, लैटिन-अमेरिकन और अफ्रो-एशियन से लेकर अंग्रेजी तक। नामवर इस पर विचार नहीं करते कि आख्यान किन रूपों में कब से इन देशों में (राष्ट्र के जन्म के साथ) मौजूद है? नामवर नॉवेल को 'आख्यान' कहने के बाद तुरंत यह भी कहते हैं 'उपन्यास केवल एक दास्तान नहीं है, एक आख्यान नहीं है, उसमें एक सपना भी है। वह सपना है जो कि एक पूरा समुदाय गढ़ता है उपन्यास में' ('साथ साथ', 2012, पृ.-102) एक ही समय नॉवेल को आख्यान कहने उसका संबंध 'नेशन' से जोड़ने और फिर उसे (उपन्यास को) 'सपना' कहने, 'मुक्ति' से जोड़ने में वैचारिक संगति है या अंतर्विरोध? जहां तक 'राष्ट्र' का प्रश्न है, वह पूंजीवाद से जुड़ा है। नामवर एक ही साथ-राष्ट्र-निर्माण' और 'राष्ट्र-मुक्ति' की बात करते हैं। 'राष्ट्र' का जब निर्माण हुआ और बाद में 'राष्ट्र मुक्ति' का जो प्रश्न उठा, दोनों में समय का अंतर है। फिर उपन्यास के केंद्र में औरतों की उपस्थिति, उपन्यास में कैरेक्टर' के रूप में शहर की उपस्थिति, स्वप्न और यथार्थ से उसका संबंध आदि कई विचारणीय मुद्दे हैं जिन पर अब भी अलग-अलग और एक साथ गंभीर विचार की आवश्यकता है। नाामवर का कमाल यह है कि वे हमें विचार के लिए कई मुद्दे देते हैं, उन पर विचार भी करते हैं और सैद्धांतिक-वैचारिक बहस के लिए आमंत्रित करते हैं। उनकी उपन्यासलोचना हमें विचार के लिए उकसाती है, प्रेरित करती है। नामवर कहीं टिकते नहीं। उनसे यह अपेक्षा की जाती थी कि उपन्यास के उदय और विकास को लेकर उन्होंने जो विचार रखे, बाद में (विशेषतः स्वतंत्र भारत में) उसमें किस दिशा में परिवर्तन हुआ? जिन पांच हिंदी उपन्यासों को उन्होंने 'कालजयी' माना है, उनमें 'मैला आंचल' को छोड़कर शेष पहले के हैं। परतंत्र भारत में हिंदी के चार कालजयी उपन्यास और स्वतंत्र भारत में मात्र एक। ऐसा क्यों? नामवर ने और शायद किसी ने अभी तक इस पर ध्यान नहीं दिया है, जो 'राष्ट्र मुक्ति' और स्वप्न से भी संबंधित है, विनोद कुमार शुक्ल के 'नौकर की कमीज' (1979) का नाम नामवर 'एक प्रश्न-चिह्न के साथ' लेते हैं। वे इन कालजयी हिंदी उपन्यासों में एक साथ 'तीन परंपराएं' देखते हैं- 'गोदान' 'मैला आंचल' जिस परंपरा के हैं, 'त्यागपत्र' और 'शेखर : एक जीवनी' उसी परंपरा के नहीं है। रूपाकार की दृष्टि से, जीवन दृष्टि की दृष्टि से... 'गोदान' 'मैला आंचल'

एक परंपरा में होते हुए भी एक नहीं हैं, बहुत सी बातों में उसी तरह से 'त्यागपत्र' और 'शेखर : एक जीवनी' एक तरह के नहीं हैं और इन सबसे अलग हैं- 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (सम्मुख, 2012, पृ.-168) इन 'तीन परंपराओं' पर न उन्होंने विचार किया और न बाद के आलोचकों ने। ऐसा तो शायद ही कोई मानने की जुर्रत करेगा कि नामवर के विचार उपेक्षणीय हैं। तो फिर?

नामवर ने 'जादुई यथार्थवाद' (मैजिकल रियलिज्म) को विजन की साहित्यिक अभिव्यक्तियों के रूप में देखा है। वे उपन्यासकार के विजन से विजन की साहित्यिक अभिव्यक्ति' को जोड़कर कम देखते हैं। बोर्खेस और मार्क्वेस के विजन में वे अंतर देखते हैं, दोनों की दो भिन्न शैलियों की बात करते हैं, मार्क्वेस में एक 'व्यापक जातीय चिंता' भी देखते हैं, पर मार्क्वेस के विजन के साथ 'मैजिकल रियलिज्म' को जोड़कर विचार नहीं करते। बातचीत में यह संभव भी नहीं है। काश! नामवर ने व्याख्यान के साथ-साथ अपना लेखन स्थगित न किया होता। प्रेमचंद के 'विजन' में 'भारत की स्वाधीनता और उसमें भी गरीब किसानों की मुक्ति' थी, जो केवल, 'साहित्यिक अभिव्यक्ति' में न तो विश्वसनीय होती, न प्रभावशाली।

नामवर ने 'अंग्रेजी ढंग के नॉवेल के तिरस्कार' को 'उपनिवेशवाद का तिरस्कार' कहा है। विचारणीय यह भी है कि क्या एक विशेष दौर-स्वाधीनता आंदोलन और उपनिवेशवाद- विरोध के दौर में ही भारतीय उपन्यासों ने अंग्रेजी ढंग के नॉवेल का तिरस्कार किया? आज के भारतीय उपन्यास पर विचार करते हुए हमें इस धारणा से जुड़ने की आवश्यकता है या नहीं? आज भारतीय उपन्यास की वैश्विक पहचान किस रूप में है? ऐसे प्रश्नों को फिलहाल स्थगित करें और नामवर की ओर मुडें। नामवर हिंदी के पांच उपन्यासों- 'गोदान', 'शेखर : एक जीवनी', 'त्यागपत्र', 'मैला आंचल' और 'बांणभट्ट की आत्मकथा' को कालजयी उपन्यास का दर्जा देते हैं, पर उन्होंने 'गोदान' को छोड़कर (स्वाधीनता-संग्राम का वर्ग- चरित्र और गोदान, 2005 और 'गोदान' को फिर से पढ़ते हुए, 2009) किसी भी उपन्यास पर न लिखा, न व्याख्यान दिया। 'द्विवेदीजी के सभी उपन्यासों के मूल में स्त्री, स्त्री की वेदना उसका स्वाभिमान और उसकी गरिमा' (सम्मुख, 2012, पृ.-195) देखने के बाद भी उन्होंने उनके किसी उपन्यास और उसमें स्त्री की उपस्थिति को लेकर जो भारतीय उपन्यास की स्वयं उनके अनुसार दूसरी धारा थी, अपने विचार व्यक्त नहीं किए। प्रेमचंद की दो धाराओं की तॉलस्तॉय के साथ उन्होंने जो भी समानता देखी, वे इन दोनों में साठ के दशक मे ही अंतर भी देख चुके थे। 'प्रेमचंद और तोलस्तोय' लेख में उन्होंने 'गांधी के समान ही प्रेमचंद को तोलस्तोय के प्रभाव में' देखने वालों की आलोचना की थी। नामवर की यह वह पैनी निगाह, जो हिंदी में ही नहीं, भारतीय आलोचना में भी बहुत कम के पास होगी। प्रेमचंद और तॉलस्तॉय के अंतर को उन्होंने दो युगों का अंतर कहा है। 'तोलस्तोय यदि 'युद्ध और शांति' के यथार्थवाद से 'पुनरुत्थान' के आदर्शवाद की ओर अग्रसर होते हैं, तो प्रेमचंद 'सेवासदन' के आदर्शवाद से 'गोदान' के यथार्थवाद की मंजिल तक पहुंचते हैं.... तोलस्तोय का युग जहां समाप्त होता है, प्रेमचंद का युग वहां से शुरू होता है। बीसवीं सदी के आरंभ का भारत उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के रूप से बहुत-सी बातों में भिन्न है। (प्रेमचंद और तोलस्तोय', प्रेमचंद और भारतीय समाज, पृ.-195) क्यों नामवर ने जैनेंद्र, अज्ञेय, रेणु और द्विवेदीजी पर नहीं लिखा? प्रेमचंद के कथा-साहित्य पर उन्होंने सर्वाधिक विचार किया। क्या इसलिए

कि, 'जो लड़ाई प्रेमचंद ने शुरू की थी- राजनीतिक जीवन में, सामाजिक जीवन में और सांस्कृतिक जीवन में, वह लड़ाई आज भी चालू है और प्रेमचंद आज भी अपने साहित्य के द्वारा, अपनी कृति के द्वारा हमारे साथ खड़े हैं। 'यह बात उन्होंने 1983 के अपने एक व्याख्यान 'प्रेमचंद के वैचारिक अंतर्विरोध और गांधीवाद' में कही (प्रेमचंद और भारतीय समाज, पृ.-131) ऐसी लड़ाई हिंदी के अन्य कालजयी उपन्यासकारों (उपन्यासों) में नहीं दिखाई देती। इसी व्याख्यान में नामवर ने गांधी की तुलना में प्रेमचंद को 'और ज्यादा यथार्थवादी' कहा और उनकी स्वराज्य-कल्पना को गांधी से अलग माना। यह सच है कि आजादी की लड़ाई में किसानों की भूमिका को गांधी और प्रेमचंद दोनों ने कहीं अधिक समझा, पर महत्व को समझने के बाद भी दोनों के रास्ते भिन्न थे। 'प्रेमचंद किसानों के महत्व को समझने के बाद, जमींदार के खिलाफ किसान के संघर्ष को उभारते हैं। गांधीजी जमींदारों के खिलाफ किसान के संघर्ष को छिपाते हैं, दबाते हैं। उजागर नहीं होने देते। (वही, पृ.-144) नामवर ने प्रेमचंद में मैक्सिम गोर्की की तुलना में बहुत कम, नहीं के बराबर अंतर्विरोध देखा। वे प्रेमचंद के अंतर्विरोध पर विचार करने के लिए गोर्की और टॉलस्टॉय के सादृश्य को 'भ्रामक' कहते हैं। वे प्रेमचंद की तुलना में निराला और रामचंद्र शुक्ल में अधिक अंतर्विरोध देखते हैं। प्रेमचंद की टॉलस्टॉय से अब भी गाहे-बगाहे तुलना की जाती है। नामवर ने इस सादृश्य को 'अपूर्ण' और 'नितांत भ्रामक' कहकर साफ शब्दों में यह कहा है 'इन दोनों लेखकों की तुलना एक साथ नहीं की जानी चाहिए।' (वही, पृ.-137) अक्सर प्रेमचंद की तुलना गोर्की से की जाती है पर गोर्की की तरह 'समाजवाद का ठोस' आधार प्रेमचंद के पास नहीं था। लू-शून के पास भी नहीं। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में विकसित पूंजीवादी देशों की संस्कृति को 'मरणासन्न' मानने वाले नामवर लू-शून और प्रेमचंद को 'अपनी स्वाधीनता के लिए संघर्ष' करते देखते हैं। नामवर ने कई स्थलों पर प्रेमचंद पर विचार करते हुए गांधी को सामने रखा है। प्रेमचंद को आरंभ में गांधीवाद और बाद में मार्क्सवाद से जोड़कर देखने की कम कोशिशें नहीं हुई हैं। नामवर इन दोनों वादों के बीच प्रेमचंद को बांधने के प्रयास को उन वादों के साथ प्रेमचंद के साथ भी अत्याचार कहते हैं और प्रेमचंद को 'विचारकों' से कहीं अधिक 'जीवन की पाठशाला' से सीखने की बात कहते हैं। नामवर की मार्क्सवादी दृष्टि भी बंधी हुई नहीं है। 'प्रेमचंद दरअसल अपने समय में, उन समस्त विचारधाराओं, मान्यताओं, विश्वासों और क्रिया कलापों का अंकन कर रहे थे ताकि उस समय के लोग और आगे आनी वाली पीढ़ियां भी सबक ले सकें।' (प्रेमचंद के वैचारिक अंतर्विरोध और गांधीवाद, 1983, प्रेमचंद और भारतीय समाज, पृ. -143) नामवर ने आर्य समाज से गांधी और गांधी से मार्क्स की ओर प्रेमचंद के सहज विकास की चर्चा कई स्थलों पर की है 1930-31 से उनमें हुए गुणात्मक, वैचारिक परिवर्तन को भी रेखांकित किया है, उनकी वर्ग-दृष्टि और वर्ग-संघर्ष को सामने रखा है, जिससे यह स्पष्ट है कि प्रेमचंद अंत में मार्क्सवाद से जुड़ चुके थे। यह दूसरी बात है कि उनकी रचनाओं में विचार से कहीं अधिक जीवन प्रमुख है और इसी जीवन से स्वतः विचार जुड़ जाता है। 'राष्ट्रीय मुक्ति-आंदोलन और प्रेमचंद' (1980) व्याख्यान में उन्होंने प्रेमचंद को 'स्वाधीनता-संग्राम का अनूठा महागाथाकार' कहा है। उर्दू, बांग्ला, तमिल, मराठी में- 1905 से 1936 के बीच किसी साहित्यकार के यहां 'स्वाधीनता-संग्राम की अमरगाथा अपने पूरे ब्यौरे के साथ- नहीं कही गयी है। वे रवींद्र, शरत, सुब्रह्मण्य भारती, वि.स.

खांडेकर, कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी, डॉ. मुहम्मद इकबाल, किसी में 'स्वाधीनता-संग्राम की ऐसी मुक्ति के वर्गीय आधार को देखते थे... जबकि गांधीजी इस वर्ग-आधार से मुक्त करके दूसरे स्तरों पर... ग्रहण करते रहे।' (प्रेमचंद और भारतीय समाज, पृ.-122) मार्क्स से पहले वर्गीय दृष्टि, वर्ग-बोध, वर्ग-संघर्ष की कहीं कोई चर्चा नहीं थी। प्रेमचंद में यह है, जिससे मार्क्सवाद से उनके लगाव-जुड़ाव से इनकार नहीं किया जा सकता। प्रेमचंद की दृष्टि सदैव समाज-व्यवस्था पर केंद्रित थी। नामवर ने कहा है 'वह समाज-व्यवस्था जिस अर्थतंत्र पर टिकी हुई है, प्रेमचंद वहां उंगली रखे बिना वापस नहीं लौटते... प्रेमचंद ने समाज-व्यवस्था की तह में जाना शुरू कर दिया था।' (वही, पृ.-118) स्वाधीनता-आंदोलन में समाज व्यवस्था की तह में क्या और कोई व्यक्ति गया था? प्रेमचंद ने एक साथ सामंतवाद और साम्राज्यवाद का विरोध किया था। बाहरी दुश्मनों, लुटेरों के साथ घर के दुश्मनों, लुटेरों की पहचान की थी। ऐसी पहचान गांधी ने नहीं की थी। प्रेमचंद बिना सामंतवाद के विरोध के साम्राज्यवाद विरोध का विशेष अर्थ नहीं देखते थे। नामवर ने कहा है कि ऐसी स्थापना प्रेमचंद को 'समाज सुधारकों और कांग्रेसी नेताओं से आगे ले जाती है।' इसी कारण प्रेमचंद के यहां मुक्ति और स्वतंत्रता का कोई एकांगी और खंडित अर्थ नहीं था। 'प्रेमचंद के यहां राष्ट्रीय मुक्ति राजनीतिक और आर्थिक ही नहीं थी, मानसिक और वैचारिक भी थी। किसानों की पुराने विचारों से मुक्ति आवश्यक थी.... उनके लिए आजादी ज्यादा गहरे अर्थों में थी, गहरे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अर्थों में थी।' (वही, पृ.-121) नामवर ने 'गांधीवादी मूल्यों-मान्यताओं से उनके मोहभंग का काल' 1930 से माना है। वे उपन्यास के बाह्य ढांचे से अधिक उसके 'अंदरूनी ढांचे' को महत्वपूर्ण मानते हैं। कहते हैं- उनके उपन्यासों का समूचा सार वर्ग-संघर्षों की गाथा कहता है। वर्ग-संघर्ष के स्वर को गुंजित करता है, उनका अंत भले ही उपदेश में होता हो। किसी प्रकार के आश्रम में होता हो।' (वही, पृ.-126) प्रेमचंद के उपन्यासों का जब 'समूचा सार वर्ग-संघर्ष' का हो, तो वे मार्क्सवाद से बंधे हुए कैसे नहीं है? यह वर्ग-संघर्ष और किस 'वाद' के पास ले जाता है? प्रेमचंद के विचार स्पष्ट हैं। वे इस समाज-व्यवस्था से सदैव असंतुष्ट थे। अपने समय में 'उभरते पूंजीवाद' को देख-समझ रहे थे। 'गोदान' में खन्ना को पूंजीपति के रूप में चित्रित कर रहे थे, किसानों का शोषण करने वाली शक्तियों को दिखा रहे थे और इस सबके भीतर से उनकी वैचारिक दृष्टि सामने आ रही थी। क्या थी प्रेमचंद की वैचारिक दृष्टि? वे जिस व्यवस्था-परिवर्तन के आकांक्षी थे, देश में उस समय के वामपंथ का मार्ग (व्यवस्था-परिवर्तन का) भिन्न था। नामवर कहते हैं 'जब इस देश की वामपंथी पार्टियां मजदूरों को संगठित करने में लगी थीं, वे भारतीय किसानों में सबसे निचले तबके की आर्थिक और सांस्कृतिक बदहाली को सामने रखते हुए साहित्य रच रहे थे।' (वही, पृ.-127-128)

नामवर ने भारतीय समाज को प्रेमचंद की निगाह से देखा है। अकारण नहीं है कि उन्होंने उपन्यासकारों में केवल प्रेमचंद पर लिखा है। 'सेवासदन' में वे प्रेमचंद को 'नारी के सम्मान, प्रतिष्ठा और अधिकार के सवाल' को उठाते और 'नारी पराधीनता के मूल में निहित अर्थ-व्यवस्था का उद्घाटन' करते देखते हैं। 'प्रेमाश्रम' में नामवर का ध्यान 'आश्रम की स्थापना' पर न होकर 'जमींदार और किसान के बीच चलने वाले अंदरूनी संघर्ष' पर है। वे पूछते हैं 'प्रेमचंद राजनीतिज्ञों के आगे थे या पीछे थे?' (वही, पृ.-119) निस्संदेह आगे थे। नामवर हिंदी के उन विरल आलोचकों में हैं,

जिन्होंने प्रेमचंद के उपन्यास के मर्म को समझा, उद्घाटित किया, पर उन्होंने प्रेमचंद की राह नहीं पकड़ी। अब यह सवाल इक्कीसवीं सदी के भारत में अवश्य पूछा जाना चाहिए कि आलोचक अगर रचनाकार का सहयात्री है तो उसे क्या केवल रचना की व्याख्या-विवेचना तक ही सीमित रहना चाहिए या उसके साथ अपने कर्तव्य- भार का भी निर्वाह करना चाहिए? आलोचक सर्जक कब बनता है? प्रेमचंद के जीवन और साहित्य में कोई विरोध नहीं है। 'गबन' को नामवर 'आभूषण प्रेम की कहानी' मात्र न मान कर उस मध्यवर्ग के ढुलमुलेपन की भी मानते हैं जो तब के रमानाथ से आज कहीं अधिक है। 'गबन' में संभवतः अभी तक रमानाथ और देवीदीन की समझ पर एक साथ विचार नहीं हुआ है। सन 1930 में देवीदीन बाद के दिनों को देख-समझ रहे थे। नामवर प्रेमचंद की वर्गीय समझ और दृष्टि को सदैव सामने रखते हैं 'प्रेमचंद का साहित्य किसान जनता को साथ लेकर चलने वाले नेता, राष्ट्रप्रेमी, देश प्रेमी और राष्ट्रीयता के लिए संघर्ष करनेवाले लोग मूलतः और अंततः अपने वर्ग हित के लिए लड़ते हैं और उनके वर्ग हित पर जब चोट पड़ती है, तो चोला बदल लेते हैं, बाना बदल लेते हैं, पक्ष बदल लेते हैं और उसके विरुद्ध चले जाते हैं। यह 'गबन' में होता है, 'कायाकल्प' में होता है, 'कर्मभूमि' में होता है और यह आगे चलकर 'गोदान' में होता है।' (वही, पृ.-125) नामवर की 'कृति-केंद्रित आलोचना' का अपना महत्व है। वे इसे आलोचना का 'सर्वोत्तम माध्यम' भी कहते हैं। 'गोदान' को छोड़कर उन्होंने किसी भी उपन्यास की विस्तृत आलोचना नहीं की है। प्रेमचंद के उपन्यासों पर उनके विचार उन उपन्यासों पर नए सिरे से थोड़ा सोचने का अवसर भी देते हैं। शानी की बातचीत से बहुत पहले 1968 में उन्होंने यह कहा था कि प्रेमचंद के बाद हिंदी कथा-साहित्य से मुसलमान चरित्र धीरे-धीरे गायब होते गए हैं। प्रेमचंद का जिन मार्क्सवादी आलोचकों ने विशेषतः रामविलास शर्मा, नामवर सिंह और मैनेजर पांडेय ने, महत्व-युगांतकारी महत्व स्वीकारा है, उनमें केवल मतैक्य है या मन-वैभिन्य भी, इस पर भी विचार किया जाना चाहिए। नामवर सिंह, रामविलास शर्मा की इस आरंभिक स्थापना से असहमत थे कि 'गोदान' की मुख्य समस्या 'ऋण की समस्या' है। वे डॉ. शर्मा के इस कथन (मेहता के दिमाग और होरी के व्यक्तित्व को मिलाने) को 'आग और पानी को मिलाने जैसा' कहते हैं। उनके अनुसार 'गोदान' में केवल ऋण की समस्या देखना गोदान के महत्व को घटाना है। डॉ. शर्मा ने बाद में अपनी इस स्थापना को भूल माना।

प्रेमचंद ने एक साथ हिंदू और मुस्लिम संप्रदायवाद का विरोध किया था। 'लेखकों में प्रेमचंद संभवतः अकेले हैं, जो हिंदू होते हुए भी मुस्लिम सांप्रदायिकता के खिलाफ आवाज उठाने का साहस कर सके, क्योंकि उनके मन में कहीं कोई चोर न था।' (प्रेमचंद और भारतीय समाज, पृ.-105) स्वाधीनता के मार्ग में जो भी बाधक शक्तियां थीं, प्रेमचंद ने उन पर प्रहार किया। नामवर अपनी बारीक और पैनी दृष्टि से प्रेमचंद के उपन्यासों के कुछ उन बिंदुओं की पहचान करते हैं, जो पहले कम की गयी थी। प्रेमचंद ने सांप्रदायिकता फैलाने का कारण धर्म, मजहब और धार्मिक रुझान न मानकर आंदोलन की शिथिलता माना था। जिस समय आंदोलन थमा हुआ था, प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' के द्वारा एक प्रकार के युद्ध का आह्वान किया- 'रंगभूमि' कब लिखा गया? उस समय हमारे आंदोलन की क्या स्थिति थी? 1924-25 के आस-पास और 1924-25 में गांधीजी ने कौन-सा आंदोलन छेड़ा था?' (वही, पृ.-123) 'रंगभूमि' पर न तो अलग से नामवर ने कहीं व्याख्यान दिया, न कोई लेख

लिखा, पर वे इस उपन्यास को 'गोदान' के बाद सर्वाधिक महत्व देते हैं। 'सूरदास प्रेमचंद का सबसे लड़ाकू नायक है और कदाचित साहित्य में उसके जोड़ का कोई दूसरा 'हीरो' नहीं है। यह हीरो तब सामने आया जब राष्ट्रीय आंदोलन उतार पर था, पस्ती पर था, मंदी पर था। प्रेमचंद ने कहा था कि साहित्य वह मशाल है, जो राजनीति के आगे चलती है। 'रंगभूमि' के द्वारा प्रेमचंद यह दिखाने की, साबित करने की कोशिश कर रहे थे।' (वही, पृ.-124) नामवर ने अपने एक लेख 'जीवन और विचारधारा' में सूरदास को 'सामान्य कथा चरित्र' न मानकर 'भारत की नई राष्ट्रीय शक्ति का प्रतीक' कहा है। सूरदास का विरोध निजी स्तर का नहीं है। वह सुभांगी के प्रति होनेवाले अन्याय का भी विरोध करता है। वस्तुतः प्रेमचंद के समस्त साहित्य का बीज शब्द ('की वर्ड') 'न्याय' है। सूरदास न्याय के पक्ष में है। नामवर प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि की व्याख्या में 'संघर्ष' को केंद्र में रखते हैं और 'कहानी-कला' में प्रेमचंद के कहे गए इस कथन को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते हैं- संवेदना मित्र के प्रति है मित्र वर्गों के प्रति है। (वही, पृ.-83) टॉलस्टॉय के सिद्धांत 'पापी के प्रति घृणा नहीं दया' की रामचंद्र शुक्ल ने आलोचना की थी। नामवर रामचंद्र शुक्ल के साथ हैं। इससे हिंदी आलोचना का निरंतरता में उज्ज्वल पक्ष दिखाई देता है। नामवर ने शुक्लजी के विचार को 'अकेले रामचंद्र शुक्ल के नहीं, बल्कि प्रेमचंद और उनके साथ ही स्वाधीनता- प्रेमी समस्त भारतीय जनता के हृदय की सच्ची वाणी कहा है। संभवतः पहली बार नामवर ने ही प्रेमचंद को पहले की- कबीर, नानक, तुलसीदास, तुकाराम की 'महान जन परंपरा' से जोड़कर देखा है। 'प्रेमचंद के उपन्यासों और कहानियों में कबीर और तुलसीदास जैसे मध्ययुगीन संतों की वाणी चार-पांच सौ वर्ष बाद एक नए अंदाज के साथ गोया फिर सुनाई पड़ी।' (वही, पृ.-23)

नामवर की विशेषता नए विचार-बिंदुओं को रखने में है। प्रेमचंद के संस्कार-निर्माण और जीवन-दृष्टि के निर्माण में क्या कानपुर शहर की कोई भूमिका हो सकती है? उनके निर्माण में 'कानपुर के माहौल के वातावरण का क्या हाथ है... शोध का विषय है।' (वही, पृ.-128) इसी प्रकार प्रेमचंद 'कर्मभूमि' में हरिजनों के मंदिर-प्रवेश को दलितों की समस्या का समाधान नहीं मानते। 'कायाकल्प' में नामवर ध्यान दिलाते हैं कि प्रेमचंद ने दलितों को 'मजदूर' कहा है। 'कर्मभूमि' में दलितों के मंदिर-प्रवेश के बाद पुजारी प्रसन्न है कि उसे कहीं अधिक चढ़ावा मिला। नामवर 'पाठ' और उसके 'संदर्भ' दोनों को महत्व देते हैं। उनका अध्ययन गहन और व्यापक है। चिंतन कहीं अधिक सारवान है और विवेचन-विश्लेषण में एक नवीनता है, जो कृति-विशेष के गंभीर पाठ से ही संभव हो सकती है। वे दलित-विमर्श और स्त्री-विमर्श की दृष्टि से प्रेमचंद को देखने-समझने के पक्ष में नहीं हैं क्योंकि यह एकांगी और खंडित दृष्टि है। कांतिमोहन की पुस्तक 'प्रेमचंद और अछूत समस्या' को सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रामाणिक' तथा इस विषय पर पहली पुस्तक मानने के बाद वे 1996 के अपने एक व्याख्यान 'दलित साहित्य और प्रेमचंद' में प्रेमचंद की पहली (मेरी पहली रचना) और अंतिम (गोदान) रचना को दलित से संबद्ध बताकर प्रेमचंद को दलित विरोधी कहनेवालों को पुनर्विचार करने को बाध्य भी करते हैं। 'गोदान' को या फिर प्रेमचंद को एक विशेष दृष्टि से देखे जाने के पक्ष में वे नहीं हैं।

प्रेमचंद पर आक्रमण उनके समय में भी हुआ और बाद में भी। रामविलास शर्मा और नामवर

सिंह ने इन आक्रमणों की खबर ली। नामवर ने अवध उपाध्याय, श्रीनाथ सिंह, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, विद्यानिवास मिश्र और विश्वनाथ नरवणे के साथ शैलेश जैदी और कमलकिशोर गोयनका (नामोल्लेख नहीं) का जवाब दिया। प्रेमचंद की 125वीं वर्षगांठ (2005) पर दिए अपने एक व्याख्यान 'स्वाधीनता-संग्राम का वर्ग-चरित्र और 'गोदान' में 'ग्लैमर, मीडिया और संस्कृति के इस नए दौर में फिर प्रेमचंद की रक्षा करने की जरूरत' बताई। (वही, पृ.-150) प्रेमचंद लगातार शिकारियों के निशाने पर बने रहे, उन व्यवस्था-पोषकों, रक्षकों के निशाने पर जो प्रेमचंद से खौफ खाते थे क्योंकि प्रेमचंद एक साथ सामंतों, शोषकों, संप्रदायवादियों, भेद-भाव कायम रखने वालों, पूंजीपतियों के खिलाफ थे। उन्होंने घर के भीतर और बाहर के शत्रुओं का असली चेहरा सामने रख दिया था। नामवर ने कहा है कि प्रेमचंद 'गोदान' लिखकर राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम के वर्ग-चरित्र को उद्घाटित कर रहे थे। नामवर की उपन्यास-संबंधी आलोचना एक प्रकार का वैचारिक युद्ध है- उपनिवेशवाद, पूंजीवाद, सामंतवाद, साम्राज्यवाद और छद्म राष्ट्रवाद के विरुद्ध। 'गोदाम' की आलोचना में इसे देखा जा सकता है। 'गोदान' के सेमरी ओर बेलारी गांव से उन्हें चार्ल्स डिकेन्स के 'टेल ऑफ टू सिटीज' की याद आती है। 'गोदान' प्रेमचंद के अनुसार 'किसान की दुःख गाथा न होकर 'राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के वर्ग-चरित्र पर एक टिप्पणी' है। जब स्वाधीनता- आंदोलन लगभग- भंवर में था, उस दौर में प्रेमचंद 'गोदान' के द्वारा राष्ट्रवाद की सीमाएं बता रहे थे।' (वही, पृ.-153) 'गोदान' उनकी दृष्टि में एक 'पोलिटिकल क्रिटिक' है। 'गोदान' में 'गांव और शहर की संगति' पर कम प्रश्न नहीं उठे। 'गोदान' पर विचार करते हुए नामवर एन.सी.ई.आर.टी. के पाठ्यक्रम से 'निर्मला' उपन्यास को हटाने, गुलजार द्वारा 'गोदान' पर बनाई फिल्म से लेकर प्रेमचंद के बेटों द्वारा प्रकाशित 'गोदान' के संक्षिप्त संस्करण का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं, जिसमें से रायसाहब, खन्ना, तंखा, मेहता, मालती जैसे शहरी पात्र हटा दिए गए थे। आक्रोश स्वाभाविक था, क्योंकि उस दौर के किसी उपन्यासकार ने 'इतना मुकम्मल और शहरी सामाजिक-राजनीतिक समझ के साथ अपने दौर को देखते हुए कोई उपन्यास नहीं लिखा।' (वही, पृ.-154) 'गोदान' को नामवर 'साहित्यकार की पुकार' के रूप में देखते हैं कि अंधकार दूर हो। '1907 से 1936 तक आजादी की लड़ाई में हर मौके पर प्रेमचंद राजनीति के पीछे नहीं बल्कि आगे थे।' (वही, पृ.-130) स्वाभाविक था प्रेमचंद के जन्मशती वर्ष में अज्ञेय द्वारा प्रेमचंद की मैथिलीशरण गुप्त से तुलना का विरोध। अज्ञेय ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रेमचंद शताब्दी समारोह की अध्यक्षता की थी। नामवर ने उस अवसर पर अपने व्याख्यासन में 'प्रेमचंद की दृष्टि और कला-रचना' पर विचार किया। यह कहा कि प्रेमचंद के यहां 'दृष्टि और यथार्थ का द्वंद्व है, जिससे वे 'निर्मला' और 'रंगभूमि' का निर्माण करते हैं। दृष्टि और यथार्थ के इस द्वंद्व और तनाव को उन्होंने प्रेमचंद के साथ निराला और मुक्तिबोध में भी देखा। अज्ञेय ने प्रेमचंद की दृष्टि को 'परम कारुण्य' के रूप में रखा था। नामवर के अनुसार अज्ञेय ने इसे 'संवेदना' शब्द के द्वारा सपाट कर दिया, जिसमें क्रोध के लिए, शाप के लिए, सात्विक क्रोध के लिए कोई स्थान नहीं था।' (वही, पृ.-82) अज्ञेय ने प्रेमचंद के 'डिकेन्स से लेकर गाल्सवर्दी तक की लंबी यात्रा' की बात कही थी। नामवर प्रेमचंद को समझने के लिए अंग्रेजी और विक्टोरियन उपन्यासकारों को आधार बनाए जाने के पक्ष में नहीं है क्योंकि ऐसा करके 'हम यथार्थवाद की नितांत कलावादी और

रूपवादी दृष्टि के अंतर्गत एक लेखक में निहित जो अंतर्वस्तु है, जो नवीन राष्ट्रीय अंतर्वस्तु है, उसकी उपेक्षा करके नितांत रूपवादी इतिहास की व्याख्या करेंगे, साहित्य के इतिहास की व्याख्या करेंगे। (वही, पृ.-77)

प्रेमचंद के ऐतिहासिक महत्व को समझने के लिए नामवर 'संसार के इतिहास में आए क्रांतिकारी मोड़ और परिवर्तन के बिंदुओं' को पकड़ना जरूरी समझते हैं। उनके सामने बाल्जाक और तॉलस्तॉय उदाहरण हैं। प्रेमचंद ने उपन्यास की विधा में परिवर्तन किया। उनके उपन्यास 'यूरोपीय यथार्थवादी उपन्यासों के रूप-विधान' से भिन्न हैं। प्रेमचंद ने 'यथार्थवादी विषयवस्तु के अनुरूप यथार्थवादी शिल्प का सृजन' किया। अंतर्वस्तु और रूप-विन्यास के स्तर पर प्रेमचंद का काल बोध भिन्न है। नामवर की स्थापना है कि 'प्रेमचंद की भारतीयता जीवंत इतिहास के बीच विकसित हुई थी।' (वही, पृ.-73) नामवर गोदान को न 'मर्सिया' मानते हैं, न 'भादो का आसमान'। वे गोदान का केंद्र-बिंदु होरी को न मानकर धनिया को मानते हैं। वे होरी द्वारा बार-बार कहे गए शब्द 'मरजाद' और धरम' में सामंती दौर से पूर्व की मान्यताएं देखते हैं- 'धरम-मरजाद पारिवारिक मर्यादाएं हैं' (वही, पृ.-154) निगाह इतनी पैनी है कि होरी द्वारा अपने को कहे गए 'कायर, लोभी, अधम' में जो शब्द-प्रयोग का क्रम है, वह उनसे नहीं छुप पाता। वे 'गोदान' की विचारधारा को मेहता से अधिक गोविंदी में देखते हैं। 'गोदान' में गाय को नामवर ने एक रूपक और प्रतीक के अर्थ में देखा है। 'वह अनेक भावों का प्रतीक बन जाती है। होरी खुद गाय है।' प्रमाण है रामसेवक का यह कथन- 'इस संसार में गौ बनने से काम नहीं चलेगा।' नामवर कहते हैं 'गाय रखने वाला- गाय की इच्छा रखने वाला खुद गाय है। इस गाय पर एक लेख लिखा जाना चाहिए।' (वही, पृ.-174) अभी तक 'गोदान' या 'होरी की गाय' पर कोई लेख नहीं लिखा गया है। नामवर ने कहा है- 'प्रेमचंद के किसान के लिए गाय 'सुराज' का प्रतीक है। होरी के लिए 'सुराज' का मतलब था एक पवित्र, पूरा समाज।' (वही, पृ.-154) 'गोदान' के अंत में धनिया सवा रुपये को गोदान समझने को कहती है। नामवर ने बड़े पते की बात कही है- 'क्या 'गोदान' में प्रेमचंद के लिए 'गाय' वही है, जो दास कैपिटल में मार्क्स के लिए कैपिटल या पूंजी?' (वही, पृ.-175)

प्रेमचंद की वर्ग-चेतना जीवनानुभवों से प्राप्त थी। नामवर ने प्रेमचंद की इस वर्ग-चेतना, वर्ग-दृष्टि की पहचान की। इसी कारण 'प्रेमचंद ने धरती के लिए आकाशका त्याग किया, यथार्थ के लिए कल्पना से परहेज किया और रोमांटिक युग में यथार्थवाद की राह चलने का जोखम उठाया।' (वही, पृ.-20) नामवर प्रेमचंद की 'सादगी का सौंदर्यशास्त्र' पर भी विचार करते हैं। वे परसाई का लेख 'प्रेमचंद के फटे जूते' नहीं भूलते। परसाई ने अपने इस निबंध में प्रेमचंद की मुस्कान की व्याख्या की थी। इस लेख को नामवर 'बहुत सारे मोटे-मोटे शोध-ग्रंथों से बेहतर मानते हैं। शायद ही कोई ऐसा विश्वविद्यालय हो, जिसमें प्रेमचंद पर शोध-कार्य न हुआ हो। नामवर का जयगान करनेवाले भी नामवर की स्थापनाओं पर न तो विचार करते हैं न उनका विकास करते हैं। नामवर प्रेमचंद की विशेषता उनका मामूलीपन मानते हैं। कई बार उन्होंने इसे कहा है। प्रेमचंद की भाषा के सूक्ष्म पक्षों पर उनका ध्यान है। नामवर की आंख जबर्दस्त है। वह वहां पहुंचती है- रचना के बहुत भीतर जहां सबकी पहुंच नहीं सकती। इस प्रकार वे कृति का नया पाठ प्रस्तुत करते हैं। 'ठाकुर का कुआं' कहानी

में प्रेमचंद द्वारा गले में डाले गए 'तागा' को 'तागा' ही कहने और यज्ञोपवीत न कहने की ओर उन्होंने ध्यान दिलाया है। कहानी के छोटे वाक्य पर उनकी नजर टिकती है। प्रेमचंद ने 'ठाकुर का कुआं' में ठाकुर का दरवाजा खुलने पर लिखा- और शेर का मुंह इससे अधिक भयानक नहीं होगा।' नामवर 'सादगी के सौंदर्यशास्त्र' में अलंकार, उपमा और विचारधारा नहीं देखते। 'गोदान' को उन्होंने प्रेमचंद के जीवन का भी गोदान कहा है- 'एक तरह से' ही सही। उनके अनुसार 'गोदान' भारतीय किसान की निष्क्रियता की महान ट्रेजिडी' है। अब इसके लिए इतिहास को खंगालना होगा कि भारतीय किसान निष्क्रिय कब हुआ? उसे निष्क्रिय करने में कैसी शक्तियां सक्रिय थीं? नामवर की विशेषता यह है कि वे विचार के लिए सूत्र देते हैं जिनका विस्तार जरूरी है। जाहिर है विचार के साथ ही विस्तार होगा। वे झकझोरते हैं, चुनौती देते हैं और बहस के लिए आमंत्रित भी करते हैं। उनकी आलोचना इसी अर्थ में संवादी है, लोकतांत्रिक है। प्रेमचंद का मनमाना इस्तेमाल करने वालों को उन्होंने नहीं छोड़ा। उन पर कड़ी टिप्पणी की। प्रेमचंद का एक लेख 'श्री कृष्ण और भावी जगत' अगस्त 1931 की 'कल्याण' पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। विद्यानिवास मिश्र ने इसे 'साहित्य अमृत' में प्रकाशित किया। नामवर की दृष्टि गई। उन्होंने इस पर 'सहारा समय' के 'यथा समय' स्तंभ (09. 08.2003) में लिखा अब यह 'प्रेमचंद और भारतीय समाज' में संकलित है। नामवर ने इस लेख को 'ठीक से समझने के लिए 'कर्मभूमि' उपन्यास को ध्यान में रखना जरूरी' माना है और इसे 'महाजनी सभ्यता' लेख का पूर्व-संकेत' कहा है। प्रेमचंद के इस लेख को नामवर ने 'उनकी अपनी गीता' कहा है। यह नामवर की आलोचना-दृष्टि है, जो इस लेख को 'महाजनी सभ्यता' और 'कर्मभूमि' से जोड़ती है। क्यों जोड़ती है? नामवर ने प्रेमचंद के 'कर्मयोग' को 'तिलक और गांधी के कर्मयोग से एक कदम आगे' कहा है और उनके कर्मयोग से उत्पन्न क्रांति की ध्वनि' देखी-सुनी है। विद्यानिवास मिश्र प्रेमचंद के 'कर्मयोग के मर्म' को नहीं समझ सके थे- नामवर ने समझा और प्रेमचंद को 'अभिनव कर्मयोगी' कहा। एक मर्मी आलोचक ही इस मर्म की पहचान कर सकता है।

शानी, विश्वनाथ त्रिपाठी और काशीनाथ सिंह ने 1990 में उनसे 'आधी सदी : आधा साहित्य' पर जो बातचीत की थी, उसमें उन्होंने, जैनेंद्र के 'सुखदा', 'विवर्त' 'व्यतीत', 'अश्क' के 'गिरती दीवारें', 'गर्म राख', यशपाल के मनुष्य के रूप, भगवतीचरण वर्मा के 'आखिरी दांव', और अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' में ऐसा कुछ भी नहीं देखा, जो 'स्वाधीनता-प्राप्ति के ठीक बाद के मिजाज के मेल में होता।' (कहना न होगा, 1994, पृ.-223) ये सभी प्रतिष्ठित उपन्यासकार थे, जिनकी तुलना में उन्होंने नागार्जुन के 'रतिनाथ की चाची' और 'बलचनमा' तथा भारती के 'सूरज का सातवां घोड़ा' की चर्चा की। 'मैला आंचल' को उन्होंने 'हिंदी उपन्यास के इतिहास में घटना' कहा और 'आजादी के बाद के भारत के मिजाज को व्यक्त करनेवाला पहला उपन्यास भी माना। अमृतलाल नागर का उपन्यास 'बूंद और समुद्र' पर भी उनका ध्यान था। इन दोनों उपन्यासों को उन्होंने- असंदिग्ध रूप से स्वाधीन भारत के साहित्य की उपलब्धियां' कहा है। वे स्वाधीनता प्राप्ति के बाद के हिंदी साहित्य के केंद्र में उपन्यास को नहीं देखते और उसके कारणों का उल्लेख नहीं करते कि क्यों 'कहानी' और 'कविता' केंद्र में आ गई और उपन्यास किनारे हो गया? उपन्यासों की दृष्टि से 'साठोत्तरी दुनिया' को उन्होंने 'कहानी से भी ज्यादा उजाड़' कहा है। नामवर उपन्यासों का नामोल्लेख भर करते हैं।

साठ के दशक का प्रतिनिधि उपन्यास उनके अनुसार श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' (1968) है। राही मासूम रजा का 'आधा गांव', शानी का 'काला जल' और भीष्म साहनी का 'तमस' 'उस दौर में उभरने वाले संप्रदायवाद के विरुद्ध संघर्ष के प्रतीक' हैं। (वही, पृ.-241) नामवर साठ के बाद के दौर में प्रकाशित कई उपन्यासों का मात्र नामोल्लेख करते हैं। जहां तक उनके साक्षात्कारों का प्रश्न है बहुत कम स्थलों पर उन्होंने उपन्यासों या उपन्यासकारों के वैशिष्ट्य को रेखांकित किया है। कुछ टिप्पणियां अवश्य की हैं और यह कहा जाना चाहिए कि नामवर की टिप्पणियों को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। द्विवेदीजी के उपन्यासों में स्त्री द्वारा स्त्री के उद्धार की बात उन्होंने कही है। 'बाणभट्ट की भट्टिनी का उद्धार निउनिया करती है। बाण निमित्त बनता है।' (सम्मुख, पृ.-195) सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के खिलाफ रवींद्र वर्मा की 'निन्यानबे', गीतांजलिश्री के 'हमारा शहर उस बरस' और भगवान सिंह के 'उन्माद' में उन्होंने 'वैचारिक पक्षधरता' देखी। लीक से हटकर लेखन की, विषयवस्तु की अपेक्षा साहित्य और कला के क्षेत्र में 'फार्म' को तोड़ने को उन्होंने हमेशा महत्व दिया है। 'कलिकथा वाया बाइपास' को इसी कारण अधिक महत्व दिया क्योंकि 'फॉर्म ज्यादा टिकाऊ होता है।' (वही, पृ.-30) 'कोई आदमी कला रूप को जब तोड़ता है तो वह क्रांतिकारी काम करता है.. .. फॉर्म की दुनिया में शताब्दियों में 'फॉर्म' तोड़ा जाता है। उपन्यास के नैरेशन, आख्यान को बदलना बहुत बड़ी बात होती है।' (वही, पृ.-31) उपन्यास का यह फॉर्म जैनेंद्र ने, रेणु ने, विनोद कुमार शुक्ल ने और अलका सरावगी ने तोड़ा। उपन्यास के बारे में नामवर की अपनी दृष्टि है, साफ समझ है। यह समझ राजेंद्र यादव की समझ से भिन्न थी अलग थी। बहुतों से भिन्न और अलग है। कमलेश्वर के उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' पर उन्होंने 'सुबह सवेरे' कार्यक्रम में चर्चा की, पर वे इसे उपन्यास नहीं मानते। 'पहला गिरमिटिया' पर वे राजेंद्र यादव की तरह 'क्रिटिकल' नहीं थे। कई शिकायतें गिरिराज किशोर के इस उपन्यास से उन्हें थीं। 'हिंद स्वराज' पर उपन्यास में एक भी पृष्ठ क्यों नहीं है और क्यों जगह-जगह पर उर्दू की छौंकें हैं? कामतानाथ के 'कालकथा' के पहले समीक्षक वही थे। अमरकांत के 'इन्हीं हथियारों से' और 'कालकथा' को उन्होंने लंबे इतिहास की पृष्ठभूमि पर लिखे गए उपन्यास कहा। मन्नू भंडारी के 'आपका बंटी' और 'महाभोज' को अपने समय से आगे की रचनाएं माना। उनकी निगाह चौकन्नी है। 'महाभोज' के दा साहब को उन्होंने 'चौकन्ना चरित्र' 'यादगार चरित्र' कहा। नामवर के यहां उपन्यास की थीम अधिक महत्वपूर्ण नहीं थी। उपन्यासकार की औपन्यासिक दृष्टि का महत्व था। बाबरी मस्जिद ध्वंस की थीम पर जो दो उपन्यास- 'कितने पाकिस्तान' और 'आखिरी कलाम' (दूधनाथ सिंह) लिखे गए, उनमें से एक को वे उपन्यास ही नहीं मानते और 'आखिरी कलाम' को 'भ्रष्ट कल्पना की सृष्टि' कहते हैं। शानी, असगर वजाहत, अब्दुल बिस्मिल्लाह, मेहरुन्निसा परवेज और मंजूर एहतेशाम के उपन्यास पर विचार न कर नामवर इन्हें 'सलाम' करते हैं 'क्योंकि बहुत अच्छी उर्दू जानने के बाद भी इन्होंने हिंदी में रचना की, उपन्यास लिखे.... इनको तो सिर आंखों पर बिठाना चाहिए।'(वही, पृ.-27) उपन्यास के विवेचन-मूल्यांकन में उनके यहां कला पक्ष कम महत्वपूर्ण नहीं है। 'अपने-अपने अजनबी' कला की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण उपन्यास है।' (वही, पृ.-263) नामवर की दृष्टि हिंदीतर उपन्यासों पर सदैव रही- उन्नीसवीं सदी के ही नहीं, बीसवीं सदी के भी। गुरदयाल सिंह उनके अनुसार 'फरिश्तों की तरह लिखते हैं'।

'मढ़ी का दीवा' का अनुवाद पढ़कर उन्हें लगा 'ऐसी प्रतिभा वाला और ऐसी भाषा वाला उपन्यासकार हिंदी में तो नहीं है' (साहित्य की पहचान, पृ.-192) सड़सठ-अड़सठ में नामवर को ऐसा लगा था। हिंदी में क्यों नहीं है, इस पर विचार नहीं किया। 'पंजाबी समाज का प्रतिनिधि लेखक' गुरदयाल सिंह पर लिखते हुए अच्छे 'नॉवेल' की पहचान' भी बताई कि उसका 'ट्रीटमेंट' और 'लव' कैसा है?' (वही, पृ.-199)

हिंदी में 'आंचलिक उपान्यास' को जो चलन और शोर-शराबा था, वह नामवर के लिए अर्थहीन था। उनकी दृष्टि क्षेत्रीय, एकांगी नहीं थी। वे 'भारत की सृजनशीलता' को एक साथ रेणु के 'मैला आंचल', श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी', 'मराठी में भालचंद्र नेमाड़े के 'कोसला' और ओड़िया में गोपीनाथ महांति के 'परजा' में देखते हैं और इन्हें 'खाली आंचलिक' नहीं कहते। (बात बात में बात, 2006, पृ.-141) क्या हमें स्वतंत्र भारत में, विशेषतः अब इक्कीसवीं सदी में 'भारत की सृजनशीलता' पर विचार नहीं करना चाहिए? वह है या नष्ट प्राय है? सीताकांत महापात्र का गोपीनाथ महांति (04.04.1914-20.08.1991) की जन्मशताब्दी पर जो 'विशेष' लेख 'समकालीन भारतीय साहित्य' (मई-जून 2016) में प्रकाशित है, उसमें उनका यह कथन देखें- 'कोरापुट जिले के आदिवासी बहुल अंचल में तैनात कर्मचारी गोपीनाथ के विरोध में पंडित नेहरू ने एक अभियोग भी लगाया था- 'गोपीनाथ महांति, उस तबाही और त्रासदी की घड़ी में एक विशेष सहायक एजेंट के तौर पर यहां नियुक्त हैं- (लेकिन) वे हमेशा पर्वतीय लोगों के बारे में सोचते रहते हैं, उनके पास अन्य वर्ग के लोगों के लिए बहुत कम समय होता है। वे इस तरह के व्यवहार करते हैं मानो वे आदिवासी लोगों के लिए ही पैदा हुए हों।' (पृ.-12) भारतीय उपन्यासकारों में जो 'सृजनशीलता' है, क्या वही नेहरू में थी? बाद के प्रधानमंत्रियों का नामोल्लेख जरूरी नहीं है।

नामवर ने शायद ही कभी गलत चीज की प्रशंसा की हो। उनसे मतभेद हो सकते हैं, पर नामवर के उपन्यास-संबंधी अपने तर्क हैं बहुत अंशों में सही। भाषणों-व्याख्यानों और लेखों में उन्होंने जो बातें कहीं हैं, वे पते की हैं। उन पर विचार की आवश्यकता है। 'रचना के क्षेत्र में, उससे ज्यादा-समीक्षकों, चाहे पुस्तक लिखने वाले हों, चाहे आलोचक हों, गलत चीज की दाद देने के कारण. ... लोग उत्साह या सस्ती भावुकता में, या चालू फैशन के चालू दौर में आलोचना की प्रशंसा के चालू शब्दों के द्वारा काम चला रहे हैं। कथा-साहित्य के अंदर रोकथाम यदि इसकी नहीं होती है तो कमजोर रचनाएं आएंगी.... जितनी गहराई से, जितनी महत्वपूर्ण रचनाएं लिखी जा रही हैं, उसके समानान्तर उसकी गहरी और सही आलोचना नहीं हो रही है। विश्वविद्यालय से कोई उम्मीद नहीं है, क्योंकि वे कैनन पढ़ाते हैं। परंपरा पढ़ाते हैं, नई सृजनात्मकता में उनकी दिलचस्पी नहीं है।' (साहित्य की पहचान, 2012, पृ.-234-36)

●

कहानी समीक्षा और नामवर सिंह

बलराज पांडेय

साहित्य की सबसे छोटी विधा कही जाने वाली कहानी समीक्षा की दृष्टि से भी बहुत उपेक्षित रही है। हिंदी में कहानी के विकास के आरंभिक दौर में ही चद्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था' जैसी सशक्त कहानी प्रकाशित हो चुकी थी, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद जैसे बड़े रचनाकार कहानी विधा को समृद्ध कर रहे थे, इसके बावजूद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में 'उसने कहा था' को छोड़कर किसी दूसरी कहानी पर कोई खास चर्चा नहीं की। थोड़ी बहुत चर्चा हुई भी तो कहानी में मनोरंजन को लेकर न कि किसी गंभीर भावाभिव्यक्ति के लिए। हिंदी में कथा साहित्य की आलोचना को महत्व दिया नंददुलारे वाजपेयी और रामविलास शर्मा ने। प्रेमचन्द की रचनाओं की विस्तृत व्याख्या इन दोनों आलोचकों ने पहली बार इस रूप में की कि साहित्य प्रेमियों का ध्यान हिंदी कथा साहित्य की ओर गया। लेकिन यहां भी आलोचकों ने प्रेमचन्द के उपन्यासों के महत्व को ज्यादा समझा, समझाया। कहानी पहले की तरह उपेक्षित रही। आज भी कहानी समीक्षा की किसी बड़ी पुस्तक का नाम यदि हमारे सामने आता है तो वह है नामवर सिंह की 'कहानी : नयी कहानी।' मेरे कहने का आशय यह है कि नामवर सिंह ने 'छोटे मुंह बड़ी बात' कहने वाली कहानी की समीक्षा को हिंदी में पहली बार गंभीरता से लिया। एक साक्षात्कार में अमरकांत ने स्वीकार किया था कि नयी कहानी की समीक्षा के लिए हम कुछ नए कहानीकार इलाहाबद में नामवर सिंह को खाने-पीने की सुविधा के साथ एक कमरे में बंद कर देते थे और वह कमरा तब तक नहीं खुलता था, जब तक नयी कहानी संबंधी समीक्षा पर एक लेख तैयार न हो जाता। लेकिन उसी साक्षात्कार में अमरकांत ने यह भी कहा था कि नयी कहानी के आलोचक के रूप में नामवर सिंह को इस तरह सक्रिय करना हम नए कहानीकारों की एक गलती थी। ताज्जुब की बात तो यह है कि अमरकांत और नामवर सिंह दोनों वामपंथी विचारधारा से जुड़े प्रगतिशील लेखक संघ के पक्षधर थे। अब यह एक सवाल है कि अमरकांत ने जो गलती स्वीकार की है, तो क्या इसलिए कि नामवर सिंह ने नयी कहानी की पहली कृति के रूप में निर्मल वर्मा की कहानी 'परिंदे' को माना?

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी समीक्षा में अपनी लेखनी और वक्तृता से साहित्यिक विवाद पैदा करने में नामवर सिंह का कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं है। आकाशवाणी इलाहाबाद से नयी कहानी की पहली कृति 'परिंदे' शीर्षक लेख जब प्रसारित हुआ, तभी से हिंदी के कथाकारों और समीक्षकों में इस बात को लेकर बहस छिड़ गई कि जिस कहानी संग्रह में प्रगतिशील मूल्यों मान्यताओं की अनदेखी की गई है, उसे पहली कृति के रूप में महत्वपूर्ण घोषित करना, वह भी नामवर सिंह जैसे प्रतिबद्ध मार्क्सवादी

द्वारा, यह कहां तक उचित है? नामवर सिंह से उक्त स्वीकृति के लिए बाद के कई साक्षात्कारों में सवाल किए गए कि शायद वे अपनी स्थापना पर पुनर्विचार करें, लेकिन आज तक वे अपनी पहले की स्थापना पर दृढ़ हैं। नामवर सिंह की नयी कहानी संबंधी उक्त स्थापना के विरोध का अंदाजा आप इसी से लगा सकते हैं कि उनके भाई और प्रख्यात कथाकार काशीनाथ सिंह ने 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी' पर शोध-निर्देशन के दौरान मुझे यह सलाह दी थी कि नामवर सिंह की 'परिंदे' संबंधी स्थापना का विरोध कर अमरकांत की 'डिप्टी कलक्टरी' को नयी कहानी की पहली कृति के रूप में स्थापित करना चाहिए। किसी के लिए यह चौकाने वाली बात होगी कि 'डिप्टी कलक्टरी', 'जिंदगी और जोंक' 'दोपहर का भोजन', 'चीफ की दावत', 'कोसी का घटवार' जैसी सशक्त रचनाओं के बावजूद नामवर सिंह को पसंद आयी तो निर्मल वर्मा की परिंदे। इससे स्पष्ट है कि नामवर सिंह यदि किसी कृति की आलोचना करते हैं तो विचारधारा को हावी नहीं होने देते। उनके लिए कृति महत्वपूर्ण है, उसकी अंतर्वस्तु महत्वपूर्ण है, इसके साथ ही वे रचना के लिए कला पक्ष की भी अनदेखी नहीं करते। लेकिन इतना हम जरूर कहना चाहेंगे कि निर्मल वर्मा की कहानियों में खासकर 'परिंदे' में कलात्मक ऊंचाई भले ही दिख जाए, संवेदना की गहराई भले ही उत्कृष्ट रूप में व्यक्त हुई हो, लेकिन प्रगतिशील विचारधारा कहानी में जिस दलित-शोषित की तलाश करती है, वह 'परिंदे' में नहीं मिलेगा। फिर भी, नामवर सिंह अपने तर्क की ताकत से पाठक को अपनी बात मानने के लिए विवश कर देते हैं। 'परिंदे' के लिए वे लिखते हैं 'पहाड़ के पीछे से आते हुए पक्षियों के झुंड को देखकर' परिंदे की लतिका चलते-चलते सोचती है 'क्या वे सब प्रतीक्षा कर रहे हैं? लेकिन कहां के लिए, हम कहां जाएंगे? देखते-देखते प्रेम की एक कहानी मानव नियति की एक व्यापक कहानी बन जाती है। हम कहां जाएंगे' यह वाक्य सारी कहानी पर अर्थ-गंभीर विषाद की तरह छाया रहता है। नामवर सिंह इसी एक वाक्य 'हम कहां जाएंगे' की अर्थवत्ता को विस्तार देते हुए इसका संबंध चेखव से जोड़ते हैं और कहते हैं कि जैसे चेखव की तमाम कहानियों में यह प्रश्न गूंजता रहता है कि 'हम क्या करें? वैसे ही 'गोया सारा जमाना पूछ रहा है- क्या करें? कहां जाएं? निर्मल वर्मा की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए नामवर सिंह यह भी लिखते हैं कि ''निर्मल ने स्थूल यथार्थ की सीमा पार करने की कोशिश की है, उन्होंने तात्कालिक वर्तमान का अतिक्रमण करना चाहा है, उन्होंने प्रचलित कहानी कला के दायरे से भी बाहर निकलने की कोशिश की है, यहां तक कि शब्द की अभेद्य दीवार को लांघकर शब्द के पहले के 'मौन जगत' में प्रवेश करने का भी प्रयत्न किया है। 'कालातीत कला दृष्टि' से संपन्न निर्मल वर्मा का इस प्रकार से मूल्यांकन क्या नामवर सिंह की आलोचना पर सवाल नहीं उठाता? 'पहल' पत्रिका के लिए कहानी विधा पर सुरेश पांडेय ने नामवर सिंह से एक लंबा साक्षात्कार लेते हुए जब पूछ दिया था कि क्या आप निर्मल पर लिखी अपनी समीक्षा को अपना डेविएशन स्वीकारना चाहेंगे? इस पर नामवर सिंह का जवाब था कि 'निर्मल की कहानियों का अनुभव संसार, जैसा कि सभी जानते हैं, बहुत सीमित है और इस सीमित अनुभव संसार के कारण जाहिर है कि उनकी कहानियों की एक सीमा तो बन ही जाती है।' नामवर सिंह की आलोचना में इस प्रकार का परस्पर विरोधी स्वर आसानी से देखा जा सकता है।

नामवर सिंह को नयी कहानी का आलोचक माना जाता है, जबकि वास्तव में वे हिंदी कहानी की समूची परंपरा को अपनी आलोचना में जगह देते हैं। नामवर सिंह ने जितना लिखा है, उससे

कहीं अधिक देश भर में आयोजित राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय संगोष्ठियों में महत्वपूर्ण व्याख्यान दिए हैं। उनके व्याख्यानों और साक्षात्कारों का पुस्तकाकार प्रकाशन भी हुआ है।

आशीष त्रिपाठी ने फिलहाल आठ खंडों में नामवर सिंह के व्याख्यानों को संकलित-संपादित कर हिंदी साहित्य का बड़ा उपकार किया है। नामवर सिंह की कथा आलोचना को यदि संपूर्णता में जानना हो तो आशीष त्रिपाठी द्वारा संपादित पुस्तक 'प्रेमचन्द और भारतीय समाज' को पढ़ना बहुत जरूरी है। हालांकि 'कहानी : नयी कहानी' में भी प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद और जैनेन्द्र की कहानियों पर अच्छी-खासी चर्चा है, लेकिन 'प्रेमचन्द और भारतीय समाज' में न सिर्फ प्रेमचन्द, बल्कि प्रेमचन्द के बहाने रवीन्द्रनाथ टैगोर, शरच्चन्द्र, बंकिमचंद्र, यू.आर. अनंतमूर्ति, फकीर मोहन सेनापति और पश्चिम के टाल्स्टाय, चेखव, ओ हेनरी, मोपासां की कहानी कला से भी हम परिचित होते हैं। यह 'पुस्तक पगी आंखों' वाले नामवर सिंह की प्रतिभा का ही कमाल है कि हम न सिर्फ हिंदी कथा साहित्य, बल्कि भारतीय कथा साहित्य और उसके परिप्रेक्ष्य में विश्व कथा साहित्य के विषय में भी जानकारी हासिल करते हैं।

हिंदी में आज दलित, स्त्री और आदिवासी विमर्श के बिना कोई रचना या आलोचना महत्वपूर्ण नहीं मानी जाती। नामवर सिंह ने प्रेमचन्द की 'सद्गति, 'ठाकुर का कुआं', 'कफन', 'दूध का दाम' और इनके साथ ही 'पूस की रात' कहानी की विस्तृत समीक्षा की और उनके ये वक्तव्य उस समय आए, जिस समय हिंदी समाज में दलितों, स्त्रियों की स्थिति को लेकर कोई आंदोलन न था, साथ ही साहित्य में भी इन्हें लेकर कोई विमर्श खड़ा नहीं हुआ था। प्रेमचन्द की जिन कहानियों पर हिंदी के पाठकों का कम ध्यान जाता है, नामवरजी ने 'गुल्ली डंडा' और 'पैपूजी' जैसी कहानियों की विस्तृत व्याख्या कर हमें यह सिखाया है कि कहानी को कैसे पढ़ना चाहिए और उसकी समीक्षा के लिए किन बिंदुओं पर ध्यान देना चाहिए। रामविलास शर्मा की प्रेमचन्द संबंधी आलोचना के विकास क्रम में नामवर सिंह ने प्रेमचन्द के संपूर्ण कथा साहित्य का विवेचन करते हुए भारत की आजादी के साथ ही अन्य सामाजिक आंदोलनों के परिप्रेक्ष्य में उसके महत्व को सिद्ध किया और प्रेमचन्द के विरोध में उठने वाली आवाजों को खारिज करते हुए उन्हें टॉल्स्टाय, बाल्जाक और लू शुन जैसे कथाकारों की कतार में स्थापित किया।

अब किसी भी संवेदनशील पाठक और सतर्क समीक्षक के मन में यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि प्रेमचन्द की इतनी समृद्ध कथा परंपरा का आगे चलकर किस रूप में विकास हुआ और कथा समीक्षा ने उसकी सही पहचान की अथवा नहीं। नामवर सिंह 'परिंदे' का मूल्यांकन करते हुए भले ही विवादास्पद हुए, लेकिन हमें यह भी देखना चाहिए कि 'कहानी : नयी कहानी' में नामवर सिंह ने उन कहानियों का भी उल्लेख किया जो गांव के जीवन का यथार्थ प्रस्तुत कर रही थीं। उन्होंने कस्बे और शहर की जिंदगी पर आधारित उन कहानियों के महत्व को रेखांकित किया, जहां निम्न और मध्य वर्ग का आदमी परिवार और समाज की नयी चुनौतियों का समाना कर रहा है। इसके बावजूद नयी कहानी के दौर में कहानीकारों, कहानीकार-समीक्षकों की अपेक्षा आलोचक नामवर सिंह सबसे अधिक विवादों के केंद्र में रहे। मैनेजर पांडेय ने अपनी पुस्तक 'आलोचना की सामाजिकता' में ठीक ही लिखा है कि 'डॉ. नामवर सिंह ने 'कहानी : नयी कहानी' में कहानी-समीक्षा के विकास की जो सार्थक शुरुआत की थी, उसमें नवीनता और ताजगी थी, कहानी की तात्विक आलोचना या

शास्त्रीय समीक्षा से अलग हटकर वस्तुतात्विक विवेचन, संरचनात्मक विश्लेषण और कलात्मक मूल्यांकन का प्रयास भी था। लेकिन उसमें जिस सहयोगी प्रयास और रचना आलोचना संवाद की बात कही गई थी, उसका अंत कटु विवाद में ही हुआ। वैसे विवाद और आलोचक नामवर सिंह लगभग पर्यायवाची प्रतीत होते हैं। उनका शायद ही कोई ऐसा निबंध हो, जिसको लेकर हंगामे के स्तर एक विवाद न हुआ हो। लगता है, नामवर सिंह स्वयं विवाद पैदा करने और बहस करने में पहल भी करते हैं और मजा भी लेते हैं।'

यहां हम यह कहना चाहते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी में प्रेमचन्द की परंपरा का विकास नामवर सिंह ने अपने तरीके से देखा। उनका मानना है कि प्रेमचन्द के कथा साहित्य में गांव के किसान और मजदूर ही नहीं हैं, उनके यहां पर्याप्त मात्रा में मध्य वर्ग भी है, इसलिए नयी कहानी में यदि मध्य वर्ग की समस्याएं जोर-शोर से उठायी गई है, तो इसे भी प्रेमचन्द के कथा साहित्य की विकास परंपरा में ही स्वीकार किया जाना चाहिए। वैसे 'कहानी : नयी कहानी' का अध्ययन करने पर ज्ञात होगा कि नामवर सिंह ने ग्रामजीवन पर आधारित कहानियों को भी अपनी समीक्षा में अपेक्षित महत्व दिया है। यदि वे शिवप्रसाद सिंह, शेखर जोशी, मार्कण्डेय और विद्यासागर नौटियाल की कहानियों की समीक्षा करते हैं तो इसलिए कि इन लेखकों ने आजादी के बाद बदले हुए गांव के लोगों के अतिरिक्त उन कंजड़ों, मुसहरों, हिजड़ों और घुमंतू नर्तकों को अपनी रचनाओं के केंद्र में रखा है, जिनकी ओर पहले के लेखकों का ध्यान नहीं गया था।

नयी कहानी में मध्य वर्ग और निम्न मध्य वर्ग की परिस्थितियों का चित्रण अधिक मात्रा में यदि है तो इसलिए कि प्रायः सभी लेखकों का संबंध मध्य वर्ग से रहा है और चूंकि वे अपनी आंखों से देखी हुई वास्तविकता का चित्रण करना चाहते थे, इसलिए उनकी कहानियों में जीवन के अधिक से अधिक संवेदनशील चित्र उभर कर सामने आए हैं। इसे नयी कहानी की एक उपलब्धि बताते हुए नामवर सिंह लिखते हैं कि 'आज की हिंदी कहानी की उपलब्धियों के सिलसिले में सामान्य रूप से प्रायः यह स्वीकार किया गया कि वह पहले से कहीं ज्यादा संवेदनापूर्ण और नाना स्तर की अनुभूतियों से भरी हुई है, लेकिन संवेदनाओं और अनुभूतियों का चित्रण हवा में नहीं होता है। संवेदनाएं किसी मूर्त मानव-व्यक्ति का आधार लेकर खड़ी होती हैं और एक निश्चित संदर्भ में पैदा होती हैं।'

नामवर सिंह ने भीष्म साहनी, मोहन राकेश, मन्नू भंडारी, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, उषा प्रियंवदा कृष्णा सोबती, फणीश्वरनाथ रेणु, अमरकांत, मुक्तिबोध, श्रीकांत वर्मा, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती की मुख्य कहानियों की विस्तृत आलोचना के द्वारा अच्छी और नयी कहानी को विशिष्ट पहचान दी। न सिर्फ भावबोध के स्तर पर बल्कि शिल्प की दृष्टि से भी नामवर सिंह ने कहानी में हुए परिवर्तन को रेखांकित किया। आम तौर पर आलोचक भाषा और शिल्प के विवेचन में कम दिलचस्पी लेते हैं, लेकिन नामवर सिंह ने नयी कहानी का शास्त्रीय विवेचन न कर उसमें यथार्थ की प्रामाणिक अनुभूति, प्रभाव और संवेदना की तलाश पर बल दिया। उन्होंने नए कहानीकारों की भाषा की ताजगी, नवीन बिंबों की सृष्टि, प्रतीकात्मक और सांकेतिक शब्द योजना को लक्ष्य किया और बताया कि है।

नयी कहानी में कथा वस्तु नाम की चीज अब नहीं रह गई है, बल्कि कथा का या यह कहिए कि कथानक का ह्रास हुआ है। नामवर सिंह लिखते हैं कि 'नया कहानीकार कभी-कभी इतना अंतर्गूढ़

हो जाता है कि आदि से अंत तक केवल एक बात से बातें निकलती चली जाती है और बातों में से बात का यह निकलते जाना ही इतना मनोरंजक होता है कि एक कहानी बन जाती है।' इस प्रकार नामवर सिंह ने कहानी के पुराने 'फार्म' को नकारते हुए भाषिक संरचना और शिल्प विधि में आए नए बदलाव का स्वागत किया। उन्होंने यह स्वीकार किया कि किसी भी विधा में बदलाव हमें पहले 'फार्म' में ही दिखता है।

हिंदी आलोचना में पांच दशक से भी अधिक नामवर सिंह प्रासंगिक बने रहे। इसकी मुख्य वजह यह है कि उन्होंने समकालीन रचना की चुनौतियों को स्वीकार किया। सन् 1960 के बाद कविता में आए बड़े परिवर्तन को लक्ष्य करते हुए जिस तरह उन्होंने धूमिल के साथ ही उनकी पूरी पीढ़ी का स्वागत किया, उसी प्रकार नयी कहानी के बाद सातवें दशक में हिंदी कहानी में आए परिवर्तन को लक्ष्य किया और ज्ञानरंजन की 'फेंस के इधर और उधर', काशीनाथ सिंह की 'सुख', दूधनाथ सिंह की 'रक्तपात', रवीन्द्र कालिया की 'नौ साल छोटी पत्नी' जैसी कहानियों का संवदेना और शिल्प के आधार पर स्वागत किया। इसके साथ ही नामवर सिंह ने अकहानी, समांतर कहानी और जनवादी कहानी के नाम से चलाए गए छोटे-छोटे आंदोलनों को साहस के साथ खारिज किया और कहानी में साहित्यिक मूल्यों को बचाए रखने की वकालत की। हालांकि इस पीढ़ी के मूल्यांकन में भी नामवर सिंह ने अपनी स्थापनाओं में परिवर्तन किया। शुरू-शुरू में उन्होंने लिखा कि ये कहानियां मानव स्थिति और मानव नियति के बड़े प्रश्न उठा रही हैं और वास्तव में भारतीय समाज में हुए मोह भंग की ये कहानियां हैं। बाद में चलकर अपने ही विचारों का खंडन करते हुए उन्होंने कहा कि सातवें दशक के कथाकारों ने अधिकतर कहानियां मानवीय संबंधों और उसमें भी खासकर पारिवारिक संबंधों को केंद्र में रखकर लिखी हैं।

हिंदी में सातवें दशक के बाद कई महत्वपूर्ण कथाकार आए, जिन्होंने 'अनुभववाद' और 'भोगा हुआ यथार्थ' से आगे निकलकर हिंदी कहानी को सार्थक विस्तार दिया। नामवर सिंह ने इस पीढ़ी का भी नोटिस लिया और उदय प्रकाश, स्वयंप्रकाश, असगर वजाहत, संजीव, शिवमूर्ति, मधुसूदन आनंद, मृणाल पांडेय, शशांक, सृंजय से लेकर देवेन्द्र तक की महत्वपूर्ण कहानियों पर बेबाक टिप्पणी की। उन्होंने इस पीढ़ी की विचारधारा की जागरूकता और सतर्कता की तारीफ की, लेकिन सतही इकहरापन लिए राजनीतिक कहानियों का विरोध किया। उन्होंने कहानी में स्मार्ट लेखन का भी विरोध किया और कहा कि 'जब आदमी कोई बड़ी सच्चाई नहीं कहता है तो उसको तो भाषा के चटपटेपन से या चमत्कार से ही भरने की कोशिश करता है और यह दूसरी बात है कि यह चमत्कार उस सतहीपन को बहुत दूर तक छिपा नहीं पाता है।' नामवर सिंह का यह मानना है कि 'जिंदगी का सारा यथार्थ आप एक ही कहानी में ठूंस कर भर दें, तो यह संभव नहीं है।'

यह स्पष्ट है कि हिंदी कहानी को कविता और उपन्यास के समान प्रतिष्ठा दिलाने का श्रेय नामवर सिंह को है। वे कहते हैं कि 'घटना प्रसंग जितना वास्तविक होगा, कहानी उतनी ही जोरदार होगी।' इस प्रकार वे कहानी में यथार्थ की अभिव्यक्ति और संवेदना के महत्व को अंत-अंत तक स्वीकार करने वाले आलोचक हैं और अंत में, 'कहानी : नयी कहानी' में ही उद्धृत ये पंक्तियां कि-

मेरी हिम्मत देखिए, मेरी तबीयत देखिए,
जो सुलझ जाती है गुत्थी फिर से उलझाता हूं मैं। ●

एक निर्मुक्त बौद्धिक ड्रोन

रामशरण जोशी

वाकया जुलाई 2011 का है। शहर है मिनी बॉम्बे यानी इन्दौर। स्थान है चार सितारा होटल- 'दी लेमोन ट्री।' वक्त शाम का है और लघु रसरंजन बैठकी चल रही है। बस हम तीन रसरंजन प्रेमी ही तो हैं -डॉ. नामवर सिंह, मैं और साकी के रोल में सुरेश शर्मा (नामवरजी के परम शिष्य)। जमाने भर की खबरों (राजनीतिक व साहित्यिक) की स्कैनिंग करने के दौरान मैंने एक पत्रकारीय धमाका कर डाला। एक सवाल हठात् मैंने आलोचना की अशोक लाट नामवरजी पर दाग दिया। लाट कुछ विचलित हई, लेकिन खामोशी में डूबी रही। मुझमें बैठा पत्रकार तो खामोश रहनेवाला नहीं था, वह हरकत में आ चुका था। सो, वह सवाल दोहराता रहा। अंततः अशोक लाट में से शब्द फूटे। सवाल सीधा-सपाट था 'नामवरजी, अब आपके पास समय कम है। आप अपना उत्तराधिकारी किसे मानते हैं?' कुछ संकोच के साथ बोलने लगे- 'कोई उत्तराधिकारी दिखाई नहीं देता। विष्णु खरे में कुछ संभावना है लेकिन उसका व्यवहार ठीक नहीं है।' हम दोनों ने भी सहमति में सिरों को हिलाया। दो-एक जामों से गले तर हो चुके थे।

मैंने चर्चा को आगे बढ़ाया। आपके बाद हिंदी की वाचिक परंपरा को वांछित नेतृत्व नहीं मिलेगा। एक प्रकार से संकट पैदा हो जाएगा। मैंने एक गोला और दागा- 'नामवरजी, क्या वजह है कि हिंदी में कोई 'नोम चॉम्स्की' पैदा नहीं हो सका? मैं तो सोचता हूं कि आप इस कमी को पूरा कर सकते थे। अब भी कर सकते हैं।' यह सुन कर नामवरजी मंद-मंद मुस्कराए। लेकिन तत्काल ही उनका चेहरा भाव बंजर बन गया। शायद उन्हें अपनी क्षमताओं-सीमाओं का एहसास होने लगा हो! उनके हाथ से काफी कुछ फिसल चुका है, इसकी पीड़ा सालने लगी हो! उनकी मनःस्थिति को भांप कर मैं चर्चा को नया मोड़ देता हूं। मैंने कहा, 'नामवरजी, आपने तीन-चार पीढ़ियां जी हैं। साहित्य और राजनीति के ज्वार-भाटों को करीब से देखा है। आप स्वयं भी इसके अहम् सहयात्री रहे हैं।'

'वो तो है।' उनके चहरे पर चमक थी। उन्होंने अपने संक्षिप्त वाक्य से अपनी अहमियत को संप्रेषित किया।

'तब क्या यह अच्छा नहीं रहेगा कि आप अपने संस्मरणों को समय रहते रिकार्ड कर दें?'

यह सुनकर आलोचक श्री का मुखमंडल खिल उठता है।मैं समझता हूं वे किसी ऐसे ही सुझाव की प्रतीक्षा में थे। वे तुरंत ही तैयार हो गए।

'यह सुझाव अच्छा है। मेरे पास काफी कुछ कहने को है।' सामने बैठे सुरेश शर्मा की तरफ देखते हुए कहने लगे, 'पंडितजी, आपका कहना सही है। सुरेश मेरे संस्मरणों को रिकॉर्ड करेंगे और

संपादन भी।' सुरेश शर्मा पलक झपकते तैयार हो गए। मैंने एक और आईडिया उछाला, 'नामवरजी, आप हमारे विश्वविद्यालय के कुलाधिपति हैं। राजकिशोर (अथिति लेखक) का कार्यकाल समाप्त हो रहा है। सुरेश शर्मा इन दिनों बेरोजगार हैं। इन्होंने संपादन का काफी काम किया है। यदि आप चाहें तो विभूतिजी से कह कर इन्हें एक वर्ष के लिए अतिथि लेखक बनवा सकते हैं। इसके बाद ये आपके संस्मरण रिकॉर्ड करेंगे और उनका संपादन भी।'

'पंडितजी, आपने सही सुझाव दिया है। मैं विभूति से बात करूंगा।'

'मैं समझता हूं यदि यह कार्य संपन्न हो जाता है तो इसका लाभ हिंदी समाज को मिलेगा। संस्मरणों में प्रामाणिकता रहेगी।' नामवरजी ने सहमति में अपना सर हिलाया। सुरेश शर्मा प्रसन्न और अधिक फुर्ती से अपना रोल निभाने लगे। कुछ रोज के बाद देखा सुरेश शर्मा कामिल बुल्के हॉस्टल में हठात नमूदार थे, और पीछे मुड़ कर नहीं देखा। संस्मरणों का क्या हुआ, नामवरजी जाने या उनके शिष्य! अपने राम गुरु-शिष्य वृत्त से बाहर हो गए।

नामवरजी के संबंध में पहली बार 1970 में काफी सुना था। हालांकि उनका नाम अनसुना नहीं था लेकिन राही मासूम रजा के उपन्यास 'आधा गांव' पर जब जोधपुर में विवाद फूटा तो वे प्रदेश के अखबारों की सुर्खियों में थे। मैं उन दिनों साप्ताहिक पत्रिका 'दिनमान' के लिए जैसलमेर-बाड़मेर का अकाल कवर कर रहा था। इस सिलसिले में जोधपुर आया हुआ था। जोधपुर विश्वविद्यालय और बाहर नामवरजी के नाम का डंका बज रहा था, सर्वत्र उनकी चर्चा थी, मंडन-भंजन -दोनों ही के निशाने पर थे। पूर्णकालिक राजनीति में आने के बाद उनके संबंध में अक्सर सुना करता था। संयोग से उनके शिष्य मेरे मित्र थे। आपसी बातचीत में गुरुजी का नाम न आए, यह तो नामुमकिन था। शिष्य मित्रों की टिप्पणियों के माध्यम से नामवरजी के व्यक्तित्व, व्यवहार और कार्यशैली का अंदाज मुझे हुआ करता था। मैं हिंदी साहित्य का पाठक हूं लेकिन इसका विद्यार्थी कभी नहीं रहा। इसलिए नामवरजी की साहित्यिक शागिर्दगी कभी नहीं कर सका। वैसे गाहे-बगाहे उनकी चलताऊ सोहबत मुझे जरूर नसीब होती रही है, जिसमें साहित्य, संस्कृति, राजनीति जैसे विषय चना-चबेना के तौर पर रसास्वादन के रूप में मिलते रहे हैं। मैंने उनकी आलोचना कृतियों को गंभीरता से देखा हो, यह मैं नहीं कहूंगा। मैंने उनके व्याख्यानों को अनेक मर्तबा सुना है। मैं प्रभावित भी हुआ। उनकी प्रस्तुति विलक्षण रही है। सन्दर्भ संसार अभूतपूर्व है। नामवरजी के व्याख्यानों में ऐसा कुछ रहता है जिससे एक बार तो श्रोता चमत्कृत हो ही जाता है। यह बात अलग है कि हिंदी के औसत श्रोता का संदर्भ संसार सीमित व सिकुड़ा हुआ होता है। जब नामवरजी साहित्येतर विद्वानों को कोट करते हैं, 'इकनोमिक एंड पोलिटिकल वीकली' का हवाला देते हैं, तब श्रोता सोचने लगता होगा- हाय! मैं ऐसा क्यों न हुआ।' लेकिन जो अनुशासनों के घाट-दर घाट घूमते रहते हैं उन्हें नामवरजी में वाक्-रणनीति अधिक झलकती है, न कि विषय, विशेषकर साहित्येतर, का गंभीर तत्व। वे अपने भाषण के अंत में कोई नायाब जुमला ऐसा उछाल देते हैं जो महफिल लूटने के लिए काफी होता है।

लेकिन इसका यह अर्थ भी कतई नहीं है कि वे जो परोसते हैं। वह खोखला होता है। एक दफे पाकिस्तान के प्रसिद्ध कथाकार मरहूम इंतजार हुसैन ने मुझसे नामवरजी की विद्वता के बारे में एक घटना का उल्लेख किया था।इंतजार साहब के मुताबिक डॉ. नामवर सिंह ने अपनी एक लाहौर

यात्रा में बौद्ध धर्म पर भाषण दिया था। उनका भाषण बेजोड़ था। सभी हैरत में थे कि हिंदी के आलोचक होने के बावजूद बौद्ध धर्म पर इतनी पैनी पकड़ है। आधुनिक विमर्श के साथ उन्होंने बौद्ध धर्म का विश्लेषण किया था। मार्क्सवादी आलोचक के लिए ही यह संभव है। लाहौर के विद्वान श्रोताओं की ऐसी प्रतिक्रिया थी। सबसे दिलचस्प बात इंतजार साहब ने यह बतलाई थी कि नामवरजी ने हिंदी और उर्दू की विभाजक सीमाओं को बिलकुल पाट दिया था। किसी को लग ही नहीं रहा था कि वे हिंदी में बोल रहे हैं या उर्दू में!। यह निर्विवाद है कि देश के साहित्येतर विद्वानों के बीच भी नामवरजी पर्याप्त परिचित हैं, गैर हिंदी प्रदेशों में भी। उनकी विद्वता का डंका सुदूर दक्षिण -केरल में भी कम नहीं बजता है। हिंदी विरोध के लिए कुख्यात रहे तमिलनाडु में भी उनका नाम आदर से लिया जाता है। डॉ. सिंह की लोकप्रियता भारत से बाहर के हिंदी प्रेमियों के बीच काफी है, धुर दक्षिणपंथी हिंदी प्रेमी भी उनकी भाषण कला व बौद्धिकता के कायल हैं। हालांकि, बंगलुरु में उन्होंने त्रि-भाषा फार्मूला का विरोध किया था। उन्होंने कहा था कि उनकी मातृ भाषा भोजपुरी है,हिंदी और इंग्लिश भाषाएं अर्जित की हैं। मैंने तब इसका जम कर इस आधार पर विरोध किया था कि आज वे जो भी कुछ हैं सिर्फ हिंदी के कारण हैं। यदि वे भोजपुरी में आलोचना लिखते,भाषण देते तो सिर्फ बिहार व पूर्वी उत्तर प्रदेश में सिमटे रहते। वे हिंदी के महासागर में जीवन भर विचरण करने के बाद आज भोजपुरी के तरनताल में रमना चाहते हैं तो यह आत्मघाती कदम ही होगा और हिंदी के साथ नाइन्साफी। मेरी मातृ भाषा जयपुरी या राजस्थानी है लेकिन मेरा सम्पूर्ण अस्तित्व हिंदी से नत्थी है। इसलिए त्रि-भाषा फार्मूला की संकीर्ण परिभाषा नहीं करनी चाहिए। संयोग से मैं नामवरजी के उक्त व्याख्यान में मौजूद था। मैं यह सब निजी अनुभवों के आधार पर कह रहा हूं।

नामवरजी का जीवन-कैनवास दीर्घ व विस्तृत है। इस पर एक रेखीय चित्र है तो चंचल रेखाओं से बने जटिल चित्र भी हैं। वे स्वयं अपने विचारधारात्मक विचारों की निरंतरता को कब भंग कर दें, उसे तोड़ दें, कोई विश्वासपूर्वक नहीं कह सकता। नामवरजी की उलटबांसियां चर्चा, हैरत और विवाद का मुद्दा बन जाती हैं; वाम मार्ग-मध्य मार्ग-दक्षिण मार्ग में सुविधापूर्वक आवा-जाही होती रहती है। उनकी इस प्रवृत्ति को जटिल कहें या 'प्लेयिंग टू गैलरी' कहें, समझ से परे है! कई दफे वे एक ही महीने में चंदेक व्यक्तियों को 'कबीर','लोर्का' 'मुक्तिबोध' घोषित करते रहे हैं। उनके लिए पहलेवाला व्यक्ति 'कबीर' था, या वो व्यक्ति जिसे ताजा-ताजा 'कबीर' घोषित किया है! ऐसी घटनाएं उनके कैनवास पर गदला रंग बिखेर देती हैं। दरबारी-जुगाडू उनके इर्द-गिर्द जामा होने लगते हैं, बेभाव; कबीर-लोर्का लूटने के लिए रसरंजन की झड़ी लगा देते हैं। रसरंजन का पर्दा गिरने के बाद ये जुगाडू उनकी गैरमौजूदगी में शिखर आलोचक पर फब्तियां कसने लगते हैं, उन्हें उपहास का पात्र बना डालते हैं। उनके कृपण पॉकेट का महिमा-गान किया जाता है। इस मामले में उनके समकालीन आलोचक, लेखक, प्रलेस के सहकर्मी मित्रगण कंजूसी से काम नहीं लेंगे। अगर इसकी तस्दीक चाहिए तो डॉ. निर्मला जैन, राजेंद्र यादव, डॉ. कमला प्रसाद (अब दोनों भूलोक से पलायन कर चुके हैं।) जैसों की आत्मीय सोहबत नसीब होनी चाहिए। वैसे नामवरजी की व्यवहार शैली में सरसरी ताक-झांक करनी है तो निर्मलाजी की आत्माकथा- 'जमाने में हम' की सोहबत काफी होगी।

संबंधों के निर्वाह में नामवरजी पटु हैं। देश में उनका एक विशाल शिष्य संप्रदाय है। शायद ही कोई ऐसा हिंदी विभाग या विश्वविद्यालय मिले जहां उनके शिष्य नहीं हों। अब तो सेवानिवृत्त

भी हो चुके हैं लेकिन नयी उम्र की नयी फसल में भी उनके चाहनेवालों की कमी नहीं है। बल्कि युवा आलोचक उन पर आज भी फिदा हैं और उनके व्याख्यानों को जहां-तहां से बटोरना, उनका संपादन करना और पुस्तकबद्ध करना अपना साहित्यिक कर्त्तव्य समझते हैं।यह सही है कि नामवरजी ने अपने चहेते शिष्यों को कम उपकृत नहीं किया है। जहां संभव हुआ उन्हें विभागों में चिपकवा दिया। यह अलग बात है कि इस धक्कमपेल में कोयले भी हीरे बन गए, मीडियाकर खूब फले-फूले।

जैसा कि मैं कह चुका हूं कि नामवरजी की यारी-दोस्ती ऐसे लोगों के साथ भी खूब जमती है जो उनके कटु आलोचक हैं, लेकिन उनकी अपनी एक हैसियत है : कवि -आलोचक अशोक वाजपेयी ने नामवरजी की वैचारिक अस्थिरता को लेकर कई मर्तबा औपचारिक आलोचना की है। लेकिन, नामवरजी उनकी हिमायत में खड़े भी हो जाते हैं। एक निजी अनुभव है।

घटना 2000 की है। उन दिनों मैं माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय से संबद्ध था। एक तीन दिवसीय संगोष्ठी की समाप्ति के पश्चात अशोक लेक व्यू होटल में सांध्यकालीन रसरंजन का आयोजन किया गया। इसमें शामिल हुए डॉ. नामवर सिंह, श्रीलाल शुक्ल, केदारनाथ सिंह, कमला प्रसाद, राजेश जोशी, राजेंद्र शर्मा आदि। वि.वि. की तरफ से मुझे मेजबान का रोल अदा करना था। साकी की भूमिका में थे राजेंद्र शर्मा। शाम सात बजे रसरंजन का दौर शुरू होता है। होटल के एक कमरे के एक कोने में शुक्लजी व केदारजी बैठे हुए हैं, कमरे के मध्य में दीवार से सटे नामवरजी जमे हुए हैं और उनके बगलगीर हैं राजेश जोशी व कमांडर कमलाजी। दो एक दौर खत्म होने के बाद श्रीलालजी बोले 'जोशीजी, आज आपका क्रोध वाकई सात्विक और उचित था।'

'आपने हस्तक्षेप करके सही किया।' केदारजी व्यंग्यश्री के सुर में सुर मिलाते हैं।

'इसीलिए मैंने जोशीजी के क्रोध को सात्विक कहा था। इनका न कोई आग्रह है, न पूर्वाग्रह।' नामवरजी अपने अनौपचारिक सदर पद से बोलते हैं। वैसे ऐसी बज्म की सदारत नामवरजी ही करेंगे, ऐसा हम सभी मानकर चलते हैं। उनके तेवरों को ध्यान में रखकर बैठकी का रंग जमता-उतरता रहता है

'नामवरजी, अशोकजी मीडिया की चीराफाड़ी कर रहे हैं। पहले अपने विश्वविद्यालय (महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय) को तो ठीक कर लें!.' कमलाजी ने चर्चा में नया मोड़ जोड़ा।

'कमला, तुम ठीक कह रहे हो। हिंदी विश्वविद्यालय की दुर्गति बना रखी है।' नामवरजी ने इसमें ईंधन डाल दिया। इसके बाद तो श्रीलाल शुक्ल, केदारजी, राजेश जोशी सहित सभी इस निंदा कुंड के चारों ओर और अशोकजी को लेकर 'कुरु-कुरु स्वाहा' शुरू हो गया। मैं भी यह कहते हुए समिधा डाल रहा हूं,' अगर अशोकजी इतने नाकारा कुलपति हैं तो आप सभी लोग एक ज्ञापन तैयार करें। इस ज्ञापन पर आप लोगों के साथ-साथ देश के सभी हिंदी साहित्यकारों-विद्वानों के हस्ताक्षर रहें। इसमें कुलपति को तत्काल हटाने की मांग रखीं जाय। इसे मानव संसाधन मंत्री डॉ. जोशी को सौंप दें या विजिटर राष्ट्रपति के पास भेज दें।'

मेरी इस बात का समर्थन कमलाजी, राजेश जोशी, राजेन्द्र शर्मा आदि ने किया लेकिन, बज्म में मौजूद हिंदी के दिग्गज सिरजनहार शोकसंतप्त हो गए। हम लोगों के बीच सन्नाटा पसर गया।

'मैं क्या करूं? मेरे तो हाथ कटे हुए हैं। मैंने ही अशोक का इस पद पर चयन करवाया था।

मैं ही उन्हें हटाने की मांग करता हूं तो देश में क्या संदेश जाएगा?' नामवरजी के इस धर्मसंकट के कारण हम लोगों के बीच एक बार फिर से खामोशी पसर गयी। इन बड़का लोगों को छोड़ हम जूनियर एक-दूसरे का मुंह ताकने लगे। मैंने फिर से बज्म की खामोशी को तोड़ने की कोशिश की,' ऐसा करते हैं नामवरजी, ज्ञापन का विचार छोड़ते हैं। इसके स्थान पर एक सामान्य वक्तव्य जारी करते हैं जिसमें अशोकजी का नाम लिए बगैर सरकार से विश्वविद्यालय में सुधार करने की पुरजोर मांग की जाए।'

'अरे भाई, परोक्ष रूप से निशाने पर अशोक ही होंगे ना!' नामवरजी ने फिर अपनी नैतिक लाचारी जाहिर की। केदारजी, शुक्लजी जैसे दिग्गजों ने भी आलोचक श्री की संगत में ही अपनी सुरक्षा देखी। इसे कहते हैं डॉ. नामवर सिंह! वे चाहते तो अशोक वाजपेयीजी के विरुद्ध हिंदी जगत को खड़ा कर सकते थे लेकिन उन्होंने हिंदी रक्षा के स्थान पर अपनी मित्रता की रक्षा को प्राथमिकता दी, लोकवृत्त के बजाय निजीवृत्त में अधिक रमे। शायद इसीलिए नामवरजी जे.एन.यू. में ही प्रतिरोध के अक्षय योद्धा नोम चॉम्स्की के अनुशासित श्रोता की भूमिका में ही अपने लोकवृत्त की खोज में मगन रहते रहे हों! नामवरजी अपने जीवनकाल में ही 'वाचिक परंपरा के आधुनिक लीजेंड' हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

●

नामवरजी के कंट्रीवाइड क्लास रूम से : तनिक नोट्स

गौतम सान्याल

1. दिशा-वंदन

(अर्थात् किसी भी तंत्रक्रिया के पहले दिशाओं को बांधना या वश में करना जो कि जरूरी होता है।)

अयमारंभरू शुभाय भवतु

हे उत्तर-पश्चिम दिशा के गंधवाह, मरुत-रुख, जगत्प्राण--

हे नामवरजी के अनर्थक-अनर्गल तर्क-वितर्कोपरि, विरोधियों के उत्स-पुंज,

हे बात-बेबात के वाद-विवाद के संवाददाता, हे उड़-उड़ाओ के महादेव,

हे गुटबंदी के गण-मेघारि,

हे हिंदी चिकाईबाजी के घूर्णावर्तों के शीर्ष पर नाचते खर-पातों के वहंत,

हे हिंदी प्रकंपन-प्रभंजन के संभरण,

आज तुम मंद-मंद बहना, कोई बात निकल जाये तो उसे हवा न देना, उसे हवा-हवाई न कर देना, मतलब हवाओं को हवाएं लगा न देना!

हे उत्तर-पूर्व दिगंश के वाम-वाम-वाम दिशा समय-साम्यवादी,

हे वामपंथ के चौकड़ीघर के द्वारपाल अविचल, हे साम्यवाद के ठेकेदार सकल,

हे अंर्तविरोधों के ईशसखा (कुबेर), हे आजादी के बाद के भारतीय संसद के मात्र संख्यावाची उपस्थिति!

हे बातों के पक्ककेश-निष्क्रिय गणदेवों, हे मुहल्ले की समस्या को इंटरनेशनल बना देने वाले कथावाचको के हारमोनियम,

हे ईशान, हे मटियामसान, हे तिर्यक,

आज तुम वाचाहीन रहना, और हो सके तो वामपंथ को थोड़ी देर के लिए पार्टी ऑफिस से बाहर टहलने के लिए छोड़ देना, खुली धूप में, जनता के बीच--

हे नैऋत, मैं बुद्धिक्षेत्र से तुम्हें नमन करता हूं। कृपा दृष्टि बनाए रखना!

हे धनेश वित्तगोप्ता ऐलविल, तुम ही तो हिंदी साहित्य के तिलक-टीका, पदक-तमगा, पगड़ी-बिल्ला, शाल-दुशाला, शील्ड-विल्ड, रिवार्ड-अवार्ड के उत्सर्जक हो दाता हे दयामय।

तुम ही तो इस 'अतितृतीय' हिंदी देश की गरीबभाषा के लेखकों के सहाय हो कि हिंदी की कोलोनियल मनीषा के वायसराय हो, हे कृपामय!

तुम अपने ऑक्टोपसी हाथों को समेटे रहना, मुझे सच को सच-सच कहने देना, कुछ दे-दिलाकर टरका न देना!

और अंततः, सारे मंत्रोच्चारणों के विलीन हो जाने के बाद,

मंत्रों के आवाहन के समस्त पॉलिटिक्स-पॉलिमिक्स के अस्तगत अर्थात् छू-मंतर अर्थात् चुक जाने के बाद,

हे अग्निकोणाधिपति, हे दक्षिण-पश्चिम के सत्य की ज्ञानदीप्ति-- आज तुम हर क्षण मेरे साथ रहना, मुझमें समाविष्ट रहना,

हे अंकति-अंचति-अंजन-अगिन-अगिया हे अर्चिष्मान, हे अर्क-अतिश-शिखी-शेखावत-पवि हे समिध--

हे समस्त सतही स्तुति-प्रशंसा के उदर्चि, हे समस्त निंदा के हर्विभोजी--

आज मुझे नामवरजी के बारे में 'अपने निजी' को बेबाक व्यक्त करने देना, हे अग्निदिव्य तुम मेरे साथ रहना--

हे यज्ञबाहु हे स्वाहाप्रिय, मैं स्वयं को तुम्हें समर्पित करता हूं!

2. इत्तिफाक की सीख

`Like many of the Upper class
He liked the sound of Broken Glass!'
Helaire Belloc (1870-1953) `About John (1930)' से उद्धृत

अंकुर फिल्म के अंतिम दृश्य को देखकर मैं जैसे बिदक-सा गया था। उसमें हुआ क्या था कि भीड़ ने जमींदार के मकान को घेर लिया था। अचानक एक बच्चे ने पत्थर उठाया और खिड़की का शीशा फोड़ दिया। फिल्मी उसी दृश्य में, अर्थात् चटखते हुए शीशे में, एक ही झटके के साथ खत्म हो गई। मुझे याद है कि खूब चिढ़कर मैंने, श्याम बेनेगल को रजिस्टर्ड डाक से एक लंबा-सा खत भेजा था, विथ ए. डी. कार्ड। कार्ड तो प्राप्ति सूचना के साथ लौट आया मगर उधर से कोई प्रतिक्रिया नहीं आई।

मुझे याद है कि मैंने ऐसा ही कुछ लिखा था,-- एक बेहतरीन फिल्म को इस तरह सेंसेटाइज्ड झटके में खत्म कर देने का आपका, क्या अधिकार बनता है? जिस फिल्म को देखते हुए दर्शकों के मन में आप ही ने विप्लव की व्याकुलता भर दी थी, आप ही ने उसका सनसनीखेज खात्मा कर दिया? आप ही स्वयं उसके अंतक बने? अब तो यही होगा कि आपका मध्यवर्गीय प्रेक्षक घर जाकर निश्चिंत बैठ जायेगा कि चलो, विप्लव तो हो गया, कम से कम उस फिल्म में उस बच्चे ने तो कर दिया! वह राहत की सांस लेगा और विप्लव के बारे में नहीं सोचेगा, अब वह सिर्फ फिल्मों की तकनीक और मेकिंग पर बातें करेगा।... यह कौन-सा 'चीनी खेल' है कि आप तिलतिल कर एक विलक्षण औ क्रांतिकारी, चीनी की प्रतिमा गढ़ लो और बाद में उसपर चींटियों की फौज दौड़ा दो! इत्यादि-इत्यादि।

इसके कई वर्षों बाद, श्याम बेनेगल टी.वी. (दूरदर्शन चैनल) पर इंटरव्यू दे रहे थे। वे निशांत फिल्म की मेकिंग पर बोल रहे थे। अचानक वे कैमरे की तरफ घूमे और कैमरे की इनर आई को देखते हुए बोले-- मेरे कुछ क्रिटिक को अंकुर फिल्म का अंतिम दृश्य पसंद नहीं आया। उनसे मैं इतना कहना चाहूंगा कि किसी फिल्म में हजार बातें होती हैं। उनमें से किसी एक बात को चुनकर किसी फिल्म के बारे में निर्णय लेना ठीक नहीं है। हमें फिल्म को समग्रता के साथ देखना चाहिए. ....उस लाइव इंटरव्यू को देखते हुए मैं जैसे अचानक घबरा-सा गया। मुझे लगा कि कैमरे के माध्यम

से श्याम बेनेगल मुझे साफ-साफ देख पा रहे हैं और मुझसे ही बातें कर रहे हैं, सिर्फ मुझसे। जैसे मेरी चोरी (किसी बच्चे की) पकड़ ली गई हो, मैं डर गया।

इसका नतीजा बहुत अच्छा निकला। मैं फिल्मों पर गंभीरता से पढ़ने लगा। मैंने तभी तय कर लिया था कि फिल्मों पर छिटपुट नहीं लिखूंगा और हिंदी फिल्मों के बेसिक्स पर कोई किताब इकट्ठे ही लिखूंगा। वह किताब लगभग तैयार होने को है। थैंक्स टू दैट बचकाना लेटरवाली हरकत एंड थैंक्स टू दैट इत्तिफाक की सीख जो चाबुक-सी उस इंटरव्यु से लहराई थी। (इसी उपक्रम में अंश पांच देखें)

ये तुक्के के तीर भी अजब होते हैं-- कहीं न कहीं जाकर तो लगते ही हैं। लेकिन जब कहीं गहरे लग जाते हैं तो लक्ष्य, घात, असर और तीरंदाजी के बारे में सोच का बवंडर खड़ा हो जाता हैं। बात निकलती है और दूर तलक चली जाती है।

3. नामवरजी : एक

तमाम जिंदगी मैं नामवरजी से तकरीबन 24-25 बार मिला, उनमें से भी 18-19 बार सभा-सम्मेलन की अफरा-तफरी में, कथास्थिति की दृष्टि से देखें इन सान्निध्यों को दो भागों में बांटा जा सकता है-- जब नामवरजी हुजूम में बेहद अकेले और इसके ठीक विपरीत, अकेले में अपने भीतर एक अंतहीन प्रोक्तियों के हुजूम समोये मुझे मिले। जाहिर है कि इस आलेख की मंशा दूसरी तरफ के सान्निध्यों की तरफ जाने की हैं; लेकिन पहले प्रकार को ठीक से समझे बिना परले तरफ के दरवज्जे भी खुल न सकेंगे। अतएव अर्ज है, जैसे कोई मुकम्मल सी गजल हो और जो हमबिस्तर जाने को हो-- अंतहीन और भीषण एकाकीपन की पाजेब पहने।

सभा-सम्मेलनों की अफरा-तफरी में नामवरजी सदैव बुद्धिमान स्तावकों या भजगोविन्दन्मों, नजर उतारनेवाले आशंसी कुशीलवों व तीन-पांच से काम निकाल लेने वाले चारण-भाटों, स्तोता-तोताओं या आलोच्य विषय के अकस्मात् बन गए विशेषज्ञों इत्यादि से आबद्ध या घेराबंद मिले।

उन घेराबंदियों के डीफिकेशन (देवत्व का प्रत्यारोपण) से मैं कभी उद्वेलित, विचलित, भग्नव्रत या नापायदार न हुआ। वजह साफ थी। यह तो हिंदी में भारतेन्दु-युग से चला आ रहा था। किसी को सूरज बना दो और बाकी समकालीन सृजन का सौर-मंडल बना डालो-- जैसे कि भारतेन्दु मंडल या उपन्यास सम्राट प्रेमचंद! शिखरों की परिकल्पना व निर्माण का यह वायरस आचार्य शुक्ल हिंदी मनीषा में ले आए थे, उन्होंने हिंदी साहित्य का इतिहास में इसकी पक्की व्यवस्था कर ली थी-- एक को चैंपियन बना दो और बाकी को फुटकल खाते में रखकर उसके इर्द-गिर्द घुमाते रहो। हिंदी की फलिभूत कोलोनियल मनीषा अपनी परंपरा निभा रही थी, इसमें विचलित होने को क्या था? मुझे नहीं लगता कि नामवरजी के इस स्टारडम से नामवरजी तनिक भी प्रभावित होते रहे।

इस हुजूम के अतिचार को बर्दाश्त करते हुए वरंच नामवरजी के चेहरे पर किसी प्रशांत महासागर को निःशब्द हहराते हुए देखा-- उस प्रशांत महासागर जिसमें सबसे गहरे गह्वर और सबसे ऊंचे पहाड़ थे, जलमग्न और कूटबद्ध। इस हुजूम की प्रतिक्रिया में मैंने कभी नामवरजी के चेहरे पर विरक्ति, वितृष्णा या अनिच्छा की कोई शिकन तक नहीं देखी-- उल्टे मुझे लगा कि मुंह में पान या खैनी दबाये, मंद-मंद मुस्कुराते हुए हूं-हां करते हुए वे इसे जैसे एनज्वाय कर रहे हों-- ठीक जैसे वासुदेव कृष्ण नारायणी-सेना को पाकर कौरवों की उल्लासित और उत्सवी बर्छियों को वे देख थे। ऐन

मौके पर चश्मे के भीतर से उन की जो तिर्यक दृष्टि तलवार-सी झलकती, वह तो द लास्ट समुराई (फिल्म- कुरोसोवा) के पास थी। और उस मुस्कान का तो कहना ही क्या, वह तो अतलस्पर्शी और विद्युतीय होती। डी.एल. राय कृत चंद्रगुप्त में चाणक्य से मित्र कात्यायन कहता है-- चाणक्य! तुम्हारी मुस्कान, तुम्हारे क्रोध से भयंकर है! यह मुस्कान वैसी ही थी।

लेकिन उस हुजूम के कोहराम से उठती और देशभर में गूंजती अफवाह तब मुझे अवश्य विचलित कर देती रही, बहुत गहरे। यह कि वे हिंदी आलोचना के श्लाका- पुरुष है और यह भी कि वे आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्दों के पाणिनी है और तीसरा जयघोष तो पराकाष्ठा पर कोई कथकली-मुद्रा ही थी--वे न होते तो हिंदी मनीषा में वामपंथ पनप ही नहीं पाता। यह जयघोष उतना ही अर्थहीन था जैसे कोई कहे कि कार्ल मार्क्स पैदा नहीं होता तो विश्व मनीषा में मार्क्सवाद प्रतिष्ठित ही नहीं हो पाता!

चौथी जयकारा तो सबसे अचभौन, अजगुत और उद्‌भट थी-- लोग बताते है कि नामवरजी जब मंच पर तन्मय होकर बोलते है तो मंच इंद्रजाल से भर जाता है-- कभी-कभार उनके पीछे से कोई रश्मि-वलय फुटकर उभरता है (जो कैलेंडर में देवताओं के पीछे दिखाई देता है) जिसकी इंद्रधनुषी छटा निराली होती है। मैं नहीं जानता कि नामवरजी इस रश्मि-वलय के बारे में कितना जानते है या इसे कितना रेलिश करते थे, मगर इतना निश्चित जानता हूं कि तन्मय बोलते हुए यदा-कदा पीछे पलटकर देखते हुए अगर वो अचानक इस रश्मि-वलय को देख जाते तो चकराकर, मूर्च्छित होकर गिर पड़ते, उनके मुंह से हे राम ही निकल पड़ता। सचमुच, इस देश की राजनीति में गांधीजी और हिंदी आलोचना में नामवरजी पर देवत्व आरोपित करते हुए हमने उनका ऐसा बेहतरीन दुरुपयोग किया है कि कहते नहीं बनता है!

मैंने मंच पर नामवरजी को मंच पर बोलते हुए तन्मय होकर सुना है। मुझे वह रश्मि - वलय कभी नहीं देखा क्योंकि यह वहां कभी थी ही नहीं। लेकिन मुझे जो दिखा, उन्हें शब्दों में बयां करना मुश्किल है। कदाचित् इस आलेख को लिखने की तीन प्रबल-आकुलताओं में पहले का राज उसी रहस्यमय-अवलोकन में निहित है। इन अतार्किक - विसंगतिपूर्ण परिदृश्यों में मुझे जो दिखा, उसके लिए चाहे कोई मुझे कुछ भी कह लें, जो मुझे दिखा-- उसे तो कहना ही पड़ेगा

मुझे दिन के आलोक में (Looking with a lantern in daylight for an honest man) डायजिनेस द सिनोपे (430-320 B.C.) दिखा जो उस आदमी की खोज में था जिसके पास कदाचित् ज्ञान का सत्य और सत्य का ज्ञान था और जिसके लिए उसने गृहस्थी की समस्त सुविधाओं (कामफोर्ट) का त्याग कर दिया था-- जिसकी लालटेन तो दिपदिपा तो रही थी मगर बूझी नहीं थी।

अक्सर मुझे सन् 1958 के लंदन के एक चर्च के बगीचे में, उस कोने वाली बेंच में चुपचाप बैठा हुआ कार्ल मार्क्स दिखा, मार्क्स, जिसे जीवन भर की वीभत्स आर्थिक तंगहाली से मात्र कुछ दिनों के लिए अभी-अभी राहत मिली थी और अभी-अभी जिसने द कैपिटल के पहले खंड की पांडुलिपि पूरी कर ली थी-- कि जिसे चर्च के घंटे की ध्वनि और वहां आते-जाते लोगों को दूर से चुपचाप देखना खूब पसंद था-- कि अभी-अभी उसके हर-संभव पागलपन में जिंदगी भर साथ देने वाली उसकी प्रियतमा पत्नी जेनी वैन वेस्टफैलेन (जो खुद बेहद बीमार थी) आनेवाली थी और ठंड से जकड़ गए, कार्ल मार्क्स चुपचाप उठाकर घर ले जाने वाली थी।

ये वही दिन थे जब मार्क्स ने सीरियसली किसी भी प्रकार की नौकरी कर लेने का लगभग निर्णय ले लिया-- उसने इंगलैंड की मामूली-सी रेल-कंपनी में निम्नतर क्लर्की के लिए एप्लाइ भी किया था-- लेकिन उसे नौकरी इसलिए न मिल सकी क्योंकि उसकी हैंडराइटिंग बेहद खराब थी और आवेदन पत्र पर यह कमेंट लिखकर उसे रिजेक्ट कर दिया गया था-- यह पढ़ने लायक नहीं है! कभी-कभार मैं सोचता हूं कि नामवरजी को उन्हीं प्रारंभिक दिनों में किसी जातिवादी इंटर कॉलेज में नौकरी मिल गई होती और उन्होंने प्रदीर्घ गर्दिश के दिन नहीं देखे होते, तो 'कविता के नए प्रतिमान' और 'कहानी : नई कहानी' का क्या होता! नामवरजी की हैंडराइटिंग तो ठीक-ठाक थी मगर हिंदी प्रगतिशील आलोचना की वस्तुस्थितियां टेढ़ी-मेढ़ी और खराब थी-- बोलने को बीज-शब्द नहीं थे, विश्लेषण करने को धरातल नहीं था-- एक विचित्र-सी इगोइस्ट पार्टीलाइन वाली अराजकता थी जो कि पार्थेनियम की तरह चतुर्दिक उगी हुई थी।

मुझे नामवरजी के पीछे कभी कोई रश्मि-वलय नहीं दिखा-- दिखा तो कलकत्ते के कॉलेज स्ट्रीट की फुटपाथी, पुराने किताबों की दूकानों के सामने उकडू बैठा हुआ वह युवक दिखा, जो अपने मैले-कुचले कुर्ते की जेब में खनकाते हुए रेजगारी गिन रहा था और उस दुकानदार (वहा भी फटेहाल) को ऐसे देख रहा था जैसे कि वह कोई रीतिकालीन दरबारी कवि हो और वह अपने आश्रयदाता को ताक रहा हो। वैभव और आर्थिक स्वच्छंदता व मोहर प्राप्ति का वहां प्रश्न नहीं था-- बात इतनी सी थी कि उस युवक को वह सेकेंडहैंड चिंदी सी पुस्तक चाहिए ही चाहिए थी।

लेकिन मेरे भीतर का भूतनाथ (सीरियसली) मार्मिक और करुणा से आप्लूत वह कार्टून भी देख गया कि कैसे दो फटेहाल एक-दूसरे को ठगने की तैय्यारी में मशगूल थे-- कि मार्क्स के इस बहुचर्चित श्लोगन का वस्तुतः मर्मार्थ क्या था कि दुनिया के फटेहालों, अब एक हो जाओ। इसका उत्तर देते हुए कि क्यों भाई क्यों? यह ठगने की वैश्विक महा-भाई बंदी की Reciprocity (परस्पूरकता) नहीं थी तो और क्या थी! कोई इसे मात्र कार्टून समझ ले तो मैं क्या कर सकता हूं? कहते है न, जो लोग कार्टून को ठीक-ठीक नहीं समझते, वे ही कार्टून के किरदार होते है। मैं तो एक गंभीर बात रख रहा हूं-- जिस साठोत्तर हिंदी की प्रोन्नत प्रगतिशील आलोचना की राजगद्दी पर बैठे हुए हम इन दिनों लंबी-लंबी हांक रहे हैं, उसकी बुनियाद जिन लोगों ने अपने अमानुषिक श्रम, अटूट लगन और विरल भविष्यदर्शिता से बनाई, उनकी वस्तुतः वस्तुस्थितियां क्या और कैसी थी।

मैंने नामवरजी के पीछे से उगती हुए किन्हीं नैसर्गिक और जादुई अलौकिक सिद्धियों को कभी नहीं देखा-- मैंने देखा भी तो गांव के प्रत्यंत में चुपचाप और अकेले कुंआ खोदते हुए पीपली लाइव फिल्म का वह किसान दिखा-- संवाददाताओं आते-जाते बरास्ते, बारबार नाम पूछे जाने पर उसने एक भी शब्द नहीं कहा, एकबार उसने यों ही कह दिया कि मेरा नाम होरी है, और दूसरे दिन, वह उन्हीं मिट्टियों से दबकर मर गया, जिन्हें खोदकर वह सतह पर रख चुका था। उसकी सारी जमीनें बिक गई थी और वह दैनिक दिहाड़ी का मजदूर बन चुका था-- फिर भी वह गांव के लिए कुँआ खोद रहा था ताकि गांव वालों का जाति-धर्म-वर्ण निर्विशेष, शुद्ध पेयजल मिल सके।

मैंने ओल्डमैन एंड द सी के उस बूढ़े नाविक को देखा जो समुद्र की तरफ पीठ किए जाल बुन रहा था और बुनते हुए यदाकदा वह पास के पड़े हुए उस महा-मछली के स्केलिटन को मुस्कुराते हुए देख लिया करता था। मैंने कौटिल्य को कभी-कभार अर्थशास्त्र की पांडुलिपि के हाशिए पर

कवितायें लिखते हुए देखा।

मैंने किसी नाजिम हिकमत को जेलखाने से चिट्ठियां लिखते हुए देखा जो अपने अति प्रिय भाई (काशीनाथ सिंह) को इस आशय से खत लिख रहा था कि वह किसी तरह एक जोड़ा दस्ताने बुनकर भेज दे-- कि अकेलेपन की ठिठुरती कोठरी में उसके हाथ जैसे जम गए हैं और वह कुछ भी लिख नहीं पा रहा है।

मैंने ब्लादीमीर कोरेलेंको की लंबी-कविता अंधा संगीतज्ञ के उस वायलिन वादक को देखा जो किसी ट्रैफिक आइलैंड पर वायलीन बजा रहा था और जो किसी भी सूरत में नीरो नहीं था-- जो बीच-बीच में आइलैंड पर खड़े होकर किसी दक्ष ट्रैफिक-पुलिस की तरह ट्रैफिक की अराजकता को सम्पूर्ण नियंत्रण में ले लेता था-- क्योंकि वह अक्सर कहा करता था कि मेरे सुरों या कंपोजिशन में प्रकाश है और शायद, इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है-- जिसका ठीक-ठीक अर्थ लोग, तब भी लगा नहीं पाते थे।

अब नामवरजी इन बातों को पॉलिमिक्स बनाकर उड़ा दें कि यह सब गौतम का पर्सनल है और पर्सनल इज पॉलिमिक्स-- तो मैं क्या कर सकता हूं! मैं तब भी क्या कर सकता हूं कि नामवरजी, विभ्रम व यथार्थ के बीच में कायदे से और (विभ्रम और यथार्थ : कॉडवेल) को जोड़ नहीं पाए-- ये तो उनका प्रेरोगेटिव है।

यह सच है कि नामवरजी के कंधों के पीछे से उचक्कते मुझे ऐसे ही परिदृश्य, चरित्र, मुनहसिर वाकये या मौकूफ (व्यक्त या छोड़े हुए) दिखे-- जब हुजूम वे बेहद अकेले, अपने अनंत एकाकीपन में विह्वल लेकिन किसी ऋषि की तरह एकाग्रचित्त ध्यानमग्न, अपने परिपार्श्व से पूर्णतया विच्छिन्न दिखे। उनमें दो-तीन का तनिक जिक्र आगे प्रस्तुत है :

4. नामवरजी : दो

नामवरजी से पहली बार मैं 1 सितम्बर 1989 में मिला जब वे वर्द्धमान विश्वविद्यालय के रिफ्रेशर कोर्स के उद्घाटन के लिए आए थे। मुझे याद है कि यहीं पर उन्होंने रिफ्रेशर कोर्स के लिए हिंदी प्रतिशब्द पुर्ननवा-पाठ्यक्रम दिया था जो कि मुझे आज भी समुचित प्रतीत होता है। तत्कालीन अध्यक्ष श्रीनारायण पाण्डेय (जो नामवरजी के बेहद आत्मज थे) और डॉ. मोहन ने रिफ्रेशर कोर्स की तमाम क्लर्कीवाला काम मुझे सौंप रखा था और इसी निमित्त मुझे देशबंधु कॉलेज (चित्तरंजन, आसनसोल) से बुला लिया गया था।

उनका उद्घाटन व बीज-भाषण मुझे सामान्य-सा ही लगा-- कंपोज्ड, टाइपसेटेड और ठीक-ठाक। याद आता है कि उसी बीज-भाषण में उन्होंने रिफ्रेशर कोर्स के लिए पुनर्नवा-पाठ्यक्रम जैसा हिंदी-प्रतिशब्द दिया जो आज भी मुझे तर्क-संगत और समुचित प्रतीत होता है।

दूसरी सुबह मुझे परमानंदजी (श्रीवास्तव) को रेलवे स्टेशन से गेस्टहाउस ले आना था। स्व. परमानंदजी वर्द्धमान विश्वविद्यालय में डेढ़-वर्ष पढ़ाकर सद्य गोरखपुर चले गए थे, प्रोफेसर बनने के लिए। उनकी बड़ी इच्छा थी कि मैं उनके अंडर में पी-एच.डी. करूं और स्वयं हाथों से लिखकर वे पी-एच.डी. की प्रस्तावित-रूपरेखा को (डांट-डपटकर साइन करवाकर) जमा भी कर चुके थे-- 'साठोत्तर हिंदी-बांग्ला कहानियों की सामाजिक चेतना का तुलनात्मक अध्ययन।' यह पी-एच.डी. के निमित्त मेरी तीसरी मन्नत थी जो दुहागन व बेवा ही साबित हुई। परमानंदजी के गोरखपुर चले जाने पर,

मेरे न्युरोसिस (मनोविकार) को ठीक-ठीक कहना चाहूं तो मुझे कनुप्रिया (धर्मवीर भारती) को उद्धृत करना पड़ेगा,-- तुम तो तीर की तरह निकल गये मनु, मैं कांपती रह गई प्रत्यंचा की तरह!

ट्रेन देर से आई। हम गेस्टहाउस पहुंचे तो नामवरजी का व्याख्यान शुरू होने में पंद्रह मिनट रह गए थे। परमानंदजी रिक्शे से कूदकर बाथरूम में घुस गए और बिना नहाए, पांच मिनट में ही गमछे से सर पोंछते बाहर निकल आये-- चलो-चलो, देर हो गई है! वे इतने व्यग्र थे जैसे कि हम टाइगर-हिल्स (दार्जिलिंग) में सूर्योदय देखने जा रहे हों और पन्द्रह-बीस मिनट की देर होने पर, नैसर्गिक जैसा कुछ छूट जानेवाला हो। नाटे कद के परमानंदजी मुझसे भी डबल कदम भरते हुए आगे-आगे दौड़ते चले जा रहे थे, उनका सुविख्यात ढीलमढोल पैजामा गोल-गोल फूलकर लहर रहा था जैसे वे दोनों पैरों में घाघरा या बैलबॉटम-सा कुछ पहने हुए हों। मैं उनके शिशुवत अकुलाहन को ताकते हतवाक था। नामवरजी के व्याख्यान में क्या होता है कि जिसे पाने के लिए, हिंदी का एक प्रतिष्ठित (तब तक) आलोचक बाछीवत फुदकता हुआ दौड़ रहा है?

सच तो यह है कि नामवरजी के व्याख्यान से मैं उस दिन भी प्रभावित (इंप्रेस्ड) नहीं हुआ। वे आदिकाल की उद्भुतियों पर बोल रहे थे। सच-सच कहूं तो वह व्याख्यान मुझे वर्गाकृत-चौकोर चतुष्कोणीय लगा- टिपिकल सूचनाप्रद, ब्रीडेड प्राध्यापकीय, एड्रेस्सड टू स्टुडेंट्स नोट्स और एमबॉडेड पंडिताई वाला। लगा कि नामवरजी के खोल (कामत) में डॉ. नगेन्द्र बोल रहे हों!

मेरे भीतर का भूतनाथ अकुलाया, मेरा इगो खजुआने लगा। मैं लगभग पैरानोइक डिल्युजन ऑफ ग्रैंजर की स्थिति (अपनी उपस्थिति बलात् जाहिर करने की अपचेष्टा या स्वयं को भी महान व महत्वपूर्ण समझ लेने का विभ्रम) तक पहुंच गया। प्रश्न-सत्र के दौरान मैंने ताबड़-तोड़ सात-आठ प्रश्न पूछ डाले। नामवरजी ने स्थिर-आंखों से मुझे देखते हुए कहा-- कल इस पर बातें करेंगे। उनकी आंखों में वही पथराई द्युति थी जो रौंदा के थिंकर (प्रस्तरमूर्ति) की आंखों में थी-- या वे वास्देव कृष्ण की आंखें थी जिसकी आद्रता में अर्जुन का अपना सारा व्यक्तित्व, बारिश की तेज धार में जैसे कागज की नांव की भांति लुसलुस, मटियामसान हो गया था।

'कल' हड़कौंप की तरह आया। आदतन देर रात सोने के कारण मैं बेसुध नींद में था कि भोर-भिनसारे, तीन-चार रिफ्रेशिए मुझे हिलाकर जगाने लगे,-- उठिये गौतमजी, आपको नामवरजी बुला रहे हैं, नीचे खड़े हैं। हड़बड़ाकर मैंने गेस्टहाउस के बरामदे से नीचे झांका-- नामवरजी ने हथेली को फोल्ड करते हुए अजीब ढंग से बुलाया जैसे कोई, किसी बच्चे को कुछ (मिठाई-सा) देने के लिए चुपचाप बुला रहा हो। लेकिन यह बुलावा आजीवन मेरे लिए अत्यंत महंगा पड़ा। बंगाल में कहावत आम है कि रात को जब बच्चे सोते है तो निशि नाम की डाकिन, किसी अत्यंत परिचित की आवाज में, बच्चों को किसी अनजाने प्रेतलोक में बुलाए लिए चली जाती है, बच्चे पूरी तरह सम्मोहित उसके पीछे-पीछे चले जाते हैं जैसे वंशीवादक हैमलिन के पीछे-पीछे चूहे। अव्वल तो बच्चे लौटते ही नहीं हैं, लौटते भी हैं तो मंदधी (बुद्धिहीन) होकर। मैं आंखों में कीचड़ लिए बिना मुंह धोए, नीचे की ओर दौड़ा और उनके साथ-साथ (गर्व से मेरा सीना फटा जा रहा था) हो लिया।

मिनटों में खरगोश और कछुए की रेसारेसी की स्थिति पैदा हो गई। एक किलोमीटर के भीतर ही मैं तो बेदम हो गया। अनभिज्ञ बताते हैं कि नामवरजी आजीवन बिना नागा अलस्सुबह टहला करते रहे हैं, लेकिन भिज्ञ मुझसे सहमत होंगे कि वे टहलते नहीं बल्कि दौड़ते रहे हैं।

लगभग 45 मिनट बाद नामवरजी एपीयर हुए, पसीने से तर-बतर, इस बार वे भी तनिक हांफ रहे थे। इंप्रेशन जमाने के लिए (संभवतः मार्क ट्वेन की किसी उक्ति का हवाला देते हुए) प्रश्न ठोंक दिया-- खरगोश सदैव इतना तेज क्यों दौड़ता है? उसका मन कछुए की तरह निरुद्विग्न, जितव्याकुल और बेगम क्यों नहीं होता? उन्होंने जवाब में एक विलक्षण आप्तवाक्य सुनाया जिसे गुनकर-धुनकर मैं तो हतवाक् होकर रह गया। उन्होंने कहा-- Hound is chasing a rabbit, the rabbit chasing what/He is chasing freedom....शिकारी कुत्ता खरगोश के पीछे दौड़ रहा है। सवाल यह है कि खरगोश किसके पीछे दौड़ रहा है? वह आजादी के पीछे दौड़ रहा है, वह स्वतंत्रता को प्राणपन छूने की कोशिश कर रहा है, उसकी विद्युतकीय-गति, उसका दाएं-बाएं मुड़ना.....सारा प्रयत्न आजादी को छूने के लिए है।

पच्चीस वर्ष बाद, फैज अहमद फैज पर एक लंबा आलेख लिखते हुए जिसके एपिसेंटर (अभिकेंद्र) पर फैज की स्वतंत्रता-चेतना को रखते हुए मैंने बहुतेरा याद करने की कोशिश की थी कि यह किसकी उक्ति है-- आज याद आता है कि 2 सितंबर 1989 में सुबह यह, नामवरजी ने मुझसे कहा था।

5. नामवरजी तीन : लुसिएं गोल्डमैन और सीख की सटकार

बहरहाल उसी दिन, इसके बाद जो हुआ, मैं तो सातवें आसमान की कमानी ही पकड़कर झुलने लगा। नामवरजी ने थोड़ी देर बाद उनके कमरे में बुलाया और साथ में नाश्ता करने को कहा। बिना मुंह धोए इतना स्वादिष्ट नाश्ता कभी नहीं किया था।

अब मैं उस बात को रखना चाहूंगा कि जैसे कहने के लिए मैं आलेख के इस अंश को रेखांकित कर रहा हूं-- जिसका प्रभाव दूरगामी था और जिसके संदर्भ लगभग ढाई दशक बाद फैलने वाले थे-- तब जाकर नामवरजी के बारे में मेरी चंदेक 'निजी राय' बनी।

नामवरजी घंटे भर मुझसे सस्नेह बातें करते रहे। उन्होंने विस्तार से पूछा कि मैं क्या-क्या पढ़ चुका हूं और क्या-कुछ पढ़ने की मेरी परिकल्पना है, और लिखने की भी। बात उपन्यासों के प्रकार-भेद पर आ टिकी। मैंने बताया कि आंचलिक उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास, राजनीतिक उपन्यासों की परंपरित अवधारणाओं को अब बदलना ही होगा क्योंकि इसी बीच, विदेशों में अनेक नई मुकम्मल स्थापनाएं बन गई हैं। नामवरजी बड़े चाव से मुझे सुनते रहे।

याद आता है कि उसी दौरान मैंने लुसिएं गोल्डमैन का दो-तीन बार नाम ले लिया-- आज जान गया हूं कि नामवरजी को इंप्रेस्ड करने की मेरी वह बचकानी कोशिश कितनी हास्यास्पद थी। सच्चाई तो यह थी कि उन दिनों, मैंने लुसिएं गोल्डमैन के बारे में डेढ़-दो पृष्ठ ही पढ़ रखा था और मैं उसी के बल पर फुदक रहा था। नामवरजी लुसिएं गोल्डमैन की किताबों के बारे में ऐसे पूछ रहे थे जैसे कि वे भी पढ़ना चाहते हों। मैं दांभिक सुखदा और शानदार विभ्रम से आप्लावित होता रहा कि नामवरजी गोल्डमैन के बारे में मुझसे कितना कम जानते हैं!

लेकिन सीख की चाबुक की सटकार तो वर्षों बाद लगी (उसी तरह जैसे श्याम बेनेगल के प्रसंग में लगी थी)। 'वसुधा' का नामवर सिंह केन्द्रित अंक (54), सन् 2002 में प्रकाशित हुआ जिसे मैंने दो-तीन वर्ष बाद देखा-पढ़ा। उसमें लुसिएं गोल्डमैन पर नामवरजी के चार आलेख (सुधीर रंजन सिंह के सौजन्य से प्राप्त) थे। इसी बीच मैं भी, क्या कहते हैं कि तनिक गोल्डमैन, विशेषज्ञ बन गया

था। मैंने गोल्डमैन पर बाहर के पचासों बहुचर्चित आलेख पढ़ लिए थे।

मैं सच कहता हूं और बेहिचक घोषणा करता हूं कि उन पचासों आलेखों में (विश्व प्रसिद्ध समीक्षकों के) में एक भी ऐसा नहीं था कि जो इन चार आलेखों के कद का या आस-पास का था-- इतना प्रांजल-बोधगम्य, सूचनाप्रद और साथ ही चिंताप्रद भी! ये आलेख सूचना के साथ-साथ गोल्डमैन के बारे में अनेक अभिचिंताओं की असंख्य नई-नई खिड़कियां खोलते थे और गोल्डमैन का अतिक्रम कर नवीन चिंताओं का आमंत्रण देते थे। सबसे हैरानी की बात तो यह थी कि ये विधिवत् आलेख भी नहीं थे बल्कि क्लासरूम लेक्चर्स थे जो नामवरजी ने मात्र क्लास लेने बनाएं थे। पढ़कर मुझे ऐसा लगा कि गोल्डमैन के बारे में गंभीर चिंतन का कलश मेरे भीतर परिपूर्ण हुआ। यह सोच कर कि मैं अपनी ही चुल्लू में कूद मरता हूं कि जो उन्हीं दिनों गोल्डमैन के बारे में इतनी जानकारी रखता था, वह मुझसे खोद-खोदकर गोल्डमैन की ृऔर पुस्तकों' के बारे में मुझसे क्यों पूछ रहा है।

मुझे वर्षों बाद समझ में आया ये सीख की सटकार ही थी। सीख की सटकार थी कि किसी व्यक्ति को पढ़ने का सही-सही अर्थ क्या होता है, उसकी सही-सही दिशा क्या होती है-- सचमुच 'अनपढ़ता या अनभिज्ञता' स्वयं में दोष नहीं होती बल्कि कुपढ़ता भीषण घातक होती है-- इन आलेखों को अब भी जब मैं (गोल्डमैन को पढ़ाने के लिए) उलटता-पुलटता हूं तो नामवरजी का वही मुस्कुराता हुआ चेहरा उससे झांकता है जिस मुस्कान के बारे में कात्यायन ने चाणक्य से कहा था-- तुम्हारे क्रोध से तुम्हारा मुस्कान भयंकर है और अर्थवह भी।

नामवरजी के कंट्रीवाइड क्लासरूम के स्पोक्सपर्सन के रूप में-- यहां बस इतना कहना है कि ऐसी निःशब्द फटकार और चाबुक की सटकार से उन्होंने देशभर के कितने बेलगाम बैलों को नाथ दिया, पटरी से उतरी हुयी कितनी दिक्भ्रांत गाड़ियों को पुनः पटरी पर चढ़ा दिया-- इसे जेनुआइट क्लासरूम वाले क्या समझ और जान पायेंगे! उनकी नामवर-प्राप्ति तो रूटिनी और पुरोहिती थी-- रोज-रोज ज्ञान के सक्षात् दर्शन हो जाने से भक्ति का स्टैंडर्ड (Criterion) , Guage or Canon) को तो गिरना ही गिरना ही था! समुद्र तट पर जिन लोगों ने घर ही बना लिया हो-- वे समुद्र दर्शन की शौकिंग महिमा को क्या महसूस सकेंगे? चांद पर चढ़े बैठे हुए चंद्र-मानुषों को ठीक से क्या चांदनी दिखाई भी देगी?

अंततः अति संक्षेप में यह प्रक्षेप जोड़ना चाहूंगा कि नामवरजी पर बायोपिक बनाने का या उनकी जीवनी लिखने का कॉपीराइट कंट्रीवाइड शिष्यों के पास जाना चाहिए जैसे कि गुरु द्रोण के महत्व और विश्लेषण का कॉपीराइट एकलव्यों या परशुराम का कॉपीराइट कर्ण को जाना चाहिए; जेनुआइटों को नहीं, भले ही वहां सुधीश पचौरी, पुरुषोत्तम अग्रवाल या रामबक्ष जैसे धुरंधर-धर्नुधर शामिलात हों-- क्योंकि वे मात्र 'गुरु परिचई कौ अंग' को ठीक-ठाक लिख सकेंगे, वे 'गुरु-ज्ञान कौ अंग' व 'सतगुरु कौन अंग' लिखने जाएंगे तो उन्हें दिक्कत होगी-- और ऐसा नामवरजी की नितदिन 'सहज-प्राप्ति' के कारण हो जाएगा। सीधी-सी बात है कि 'मिथक' तो वही गढ़ सकेगा जो मिथक के बाहर हो, पाठ तो वही गढ़ सकेगा जो पाठ के भीतर आबद्ध न हो।

6. नामवरजी पुनश्चः : पिता-पिता संभाव : 'गोटा' न मिला

यह टिपिकल बिहारी प्रतिशब्द (गोटा) भले ही लोगों को चिहुंका दे, यह गोटा-कंसेप्ट लेकिन किसी गुरुवत् या पितृवत् के साथ हमारे अंर्तबंधों को दूर तक व्याख्यायित कर जाता है और हमें

भी-- जैसे कि Claim of Intimacy, प्राप्ति और प्रत्याशा का लेखा-जोखा, आदान और प्रतिदान की मनस्वतात्विक दशा-दिशायें इत्यादि। यह सच है जीवन हमें कोई वस्तु या व्यक्ति गोटा नहीं मिलता, इसी का तो रोना-धोना आजीवन चलता रहता है।

सन् 1973 में पिताजी से जो मेरा महाकाव्यिक-झगड़ा शुरू हुआ था वह हम दोनों के बीच में कभी नहीं था, बल्कि दोनों की छोर में अपनी-अपनी दुर्दमनीय स्थितियां या रस्साकशीं की मूठो से जुड़ा हुआ था-- वे प्योर सामंतवादी थे और मैं घोर साम्यवादी बल्कि काना-कम्युनिष्ट-- बतर्ज बिहारीलाल कि अपने-अपने विरद की , दुहुं निबाहन लाज! वे टिपिकल मिडिल क्लास सद्-ब्राहण, अति-पुरोहित और बंगाली थे और मैं चिड़िमार अति-म्लेच्छ विश्व-नागरिक अलबेरुनी जैसा-कुछ-- नतीजन मैंने घर (यानी घर का आराम) छोड़ दिया।

पिताश्री से मेरे बिलगाव के पीछे लेकिन साम्यवाद बनाम सामंतवाद नहीं था क्योंकि ये वस्तुस्थितियां तो ऊपर से प्रत्यारोपित थीं-- कोई बात थी तो वह विशेष प्रकार की बाल-सुलभ मनोवांछा, तमन्ना या इश्तियाक थी जो मेरे मन के प्रत्यंत में सदैव बरकरार रही और यही चीज, हमारे सम्बन्धों की समस्त व्याप्तियों और स्थितियों को नियंत्रित करती थी-- जैसे Claim of Intimacy, प्राप्ति और प्रत्याशा का लेखा-जोखा, आदान और प्रतिदान का अंकगणित आदि।

सीधी-सी बात है आजीवन पिताश्री मुझे गोटा (संपूर्णतया) कभी नहीं मिले। चूंकि हम कुल सात भाई-बहन थे, मुझे सदैव पिताश्री का एक बटा सात ही मिला। जीवनभर को खंगालता हूं तो याद आता है कि एक ही बार मुझे वे गोटा मिले थे, तब पिताश्री की पोस्टिंग गया (बिहार) में हुई थी और जब वे एक बार ऑफिसिएल इंसपेक्शन के तहत चतरा (हजारीबाग) गए तो साथ में हम यानी मां और मैं ही था।

कोई मुझे चाहे दार्शनिक ढंग से कुछ भी समझाने का प्रयत्न करे-- किसी को भी जीवन में सबकुछ नहीं मिलता, अर्थात् सारा जहां नहीं मिलता, किसी को जमीं नहीं मिलती तो किसी को आसमां नहीं मिलता-- तो मैं भी पलट बर्नाड शॉ की उक्ति को उसके मुंह पर चिपका सकता हूं कि-- There are two tragedies in life (one is to lose your heart's desire, other is to gain it और इससे भी बात नहीं बनी तो मुझे रवीन्द्रनाथ का आश्रय लेना पड़ेगा-- Life's aspirations come in the guise (के बहाने या रूप में) of children- और जिंदगी को समझने के लिए हमें इन शैशवाकांक्षाओं की गमक-दमक-चमक को गहराई से समझना ही होगा।

बिल्कुल यही सूरते-हाल नामवरजी के साथ भी बना रहा-- जब नामवरजी के बारे में अपने निजी को व्यक्त करने चला हूं। नामवरजी की गोटा-प्राप्ति भी मुश्किल से मुनासिब हुई। जब भी नामवरजी मिले-- एक बटा चौदह, एक बटा सौ, एक बटा तीन सौ (पूर्ण प्रेक्षागृह में, करतल ध्वनि से घिरे हुए)-- टुकड़े-टुकड़े, छिन्न-छिन्न, अंश-अंश, बखरा-पुर्जा, खंड-खंड, कटपीस में।

आखिरकार, मैंने भी दोनों से इसका बदला निकाल लिया। मेरी पहली पुस्तक (व्यंग्य : पी. जी. भौजी को प्रणाम) मैंने किसी को अकेले समर्पित नहीं की, दोनों को एक बटा दो समर्पित किया। दूसरी पुस्तक (कथालोचन : हिंदी कहानी में अनुपस्थित) भी मैंने दोनों में बांट दी-- लो पाओ मुझे आधा-आधा!

7. वर्तमान का बायोपिक क्षण : कॉपीराइट कंट्रीवाइड

'Every great man nowadays has his disciples and it is always Judas who writes the biography-' Oscar Wild: Intensions: The Critic asArtist (1891)

ऑस्कर वाइल्ड की उपर्युक्त उक्ति सपाट सी प्रतीत होती हैं। लेकिन उसके दिशाफलक व अभिसंकेत अत्यंत गहन व चौंकाऊ हैं। गऊ रूपी शिष्यों को गुरू का इतिवृत्त नहीं लिखना चाहिए, यह तो स्पष्ट है। ईसा मसीह और सीजर के इतिवृत्त क्रमशः जुडास और ब्रुटस को लिखना चाहिए। क्योंकि उच्चतर इतिवृत्त लिखने के लिए खास प्रकार की निष्ठुरता (Brutality) चाहिए। ब्रुट शब्द का फ्रेंच Origin है-- Raw या Rough। लेकिन इसका विचलन (Derivative) अत्यंत उद्धरणीय या मार्के का है-- ऑक्सफोर्ड थिसारस के अनुसार यह-- Without any attempt to disguise unpleasantness है। लेकिन ये बातें तो सामान्य-समझ की है। बातें यहां से खुलती हैं और दूर तलक चली जाती हैं।

जीसस और सीजर के क्रमशः सलीबीकरण और मृत्यु के प्रसंग को गौर से जांचें-परखें तो आप पायेंगे कि इन प्रसंगों के ऐतिहासिक क्षणों का नियंत्रण जुडास अपितु सीजर के पास है। प्रश्न ऑथर की ऑथोरिटी का है, प्रश्न है कि बायोपिक बनाने की ऑथोरिटि किसके पास है?

मेरी सदैव से यह मान्यता रही है कि रामायण व रामकथा लिखने की ऑथोरिटि तुलसीदास (भक्त) के पास नहीं थी। यह ऑथोरिटि सीता के पास थी जिसने राम को सवस्त्र और निर्वस्त्र, पासंग-निःसंग और अनेक प्रकार के सत्संग में करीब से देखा था। उसने राम को रावण-जय-भय (राम की शक्तिपूजा) से कांपते और हुजूम में सदंभ दहाड़ते हुए देखा था, ऋषि-मुनियों और अनेक प्रकार की भीड़ में और एकाकीपन में देखा था। रामकथा लिखने की कुछ-कुछ ऑथोरिटि वाल्मीकि के पास थी क्योंकि वही पाठ के बाहर था और भीतर (एक चरित्र के रूप में) भी। रामकथा लिखने की टुकड़े-टुकड़े ऑथोरिटि विभीषण, शंबूक, शबरी और अहिल्या के पास थी। राम ने शबरी के बेर ही खाए थे या वह किसी राजनयिक का फोटोसेशन था? अतएव कहना चाहूंगा कि जुडास ईसा-मसीह के विपरीत (विश्वासघाती) नहीं था बल्कि रहस्य बस इतना है कि उसे ईसा का विपरीत दिख गया था।

इसी उपक्रम में आखिरी निवेदन यह है कि वही शिष्य गुरु की जीवनी लिखे या उसका बायोपिक गढ़े जिसकी मुट्ठियों में व्यतीत (गुरु-संग) का वह क्षण हो जिसमें उस प्रसंग का भविष्य निहित हो। इस बात को तनिक खोलने की आवश्यकता है।

शरतचंद्र ने 'गृहदाह' (उपन्यास) में लिखा है,-- पहले से समझ में नहीं आता, इसीलिए तो वह भविष्य कहलाता है। मैंने किसी कविता (संभवतः एमिली डिकेंसन की) पढ़ा है,-- कभी-कभी भवितव्य, व्यतीत की आंखें खोल देता है और वर्तमान के लिए वही सबसे निजी व विलक्षण होता है। भविष्यवादी (फ्युचरिस्ट) साहित्य या फिल्मों नाभिकीय आप्तवाक्य कदाचित् यही है।

यह जो वर्तमान का विलक्षण क्षण है यह स्वयं में अभूतपूर्व और विरल होता है जिससे व्यतीत कुछ न कुछ ग्रहण करते हुए अपने मर्मार्थ को बदल लेता है और इसमें अनागत भी कुछ न कुछ जोड़ जाता है। मैं नहीं जानता कि ऐसा क्योंकर हो जाता है लेकिन जब ऐसा हो जाता है-- स्मृतियों, व्यतीत और प्रसंगों के बारे में फिर से सोचना पड़ जाता है।

मैं अनेकदा कहता आया हूं कि स्मृतियां सदैव किसी न किसी प्रसंग को खोजती हैं और प्रसंग

कोई न कोई आकृति या आकार-- प्रश्न है कि उन हवालों और हुलियाओं के पीछे क्या और कौन डोलता है? लेकिन एक बात तयशुदा है-- आकृति जब किसी न किसी घटित के सही-सही दरवज्जे पर दस्तक देती है, तो वह विलक्षण क्षण उद्‌भुत होता है। एक हाथ बाहर से दस्तक देता है, एक हाथ भीतर से कुंडी खोल देता है-- तब बातों की घर वापसी गजब के गजक की सौंध व स्वाद देती है, लगता है कि अभी-अभी बनी है। यह निजता का दायरा भी स्वयं में युत् और अद्‌भुत होता है जहां निजस्वता बारंबार परास्त और पस्त हो जाती है और अपरता राज करती है।

अतएव छोटे-बड़े, श्रद्धा-वर्धा-स्पर्धा या अपेक्षित-अनपेक्षित का प्रश्न नहीं है,-- सबसे बड़ी बात है कि एक लेखक को एक लेखक के नजरिये से देखना जो कि अक्सर हिंदी में हो नहीं पाता। यह प्रतिप्रश्न भी नचिकेता-सा अपितु करुणा और अंतर्नादवी है कि हिंदी में हम बारंबार किसी आलोचक, कवि, कथाकार, संस्मरणकार, निबंधकार, नाटककार इत्यादि-इत्यादि की नजर से/में-को ही क्यों देखते है? हम एक लेखक की नजर से किसी लेखक को क्यों नहीं देखते? अगर हम सहजता से स्वीकार लें कि नामवरजी, डॉ. मैनेजर पाण्डेय, डॉ. रामविलास शर्मा आदि प्रथमतः और अंततः लेखक हैं, तो बातें दूर तक दुरुस्त हो जाती है।

8. नामवरजी चार : टुकड़े-टुकड़े

तारीख 23-25 मार्च 2006, स्थान हैदराबाद विश्वविद्यालय। हेतु प्रेमचंद की परंपरा पर सेमिनार।

सुबह-सुबह (साढ़े चार बजे) मेरी चातक दृष्टि-नजर लगी गुरु के बंगले पर। फिर जंगल में दो घंटे का ज्ञानोत्सव। अध्ययन के निमित्त तथ्य-कथ्य-पथ्य-सत्य-सत्व-तत्व की मुसलसल बारिश। बांधो-बांधो किरणें चेतन, लूटो-लूटो हे तमज्जीवन। नतीजा? सन् 2012 में किताब-- कथालोचन के नये प्रतिमान। त्वदीयं वस्तु गुरुवरम्, तुभ्यमेय सर्मपयेत्।

गोटा प्राप्ति के वे तीन दिन-- अविस्मरणीय, अमिट, अविनश्वर।

19 मार्च 2012

कृपाशंकर चौबे (कलकत्ता) के यहां से निकलते देर हो गई। यहां से मेदिनीपुर में जाना है। उन्हें व्याख्यान देना है, जनकवि नागार्जुन पर। बिना खाए-पिये हम चले जा रहे हैं। साथ में विजय कुमार भारती। दोनों शर्मिंदा और परेशान। नामवरजी अविचल-- 'कहीं रुकना नहीं है, सीधे चले चलो। वहां लोग प्रतीक्षा कर रहे होंगे।' तीन बजे दोपहर को पहुंचे। बिना कुछ खाए-पिए नामवरजी सीधे मंच पर।

यहां से आसनसोल जाना है। यानी साढ़े पांच घंटे की यात्रा और। नामवरजी अविचल। छः दशक पहले की कलकत्ता प्रवास के किस्से। हम बच्चों से देर से खुले तो ज्वार-भाटा अविराम। हमलोग पस्त-निरस्त, नामवरजी एकदम दुरुस्त-- अरे, एक दिन नहीं खाया तो क्या हुआ? दूसरे दिन सभागृह में ग्यारह सौ लोग। नामवरजी खुश-- बोला था न, किसी को प्रतीक्षा कराया तो धोखा मत दो।

21 मार्च 2012

नामवरजी मेरे वर्द्धमान वाले क्वार्टर पर। संध्या ने दरवाजा खोला तो वाचारुद्ध, साथ में आशीष त्रिपाठी। बोले-- यहीं दो रोटी खाऊंगा। घर की बनी दही है? फिर संगीत की महफिल सजी। दो-ढाई घंटे में उन्हें व्याख्यान देने जाना था। नामवरजी निर्विकार। पलथी जमाए रवीन्द्र संगीत सुनते रहे।

आशीष त्रिपाठी पर झल्लाए-- ठीक से रेकॉर्डिंग भी नहीं कर पाते? दिल्ली लौटकर पत्नी संध्या को फोन किया-- तुम्हारा गाना पूरी प्लेन यात्रा में सुनता रहा, जीती रहो।

बचपन से अनाथ संध्या की सीधी बात-- तुम्हारा हिंदी साहित्य-वाहित्य भाड़ में जाए, बाप हो तो ऐसा ही होना चाहिए!

20 फरवरी 2015

विश्व पुस्तक मेला में मेरी पुस्तक का पहला लोकार्पण (इसके पहले किसी किताब का मैंने लोकार्पण नहीं करवाया था)-- आख्यानशास्त्र (Narratology) का। सुबह पता चला कि तबीयत तनिक खराब है। मैंने ही उन्हें आने को मना किया था। मैं मेला प्रांगण में, फोन आया-- तैयार बैठा हूं, कोई ले तो जाये। पत्नी की कार रास्ते में थी, कहा कि उन्हें ले आएं। संध्या को देखकर खुश हो गए। चित्तरंजन पार्क में बंगालियों के पुराने सांस्कृतिक केंद्र दिखाते रहे, सबसे पुराने मिठाइयों के दुकाने भी, फिर, रास्ते भर कार में पत्नी से अपना पसंदीदा रवीन्द्र संगीत सुनते रहे-- रवीन्द्रनाथ के गहन मृत्युबोध के गीत। आखिरी गीत पर तो रो ही पड़े। भांजे ने चुपके से तस्वीर ले ली।

मंच पर मेरी किताब पर बोले तो मंच पर उपस्थित विद्वज्जन डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, डॉ. नित्यानंद तिवारी, संजीव, प्रेम जनमेजय सभी अवाक-- इतने इमोशनल होकर तो किसी के बारे में नहीं बोलते।

खैर, प्रगति मैदान के गेट तक छोड़ने गया। मैंने कृतार्थ होकर कुछ कहना चाहा तो रोककर बोले-- यह सब संध्या के लिए था। वह रवीन्द्र संगीत का मर्म समझकर गाती है। देखना, उसका रियाज न छूटे।

नामवरजी को एक बार भड़कते हुए देखा। स्थान धनबाद, बिहार। याद आता है कि अरुण दा (कमल) साथ में। मामला गंभीर था-- तीनों लेखक संघ को एक सूत्र में पिरोने का प्रयत्न। विषय पहले से पता न था। नामवरजी ने मंच पर बुला लिया-- पहले तुम बोलो! मैं तैयार न था, अगड़म-बगड़म 15 मिनट बोल आया। नामवरजी ने भस्म कर देने वाली दृष्टि से देखा और एक दीर्घ श्वास छोड़ा। मुझे सुनाई दिया-- धुस्स्स!

फिर वातावरण अभिनंदन और गुणकीर्तन का बनता गया, नामवरजी का पारा तेज। याद आता है कुल जमा 17 दुशाले ओढ़ाए गए, वे मुझे थमाते गए, मैं गट्ठर बांध रहा था। फिर 21 अटरम्-पटरम् किताबों का लोकार्पण। निपटे तो कुर्सी में धम्म से बैठते हुए नामवरजी ने वही दीर्घ श्वास छोड़ा। मुझे सुनाई दिया-- धुस्स्स!

वापस गेस्टहाउस, किताबों और दुशाले का गट्ठर थामें मैं साथ में। कमरे में घुसने लगा तो उन्होंने डांट दिया-- बाहर रहो। मैं सर झुकाए, बरामदे में। घंटे भर बाद निकले। राजधानी एक्सप्रेस, वापस दिल्ली की यात्रा। किताबों का गट्ठर मुझे थमाया-- इसे छात्रों में बांट देना, कहना कि कुछ लिखें उन पर। अभ्यास होगा। स्टेशन पर चरण छूने को हुआ-- सर, वह दुशालेवाला गट्ठर? नामवरजी ने वही दीर्घश्वास छोड़ा-- धुस्स्स!

●

नामवरी आलोचना वाया कत्था गुने चूना

रामाज्ञा शशिधर

मुझे याद है। बेगूसराय का दिनकर भवन। खचाखच भीड़। दिनकर प्रतिमा अनावरण के बाद के व्याख्यान की पहली पंक्ति थी- दिनकर की वाणी में ही दिनकर के बारे में कहा जा सकता है। फिर घंटे भर के सधे व्याख्यान में दिनकर की वाणी में नामवरजी बोलते रहे और पूरे जनपद के जन-अभिजन मुग्ध होकर सुनते रहे। पूरा भाषण नामवरजी के इस मशहूर कथन 'वे धन्य हैं जो अमर होने के लिए लिखते हैं, मैं तो मर मर कर बोलना चाहता हूं' को पुष्ट करते हुए। वह पूरा भाषण मेरे माध्यम से बिहार के दैनिक हिंदुस्तान में छपा। वह भाषण अब तक दिनकर पर लिखित वाचिक समस्त विचारों से भिन्न नवाचार है। पीठगुरु नामवरजी नब्बे के हो गए। मुझमें यह कहने की सामर्थ्य नहीं कि नामवर की भाषा में ही नामवर पर लिखा जा सकता है। हां, पूरी हिंदी मनीषा के लिए एक प्रश्न करने की इच्छा है- फासिस्ट साहित्य संस्कृति का सौंदर्यशास्त्र क्या है? दूर-दूर तक दूसरा बुद्धिजीवी नहीं है जो दक्षिणपंथ की पहली हुकूमत के समय नामवरजी द्वारा उठाए गए इस सवाल के जवाब को आगे बढ़ाए, जनता के बीच ले जाए। और, फासीवाद मोखे पर नहीं मनोजगत में घुसकर दनदना रहा है। आज हिंदी में कोई संपादक और पत्रिका नहीं जो आलोचना की तरह सीधे फासीवाद पर केन्द्रित कोई विशेषांक छाप दे। समय के इस अंतर को ध्यान में रखते हुए नामवरजी पर विचार करना, उनके विचारों के ताप को महसूस करना और उस विचाराग्नि को आगे बढ़ाना जरूरी है।

मैं हमेशा से नामवरजी से विवादी रहा हूं और इन दिनों अनेक कारणों से संवादी हो गया हूं। ठीक जैसे बहुत सारे युवातुर्क अपने हित अनहित के लिए नामवरजी के फैन रहे हैं और आजकल बदले हुए मौसम में नामवर विरोधी या उदासीन हो गए हैं। औरों को छोड़िए, मेरे लिए अपने सांस्कृतिक और अस्तित्वगत संकट की इस घड़ी में नामवर सिंह की बौद्धिक रचनाशीलता और भौतिक उपस्थिति के ठोस मायने हैं। नामवर सिंह ने बाबरी मस्जिद ध्वंस से लेकर अब तक सांप्रदायिक फासीवादी शक्ति के खिलाफ जितने भाषण किए हैं, जितने साक्षात्कार दिए हैं, जितने मंच, धरने, प्रदर्शन, संगोष्ठी साझा किए हैं, उन सबको मिलाकर अलग से एक किताब आनी चाहिए। लेकिन जोखिम भरे समय में यह काम सिर्फ नामवरजी कर सकते हैं। उनकी सेहत वैसी है नहीं और हिंदुत्व से टकरानेवाली नई छातियां सड़क से गायब गुसलखाने में हैं। यह है नामवरजी से संवाद का मौजूदा मौजूं कारण।

नामवरजी इतने विस्तृत और बहुआयामी हैं कि किसी के लिए उनसे सरलीकृत संवाद समस्याग्रस्त हो जाता है। लोककथा के हाथी-सत्य की तरह हरेक का अपना नामवर-सत्य हासिल

होता है। नामवरजी पर अब तक अनेक किताबें और पत्रिकाओं के विशेषांक आ चुके हैं। किसी के लिए नामवरजी अक्खड़ आलोचक हैं; किसी के लिए फक्कड़ समालोचक हैं; किसी के लिए वैचारिक उत्तेजना के बुद्धिजीवी हैं; किसी के लिए पढ़ाकू विद्वान हैं। कोई उनकी जुबान पर सरस्वती को बैठाता है; कोई उनकी आंखों को पुस्तकों से पगाता है; कोई उनकी नाक की घ्राणशक्ति से उन्हें अद्वितीय ऐंद्रिकताबोध का ग्रहणकर्ता साबित करता है; कोई उनके कान की जाग्रतता में कालिदास, भवभूति की ध्वनियों का अनुमान लगाता है। जो सहृदयी है उसके लिए वे मर्मी आलोचक हैं; जो बौद्धिक है उसके लिए वे युक्तियुक्त तार्किक आलोचक हैं; जो परंपरावादी है उसके लिए वे दूसरी परंपरा के खोजकर्ता हैं; जो आधुनिकतावादी है उसके लिए वे आधुनिक व्याख्याकार हैं। उनकी धोती से उन्हें किसान चेतना का मनीषी समझा जाता है और कुरते से देशज आधुनिकता का ऋषि। इन सबसे अलग किसी के लिए उनके भाषणों का संकलन करियर और प्रमोशन का साधन है, किसी के लिए उनकी संस्था महंथई पुरस्कार प्राप्ति की सीढ़ी। किसी के लिए उनका प्रोफेसर होना नियुक्ति की गारंटी है, किसी के लिए उनका संगठनपति होना बिना लिखे लेखक होने का भ्रम। विरोधियों का एक बड़ा तबका है जिसके लिए नामवरजी अवसरवादी मार्क्सवादी, नवजागरण विरोधी, संस्थान कब्जेदार, मंचीय कलाबाज, स्त्री-दलित विरोधी तथा विचारपलटू हैं। लेकिन यह सब नामवर सत्य का अर्द्धसत्य है। अपने अपने हाथी, अपने अपने नामवर। हिंदी के मंचों पर वाद-विवाद संवाद का यह महाभारत नामवरमेनिया और नामवरफोबिया के कारण पैदा हुआ। अब समय आ गया है कि नए सिरे से नामवर से धीमा संवाद शुरू किया जाए।

नामवरजी का प्रिय डिक्शन है- वाद, विवाद, संवाद। यह मार्क्स के थिसिस, एंटीथिसिस, सिंथिसिस का हिंदी अनुवाद है। मार्क्स के अनुसार पूरी ज्ञान मीमांसा का यह सार है। किसी स्थापित वाद से विवाद और दोनों का द्वंद्वात्मक परिणाम संवाद। संवाद विचारों या चीजों का परिमाणात्मक मिश्रण नहीं गुणात्मक परिवर्तन है। नामवरजी को यह डिक्शन इतना प्रिय है कि अपने निबंधों के एक संकलन का नाम ही रखा है- वाद विवाद संवाद। मेरी नजर में नामवरजी हिंदी के संवादी आलोचक नहीं हैं। वे विवादी आलोचक हैं। स्थापित सत्ता और मूल्य के बाद से वे हर जगह विवाद करते हैं लेकिन वह विवाद अनेक आंतरिक-बाह्य कारणों से संवाद में ढल नहीं पाता है। एक साक्षात्कार में नामवरजी ने कहा है कि मैं तो चला था कवि बनने लेकिन हिंदी आलोचना की दुनिया में फैले हुए कूड़ों को देखकर झाड़ू उठा लिया। नामवरजी हिंदी आलोचना के ऐसे सफाईकर्मी नहीं हैं जहां सबका साथ सबका विकास एक साथ हो। वे जहां सोच वहां शौचालय के भी पैरवीकार नहीं हैं। दरअसल हिंदी समाज और हिंदी बुद्धिजीवी दोनों एक ही तरह की समस्या से जूझते हैं वह है कामनसेंस की राह आगे बढ़ते रहने की समस्या। नामवरजी रचना, आलोचना और संस्कृति के भीतर मौजूद कामनसेंस यानी सहजबोध से लगातार जूझनेवाले आलोचक हैं।

हिंदी समाज और आलोचना पर गौर कीजिए तो वह कामनसेंस के जबरदस्त शिकार है। हिंदी आजतक ज्ञान विज्ञान की भाषा नहीं बन पाई है। इसकी बंद दुनिया में लोकतंत्र का तापमान शून्य है। अर्द्धसामंती और पुरोहितवादी मूल्य इतना हावी है कि 'नवजागरण' के अंतर्विरोधों पर होने वाली रस्साकशी को बौद्धिक जगत अस्पृश्य घोषित करने में संगठित खाप बना लेता है। कामनसेंस के विरुद्ध जाने पर होने वाला विरोध कोई मूर्तिभंजक विरोध नहीं बल्कि शाक्य-वैष्णव पंथ के मूर्तिपूजक

वर्चस्व का खेल होता है। नामवरजी भारत के हिंदी विभागों की तुलना यूरोपीय विश्वविद्यालय से करते रहे हैं। आज बीएचयू हिंदी विभाग में कैंब्रिज, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के हिंदी विभाग में आक्सफोर्ड तथा जेएनयू के हिंदी केंद्र में फ्रेंकफर्त के कितने ज्ञानफल उगते हैं, यह इसका ताजा प्रमाण है। कहते है कि बीएचयू के हिंदी विभाग में नामवरजी के द्वारा रोपा गया आधुनिक काल इन दिनों वीरगाथा काल का अभ्यास कर रहा है। विश्वविद्यालयी आलोचना की नयी पीढ़ी के पास स्टैंड के नाम पर मंहगी विदेशी कारों का स्टैंड तो है लेकिन विचारधारात्मक स्टैंड नहीं है। ऐसी अनुदार ज्ञान विरोधी दुनिया में नामवरजी का सबसे बड़ा योगदान स्थापित वर्चस्वमूलक ज्ञान और भाव संरचना को आजीवन लिखित वाचिक चुनौती देना है, प्रश्नांकित करना है, उसकी कोशिकाओं को खोलना है। इसलिए वे एक संवादोन्मुख विवादी आलोचक हैं। अपवाद में इसके विरूद्ध थोड़े बहुत प्रमाण जुटाए जा सकते हैं लेकिन वे नाकाफी होंगे। झाड़ू संवाद नहीं, विवाद का प्रतीक है जो आजतक उनके हाथ से छूटा नहीं। छूटे तो वे रसोईघर जगाएं।

ग्राम्शी ने अपने प्रिजन नोट्स में कामनसेंस और गुडसेंस की अवधारणा रखते हुए कहा है कि मूलगामी बुद्धिजीवी वह है जो हर स्तर पर सामान्य समझ को अच्छी समझ से चुनौती देता है। साहित्य और ज्ञान का क्षेत्र तो धुर मूलगामी है। नामवरजी आचार्य रामचंद्र शुक्ल की ज्ञान परंपरा और रामविलास शर्मा के नवजागरण से बन रहे कामनसेंस को ध्वस्त करते हुए उसके विकल्प की ओर ईशारा करते रहते हैं। अर्थात वे संवादोन्मुख विवाद खड़ा करते हैं। छायावाद हो, इतिहास की समझ हो, नवजागरण हो, नई कविता हो, कहानी या उपन्यास का क्षेत्र हो, नामवरजी कभी लकीर के फकीर नहीं होते। उनके अनुसार अभी हिंदी आलोचना और संस्कृति में फैली हुई जड़ता को विवादग्रस्त बनाने का प्रोजेक्ट अधूरा है। ग्राम्शी के संस्कृति चिंतन को ध्यान में रखिए तो हिंदी बौद्धिकता वर्चस्व के साथ सहमति और समझौते पर इतनी केंद्रित है कि पुस्तक समीक्षा भी लेखक से पूछकर और स्वीकृति लेकर होती है।

नामवरजी का हंस और समयांतर से प्रेम हिंदी के सहजबोध के विरूद्ध दोनों पत्रिकाओं के संघर्ष के कारण रहा है। एक संस्मरण। तब मैं समयांतर में पंकज बिष्ट का संपादन सहयोगी था। पंकज बिष्ट का विचार गोला लगातार नामवर सिंह पर दागा जा रहा था। मैं भी तोपची से प्रशिक्षण प्राप्त कर रहा था। नामवर विरोध के केंद्र में अटलजी की सरकार, साहित्य अकादेमी विवाद तथा प्रलेस की निष्क्रिय गतिविधि के मुद्दे थे। नागपुर से निकलने वाले अखबाद लोकमत का दो खंड़ों में साहित्य वार्षिकांक निकला। दोनों खंड लघुपत्रिकाओं पर केंद्रित। परिचर्चा में एक प्रश्न था कि आपकी नजर में हिंदी की सर्वाधिक महत्वपूर्ण पत्रिका कौन है और क्यों। नामवरजी ने हंस और समयांतर का नाम लिया फिर हंस को छोड़कर समयांतर को सर्वश्रेष्ठ पत्रिका घोषित करते हुए उसकी संपादन नीति, आलेख चयन, वैचारिक हस्तक्षेप, ले-आउट और हिंदी समाज की जड़ता तोड़ने में उसकी जरूरत पर विस्तार से वक्तव्य दिया। ध्यान रखिए कि हिंदी में नामवर राजेन्द्र यादव की जोड़ी कामनसेंस को चुनौती देने के कारण ही धरमवीर की जोड़ी रही है। समयांतर जैसी वैचारिक बमवर्षक पत्रिका का ऐसा समर्थन केवल नामवरजी की समझ और साहस की बात है। समयांतर की प्रशंसा का एक मात्र कारण सामान्य समझ के विरूद्ध उसका संघर्ष है।

नामवरजी का लगातार मानना रहा है कि सत्ता हमेशा कामनसेंस का अपने पक्ष में निर्माण और

उपयोग करती है। बाबरी मस्जिद ध्वंस और हिंदी जनता के दिमाग का सांप्रदायिक सहमतीकरण इसका महत्वपूर्ण उदाहरण है। हिंदी क्षेत्र में धार्मिक उन्माद, वैचारिक सांस्कृतिक संघर्ष का अभाव, दलितों-स्त्रियों का पिछड़ापन इसलिए है कि विशाल आबादी की चेतना का सहमतीकरण होता रहा है। नामवरजी मानते हैं कि हिंदी लेखकों और लेखन संगठनों की भूमिका तबतक मूलगामी नहीं होगी जबतक आंतरिक लोकतंत्र और ज्ञानतंत्र का विकास नहीं होगा। यह सहजबोध भी खास विचारधारा से निर्मित होता है। इसलिए वर्चस्वमूलक विचारधारा के विरूद्ध एक लंबे विचारधारात्मक संघर्ष की जरूरत पड़ती है। नामवरजी पर वैचारिक भटकाव और बदलाव का आरोप लगता रहा है।

नामवरजी की धारणा और समझ है कि विचारधारा साहित्य में नमक की तरह होनी चाहिए। उनकी टिप्पणी है 'विचारधारा के बिना भी साहित्य श्रेष्ठ साहित्य बन सकता है और विचारधारा के साथ भी। नामवरजी मार्क्सवादी हैं। वे आधुनिकतावादी भी हैं। उनके मार्क्सवादी और आधुनिकताबोध में अनवरत संघर्ष चलता रहता है और दोनों में युगीन यथार्थ और ज्ञानकांड में बदलाव के साथ परिवर्तन भी हुआ है। दो अतिशय जड़ ध्रुवों पर टंगी हुई हिंदी चेतना नामवरजी की इस गतिशील विचार दृष्टि पर सर्वाधिक कुपित रहती है। एक बात दिलचस्प है कि मुक्तिबोध नामवरजी को बहुत प्रिय हैं। मुक्तिबोध आलोचना को सभ्यता विमर्श कहते हैं तथा नामवरजी संस्कृति संघर्ष। दोनों एक साथ मार्क्सवादी और आधुनिकतावादी हैं। लेकिन दोनों की आधुनिकता, परंपरा, संस्कृति, साहित्यिकता और युगबोध संबंधी दृष्टिकोण में मात्रा और गुण का अंतर है। मुक्तिबोध नई कविता के सीमित दायरे के आलोचक हैं और उनमें प्रस्थान, प्रवाह, उथल पुथल के युगीन आयाम हैं। नामवरजी की संस्कृति समीक्षा का विस्तार और गहराई अनेक आयामों के साथ परिवर्तनशील, स्पाइरल, भिन्न और विलक्षण है।

नामवरजी की विचारधारा के परीक्षण की पहली प्रयोगशाला परिमल प्रलेस का वैचारिक संघर्ष है। उनकी विचारधारा के परीक्षण की दूसरी प्रयोगशाला सोवियत विघटन और साम्प्रदायिक उत्थान का दौर है। तीसरी प्रयोगशाला मार्क्सवाद के भीतर परंपरा, संस्कृति, नवजागरण और साहित्यबोध को लेकर अपने खेमों के बीच का संघर्ष है। नामवरजी उत्तर आधुनिकता के विरोधी है तथा आधुनिकता के विकास को हैबरमास की तरह भारतीय समाज में अधूरा प्रोजेक्ट मानते हैं।

वे मार्क्सवादी विचारधारा के विस्तारक्रम में आधुनिकता से अलगाव और व्यक्तित्व गठन जैसे दर्शन लेकर उसका साहित्यिक उपयोग करते हैं वहीं इतिहासबोध से मुक्त 'क्षणभंगुर कुंठाबोध' को लगातार चुनौती देते हैं। आधुनिकता के एक रूप में उन्हें फासीवाद की गंध मिलती है जहां वे इलियट जैसे चिंतक को भी छूट नहीं देते। जिन्हें संघ के पहले दौर की केंद्रीय हुकूमत की याद होगी, नामवरजी का साम्प्रदायिकता विरोधी अभियान भी याद होगा। तब मैं जामिया मिल्लिया का छात्र था। 1999 में मंडी हाउस में एक बैठक हुई जिसका नेतृत्व तीनों वाम लेखक संगठन कर रहे थे। नामवरजी और अशोक वाजपेयी के नेतृत्व में साझा संस्कृति मंच बना था। पहली बैठक से लगातार संघर्षों में मैं शामिल रहा। अनेक मंचों पर सक्रिय नामवरजी ने फासिस्ट विरोधी अभियान चलाया। आज उसकी कमी पूरे हिंदी क्षेत्र में साफ दिख रही है। उनके सबसे बड़ा सागंठनिक कमाण्डर कमला प्रसाद नहीं रहे तथा छोटे कमला प्रसाद कमल फूल की ओर अग्रसर हैं। वे स्वस्थ होते तो संगठन को इतना तो जरूर कहते- इतना सन्नाटा क्यों है भाई!

रामविलास शर्मा और नामवरजी के मार्क्सवाद में फर्क है। यह फर्क पार्टी घोषणा पत्र और लुकाच की किताब पढ़ लेने भर से संकट पैदा करता है। हिंदी की ज्ञान विरोधी मनीषा जब कबीर-तुलसी को कीर्तन और कमंडल अभियान का हिस्सा बना सकती है तब मार्क्सवाद किस खेत की मूली है। हिंदी में मार्क्सवाद की संघर्षयात्रा और विभिन्न रूपों के लिए पश्चिम की गतिशील एवं विकासमान मार्क्सवादी चिंतन परंपरा का अवलोकन जरूरी है। नामवरजी की भूख बेमिसाल और बहुमुखी रही है। वे लुकाच से रेमंड विलियम्स तक, सार्त्र से जाक देरिदा तक, एफ.आर. लीविस से हेबरमास तक की जरूरी यात्रा करते हैं। नामवरजी की विचार गतिकी को समझने के लिए हमारे समय के सबसे बड़े मार्क्सवादी आलोचक टेरी ईगलटन की दो आलोचना पुस्तकें जरूर पढ़नी चाहिए- थ्यरी तथा आफ्टर थ्यरी। जड़मति के लिए यह सुजान सफर होगा। दिलचस्प है कि नामवरजी अपने पांव हमेशा हिंदी की जमीन पर टिकाए रखकर ज्ञानफल का स्वाद चखते हैं और बांटते भी हैं। रामविलास शर्मा के मुक्तिबोध विरोध और नवाजागरण उत्थान तथा वैदिक यात्रा का जवाब हल्का और हवाई नहीं है।

ज्ञान और विचारधारा की नैतिक उपलब्धि का एक उदाहरण जेएनयू हिंदी केंद्र जैसी संस्था का निर्माण है। मुझे लगता है कि केदारनाथ सिंह, मैनेजर पांडेय, पुरुषोत्तम अग्रवाल और वीरभारत तलवार जैसे शिक्षकों को जेएनयू में एकत्र करने के पीछे नामवरजी का सबसे बड़ा उद्देश्य ज्ञान और विचारधारा के उत्कृष्ट पठन पाठन का माहौल निर्मित करना था। जेएनयू के आईने में हर चेहरा अपनी शक्ल निहार सकता है। मुझे याद है जब गुरु मैनेजर पांडेय सेवा निवृत्त हुए तो हिंदी छात्रों द्वारा उनका भव्य विदाई समारोह हुआ था। अध्यक्षता नामवरजी ने की थी और संचालन मैं कर रहा था। नामवरजी ने अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में पंत की काव्य पंक्ति रखते हुए कहा कि पांडेयजी की जगह को दिगन्त भी नहीं भर सकता है। यह है नामवरजी की वैचारिक ऊंचाई।

नामवरजी साहित्य और संस्कृति को उसकी विशिष्टता और स्वायत्तता में परखने के हिमायती रहे हैं। इसके लिए मार्क्सवाद और समाजशास्त्र दोनों की सीमाओं को उन्होंने लगातार उद्घाटित किया है। नामवरजी का मानना है कि साहित्य में ऐंद्रिकबोध, भावबोध और विचार तीनों का मेल होता है। तीनों के मेल से विचारधारा बनती है। वे वाल्टर बेंजामिन और रेमंड विलियम्स की तरह साहित्य को उत्पादनशील इकाई मानते हैं। बेंजामिन की स्थापना है कि साहित्य यदि साहित्यिकता में उत्कृष्ट है तो राजनीतिक दृष्टि से भी सही होगा। नामवरजी साहित्य की साहित्यिकता के ऊपर अतिरिक्त स्थूल विचारधारा का घटाटोप स्वीकार नहीं करते। इस अर्थ में वे आचार्य शुक्ल की परंपरा के साथ खड़े दिखाई पड़ते हैं। नामवरजी की मान्यता है कि समाजशास्त्र अवधारणा बनाता है जबकि साहित्य ऐंद्रिकबोध के डिटेल्स से सृजित होता है। साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन से उसके समाज में विलीन या अस्तित्वहीन हो जाने का खतरा रहता है। नामवरजी की स्थापना है कि सच्ची आलोचना रचना की व्याख्या और मूल्य निर्णय से पैदा होती है। सिद्धांत और सूत्र निर्माण से नहीं। इस कसौटी पर वे संस्कृत काव्यशास्त्र की लंबी परंपरा के अधिकांश को सच्ची आलोचना से बेदखल कर देते हैं।

नामवर सिंह की बौद्धिक आलोचना का निर्माण नई भाषा, गहरे आत्मचिंतन, व्यंग्यशैली, विधा और रचना के भीतर से आलोचनात्मक प्रस्थान की खोज, विश्लेषण युक्ति से जरूर बनती है लेकिन

वह कौन सी चीज है जो उनके अंदर जिज्ञासा और ऊर्जाबोध को सृजित करती रहती है, इसकी खोज अभी बाकी है। एक बड़ा बौद्धिक और आलोचक सिर्फ विचारधारा, पढ़ाकूपन या भाषिक क्षमता से नहीं हो सकता है बल्कि साहित्य और जीवन को परखने, महसूस करने वाली आंतरिक उर्जा, आकांक्षा और सरोकार से ही यह संभव है। भीतरी मुक्ति ही बाहरी दुनिया में संस्कृति की मुक्ति का पैमाना हो जाती है।

कहते हैं कि बनारसी नामवरजी का जीयनपुर में नामकरण हो रहा था। वे 'रामजी' कहने पर रोने लगते थे तथा 'नामवर' कहने पर चुप हो जाते थे। आप 'नामवरजी' कहते रहिए और वे चुप रहेंगे। ज्यों ही साहित्य, कला, संस्कृति, परंपरा, आधुनिकता, फासीवाद, नवजागरण, अदि दार्शनिक पद बोलेंगे, वे खंडन मण्डन शुरू कर देंगे। देरिदा के विखण्डन का विरोध करते हुए भी वे हिंदी के पहले विखंडनवादी आलोचक हैं।

नामवरजी पान में 120 नंबर का जर्दा खाते हैं। साहित्य तो छोड़िए, उनके जर्दे के नंबर की नकल होती है। कथाकार अब्दुल बिस्मिल्लाह ने पान दबाते हुए बताया था। केशव की दुकान से उनके लिए दो पंक्तियां-

ये तो खुशबू है तेरे किमाम की
वरना आशिक नहीं हूं मैं पान का

कत्थे को चूने से गुना करने पर जो रंग होगा वही नामवरजी के आलोचना का रंग हैं। किमाम की खुशबू तो अलग से है।

●

पुनि पुनि देखिय

- राजेश जोशी
- दयाशंकर
- ए. अरविंदाक्षन
- रघुवीर चौधरी
- कमलानंद झा
- बलराम
- मनोज कुमार सिंह
- अमरेन्द्र कुमार शर्मा

नामवर सिंह की कविता के बहाने

राजेश जोशी

नामवर सिंह ने अपनी पहली किताब 'बकलम खुद' में भूमिका शीर्षक से भूमिका के बारे में लिखे गये ललित निबंध में लिखा है कि समूची पुस्तक ही मेरे भावी जीवन की भूमिका है। इस वाक्य की व्याख्या में अगर कुछ मनमानी छूट ली जाये तो कहा जा सकता है कि नामवर की कविताएं उनके बाद के सारे आलोचना कर्म की भूमिका है। कविता लिखने को उन्होंने अधबीच या कहें कि बहुत शुरुआत में ही छोड़ दिया। कहीं न कहीं अधबीच छोड़ दिए गए काम की कसक या छूटे हुए काम के रेशे धागे उनकी आलोचना में बीच बीच में झांई मारते दिख जाते हैं। शायद इसीलिए उनकी आलोचना में तथ्य के बरक्स सृजनात्मक कल्पना पर अधिक बल दिखाई पड़ता है। उनकी आंख कविता के कोने अंतरों में झांक कर कविता के छिपे हुए अर्थ और अभिप्रायों को ढूंढ़ ही लेती है। शायद इसीलिए उनकी आलोचना अपने किसी भी समकालीन की तुलना में अधिक कविता उन्मुखी है। यहां तक की उनकी कहानी आलोचना पर भी यह आरोप चस्पां हुए कि उन्होंने कविता की आलोचना के उपकरणों से ही कहानी की व्याख्या करने की कोशिश की। हालांकि मैं नहीं जानता कि शुद्ध रूप से कहानी की आलोचना के पृथक उपकरण क्या हैं।

कवि पत्रिका (संपादक : विणुचन्द्र शर्मा) में नामवर सिंह की कविता पर एक छोटी सी लेकिन संभवतः पहली टिप्पणी में त्रिलोचन शास्त्री का मत था कि नामवर सिंह काल-विचार से ही नहीं अर्थ-विचार से भी आधुनिक कवि हैं। इस वाक्य के संदर्भ में लेकिन यह दुविधा बनी रहती है कि नामवर की कविताओं को नई कविता के साथ रखा जाये या प्रगतिवाद के साथ। (हालांकि त्रिलोचन शास्त्री ने लिखा है कि नामवर सिंह की भाषा में, सफाई और निखार होते हुए भी जहां तहां छायावादी झलक है।)उनका मिजाज दोनों में ही पूरी तरह नहीं अंट पाता। कवि में प्रकाशित आठों कविताएं छंद में हैं। लेकिन वे छंद को मुक्तछंद की तरह इस्तेमाल करते हैं। त्रिलोचन का मानना है कि सवैयों का मुक्तछंद जैसा लिखा जाना पहले भी देखा गया है, पर जो परिणति नामवर सिंह इस छंद को प्रदान करते है वह अन्यत्र नहीं है। इसके साथ यह भी कि घनाक्षरी छंद में भी उन्होंने इसी प्रकार सधे चरण रखे हैं।

कविता क्रम में दूसरी कविता :

विजन गिरिपथ पर चटखती पत्तियों का लास
हृदय में निर्जल नदी के पत्थरों का हास

'लौट आ, घर लौट' गेही की कहीं आवाज
भींगते से वस्त्र शायद छू गया वातास।

कई बार मुझे लगता है कि कविता को अधबीच छोड़ देने से जो क्षति हुई होगी उसकी भरपाई कई बार उनकी पहली किताब 'बकलम खुद' के ललित निबंधों में दिखाई देती है। हालांकि इस तरह के निबंध का रास्ता भी नामवर सिंह ने अधबीच ही छोड़ दिया। लेकिन मुझे लगता है कि बरसों बाद 'दूसरी परंपरा की खोज' में ललित निबंध के उस छोड़े गये रास्ते के निशान खोजे जा सकते हैं। बहरहाल इन ललित निबंधों में कविता की पंक्तियां जहां तहां झांका झूंकी करती दिख जाती हैं। पहले निबंध.....के कर कमलों में का एक अंश उद्धृत करना चाहता हूं :

अंत में -

उस सहस्रमूर्ति, सहस्रपद, सहस्रशिर, सहस्रऊरू,

सहस्रबाहु परंतु एक हृदय वाले जनता जनार्दन

को भी नहीं

-जिनके कर कमल के नहीं बल्कि मिट्टी के हैं;

-जिसकी गोद में मेरा दुबारा जन्म हुआ;

-जो साहित्य बनकर मेरे प्राण, मन, विज्ञान में भिदा है, फिर भी जिसे शब्दों में न ढालकर मैंने कृतघ्नता की;

-जो इसे पढ़ नहीं सकता;

-जो इसे खरीद नहीं सकता;

-जिन तक पहुंचने के लिए अभी इन शब्दों की बांह छोटी है;

-जिसको देवता कह कर पूजने वाले तो बहुत हैं परन्तु मनुष्य कह कर सुनने वाला कोई नहीं!

इसी निबंध का एक और बहुत छोटा सा, बहुत काव्यात्मक अंश है :

दीमकों और झींगुरों को

-जो छात्रों द्वारा इसे उपेक्षित देख फिर स्वयं पढ़ डालेंगे और जगह-जगह अपनी राय खोद जाएंगे!

ये किताब के समर्पण के लिये लिखे गए वाक्य हैं। निबंध के शीर्षक में कर कमलों के पूर्व काफी रिक्त स्थान छोड़ दिया है ताकि पूरा शरीर भी आ जाए फिर चाहे वह जैसा हो।

'बकलम खुद' के निबंधों के ऐसे कई अंश हैं जिन्हें कविता की तरह पढ़ा जा सकता है। नामवर सिंह की आलोचना की भाषा में जो काव्य तत्व है उस पर भी कभी विचार किया जाना चाहिए। शायद इसीलिए सृजनात्मक आलोचना जैसी एक अलग श्रेणी आलोचना में बनाए जाने की वकालत की गयी होगी।

नामवर सिंह की कविता छोटे छोटे जीवन प्रसंगों की कविता है। उसमें जीवन और प्रकृति के अछूते दृश्यों और महीन विवरणों को लक्ष्य किया जा सकता है। त्रिलोचनजी को कभी यह लगा था कि नामवर की ऐसी कविताएं उनकी प्रकृति और प्रेम संबंधी कविताओं के स्तर की नहीं हैं। लकिन मुझे लगता है कि नामवर की ऐसी कविताएं जो जीवन के विविध प्रसंगों और अपने समय की विडंबनाओं को लक्ष्य करके लिखी गयी हैं, मर्म को ज्यादा छूती हैं। फिर वह अलाव के आसपास बैठे गांव वालों की बातचीत वाली कविता हो या अपने बेटे के जन्मदिन पर कोई उपहार न दे पाने

की कसक वाली कविता हो।

आज तुम्हारा जन्मदिवस, यूं ही यह संध्या
भी चली गई, किंतु अभागा मैं न जा सका
समुख तुम्हारे और नदी तट भटका भटका
कभी देखता हाथ कभी लेखनी अबन्ध्या।
पार हाट, शायद मेला, रंग रंग गुब्बारे
उठते लघु लघु हाथ, सीटियां, शिशु सजे धजे
मचल रहे.... सोचूं कि अचानक दूर छः बजे।
पथ, इमली में भरा व्योम, आ बैठे तारे
'सेवा-उपवन' पुष्पभिन्न गंधवह आ लगा
मस्तक कंकड़ भरा किसी ने ज्यों हिला दिया।

यदि उससे वंचित रह जाता तुम्हीं सा सगा
क्षमा मत करो वत्स, आ गया दिन ही ऐसा
आंख खोलती कलियां भी कहती हैं पैसा।

पहले निबंध .....के कर कमलों में की एक पंक्ति है कि कभी -कभी छपाने से अधिक भला होता है छिपाना। क्या पता नामवर सिंह ने कुछ और भी कविताएं लिखीं हों या बाद में भी वे कविताएं लिखते रहे हों और उन्हें छपाने की बजाए छिपाते रहे हों, जो एक दिन बाहर आयें। इस इच्छा या कल्पना पर भी आमीन! कहने की इच्छा होती है।

●

नामवर सिंह का छायावाद विमर्श

दयाशंकर

सन 1984-85 में जब मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय में एम.ए. हिंदी का विद्यार्थी था, तब दो-तीन पुस्तकों से विशेष मोह था। उनमें से पहली पुस्तक थी- पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'कबीर' और दूसरी दो पुस्तकें थी डॉ. नामवर सिंह की- 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां' और 'छायावाद'। मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में' समझने के लिए यद्यपि मैंने डॉ. नामवर सिंह की 'कविता के नए प्रतिमान' को भी पढ़ा था, लेकिन पहलेवाली दो किताबों जैसा मजा नहीं आता था। इसका कारण यह था कि एम.ए. तक छायावाद के बारे में मेरी जो समझ थी नामवरजी की दोनों पुस्तकें उसके अनुकूल थी। नामवरजी ने जब ये दोनों पुस्तकें लिखी थीं जब उनकी उम्र भी 25 से 26 वर्ष के बीच थी और छायावादी काव्य को समझने और व्याख्यायित करने का उन्होंने जो तरीका अपनाया था वह बौद्धिक होते हुए भी गरिष्ठ और नीरस नहीं था। उस दौर में मेरा पाठकीय विवेक भी इतना विकसित नहीं था कि इनके मोह से मुक्त होकर कुछ अपने ढंग से छायावाद के बारे में सोचता। लेकिन जैसे-जैसे मेरी समझ आधुनिक काव्य के बारे में विकसित होकर पुख्ता होती गई त्यों-त्यों इनके प्रति मोह का ज्वार भी उतरता गया। बावजूद इसके जैसे आज भी पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'कबीर' की ऐतिहासिक जरूरत और महत्व से इनकार नहीं किया जा सकता, वैसे ही नामवर सिंह की इन दोनों पुस्तकों के महत्व को मैं जानता और मानता हूं। वे पुस्तकें आज भी मुझे अच्छी लगती हैं। पहले इनमें मुझे सिर्फ खूबियां दिखती थीं और अब खूबियों के साथ इनकी सीमाएं भी जानने लगा हूं। प्रसंगतः मुझे नामवर सिंह की 'छायावाद' पुस्तक पर लिखना है, अतः अपनी बात इसी तक सीमित रखता हूं।

डॉ. नामवर सिंह हिंदी के मार्क्सवादी आलोचकों की दूसरी पीढ़ी की अग्रिम पंक्ति के आलोचक हैं। डॉ. रामविलास शर्मा के बाद उनका नाम जबान पर आ जाना अकारण नहीं है। प्रारंभ में वे शोध और आलोचना दोनों दिशाओं में प्रवृत्त हुए। अपभ्रंश और पृथ्वीराज रासो की भाषा से जुड़े उनके प्रबंध शोधपरक हैं जबकि 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां' और 'छायावाद' उनके आलोचकीय व्यक्तित्व को सामने लाते हैं। उनकी आलोचना में प्रारंभ से ही किसी प्रकार का सैद्धांतिक कठमुल्लापन नहीं था। उनकी व्यावहारिक आलोचना सहृदय आलोचक की राह पर चलती रही है। प्रारंभ में उनकी आलोचकीय प्रकृति प्रधानतः व्याख्यात्मक और तुलनात्मक थी। उसमें बौद्धिकता भी है लेकिन 'कविता के नए प्रतिमान' की तरह बौद्धिक गरिष्ठता नहीं है। 'कविता के नए प्रतिमान' के बाद 'दूसरी परंपरा की खोज' में एक बार फिर उन्होंने अपने सहृदय आलोचक को पुनर्जीवित किया। आगे

वे शोध और व्यावहारिक आलोचना को लांघते हुए वाचिक आलोचना की राह पर चले गए। कठमुल्ला मार्क्सवादी आलोचकों के आक्षेपों के बावजूद उनकी आलोचना पर मार्क्सवाद की काली कमरी का रंग कभी भी उतरा नहीं। हां, यहां-वहां कुछ विचलन अवश्य हुआ, लेकिन यहां पर वह प्रसंगातर है।

मार्क्सवादी आलोचक होने के नाते डॉ. नामवर सिंह ने 'छायावाद' की कविता के सामाजिक संदर्भों और निहितार्थों के उद्‌घाटित किया। अपनी 'छायावाद' पुस्तक की भूमिका के पहले अनुच्छेद में ही उन्होंने अपना रुख साफ कर दिया कि 'यह निबंध छायावाद की काव्यगत विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए छायाचित्रों के निहित सामाजिक सत्य का उद्‌घाटन करने के लिए लिखा गया है।' इसका विशेष आलोचकीय महत्व इसलिए है कि नामवरजी ने 'सामाजिक पृष्ठभूमि' के मद्‌देनजर छायावादी 'काव्यप्रवृत्ति' पर विचार नहीं किया, बल्कि छायावादी 'कविता में सामाजिक' सत्य को खोजने की कोशिश की। सन 1955 में डॉ. नामवर सिंह की जब 'छायावाद' पुस्तक आई, तब पं. नंददुलारे वाजपेयी छायावाद के मान्य आलोचक बन चुके थे, लेकिन छायावादी काव्य पर उनके लेख क्रमबद्ध न थे। उनकी कई पुस्तकों में वे बिखरे थे। डॉ. रामविलास शर्मा की 'निराला' वाली पुस्तक भी प्रकाशित नहीं हुई थी और विजयदेवनारायण साही का प्रसिद्ध लंबा आलोचनात्मक निबंध 'लघुमानव' के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस 'छायावाद से अज्ञेय तक' छपा नहीं था। ऐसी स्थिति में डॉ. नामवर सिंह की 'छायावाद' पुस्तक छायावादी काव्य पर एक संपूर्ण पुस्तक कही जा सकती है। बेशक डॉ. नामवर सिंह के इस आलोचकीय प्रयास का अपना ऐतिहासिक महत्व है। विद्यार्थियों ने उनकी पुस्तक को बहुत लोकप्रिय बनाया। छायावादी कविता को केंद्र में रखकर विचार करने का परिणाम यह हुआ कि उनकी आलोचना चयनधर्मी, इकहरी और कहीं-कहीं सरलीकरण का शिकार हो गई है। छायावादी काव्य के दौर में कथासाहित्य, निबंध, नाटक में चलनेवाली प्रवृत्तियों को वे ठीक से उस तरह जोड़कर व्याख्यायित नहीं कर सके जिस प्रकार विजयदेवनारायण साही ने अपने निबंध और डॉ. रामविलास शर्मा ने 'निराला की साहित्य साधना' (द्वितीय खंड) के 'उपसंहार : छायावाद का स्वरूप' में किया। लेकिन साहीजी शर्माजी के काम नामवरजी के 'छायावाद' पुस्तक प्रकाशन के बहुत बाद के हैं और नामवरजी से उम्रदराज भी थे। पं. नंददुलारे वाजपेयी यदि छायावाद के पहले सौष्ठववादी (सौंदर्यवादी) आलोचक हैं तो डॉ. नामवर सिंह पहले वस्तुवादी (मार्क्सवादी) आलोचक। इसीलिए उनकी इस पुस्तक का वाजपेयीजी से अलग अपना महत्व है।

'छायावाद' पुस्तक में नामवर सिंह ने अपने पहले निबंध का नाम 'प्रथम रश्मि' रखा है और यह 'प्रथम रश्मि' छायावादी कविता की नहीं, बल्कि छायावाद संबंधी आलोचना की है। इस निबंधा में एक ओर नामवरजी ने विशेष रूप से मुकुटधर पांडेय के छायावाद केंद्रित चार महत्वपूर्ण आलेखों और उनकी विशेषताओं की चर्चा की है और दूसरी ओर महावीर प्रसाद द्विवेदी, पं. रामचंद्र शुक्ल जैसे स्थापित आलोचकों को छायावाद के प्रति पूर्वग्रह के कारण, आड़े हाथों लिया है। इसके साथ उन्होंने 'छायावाद' को लेकर हिंदी आलोचना में प्रचलित अंखमूद भ्रांतियों का निराकरण भी किया है। रहस्यवाद, छायावाद, स्वच्छंदतावाद आदि में परस्पर कुछ अंतर मानते हुए वे अपनी बड़ी महत्वपूर्ण राय यह देते हैं कि 'जब युग विशेष की काव्य धारा के संबंध में इन शब्दों पर विचार किया जाता है तो रहस्यवाद, छायावाद और स्वच्छंदतावाद तीनों एक ही काव्यधारा की विविध प्रवृत्तियां मालूम होती हैं। इसलिए उचित तो यही मालूम होता है कि जिस तरह अन्य साहित्यों में अनेक प्रवृत्तियों के पुंज

रोमैंटिक काव्य को एक संज्ञा 'रोमैंटिसिज्म' दी गई है, उसी तरह अनेक प्रवृत्तियों के पुंज छायावादी काव्य को भी एक ही नाम देना चाहिए। कहना न होगा कि यह एक नाम छायावाद ही हो सकता है। (छायावाद, पृ.-16) नामवरजी ने इस निबंध में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह कही कि 'छायावाद उस राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है जो एक ओर पुरानी रूढ़ियों से मुक्ति चाहता था और दूसरी ओर विदेशी पराधीनता से।' (वही, पृ.-17) इस प्रकार उन्होंने हिंदी के छायावादी काव्य को राष्ट्रीय जागरण के परिप्रेक्ष्य से जोड़कर देखा और साथ ही यह भी कहा कि उसके विकास के समानांतर छायावादी काव्य की अभिव्यक्ति विकसित होती गई। राष्ट्रीय जागरण से छायावाद का संबंध अवश्य है लेकिन उसके विकास के समानांतर छायावादी काव्य की अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता विवादास्पद है। यदि ऐसा होता तो सन 1942 तक छायावाद का विकास होता रहता। लेकिन ऐतिहासिक तथ्य से हम सभी परिचित हैं कि 1936 के बाद छायावादी काव्य रथ अपने ही दलदल में फंस गया, उससे फिर बाहर नहीं निकला।

नामवरजी छायावाद के आगे छः निबंधों- 'केवल मैं केवल', 'एक कर दे पृथ्वी आकाश', 'पल-पल परिवर्तित प्रकृतिवेश', 'देवि मां सहचरि प्राण', 'जागो फिर एक बार' और 'कल्पना के कानन की रानी' में छायावादी काव्य के वस्तुपक्ष के विविध संदर्भों की व्याख्या करते हैं। अपने पहले दो निबंधों में नामवरजी छायावाद के व्यक्तिवाद के विविध संदर्भों की व्याख्या करते हैं। पहले निबंध में वे छायावाद के जन्म और विकास को व्यक्तिवादी भावना से जोड़ते हैं, जो निर्विवाद तथ्य है। वे इसके पीछे सार्वजनिक शिक्षा के प्रसारऔर छापेखाने की बड़ी भूमिका मानते हैं, लेकिन जिस लोकतंत्र ने व्यक्तिवाद को संभव बनाया, उसका नाम लेना भूल गए। लेकिन यह स्थापना सही है कि छायावादी काव्य की 'निजता और आत्मीयता के पीछे आधुनिक मध्यवर्गीय युवक का पूरा व्यक्तित्व है, जो अपने को सीधे अभिव्यक्ति करने की सामाजिक स्वाधीनता चाहता था।' (छायावाद, पृ.-18) उन्होंने भक्तिकाव्य के धर्मपरक आत्मनिवेदन और रीतिकाल की व्यक्तित्वहीन कविता से छायावाद की ऐहिक व्यक्तित्ववादी कविता को अलगाया, लेकिन भारतेंदु युग और द्विवेदी युग की जातीय वस्तु और अन्य पुरुष शैली प्रधान कविता से छायावाद को अलगाना भूल गए। दूसरा निबंध- 'एक कर दे पृथ्वी आकाश' छायावादी व्यक्तिवाद के प्रसार को सामने लाता है। इस निबंध में उन्होंने सही कहा है कि वैज्ञानिक क्रांति ने ज्ञान के प्रसार को संभव बनाया और उसी ने छायावादी कवियों के आत्मप्रसार को। 'छायावादी कवियों ने जो आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा प्रकट की वह वस्तुतः आत्मप्रसार की आकांक्षा थी।' (छायावाद, पृ.-24) लेकिन आधुनिक वैज्ञानिक बुद्धिवाद के साथ छायावादी व्यक्तिवाद, आत्मवाद, हृदयवाद का जो तिर्यक संबंध स्थापित हुआ इस जटिल गुत्थी को सुलझाने की कोशिश नामवरजी ने इस निबंध में नहीं की। अब यह तथ्य पूरी तरह उजागर हो गया है कि छायावाद ने आधुनिक बुद्धिवाद से प्रेरित होने के बावजूद उसके बरक्स आत्मपरक हृदयवाद का प्रसार किया। उनकी पुरानी मान्यता अधिक साफ है कि 'आत्मप्रसार की इस आकांक्षा में कवि की पहली टक्कर पुरानी रूढ़ियों से हुई।' उन्होंने जीवन के सभी क्षेत्रों- घर-परिवार, समाज, धर्म, देश-जाति, भाषागत संकीर्णता का विरोध किया। उनका विरोध का तरीका रहस्यवाद, बकौल विजयदेवनारायण साही 'आध्यात्मिक मुद्रा' में है, लेकिन विषयवस्तु सामाजिक है। यह प्रवृत्ति कमोबेश प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी वर्मा सभी में है। लेकिन सबका अपना-अपना वैशिष्ट्य भी

है। प्रसाद के यहां वह 'अतीन्द्रिय आनंदानुभूति' के रूप में, पंत में 'अज्ञात' के प्रति लालसा के रूप में, निराला के यहां 'विराट' और महादेवी के यहां असीम की चाह के रूप में है। नामवरजी की तीसरी मान्यता आज भी हिंदी आलोचना में स्वीकृत है और वस्तुगत है। वह यह कि छायावाद कवि अपने इस व्यक्तिवाद के बारे में अधिक स्पष्ट न थे। इसीलिए जहां वे अपने असीम, अज्ञात और विराट को प्रियतम के रूप में व्यक्त करते हैं वहां उस पर वे (रहस्य का, अध्यात्म का) आवरण डाल देते हैं- दरअसल आनेवाली दुनिया के बारे में उनकी जानकारी धुंधली थी। प्राचीन मर्यादाओं से तो वे परिचित थे, किंतु बननेवाली नवीन मर्यादाओं की स्पष्ट जानकारी उन्हें न थी। नवीन समाजव्यवस्था उनके लिए अज्ञात ही नहीं, अव्यक्त भी थी।' (छायावाद, पृ.-33-34) इसी निबंध में उन्होंने एक अत्यंत महत्वपूर्ण बात शुक्लजी की छायावाद की आलोचना के बारे में कही कि रीतिकाल की संकीर्णता के बरक्स शुक्लजी की आधुनिक युग की व्यापक भावबोध वाली आलोचना प्रशंसनीय है, लेकिन छायावाद की रहस्यवादी कविताओं पर हमला, उनके सामाजिक संदर्भ की अनदेखी करने के कारण, असंगत है।

नामवरजी के इनके आगे के चार निबंध- 'पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश', 'देवि मां सहचरि प्राण', 'जागो फिर एक बार' और 'कल्पना के कानन की रानी' छायावादी कवियों की सौंदर्य दृष्टि, सौंदर्य भावना-प्रसार (भावुकता) और कल्पनाशीलता की व्याख्या से संबद्ध हैं। कठोर सामाजिक बंधन ने छायावादी कवियों को प्रकृति के खुले परिवेश में ला खड़ा किया। वैयक्तिकता का अनुसंधान उन्होंने पहले-पहल उन्मुक्त प्रकृति के वातावरण में ही किया। नामवरजी ने छायावादी कवियों का प्रकृति की ओर विशेष झुकाव, स्वतंत्र सत्ता के रूप में काव्य-प्रतिष्ठा, प्राकृतिक सौंदर्य के उदघाटन का कारण 'आधुनिक विज्ञान' को माना है। लेकिन यूरोप और भारत दोनों जगहों के स्वच्छंदतावादी-छायावादी कवियों का प्राकृतिक प्रेम वैज्ञानिक क्रांति के कारण जन्में औद्योगीकरण और शहरीकरण, प्रकृति विरोधी आधुनिक सभ्यता की प्रतिक्रिया के रूप में सामने आया। विज्ञान ने प्रकृति के अनुसंधान के साथ उसके दोहन और उच्छेदन को बढ़ाया। इसी कारण शैली के 'द डिफेंस ऑफ पोयट्री' पुस्तक लिखी थी। सन 1920 के बाद बढ़ते औद्योगीकरण और शहरीकरण ने वही माहौल भारत में पैदा कर दिया था। नामवरजी की प्रकृति प्रेम की सभी स्थापनाएं कमोबेश दुरुस्त है। मसलन- 'प्रकृति दर्शन से छायावादी कवि को यह जो नया आलोक मिला, उसने सामान्य रूप से उसकी संपूर्ण जीवन दृष्टि बदल दी और विशेष रूप से प्रकृति संबंधी सौंदर्य सृष्टि।' (छायावाद, पृ. -39) छायावादी कवियों ने प्रकृति के विविध रूपों पर एन्द्रियबोध वाली स्वतंत्र कविताएं लिखीं, प्रकृति को मध्ययुगीन बंधनों से मुक्त किया। वह सहचरी के साथ सखी, प्रेयसी, मां बनी। प्रकृति सौंदर्य ने छायावादी कवियों को अतिशय कल्पनाशील बनाया तो उन्होंने प्रकृति को तरह-तरह के नए उपमानों से लाद दिया। उनकी प्रवृत्ति आकार साम्य से अधिक प्रभाव साम्य की ओर थी। अंततः प्रकृति उनके रहस्यात्मक रूप में अदृश्य और अमूर्त हो गई।

छायावाद के वस्तु उद्घाटन से संबद्ध निबंधों में 'देवि, मां सहचरि प्राण' (स्त्री सौंदर्य) निबंध सबसे लंबा है। नामवरजी का मानना है कि द्विवेदीयुगीन आर्यसमाजी नीरस और वर्जनशील नैतिकता की प्रतिक्रिया में छायावादी कवियों ने पहले-पहल प्रकृति-प्रेम की कविताएं लिखीं और उसी ने आगे चलकर 'नारी के लिए पृष्ठभूमि' तैयार की। उन्होंने प्रकृति-प्रेम के परिवेश में ही पहले-पहल 'नारी

के नैसर्गिक सौंदर्य का दर्शन किया। प्रकृति से हृदय-संवाद असंभव होने के कारण उन्होंने नारी की खोज की। आधुनिक शिक्षा के कारण अनेक क्षेत्रों में नारी-पुरुष का संपर्क बढ़ा। नारियों ने दया के बदले समानता और अपने अधिकार की मांग की, पुरुषों को अपनी शक्ति का भान करवाया। इन सबका असर कविता पर भी पड़ा। 'साहित्य में पहली बार स्त्री और पुरुष के बीच वैयक्तिक स्वच्छंद प्रेम का अभ्युदय हुआ। यह स्वच्छंद प्रेम व्यक्ति स्वातंत्र्य का ही अनिवार्य परिणाम तथा उसका आवश्यक अंग है। इसके फलस्वरूप पहली बार छायावादी काव्य में नारी को प्रेयसी का ऊंचा आसन प्राप्त हुआ।' (छायावाद, पृ.-51) सभी छायावादी कवियों ने स्वतंत्र रूप से प्रेम, प्रेमी की महिमा, प्रेम के विविध रूपों-स्नेह, काम, प्रेम के उल्लास, पीड़ा आदि पर कविताएं लिखी। नामवरजी ने उनकी प्रेमसंबंधी वैयक्तिक विशिष्टता को रेखांकित करते हुए कहा कि प्रसाद के प्रेम में मधुचर्या की प्रगाढ़ मिठास है, निराला के प्रेम में उद्दाम आवेग है। पंत के प्रेम में शैशव सुलभ सरलता, भोलापन और कैशोर संकोच है तो महादेवी के प्रेम में पीड़ा। इन कवियों की प्रेम की एक विशेषता भावावेग है जो मांसल से अधिक सूक्ष्म है। उन्होंने नारी के स्थूल सौंदर्य के स्थान पर उसके भाव सौंदर्य पर ध्यान दिया। उनकी कल्पनाशीलता ने नारी को नव्य और रहस्यात्मक भव्यरूप दिया। 'छायावादी कवि में नारी की पुनर्सृष्टि की। उसने विराटता की सृष्टि को अपनी कल्पना के योग से नवीन रूप दे डाला, इस तरह छायावादी कवि की नारी विधाता की सृष्टि से कहीं अधिक कवि-सृष्टि है।' (वही, पृ.-64) उनका सौंदर्य, उसकी अभिव्यक्ति आदर्शवादी है। वह धर्म, धन, जाति, प्रतिष्ठा के ऊपर है।

'जागो फिर एक बार' निबंध में नामवरजी का कहना है कि अंग्रेजी साम्राज्यवाद द्वारा भारतीय इतिहास को विकृत करने की प्रतिक्रिया में हिंदू पुनरुत्थान की भावना से छायावादी राष्ट्रीयता की भावना का उदय हुआ। इसका मूल भारत के सांस्कृतिक पुनर्जागरण में है, जो अंग्रेजों की भेदनीति का शिकार भी था। इससे भारतीयों में अपनी सांस्कृतिक परंपरा का बोध जागा और आत्मगौरव का भाव भी। यह भावना प्रसाद के 'चंद्रगुप्त' 'स्कंदगुप्त' आदि ऐतिहासिक नाटकों, 'पेशोला की प्रतिध्वनि', 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' में सबसे ज्यादा है। उन्होंने इनके जरिए जातीय-जागरण के प्रसार में सहयोग दिया। प्रसाद के बाद यह बोध निराला की 'जागो फिर एक बार', 'छत्रपति शिवाजी का पत्र' आदि कविताओं और उनके 'तुलसीदास' प्रबंधकाव्य में है। इस संदर्भ में पंत और महादेवी को उन्होंने छोड़ दिया। महत्वपूर्ण बात यह है कि 'छायावादी कवियों ने कहीं भी अतीत के स्वर्ण युग में लौटने की चर्चा नहीं की : उन्होंने अतीत को प्रायः प्रेरणा स्रोत के ही रूप में स्वीकार किया है।' (छायावाद, पृ.-76) नामवरजी की दृष्टि में राष्ट्रीयता की भावना का दूसरा चरण देशप्रेम है और छायावादी कवियों ने द्विवेदी युग के स्थूल देशप्रेम को अधिक सूक्ष्म भावात्मक और व्यापक बनाया। उन्होंने देश प्रेम को विश्वमानववाद की विराट भावना से जोड़कर उसके क्षितिज का विस्तार किया और देश जागरण, उद्बोधन, राजनीतिक स्वतंत्रता, देशप्रेम की कविताएं लिखी। इनमें निराला का राष्ट्रीय भावना और देश प्रेम सबसे व्यापक है। कारण कि इसमें उन्होंने किसानों-मजदूरों की चिंताएं शामिल कीं। नामवरजी की ये बातें सही हैं। लेकिन भारतीय नवजारण में कई रंग हैं और स्वाधीनता आंदोलन में महात्मा गांधी, युवा क्रांतिकारी और हिंदू महासभा की कई धाराएं हैं, लेकिन नामवरजी ने उनका सरलीकरण कर दिया है। प्रसाद और निराला की राष्ट्रीय भावना बालगंगाधर तिलक तथा युवा क्रांतिकारियों के मनोलोक के निकट पड़ती है। गांधी का विशेष असर कथा साहित्य और

माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त आदि की राष्ट्रीय कविताओं पर पड़ा।

'कल्पना के कानन की रानी' निबंध में उन्होंने छायावादी कवियों की भावुकता और कल्पनाशीलता दोनों पर विचार किया है। उन्होंने भक्तिकाल, रीतिकाल, द्विवेदी युग के कवियों के भावों की तुलना छायावादी कवियों की भावुकता से करते हुए कहा इन सभी के भाव किसी न किसी मर्यादा और संयम से अनशासित है जबकि छायावादी कवि का भावावेग, ऐसी किसी मर्यादा धीरज, विवेक की परवाह नहीं करता। नामवरजी भक्त कवियों के इस पहलू का स्पष्टीकरण हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'कबीर' विवेचनवाली शैली में करते हैं। (पृ.-82) पर वे अपने निबंध के फोकस में छायावादी कवियों को रखते हैं। छायावादी कवियों के तीव्र भावावेग और अतिशय संवेदनशीलता ने ही उनकी कल्पनाशीलता को जन्म दिया। यह उनकी सत्यान्वेषी अंतर्दृष्टि है। यही कारण है किसी वस्तु को देखते ही उससे मिलते-जुलते अप्रस्तुतों का वे तांता लगा देते हैं। इसी कारण भावुकता और कल्पना दोनों छायावादी कविता के पर्याय बन गए हैं। मध्ययुग की कल्पना विषय से अनुशासित और उसकी व्याख्या तक सीमित थी। छायावादी कवि विषय की व्याख्या नहीं, बल्कि पुनर्सृष्टि करते हैं। इसीलिए निराला की यमुना भागवत, सूर और बिहारी की यमुना नहीं, बल्कि निराला की अपनी कल्पसृष्टि है। कालिदास के 'मेघ' से पंत का 'बादल' अधिक स्वच्छंद और कल्पना बिहारी है। नामवरजी की दृष्टि में 'छायावाद में, जो हृदयसत्ता का सुंदर सत्य व्यक्त हुआ और प्रकृति तथा नारी सौंदर्य की जो सूक्ष्म रेखाएं चित्रित हुई, उन सबका श्रेय इसी स्वच्छंद कल्पना को है।' (छायावाद, पृ.-87) छायावादी कवियों ने द्विवेदीयुग की वर्णन प्रधान प्रकृति में अपनी कल्पनापरक अंतर्दृष्टि से चेतना-सौंदर्य की झलक देखी। छायावादी कवियों ने इसी अंतर्दृष्टि से अतीत वर्तमान, भविष्य, क्षितिज के पार की यात्रा की। कल्पना ने छायावादी कवि को स्वप्नजीवी बना दिया। दरअसल कल्पना उसके स्वच्छ व्यक्तित्व का अटूट हिस्सा थी। अंततः समाज की कठोर-भीषण वास्तविकता से टकराकर उसके कल्पना के पंख टूटकर बिखर गए।

डॉ. नामवर सिंह ने छायावाद के वस्तु-विवेचन में विशेष रूप से व्याख्यात्मक और जहां-जहां तुलनात्मक प्रविधि का इस्तेमाल किया है। तुलनात्मक प्रविधि का इस्तेमाल उन्होंने छायावाद के साथ संस्कृत, भक्तिकाल, रीतिकाल और द्विवेदीयुग के कवियों की तुलना के दौरान किया है और कई जगहों पर उसमें व्यतिक्रम है। दूसरी बात, छायावादी काव्य के वस्तुविमर्श में खास तौर से वे सामान्यीकरण पर ध्यान देते हैं। एक युग के मद्देनजर यह बात कछ हद तक ठीक है। भूमिका में उन्होंने दो बातों पर विशेष जोर देने की बात स्वीकार की है। एक-छायावाद की काव्यगत विशेषता, दो-उसमें निहित सामाजिक सत्य। चूंकि प्रसंग उस छायावाद का है जिसके केंद्र में व्यक्तिवाद और कवियों का व्यक्तित्व वैशिष्ट्य है। इसीलिए छायावादी कवियों की सामान्य विशेषता का उद्घाटन जितना जरूरी था, उससे कहीं ज्यादा उनके काव्य व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य का उद्घाटन। नामवरजी ने कहीं-कहीं छायावादी कवियों के काव्य व्यक्तित्व की विशिष्टता पर प्रकाश डाला है, लेकिन सामान्य विशेषताओं पर खास आग्रह के चलते वह दब गया है। रूढ़ समाज व्यवस्था सभी छायावादी कवियों के उन्मुक्त भाव बोध में बाधक थी। बावजूद इसके पंत का 'बादल' बहुत स्वच्छंद, निराला का 'बादल' अत्यंत विद्रोही है, लेकिन महादेवी की 'बदली' ठीक इसके विपरीत दुखी है। पंत और निराला के 'बादल' पुरुष प्रधान व्यवस्था के पुरुष व्यक्तित्व की शुक्ल और महादेवी की 'बदली' नारी की

नियति प्राप्त करती है।' शलभ में शाप मय वर हूं किसी का दीप निष्ठुर हूं' आधुनिक नारी की अपनी पसंद-नापसंद और निर्णय के तहत है। पंत, निराला इस मनोभूमि से कविता नहीं रच सकते थे।

छायावाद के वस्तुपक्ष की तुलना में डॉ. नामवर सिंह ने उसके रूप-पद विन्यास, छंद-विधान और काव्यरूप की व्याख्या में ज्यादा मेहनत की है। वस्तुपक्ष की तुलना में इनमें बिखराव कम है और व्यतिरेकी बातें भी कम हैं। इनमें उनकी विवेचना पद्धति वही व्याख्यात्मक और तुलनात्मक है। इसका एक ऐतिहासिक औचित्य भी है। नामवरजी के पहले मुकुटधर पांडेय, नंददुलारे वाजपेयी को छोड़कर शुक्लजी जैसे आलोचक छायावाद के दूसरे पक्ष को ज्यादा महत्वपूर्ण मानते थे। शुक्लजी का छायावाद संबंधी विवेचन और पंत के 'पल्लव' की भूमिका इस दिशा में खास है। नामवरजी ने अपनी बात की पुष्टि में जगह-जगह इनकी बातों को उद्धृत भी किया है और उन्हीं की बातों का ज्यादातर व्याख्या तथा दृष्टांतों से विस्तार किया है। छायावादी कविता के रूप-विन्यास में नामवर सिंह की यह बात बिल्कुल सही है कि रीतिकाल की रूढ़िवादिता, कृत्रिमता, अलंकृति और द्विवेदीयुग को तथ्यात्मक, उपयोगिता और सादगी वाले रूपनिन्यास के बरक्स छायावादी कविता का रूप विन्यास भिन्न, भव्य और मांसल है। इसके पीछे उनके भावावेग और कल्पना की प्रेरणा थी। इसके साथ 'छायावादी कवियों ने अपनी अनुभूति के अनुरूप विधि का निर्माण करते समय रूप की संगति और सार्थकता के साथ-साथ उसके अतिरिक्त संकेत की ओर ध्यान दिया। इसीलिए छायावाद की रूप योजना में एक ओर जहां सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों के व्यंजक चित्र मिलते हैं वही दूसरी ओर प्रतीक योजना भी काफी मिलती है। (छायावाद, पृ.-95) छायावादी कवियों ने पुराने अलंकारों से हटकर नई प्रणाली बनाई। उन्होंने अपनी कल्पना विधायिनी दृष्टि से पुराने उपमानों में नए प्राण भरे, सूक्ष्म और विराट उपमानों की खोज की, आकर साम्य से अधिक प्रभाव साम्य पर ध्यान दिया, भाषा को चित्रात्मक बनाया : वर्ण, गंध, ध्वनि से संबद्ध इन्द्रिय ग्राहय विषयों के बड़े सूक्ष्म चित्र बनाए। उन्होंने भावावेग और कल्पना की शक्ति से अर्थ व्यंजक विशेषण-विपर्यय और व्यंजनागभी, रहस्यात्मक प्रतीकों की सामाजिक संदर्भों के मद्देनजर सृष्टि की। यही कारण है छायावादी कविता का रूपविन्यास द्विवेदीयुग की कविता से विशिष्ट है।

छायावाद के शब्द-विन्यास के बारे में डॉ. नामवर सिंह यह बात बिल्कुल सही है कि वह द्विवेदी युग के शब्दविन्यास से काफी समृद्ध है। छायावादी कवियों के शब्द-विन्यास में कोमलता और भाव व्यंजकता अधिक है। राष्ट्रीय पुनरुत्थान की भावना के चलते द्विवेदीयुग और छायावाद के कवियों का आग्रह संस्कृत के तत्सम शब्दों की ओर बढ़ा, लेकिन वह आधुनिक बंगला भाषा विशेष रूप रवींद्र ठाकुर की काव्यभाषा से प्रेरित है। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी वर्मा आदि ने कमोवेश उससे प्रेरणा ली। छायावादी कवियों ने भाषा की कोमलता के लिए कारक चिह्नों, सहायक क्रियाओं के बंधन को ढ़ीला कर दिया, कुछ रीतिकालीन तद्भव शब्दों, अपनी-अपनी क्षेत्रीय बोलियों के शब्दों को अपनाया। उन्होंने संस्कृत के शब्द-निर्माण की पद्धति से हटकर नए शब्दों का निर्माण किया, निराला का ध्यान सामासिक पद-रचना की ओर विशेष गया। विशेष रूप से पंत ने कई अंग्रेजी शब्दों का अनुवाद किया। छायावादी कवियों ने शब्द-चयन में अर्थ-विवेक का बड़ा ध्यान रखा। इसके चलते श्रुतिमाधुर्य, संगीतात्मक, अनुप्रासिक, स्मृतिचित्र जगानेवाले शब्दों के चयन में विशेष रुचि दिखाई। पंत और महादेवी की विशेष अभिरुचि स्मृति-चित्र जगानेवाले शब्दों में सबसे ज्यादा है। सभी छायावादी कवियों

को कुछ शब्दों से अत्यंत मोह है। इसलिए वे बार-बार उनको दुहराते हैं। हालांकि शब्दों के मोह में उनकी अपनी-अपनी पसंद है।

नामवरजी ने 'खुल गए छंद के बंध' में नई स्थापनाएं नहीं दीं। पुरानी स्थापनाओं को ही अधिक स्पष्ट करते हुए विस्तार दिया। छायावादी छंदों में न्यूनपदत्व, अधिक पदत्व दोष, अस्पष्टता की बातें उनके पहले के आलोचक करते आए हैं। उनकी यह बात सही है कि छायावादी कवियों के आवेगजनित भावों ने उनके छन्दविन्यास को काव्य रूप को प्रभावित किया। छायावाद में खास तौर से लोक प्रचलित धुनों को अपने छंद का आधार बनाते हुए उनका परिष्कार किया। आल्हा, लावनी को अपने भावानुरूप ढाला। हिंदी के मात्रिक छंदों-रोला, रूपमाला, सखी, राधिका, पीयूषवर्षण आदि को अपनी भावना के अनुरूप साधा। अपने भाव पर मुद्रण के दबाव के चलते उन्होंने छंद को रूढ़ि से मुक्त करते हुए मुक्त छंद का आविष्कार किया, भावावेग के अनुरूप उसका चरण छोटा-बड़ा किया। यहां तक कि विरामचिह्नों, कोष्ठकों प्रयोग छंद की मांग के अनुसार किया। मुक्त छंद के प्रयोग में नामवरजी ने निराला के प्रदान को रेखांकित किया। छायावादी कवियों ने पुराने गीतों को आधुनिक युग के अनुरूप प्रगीतों में ढाला। इस दिशा में महादेवी वर्मा का योगदान सर्वाधिक है। निराला ने उन्हें संगीत का सुर दिया। छायावादी कवियों की प्रगीतात्मकता ने उनके प्रबंधात्मक कृतियों को इतना प्रभावित किया कि कथातंतु बहुत क्षीण हो गया। उन्होंने अंग्रेजी ओड, सोनेट जैसे काव्य रूपों को अपनाया। सभी छायावादी कवियों ने भक्तिकाल और रीतिकाल के छंदों की एक रसता और एकरूपता को कमोबेश तोड़ते हुए उनके प्रयोग में अपनी वैयक्तिक विशिष्टता की रक्षा की। काव्य रूपों के वैविध्य की दृष्टि से निराला सबसे आगे हैं।

नामवरजी ने छायावाद के वस्तुपक्ष से जुड़े निबंधों का नामकरण छायावादी कवियों की काव्य पंक्तियों पर किया है। यहां तक कि रूप-विन्यास नामकरण की शब्दावली छायावादी है। छायावाद के वस्तुपक्ष-विवेचन की तुलना में नामवरजी ने उसके रूप-शब्द-छंद विवेचन में अधिक संयम से काम लिया है और छायावादी कवियों की व्यक्तिगत विशेषताओं के उद्‌घाटन पर ज्यादा ध्यान दिया है।

'छायावाद' के अंतिम दो निबंधों में से पहला 'जिसके आगे राह नहीं' छायावादी कवियों की सीमा से संबद्ध है और दूसरा 'परंपरा और प्रगति' से। पहले निबंध में कोई खास नई बात नहीं है, लेकिन नामवरजी के कहने का ढंग अपना अवश्य है। 'जिस छायावाद का आरंभ सामाजिक स्वाधीनता के लिए व्यकित के विद्रोह से हुआ, उसी का पर्यवसान समाज से व्यक्ति के पलायन में हुआ। सभी छायावादी कवि अंत तक जाते-जाते या तो अपने जीवन की पराजय का अनुभव करने लगे अथवा समाज को अपना शत्रु समझने लगे।' (छायावाद, पृ.-140) समाज की उभरनेवाली शक्तियों से वे अपने को संगठित रूप में मजबूती से जोड़ नहीं सके, इसलिए रूढ़ समाज व्यवस्था के खिलाफ अकेले लड़ते-लड़ते हार मान बैठे। छायावाद के पतन की एक मार्क्सवादी व्याख्या यही हो सकती है। जहां तक छायावाद की 'परंपरा और प्रगति' का प्रश्न है तो वह द्विवेदी युग का विरोधमूलक प्रतिक्रियात्मक विकास है। रवींद्रनाथ की बंगला कविताएं, अंग्रेजी स्वच्छंदतावादी कविताएं उसकी पृष्ठभूमि के निर्माण में सहायक बनीं। छायावाद हमारी सामाजिक-साहित्यिक जरूरतों के तहत सामने आया और उसने आधुनिक हिंदी काव्य की वस्तु और अभिव्यंजना प्रणाली में अपना मौलिक योगदान दिया। राष्ट्रीय स्वाधीनता के आंदोलन के प्रसार और हिंदी क्षेत्र की जातीय एकता में उसने

ऐतिहासिक भूमिका निभाई। यद्यपि कविता को उसने विशेष रूप से प्रभावित किया, लेकिन अन्य साहित्य रूप भी उससे अछूते नहीं रहे। सभी छायावादी कवियों का इसमें अपना-अपना योगदान है, पर निराला का सर्वाधिक है। आवेगमूलक प्रकृति के कारण छायावाद से व्यापक जीवन के कुछ पक्ष छूट गए, पर उसकी इस कमी को उसी से प्रेरणा लेकर प्रगतिशील साहित्य में पूरा किया।

डॉ. नामवर सिंह की जब 'छायावाद' (1955) पुस्तक प्रकाशित हुई तब हिंदी काव्य में 'उत्तर छायावाद' का दौर पूरा हो चुका था और वह प्रगतिवाद की राह चलते हुए नई कविता तक पहुंच चुका था। नामवरजी ने छायावाद को भक्तिकाल, रीतिकाल, द्विवेदीयुग के संदर्भ से जोड़कर देखा, लेकिन परवर्ती हिंदी काव्य के विकास के साथ उसे जोड़कर नहीं देखा। उन्होंने छायावाद की प्रगति के तौर पर प्रगतिशील साहित्य का नाम भर लिया। छायावाद के बाद के काव्य संदर्भों पर महत्वपूर्ण काम विजयदेव नारायण साही ने किया। उन्होंने छायावाद, उत्तरछायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता को पूर्वापर क्रम में समझने का गंभीर प्रयास किया। छायावाद के 'महामानव' की यात्रा किस प्रकार उत्तरछायावाद, प्रगतिवाद में 'सामान्य मानव' और नई कविता में 'लघुमानव' तक पहुंचती है, इस पर उन्होंने गहरा अनुसंधान किया। इस पर सहमति-असहमति का प्रश्न अलग है। बावजूद इसके नामवरजी के छायावाद-विमर्श का महत्व कम नहीं होता। किसी आलोचक से पूर्णता की विशेष अपेक्षा करना अपनी जिम्मेदारी से मुंह चुराना है। नामवरजी ने छायावाद पर जो कुछ लिखा है सीमाओं के बावजूद उसी का विशेष महत्व है। उनके विवेचन में जो कमियां रह गई हैं उन्हें दूर करने की जिम्मेदारी युवा आलोचकों को अपने हाथों में लेनी है। हिंदी आलोचना के स्वस्थ विकास और समृद्धि का सही मार्ग यही है।

●

नई कहानी पहली बार स्वीकृत होती है....

ए. अरविंदाक्षन

कहानी का नाम सुनते ही भारतीयों से सामूहिक अवचेतन में पंचतंत्र की कहानियां, कथा सरित्सागर की कहानियां या पुराणों की बहुविध उपकथाएं या प्रादेशिक लोक-कथा बहुत जल्द स्थान ग्रहण कर लेती थीं। ये कहानियां अतीव सुगढ़ित और सुसंबद्ध रचनाएं थीं। आदिमध्यांतता में पाठकीय मन सुखालस्य का अनुभव कर सकता था। सबसे बढ़कर ये कहानियां मनोरंजन के लिए पढ़ी जाती थीं और उनमें अंतर्निहित नैतिक उपदेश पाठक को आराम प्रदान करता था। हिंदी में प्रेमचंद के समय में भी यही दृष्टि प्रचलित थी जबकि प्रेमचंद ने तथा उनके समकालीनों ने अच्छी कहानियां प्रस्तुत की थीं। प्रेमचंद ने कहानी-लेखन के अलावा कहानी पर अपने बहुमूल्य विचार भी प्रकट किए थे। इनमें मुख्य रूप से कहानी को जीवन के साथ जोड़कर देखने की दृष्टि केंद्र में थी। दरअसल यह मामूली बात नहीं है। प्रेमचंद ने यह भी लिखा था कि कहानी का उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन नहीं है। मनोरंजन उद्देश्य हो सकता है, पर उन्नत स्तर का मनोरंजन होना चाहिए। प्रेमचंद का यह विचार पारदर्शी है। इतने पर भी कहानी के क्षेत्र में याने उसकी व्यापक आस्वादन-क्षमता के परिदृश्य में वही जड़ता देखने को मिलती थी जिसने कहानी-समीक्षा की अग्रगामी दिशा, यदि ऐसी कोई दिशा रही हो, को अवरुद्ध किया था। इस कारण से भारतीय ही नहीं बल्कि पाश्चात्य कहानीकारों की कहानियां वाचन के लिए सुलभ थीं, जैसे मोपासां, एड्गर एलन पो, चेखव आदि, पर चिंतन के स्तर पर उनकी कहानियों का कोई गहरा असर दिखाई नहीं पड़ता। बीसवीं शताब्दी की उत्तर शती में कहानी-समीक्षा के क्षेत्र में यह जड़ता कायम थी। तब तक हिंदी में नई कहानी चर्चा में आने लगी थी। इसी प्रकरण में नामवर सिंह की 'कहानी : नई कहानी' शीर्षक पुस्तक विचारणीय होती है।

कहानी-समीक्षा के क्षेत्र में व्याप्त अगंभीरता के प्रति प्रतिरोध के रूप में नामवर सिंह की पुस्तक 'कहानी : नई कहानी' को देखा जाना चाहिए। यह एक सतही प्रतिरोध नहीं था। समय द्रुतगति से बदल रहा था, जीवन-दृष्टि बदलती जा रही थी, जड़ संस्कृति पर सवालिया निशान लगाया जा रहा था और गतिशील संस्कृति की खोज की जा रही थी। इन कुछ मुद्दों को लेकर कहानियां लिखी जा रही थीं जिनकी कलात्मकता नए-नए रूपबंधों की तलाश कर रही थी। ऐसे समय में भी कहानी को अंगभीर विधा मानना और उसकी समीक्षा के प्रति उदासीनता बरतना समीक्षा के क्षेत्र की जड़ता का उदाहरण है। साहित्य को उसकी व्यापकता में न देख पाने की संकीर्णता में दरअसल एक परोक्ष सांस्कृतिक अवरुद्धता महसूस की जा सकती है। नामवर सिंह ने यह महसूस किया। यहां पर वे अपनी समीक्षक-भूमिका को ईमानदारी से निभाना चाहते हैं। 'कहानी : नई कहानी' की भूमिका (यह

पुस्तक) में वे लिखते हैं- 'यह कहानी चर्चा कुछ काव्य-समीक्षकों को पसंद नहीं आई। उन्हें इस बात पर एतराज था कि हिंदी में कहानी-चर्चा को खामखाह इतना तूल दिया जा रहा था। उनकी नजर में कहानी इस लायक है ही नहीं कि उसे गंभीर समीक्षा का विषय बनाया जाए। हो सकता है, इस प्रकार का पूर्वग्रह बहुतों के मन हो।' यहीं पर नामवर सिंह स्वयं स्वीकार करते हैं कि उनके मन में भी संदेह था। इसलिए वे आगे लिखते हैं- 'कहानी-समीक्षा की दिशा में कदम उठाने से पहले शायद इस प्रकार की दुविधा कुछ-कुछ अपने मन में भी थी।'' लेकिन वे इससे उबर पाए। नामवर सिंह का आत्मालोचन अतीव महत्वपूर्ण है। किसी एक विधा को महत्वपूर्ण मानना और बाकी सभी विधाओं को सामान्य या अगंभीर घोषित करना गंभीर आलोचनीय दृष्टि का प्रतिफलन नहीं हो सकता। आलोचनीय दृष्टि प्रथमतः और अंततः समग्र होती है। वह हमारी सांस्कृतिक दृष्टि का सारसत्य होता है। वहां एक विधा को गंभीर तथा दूसरी विधाओं को अंगभीर समझना सामंती दृष्टि को द्योतित करना भर है। आधुनिक आलोचक के सम्मुख नई रचनाशीलता और बहुविध रचना-रीतियों का अतिविस्तृत क्षेत्र फैला पड़ा है। उसको अनदेखा करना आलोचकीय दायितव से विचलित होना है। इसलिए नामवर सिंह कहानी की नई रचनाशीलता को एक चुनौती के रूप में स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं- 'इससे मेरी इस धारणा को बल मिला कि हिंदी आलोचना जो अभी तक मुख्यतः काव्य समीक्षा रही है, कविता से इतर कथा-नाटक आदि साहित्य-रूपों का विधिवत् विश्लेषण करके ही अपने को सुसंगत एवं समृद्ध बना सकती है। कहानी-समीक्षा संबंधी ये निबंध इस दिशा में विनम्र प्रयास है। इसलिए मेरे निकट इनका महत्व केवल कहानियों की समीक्षा तक सीमित न होकर एक व्यापक समीक्षा-पद्धति के निर्माण की दिशा में है।' नई कहानी को लेकर एक 'व्यापक समीक्षा-पद्धति' इस तरह तैयार होती है। याने, पहली बार नई कहानी हिंदी साहित्य जगत में, विशेषकर कहानी के क्षेत्र में स्वीकृत होती है। यह सही है कि नामवर सिंह की मान्यताओं पर बहुत सारे प्रश्न-चिह्न लगाए गए। यह सहज और स्वाभाविक बात है। यह जरूरी भी है। परंतु साहित्य जगत में व्याप्त अगंभीरता को दूर करने के लिए नामवर सिंह ने नई कहानी की रचनात्मकता में निहित जिन आधारभूत तत्वों को खोज निकाला, जिन-जिन प्रतिमानों के आधार पर नई कहानी को गंभीर एवं सर्जनात्मक सिद्ध किया वे सतही कभी न थे। इसमें उन्होंने अपनी तर्क संगत दृष्टि का ही परिचय नहीं दिया बल्कि सर्जनात्मकता की तह तक जाने का प्रयास भी किया। अतः 'कहानी : नई कहानी' के माध्यम से हमें एक सार्थक सृजनात्मक समीक्षा का बेमिसाल नमूना भी हासिल हुआ।

नई कहानी संबंधी नई स्थापनाओं के प्रामाणिक दस्तावेज के रूप में 'कहानी : नई कहानी' शीर्षक पुस्तक हमारे सामने है। इसकी स्थापनाएं सैद्धांतिक विरसता से मुक्त हैं। नामवर सिंह कहानी के यथार्थ को पहचानने का प्रयास ही कर रहे हैं। यह यथार्थ एकायामी कतई नहीं है। इसकी पहचान उस समय तक सामान्य ढंग से प्रचलित कहानी-समीक्षा के सामान्य तत्वों के माध्यम से संभव नहीं थी। कहानी के तत्व के रूप में प्रचलित जो भी बातें उस समय उपलब्ध थीं, उनका अवलंब लेकर नई कहानी का आस्वादन हो नहीं सकता था। नामवर सिंह यह भली-भांति जानते थे। अपनी पुस्तक में प्रथमतः वे कथानक पर विचार करते हैं। इसका यह मतलब नहीं कि वे अलग-अलग 'तत्वों' पर विचार कर रहे हो। ऐसा नहीं है। नई कहानी की बहिरंगता पर विचार करते समय उसकी आंतरिकता पर भी विचार करते हैं। इसी संदर्भ में 'कथानक' केंद्र में आता है। इस प्रकरण की उनकी स्थापना

अत्यंत महत्वपूर्ण है। वे लिखते हैं... कहानी में जो चीज पहले कथानक नाम से जानी जाती थी, उसमें कहीं-न-कहीं मौलिक परिवर्तन हुआ है। इसे यों भी कह सकते हैं कि कहानी की धारणा (कन्सेप्ट) बदल गई है : किसी समय मनोरंजन, नाटकीय और कुतूहलपूर्ण घटना-संघटन को ही कथानक समझा जाता था और आज घटना-संघटन इतना विघटित हो गया है कि लोगों को अधिकांश कहानियों में 'कथानक' नाम की चीज मिलती ही नहीं। इसी को कुछ लोग 'कथानक का ह्रास' कहते हैं। परंतु वास्तविकता यह है कि ह्रास कथानक का नहीं, बल्कि कथा का हुआ है और जीवन का एक लघु प्रसंग, प्रसंग-खंड, मूड, विचार अथवा विशिष्ट व्यक्ति-चरित्र ही कथानक बन गया है, अथवा उसमें कथानक की क्षमता मान ली गई है। जो छोटी-सी बात पुराने कहानीकारों के लिए अपर्याप्त थी, उसी को नए कहानीकारों ने कहानी के लिए पर्याप्त मान लिया है और उसके भीतर से उन्होंने कहानी के कथानक की विभिन्न सिम्तों का विकास किया।' इस स्थापना के अंतर्गत बहुत सारी कहानियां अपने नए-नए रूप सहित समीक्षाधीन हो सकती हैं। नामवर सिंह इस प्रसंग के तमाम आयामों पर प्रकाश डालते हैं और ये आयाम नई कहानी के विषय वैविध्य को ही नहीं बल्कि नई कहानी में निहित जीवन की खोज की तरफ भी हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। तात्विक विवेचन में मग्न समीक्षक जब इसी बात पर उलझते हैं तो तात्विक चौखटे के बाहर वे निकल नहीं पाते हैं और कहानी की वास्तविक चर्चा पूरी तरह से अवहेलित होती हैं। नामवर सिंह की दृष्टि समग्र होने से कहोनी संबंधी एक नई स्थापना नई संभावनाओं के साथ हमारे समक्ष विवृत होती है।

शिल्प ऐसा एक शब्द है, जो कहानी के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि सभी विधाओं के क्षेत्र में, घिसा-पिटा शब्द हो गया है। वास्तव में शिल्प एक वजनदार शब्द है जो किसी भी प्रकार की रचना के घनत्व को सूचित करने में सक्षम है। लेकिन शिल्प को रचना के बाह्य रूप का दर्जा ही दिया जाता रहा और ऐसी चर्चाओं में भी एकदम बहिरंग पक्षों पर प्रकाश डाला जाता रहा। इस तरह वह एक घिसा-पिटा शब्द ही नहीं बल्कि एक अर्थहीन शब्द बन गया था। जब हम वास्तु शिल्प की बात करते हैं तो उस पूरी 'संरचना' का घनत्व सहित प्रत्यक्षीकृत होना स्वाभाविक है। उसी तरह किसी भी साहित्य विधा के शिल्प का जिक्र होता है तो उसका घनत्व हमारे लिए प्रत्यक्षीकृत होना चाहिए, याने शिल्प की चर्चा को किसी भी स्तर पर सरलीकृत करना रचना के प्रति अन्याय हो सकता है। नामवर सिंह सरलीकरण के इस खतरे से परिचित हैं। इसलिए वे शिल्प या रूप या रूपबंध का सटीक विश्लेषण इस तरह प्रस्तुत करते हैं- 'साहित्य के रूप केवल रूप नहीं हैं बल्कि जीवन को समझने के भिन्न-भिन्न माध्यम हैं। एक माध्यम जब चुकता दिखाई पड़ता है, तो दूसरे माध्यम का निर्माण किया जाता है। अपनी महान जययात्रा में सत्य-सौंदर्य-स्रष्टा मनुष्य ने इस तरह समय-समय पर नए-नए कलारूपों की सृष्टि की ताकि वह नित्य विकासशील वास्तविकता को अधिक से अधिक समझ और समेट सके'। यह समीक्षा की वह दृष्टि है जिससे एक गतिशील संस्कृति विकसित होती है। नामवर सिंह उस खतरे की तरफ भी इशारा करते हैं कि समीक्षा का सरलीकरण दृष्टिहीनता और दिशाहीनता का ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। ऐसी सरलीकृत समीक्षा-दृष्टि से न संस्कृति का जुड़ाव संभव है और न सौंदर्य की अभिव्यक्ति। नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक में इस खतरे को बारीकी से प्रस्तुत किया है क्योंकि इस समीक्षा-दृष्टि ने कहानी के भाव-बोध और जीवन-बोध को अनदेखा कर दिया है। वे लिखते हैं- 'कहानी-शिल्प संबंधी आलोचनाओं ने कहानी की जीवनी शक्ति का अपहरण कर

उसे निर्जीव 'शिल्प' की नहीं बनाया बल्कि उस शिल्प को विभिन्न अवयवों में काटकर बांट दिया है। लिहाजा, हम कहानी को 'कथानक' 'चरित्र', 'वातावरण', 'भावात्मक प्रभाव' विषयवस्तु आदि अलग-अलग अवयवों के रूप में देखने के अभ्यस्त हो गए हैं।'' शिल्प की सार्थकता पर वे आगे विचार करते हैं। उनकी एक सशक्त स्थापना यही है, 'कहानी का रूप कहानी के भीतर ही बदला जा सकता है जैसा कि समय-समय पर महान कहानीकारों ने किया है'। वे प्रेमचंद सरीखे कहानीकारों की कहानियों को उदाहृत करके अपनी स्थापना का समर्थन भी करते हैं। आगे वे कमलेश्वर की चर्चित कहानी 'राजा निरबंसिया' का भी उदाहरण पेश करते हैं।

आधुनिक जीवन के अंतर्विरोधों और उनसे उत्पन्न होने वाली बहुविध विडंबनाओं पर संभवतः पहली बार नामवर सिंह ने ही विचार किया है। परवर्ती समीक्षकों में इसको महत्व मिलता रहा। लेकिन नई कहानी को 'नई' सिद्ध करने में अत्यधिक शक्तिशाली साबित होने वाली इस प्रवृत्ति पर विचार करते हुए नामवर सिंह ने आधुनिकता को एक नया आयाम भी प्रदान किया है। परोक्षतः वे यह भी सिद्ध कर रहे हैं कि नई कहानी की आधुनिकता मात्र यूरोपीय आधुनिकता से प्रेरित नहीं है अपितु वह देसी आधुनिकता से प्रेरित है। उनकी इस स्थापना में यह बात हू-ब-हू व्यंजित होती है- 'कहानी जीवन के टुकड़ों में निहित 'अंतर्विरोध', 'द्वंद्व', 'संक्रांति' अथवा 'क्राइसिस' को पकड़ने की कोशिश करती है और ठीक ढंग से पकड़ में आ जाने पर यह खंडगत अंतर्विरोध की बृहद् अंतर्विरोध के किसी न किसी पहलू का आभास दे जाता है।' नामवर सिंह अपनी इस स्थापना के साथ भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत' को उदाहृत करते हैं और कहानी की 'आपसी' कितनी दूरव्यापी होती है कि कहानी की रचनात्मकता का ग्रैफ किस गति वेग के साथ ऊपर उठता दिखाई देता है। यहां पर नामवर सिंह की उक्त कहानी की समीक्षा को उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन इतना जरूर कहा जा सकता है कि एक कहानी जब जीवनधर्मी संकट पर जोर देती है तो उसके अनेक विध अंतर्विरोध स्वयमेव कहानी में व्यापित होते दिखाई देते हैं और उस स्थिति में से उत्पन्न होने वाली विडंबना असामान्य हो जाती है। 'चीफ की दावत' की विडंबना के संदर्भ में नामवर सिंह का मानना है कि 'एक समर्थ कहानीकार किस प्रकार जीवन की छोटी-से-छोटी घटना में अर्थ के स्तर-स्तर उद्घाटित करता हुआ उसकी व्याप्ति को मानवीय सत्य की सीमा तक पहुंचा देता है। ऐसे अर्थगर्भत्व को मैं सार्थकता कहता हूं।' कहानी की इस संभावना को अनावृत करने के लिए, नामवर सिंह मानते हैं, 'एक व्यापक और निश्चिंत 'भाषा' का निर्माण भी होना चाहिए।

नई कहानी की सांकेतिकता पर भी नामवर सिंह ने विस्तार से विचार किया है। कहानी में प्रयुक्त कोई बिंब या प्रतीक या कोई प्रकरण सांकेतिकता का उदाहरण ही है। इन सब चीजों से जो प्रभावान्विति कहानी में दिखाई देती है वही विचारणीय मुद्दा है। नामवर सिंह लिखते हैं- 'पिछली पीढ़ी के कहानीकार वातावरण का चित्रण कभी कहानी को सजाने के लिए करते थे तो कभी यथार्थ का रंग देने के लिए। किंतु नई कहानी में वातावरण अलंकरण मात्र नहीं है बल्कि अंतःकरण है।'' सांकेतिकता भी कहानी के अंतःकरण के रूप में विन्यसित होती है।

'कहानी : नई कहानी' का एक पूरा अध्याय निर्मल वर्मा के कहानी-संकलन 'परिंदे' पर केंद्रित है। उसका शीर्षक है, 'नई कहानी की पहली कृति : परिंदे'। उक्त अध्याय की पहली स्थापना है- 'फक्त सात कहानियों का संग्रह 'परिंदे' निर्मल वर्मा की ही पहली कृति नहीं है बल्कि जिसे हम

नई कहानी कहना चाहते हैं उसकी भी पहली कृति है।' संभवतः यह नामवर सिंह की घोषणा थी। बिना किसी संदेह के साथ उन्होंने यह लिखा था। इस घोषणा को सत्यापित करने के लिए उन्होंने इस घोषणा वाक्य के साथ निर्मल वर्मा की कहानियों की विशेषताओं पर भी बल दिया है, जो इस प्रकार है- 'पढ़ने पर सहसा विश्वास नहीं होता कि ये कहानियां उसी भाषा की हैं जिसमें अभी तक शहर, गांव, कस्बा और तिकोने प्रेम को ही लेकर कहानीकार जूझ रहे हैं। 'परिंदे' से यह शिकायत दूर हो जाती है कि हिंदी कथा साहित्य अभी पुराने सामाजिक संघर्ष के स्थूल धरातल पर ही 'मार्कटाइप' कर रहा है। समकालीनों में निर्मल पहले कहानीकार हैं जिन्होंने इस दायरे को तोड़ा है- बल्कि छोड़ा है, और आज के मनुष्य की गहन आंतरिक समस्या को उठाया है। दो बातें इसमें मुख्य रूप से विचारणीय हो जाती हैं। सामाजिक मुद्दों के इर्द-गिर्द रची जाने वाली स्थूल कहानियां जो रचनात्मकता की बहुआयायिता से संचित रह जाती हैं। इससे भिन्न निर्मल की कहानियां, जिनमें यह स्थूल चौखटा टूटता है या निर्मल ने उसको छोड़ दिया है और उन्होंने आज के मनुष्य की गहन आंतरिक समस्या को अपनी कहानियों के लिए स्वीकार किया है। आगे चलकर नामवर सिंह ने अपनी बात को विस्तार देने के लिए निर्मल वर्मा की कहानियों की अंतरंग विशेषताओं की तरफ बहुत सूक्ष्मता के साथ ध्यान दिया है। वे कुछ इस प्रकार हैं-

''स्वतंत्रता या मुक्ति का प्रश्न, जो समकालीन विश्व साहित्य का मुख्य प्रश्न बन चला है, निर्मल की कहानियों में प्रायः अलग-अलग कोण से उठाया गया है। एक तरफ से देखा जाए तो परिंदे की लतिका की समस्या स्वतंत्रता या मुक्ति की समस्या है।''

''...मानव मुक्ति का प्रश्न उठाने के साथ ही निर्मल ने अपनी कहानियों को भी हिंदी कहानी का परिपाटी से मुक्त करने का प्रयत्न किया है।''

''विरासत में मिले 'फार्मूलों' से मुक्त होकर जब कोई कोई लेखक सीधे जीवन का साक्षात्कार करता है और जिंदगी की जटिलताओं में प्रवेश करके सच्चाई का पता लगाता है तभी नवीन कला कृति का सृजन संभव होता है।''

''अभी तक जो कहानी सिर्फ कथा कहती थी या कोई चरित्र पेश करती थी अथवा एक विचार का झटका देती थी, वही निर्मल के हाथों जीवन के प्रति एक नया भावबोध जगाती है, साथ ही ऐसे दुर्लभ अनुभूति-चित्र प्रदान करती है जिन्हें हम कम-से-कम हिंदी में कहानी के माध्यम से प्राप्त करने के अभ्यस्त नहीं थे।''

''परिंदे को देखकर लगता है कि भाषा के क्षेत्र में जो काम इतने दिन में प्रयोगशील नई कविता भी न कर सकी उसे अंततः कहानी के गद्य ने कर दिखाया।''

''कुल मिलाकर इस संग्रह की कहानियां कहानी के एक परंपरा सिद्ध ढांचे में अनेक नई संभावनाओं का संकेत देती हैं। अभी तो यह एक शुरुआत है। लेकिन एक संभावनापूर्ण शुरुआत।''

उपरोक्त सभी विचार सतही प्रशंसाएं नहीं हैं। निर्मल वर्मा की कहानियों की समग्र प्रभावान्विति को जीवन के व्यापक फलक पर विश्लेषित करने के उपरांत नामवर सिंह द्वारा उठाए गए सवाल हैं। ऐसे सवालों से न हिंदी समीक्षा उस दौर में परिचित थी और न हिंदी का पाठक समाज। इसलिए नामवर सिंह के इन विचारों को लेकर बवाल-सा मच गया था। पर उसके कारण दूसरे थे। जब व्यक्ति के संदर्भ में विचारों पर प्रतिक्रिया व्यक्त की जाती है तो वह वैचारिक प्रतिक्रिया नहीं बन पाती।

वह व्यक्ति-संबद्ध प्रतिक्रिया ही बन सकती है। हमें सिर्फ यह देखना है कि एक समीक्षक ने एक कहानीकार की कहानियों पर क्या लिखा है। जीवनानुभवों की सघनता की तरफ ध्यान देने वाली, अपने समय को पार कर जाने वाली, अतीव सूक्ष्मता के साथ भाषा की सृजनात्मकता पर बल देने वाली, घिसे-पिटे 'फार्मूलों' को तोड़ने वाली तथा एक वैश्विक संदर्भ को भी समेटने वाली कहानी की अंतरंगता पर नामवर सिंह ने अपनी दृष्टि व्यक्त की। हिंदी के कहानी-समीक्षकों में इसकी गूंजें, भले ही इस रूप में न सही, मिलती रही हैं क्योंकि नामवर सिंह की कहानी-समीक्षा जीवन की बुनियाद पर टिकी थी तथा कहानी की कलात्मकता पर केंद्रित थी। जीवनानुभवों को जो सटीकता से व्यक्त करते हैं और उन्हें जो कलात्मक बारीकियों से प्रस्तुत करते हैं उन पर कीचड़ उछालने से कोई फायदा नहीं है। साहित्य में ये दोनों बातें सदैव प्रमुख रही हैं। एक सूक्ष्म द्रष्टा एवं भविष्य द्रष्टा समीक्षक जब इन प्रमुख प्रतिमानों के आधार पर समीक्षा प्रस्तुत करता है तो ध्यान देना ही पड़ता है और ध्यान दिया गया था। 'कहानी : नई कहानी' हिंदी समीक्षा के इतिहास में पहली बार सृजनात्मक समीक्षा का मानक स्वरूप प्रस्तुत करती है।

●

नए प्रतिमानों की ऐतिहासिक आवश्यकता

रघुवीर चौधरी

मैंने सन् 1960 में हिंदी-संस्कृत विषय लेकर बी.ए. किया। साहित्यरत्न की उपाधि भी इस दौरान प्राप्त की। मेरे अध्यापकों में डॉ. रामदरश मिश्र थे। मिश्रजी बनारस के संस्मरण के साथ आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. नामवर सिंहजी को याद करते, रसप्रद किस्से सुनाते।

हाईस्कूल में भोलाभाई पटेल मेरे शिक्षक थे, वे बी.ए. की परीक्षा देने बनारस गए थे। एक सुकन्या को नामवर सिंहजी 'अरुण यह मधुमय यहां हमारा' गीत के सौंदर्य का आस्वाद करवा रहे थे। भोला भाई को सहृदय श्रोता होने का अवसर मिला। नामवरजी की आस्वादक प्रतिभा के विषय में वे बार-बार उल्लेख करते। भोला भाई स्वयं अच्छे वक्ता थे, परंतु नामवरजी की वाक्शक्ति पर मुग्ध थे।

मेरे छात्र प्रो. आलोक गुप्त ने मुक्तिबोध पर शोधनिबंध लिखा। मौखिकी के लिए नामवरजी पधारे थे। कार्ल मार्क्स की डेढ़ सौवीं जयंती मनाने का उत्तम अवसर था। गुजरात यूनिवर्सिटी के सेनेट हॉल में मार्क्स के विषय में नामवरजी के व्याख्यान का आयोजन हुआ। हिंदी, गुजराती, अंग्रेजी के अध्यापकों के साथ गुजरात के वरिष्ठ साहित्यकार भी श्रोताओं में शामिल थे। नामवरजी डेढ़ घंटा बोले। सबने कहा : एक पूरा शास्त्रीय राग सुनने का अवसर मिला। मार्क्स की सौंदर्य दृष्टि भी अनन्य थी, इसका अनुभव हुआ।

ऐसे और भी कई व्याख्यान हैं जिनका उल्लेख करना चाहिए, उन दिनों वे कम लिखते थे, बोलते थे, पढ़ते थे। प्रो. रेखा शर्मा ने निर्मल वर्मा और सुरेश जोशी के कथा साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन किया था। उनकी मौखिकी के लिए डॉ. केदारनाथ सिंह पधारे थे। किसी गोष्ठी के निमित्त नामवरजी भी अहमदाबाद में थे। मेरे घर पर शाम को स्थानीय अध्यापकों- लेखकों से बातचीत और कविता पाठ का आयोजन था। उमाशंकर जोशी भी उपस्थित रहे। परस्पर स्नेह था। विदेश यात्रा भी साथ की। उमाशंकरजी को साहित्य अकादेमी का अध्यक्ष बनना चाहिए, यह आग्रह नामवरजी का भी था।

उमाशंकरजी ने गांधीजी के माध्यम से मार्क्स को पहचाना, नामवरजी ने मार्क्स के माध्यम से गांधी तक पहुंचने की लंबी यात्रा की। नेहरू युग को पहचानने में उमाशंकरजी और अज्ञेयजी की दृष्टि एक सी लगेगी। उस समय नामवरजी मुक्तिबोध की कविता के माध्यम से साम्यवाद और पूंजीवाद के बीच अदृश्य शीतयुद्ध का निर्देश कर चुके थे। 'नई कविता के आसपास लिपटे हुए बहुत-से साहित्यिक सिद्धांतों में शीतयुद्ध की छाप है।' इस रेखांकित वाक्य के बाद नामवरजी लिखते

हैं : 'इस प्रकार मुक्तिबोध के विश्लेषण से स्पष्ट है कि 1951 से 1959 तक तथा संभवतः उसके बाद भी नई कविता के विकास की रेखा में जो वक्रता दिखाई पड़ती है उसका एक कारण तो शिक्षित मध्यवर्ग का 'अवसरवाद' है, और दूसरा कारण साम्यवाद-विरोधी 'शीतयुद्ध' की पाश्चात्य विचारधारा का दूषित सांस्कृतिक प्रभाव।' (पृ.-93, कविता के नए प्रतिमान)।

उमाशंकरजी तथा अन्य भारतीय सर्जक-समीक्षक समाजशास्त्री-लेफ्ट टू सेंटर थे। उन सबने नए निर्माण में व्यवधान बने दकियानूसी ख्यालों पर व्यंग्य कसे हैं। उमाशंकरजी की एक रचना है- 'मने मुर्दा की वास आवे'

उमाशंकरजी साहित्यिक पत्रिका 'संस्कृति' का संपादन करते थे। सातवें दशक के कुछ गुजरात कवियों ने नारा लगाए- 'संस्कृति नहीं, कृति।'

सारे संदर्भों के बीच उमाशंकरजी का उपास्य था- शब्द। उनका एक लेख है 'कला स्वयं एक जीवनमूल्य'। क्या नामवरजी ऐसा सूत्र पसंद करेंगे? उन्होंने उसी कलाकृति को गौरव दिया जो जीवन की याद दिलाए। जीवन भी वही जो संकटों से गुजरता हुआ आगे बढ़ा। मानवीय ऊर्जा की अभिव्यक्ति अभिप्रेत है।

'कविता के नए प्रतिमान' का प्रथम खंड आलोचना की आलोचना है। अकारण खंडन कहीं नहीं। पुस्तक खोलने से पहले संकल्प के रूप में संस्कृत उद्धरण और उसका अनुवाद किया है : 'इसलिए मैंने श्रेष्ठ विद्वानों के सिद्धांतों में दोष दर्शन नहीं किया है। मैंने उनका परिष्कार मात्र किया है। विद्वानों का मानना है कि पूर्व प्रतिष्ठित मतों पर आधारित मतों को मूल बुनियाद पर प्रतिष्ठित मानना चाहिए।'

नामवरजी की समीक्षा की यह विशेषता है कि उनके यहां पक्ष-विपक्ष जैसा नहीं है, पूर्व पक्ष-उत्तर पक्ष की शास्त्रीय प्रणाली है।

साहित्यिक गतिविधियां, साहित्यिक रचनाओं तथा रचनाकारों के विषय में पूर्वसूरियों ने जो कहा है, उसे नामवरजी ने तटस्थता से पढ़ा है, सोचा है, इसमें दृष्टि की सूक्ष्मता और तर्क की सघनता है। कहीं सतही प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं कर दी। अपनी वैचारिक भूमिका पर दृढ़ रहते हुए रसकीय अभिगम से- सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से पुनः मूल्यांकन किया है। इस प्रक्रिया में कई पारिभाषिक शब्दप्रयोग, सैद्धांतिक सूत्र प्राप्त होते रहते हैं, पढ़ते आनंद होता है। नामवरजी की समीक्षा में सर्जनात्मक स्पर्श है, जो कभी हजारीप्रसाद द्विवेदी में हुआ करता था।

एक वाक्य है : 'मूल्यों को कमाया हुआ सत्य कहा जाता है।'

कैसी सादगी और कितनी बड़ी बात!

'व्याकरण भाषा के शब्द नहीं बनाता, उसी तरह आलोचक भी काव्य के मूल्यों का निर्माण नहीं करता।' सही है परंतु साहित्य के इतिहास में ऐसे युग आए हैं जिन्होंने साहित्यकारों को दिशा-निर्देश किया। सर्जक स्वयं समीक्षक होता है, तब इसकी संभावना बढ़ जाती है।

नामवरजी ने स्वीकार किया है : 'कविता के नए प्रतिमान के केंद्र में मुक्तिबोध हैं।' नामवरजी ने पहल की मुक्तिबोध को समझने की, समझाने की। धीरे-धीरे एक समवेत स्वर अस्तित्व में आया। अन्य मार्क्सवादी- कहिए कि सामाजनिष्ठ सर्जकों का शिल्प इतना सक्षम नहीं था। रामविलास शर्मा मार्क्सवादी होने के साथ सप्तक के कवि थे, परंतु वे मुक्तिबोध का स्थान नहीं ले पाए। आदरणीय

थे फिर भी। शर्माजी को साहित्य अकादेमी की महत्तर सदस्यता प्रदान की गई, उस कार्यक्रम में उपस्थित रहने, नामवरजी को सुनने का अवसर मिला था, संतुलित व्याख्यान था।

एक और वाक्य द्रष्टव्य है : 'नई कविता में मुक्तिबोध की स्थिति यही है जो छायावाद में निराला की थी।'

अज्ञेयजी ने प्रसाद- महादेवी की अपेक्षा निराला-पंत के योगदान के अधिक मूल्यवान बनाया था, ऐसा स्मरण है। एक बार निजी बातचीत में अज्ञेयजी ने कहा था : 'मुक्तिबोध के संदर्भ में राजकमल चौधरी की लंबी कविताएं देखिए, यह प्रौढ़ि कहां हैं? अज्ञेयजी 'मेच्युरिटी' की बात कर रहे थे। मैं मुक्तिबोध की अन्यता- अपूर्वता का कायल हूं। गुजराती कवियों के प्रशिक्षण शिविर में मैंने 'अँधेरे में' कविता सुनाई थी, उन्हें लगा था कि यह लंबी कविता एक बार सुनने के लिए नहीं बार-बार पढ़ने के लिए निर्मित हुई है, मैंने कई बार यह सुस्पष्ट कलाकृति पढ़ी है, पढ़ाई है। निरालाजी ऐसा स्ट्रक्चर और टेक्चर रचने रुकते नहीं, फिर भी कहना होगा कि 'लिरिकल टेलैंट', गीत प्रतिभा के धनी थे निराला, विरल स्फूर्ति थी उनकी लयकारी में। उनका गद्य लेखन भी अनोखा है।

नई कविता को परंपरा में समेटने के प्रत्यक्ष- परोक्ष प्रयास नामवरजी को स्वीकार नहीं है। 'अनुभूति' की छायावाद के अनुरूप चर्चा नगेंद्रजी और जगदीश गुप्त करते हैं। इस संदर्भ में वर्ड्स वर्थ का स्मरण रसप्रद है। आगे-साही ने कहा है कि 'अनुभूति' शब्द प्रसाद और अज्ञेय में समान होते हुए भी अर्थ भिन्न हो गया : 'अज्ञेय भी प्रसाद की तरह 'अनुभूति' को तथ्य और सत्य को जोड़ने वाली कड़ी मानते हैं, लेकिन यह 'भाव के रूपग्रहण की चेष्टा' नहीं है- रूप के भाव ग्रहण की चेष्टा है।' दूसरे शब्दों में 'तथ्य' सहसा अर्थ में 'आलोकित' हो जाता है। जाते हुए का पहचाना हुआ हो जाना है।' तात्पर्य यह कि छायावादी काव्यरचना की प्रक्रिया जहां भीतर से बाहर की ओर है, वहां नई कविता की रचना-प्रक्रिया बाहर से भीतर की ओर है। एक में रूप पर भाव का आरोपण है तो दूसरी में रूप का भाव में रूपान्तरण है।' साहीजी ने आगे कवि की तटस्थता और 'निर्वैयिकता' को स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'कवि और पाठक के बीच जोड़नेवाली कड़ी 'आस्था' नहीं 'यथार्थ' है।

यहां समीक्षा की परिभाषा में 'यथार्थ' का प्रवेश है।

अनुभूति के स्थान पर अब अनुभूति के परिवर्तित संदर्भ सूचित हैं।

रागात्मकता से अधिक रागात्मक संबंध।

कविता की परिभाषा में संरचना का स्थान अनिवार्य।

यह है कविता के नए प्रतिमान की दिशा।

(यहां स्मरण हो रहा है आषू पर्वत पर वत्सल निधि द्वारा आयोजित लेखक शिविर में साहीजी तथा श्रीमती साहीजी द्वारा हुआ गजल गान।)

नए प्रतिमान की दिशा में आगे बढ़ने के लिए 'बद्धमूल संस्कारों से तटस्थ होना आवश्यक है। रूमानी धारणाओं से मुक्त होने का यथासंभव प्रयत्न करना चाहिए।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की कुछ धारणाओं की जांच-पड़ताल हुई है : ज्ञानाश्रयी शाखा की रचनाएं साहित्यिक नहीं हैं? कबीर आज के कवियों को प्रभावित करते हैं, परंतु आचार्य शुक्ल को? वे कबीर को तुलसीदास के काव्य के स्तर पर प्रतिष्ठित नहीं कर पाए- यह बहुत रसप्रद है, आने वाले समय

के लिए उचित निर्देश।

'पद्धति के बिना प्रतिमानों की चर्चा निरर्थक' (पृ.-35)

नए-से-नया विषय चुनने पर भी वस्तु (कंटेंट) पुरानी हो- तीसरा सप्तक और अज्ञेय यहां निमित्त बनते हैं।

नामवरजी कहते हैं : 'आस्था से अधिक महत्वपूर्ण कविता-संबंधी धारणा या रुचि है।' (पृ.-37) विषयवस्तु की प्रगतिशीलता अभिप्रेत है।

'इंटीग्रिटी' कविता के स्वधर्म की प्रतिष्ठा सूचित करने के बाद प्रतिमान विषयक इस लेख का समापन इन शब्दों में हुआ है : रोमांटिक कवि-आलोचक जहां 'भावुकता' और 'सहृदयता' की मांग करते रहे, आधुनिक कवि ने 'समझदारी' की मांग की थी।' (पृ.-42)

'रस के प्रतिमान की प्रसंगानुकूलता' लेख नामवरजी के गहन अध्ययन का परिचायक है। पाश्चात्य और भारतीय दोनों काव्यशास्त्र एवं सौंदर्यशास्त्र को नामवरजी ने तत्वान्वेशी की लगन से पढ़ा है बल्कि चाहा है। भारतीय भाषाओं के विद्वानों के चिंतन के संदर्भ हस्तगत कर लेते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'रस-सिद्धांत' शब्द के स्थान पर 'रस-पद्धति' शब्द का प्रयोग किया है। नामवरजी लिखते हैं : 'इस प्रसंग में डॉ. मनोहर काले की यह आपत्ति भी उल्लेखनीय है कि संस्कृत काव्यशास्त्र का रस-सिद्धांत काव्य के आस्वाद की एक प्रक्रिया मात्र है, मूल्यांकन का कोई प्रतिमान नहीं।' (पृ. -54)

मूल्यों का टकराव : 'उर्वशी विवाद' लेख रामविलास शर्मा और मुक्तिबोध के परस्पर प्रतिकूल प्रतिभाव की तुलना के कारण रसप्रद बना है। नामवरजी लिखते हैं : 'उर्वशी की आलोचना के प्रसंग में यदि रामविलास शर्मा एक छोर पर हैं और मुक्तिबोध दूसरे छोर पर- तो केवल संयोग की बात नहीं है। अंतर भाषा बोध का ही नहीं, बल्कि मूल्यबोध का भी है। एक के लिए जो भाषा उदात्त है, दूसरे के लिए कोरा आडंबर है। एक को जहां आस्था का स्वर सुनाई देता है, दूसरे को थोथी दार्शनिकता। दोनों ही 'तार सप्तक' के कवि हैं और साथ ही प्रगतिशील विचारधारा से संबद्ध भी, फिर भी काव्यबोध में इतना अंतर?... इस टकराव में मुक्तिबोध की ही दिशा ठीक थी।' (पृ.-71-72)

'कामायनी' (1937) ने पाठकों को मुग्ध किया था, उसी युग में मुक्तिबोध ने 'नई ऐतिहासिक मुक्ति संपन्न विकासमान श्रमिक वर्ग की बलबुद्धि और आत्मविश्वासमयी क्रांतिकारी प्रवृत्ति को प्रसादजी न देख सके' ऐसा कहकर विकास के बौद्धिक पक्ष का महत्व समझाया था। दूसरी ओर प्रसाद के नाटकों में सकर्मकता है, उसको मुक्तिबोध ने स्वीकार किया है।

इस लेख में यह कथन ध्यानार्ह है : 'रचनाकार की समस्या इन स्फुट बिंबों को संरचनात्मक अन्विति में बांधने की होती है। इलियट की अपनी राय में कवित्व-गुण संरचना में नहीं, बल्कि बिंबों के ब्यौरे में होता है।' (पृ.-77) यहां ब्यौरा संरचना का पर्याय है।

'अँधेरे में' कविता विषयक आस्वाद-लेख परिशिष्ट के रूप में दिया गया है। यह पुस्तक का अग्रलेख भी हो सकता था क्योंकि नामवरजी की जीवन और साहित्य विषयक मान्यताएं यहां मूल्यांकन का आधार बनी हैं और उनकी सौंदर्यदृष्टि रसकीय स्थानों को उजागर करती है।

'अँधेरे में' एक सुबद्ध आधुनिक कविता भी है और काव्यसृजन की प्रक्रिया का निदर्शन भी। कविता की अंतिम चौदह पंक्तियां उद्धृत करके लेख का आरंभ किया है। लेख का शीर्षक 'परम

अभिव्यक्ति की खोज' भी इन पंक्तियों में सूचित है।

खोजता हूं पठार पहाड़ समुंदर
जहां मिल सके मुझे
मेरी वह खोई हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्म-संभवा। (पृ.-221)

सभी महत्वपूर्ण मुद्दे क्रमशः कह दिए हैं :

'कविता का 'मैं' दो व्यक्ति-चरित्रों में विभक्त कर दिया गया है, एक है काव्य-नायक मैं और दूसरा है उसका प्रतिरूप वह। यह विभाजन वस्तुतः एक नाटकीय कौशल मात्र नहीं, बल्कि इसका आधार 'आत्मनिर्वासन' (सेल्फ-एलिएनेशन) है। (पृ.-222)

काव्य-नाटक के घटनाक्रम में यह रहस्यमय पुरुष एक बार और मिलता है, अंतिम बार, जब शहर में जन-क्रांति छिड़ जाती है। माहौल ऐसा कि 'कहीं आग लग गई, कहीं गोली चल गई।' (पृ. -223)

खोज और उपलब्धि के बीच की दुविधा या 'सस्पेन्स' ही 'अँधेरे में' कविता को अद्भुत नाटकीयता प्रदान करती है, और यह केवल काव्य-शैली का चमत्कार नहीं, बल्कि काव्य की गहरी अर्थवत्ता का सूचक है। (पृ.-223)

'अँधेरे में' कविता के अंतर्गत स्वप्न-कथा के रूप में तीन घटनाएं वर्णित हैं : किसी मृत-दल की शोभा-यात्रा, सैनिक शासन और जन-क्रांति का सूत्रपात।... यह 'भाव का वस्तुमूलक आकलन' है।... स्वप्न-कथा फैंटेसी का एक प्रकार मात्र है।

'अँधेरे में' के अंदर गांधीजी काव्य-नायक के कंधे पर एक शिशु रखकर अचानक गायब हो जाते हैं और वही शिशु थोड़ी देर बाद सूरजमुखी-फूल के गुच्छे में बदल जाता है, जिसके स्थान पर अगले क्षण वजनदार रायफल आ जाती है। (पृ.-225)

यहां फिर से नामवरजी की मुक्तिबोध को उद्धृत करते हैं : 'यथार्थवादी शिल्प और यथार्थवादी दृष्टिकोण में अंतर है। यह बहुत ही संभव है कि यथार्थवादी शिल्प के विपरीत, जो भाववादी शिल्प है- उस शिल्प के अंतर्गत, जीवन को समझने की दृष्टि यथार्थवादी रही हो।' (पृ.-225)

-यह संभव हुआ है 'अँधेरे में'।

भयाक्रांत काव्य नायक के मस्तिष्क में दुःस्वप्नों के साथ जनक्रांति का भी स्वप्न आता है।

संरचना के संदर्भ में नामवरजी का यह कथन अन्य रचनाकारों के आस्वाद में भी उपकारक सिर्फ हो सकता है। 'परस्पर विरोधी भाव-चित्रों का धूप-छांही मेल, जिसे आचार्य शुक्ल 'विरुद्धों का सामंजस्य कहते थे'- इस कविता की सबसे बड़ी विशेषता है।

मुक्तिबोध की अनगढ़ और बेडौल लगती भाषा की लाक्षणिकता समझाकर नामवरजी काव्यात्मक भाषा और काव्य भाषा का भेद स्पष्ट करते हैं। सपाट बयानी भले काव्यात्मक न लगे काव्य-भाषा बन सकती है।

●

मैं कठघरे में खड़ा एक मुजरिम हूं

कमलानंद झा

आलोचना के शिखर पुरुष नामवर सिंह की झोली में यश-अपयश में किसका पलड़ा भारी है, कहना मुश्किल है। लेकिन मजे की बात यह है कि नामवर सिंह के धुर विरोधी भी 'किंतु', 'परंतु' लगाकर ही सही उन्हें 'बड़ा आलोचक' मानते हैं। 'वाद-विवाद -संवाद' के रस में पगे नामवर सिंह के लिए अरुण कमल के शब्दों में 'पूरे वातावरण को स्फूर्ति से भरे हुए, जाफरानी की खुशबू से तर किए, भोर की तंद्रा के दोपहर की गहमागहमी में बदलते, आपको हमेशा अपने चौवों पर तैयार रहने के लिए बाध्य करते, बेचैनी और तड़प से भरते, द्वंद्व के लिए ललकारते, कभी निःशस्त्र करते, कभी वार चूकते। डॉ. नामवर सिंह हमारे सबसे बड़े संवादक रहे हैं।' अगर आप अपने युग के सबसे बड़े संवादक हैं तो आपसे शिकायतें भी लाजमी हैं। तभी तो सुधीश पचौरी कहते हैं 'आप हर सूरत में अनिवार्य हैं, हर सूरत में प्रासंगिक हैं, हर सूरत में विवादी हैं, इसलिए आपसे सबसे ज्यादा शिकायतें हैं।' अगर शिकायतों की फेहरिश्त बनायी जाए तो 'नामवर के प्रति शिकायत कोश' तैयार हो जाए। जिस निर्मल वर्मा के लिए वे कहीं भी कभी भी कठघरे में खड़े कर दिए जाते हैं, उन्होंने कहा 'नामवर सिंह साहित्य के धर्मक्षेत्र को राजनीति का कुरुक्षेत्र बनाना चाहते हैं,' अशोक वाजपेयी ने उन्हें 'अचूक अवसरवादिता का आलोचक' घोषित किया तो राजेन्द्र यादव ने 'तिकड़मी आलोचक' कहा। कहा गया 'नामवर में 'कांसिटेंसी नहीं है, वे अपने विचार बदलते रहते हैं तो किसी ने कहा वे राजनीति का विमर्श करते हैं 'सत्ता का डिसकोर्स'। इन सारी शिकायतों को आप मंद-मंद मुसकाते सुनते हैं और कहते हैं 'मैं कठघरे में खड़ा एक मुजरिम हूं।'

तुम्हीं से मुहब्बत तुम्हीं से लड़ाई

साक्षात्कार या संवाद अन्य सभी विधाओं से अलहदा विधा है। अन्य सभी विधाओं में आप अपनी मर्जी के मालिक होते है। 'मैं चाहे ये लिखूं मैं चाहे वो लिखूं मेरी मर्जी!' अपनी कलम है और अपना कागज। किसी के बाप का क्या जाता है? साक्षात्कार में तो चक्रव्यूह रचा जाता है। साक्षात्कार लेने वाला और साक्षात्कार देने वाला अपनी पूरी तैयारी के साथ मैदान-ए-जंग में उतरते हैं। व्यूह रचना की पूरी तैयारी और दक्षता के साथ। साजो-सामान से लैस। अब अगर पीच पर बैट्समैन के रूप में सचिन हो तो दुनिया का कोई भी गेंदबाज क्यों न हो, पसीने तो छूटेंगे ही। मजेदार साक्षात्कार वही बन पाता है जहां पक्ष-प्रतिपक्ष में भिड़ंत हो, कांटे की टक्कर, टैग ऑफ वार। 'कहना न होगा' कि इसी वैचारिक भिड़ंत से कुछ 'नया' कुछ 'सुंदर' और कुछ बेहतर 'विकल्प' निकल आते हैं। आप यह समझने की भूल न करें कि ये पक्ष-प्रतिपक्ष एक दूसरे के दुश्मन होते हैं, ये एक दूसरे

के मित्र होते हैं, 'होना-सोना एक खूबसूरत दुश्मन के साथ' वाला भी नहीं लेकिन उस क्षण विशेष में वे एक दूसरे के लिए पराक्रमी योद्धा ही होते हैं। अन्य साक्षात्कार में यह बात लागू हो या न हो किंतु नामवर सिंह का साक्षात्कार तो साहित्य-संस्कृति का वह अखाड़ा है जिसे संगीत की शब्दावली में कहें तो लड़ंत-भिड़ंत वाला ध्रुपद गायन का आनंद आपको वहां मिलेगा। इस अखाड़े में अकेला घुसना कई बार मुफीद नहीं होता। इसलिए नामवर सिंह के अधिकांश साक्षात्कारों में प्रतिपक्ष टोली में जाता है। वार पर वार और नामवर सिंह अभिमन्यु की तरह चक्रव्यूह के सारे दरवाजों को तोड़ते, सबको ध्वस्त करते, सबको परास्त करते, कभी-कभी स्वयं पछाड़ खाते, अंततः विजयी मुस्कान के साथ पान के बीड़े से अपने मुख को सुशोभित करते आपको मिल जाएंगे। नामवर सिंह के साक्षात्कार में 'मुहब्बत' और 'लड़ाई के द्वंद्व से जो संवाद निर्मित हुआ है, वह साहित्य की समझ को दुरुस्त करने वाला सिद्ध हुआ है।

नामवर सिंह अपने साक्षात्कार में 'मुंह देखौअल' बात नहीं करते। इस संदर्भ में वरिष्ठ आलोचक मैनेजर पाण्डेय ने साक्षात्कार के संबंध में जो बाते कहीं हैं, वे नामवरजी पर चौबीस कैरेट सही हैं, 'साक्षात्कार में सच कहने का साहस बहुत कम लोग जुटा पाते हैं। जहां जीवन की अश्लीलता को शालीनता की चादर से ढककर जीने को ही सभ्यता माना जाता है, वहां बड़े लोगों के बारे में सच कहने-सुनने की आदत कैसे होगी? यही वजह है कि हिंदी में 'ठकुर सुहाती' साक्षात्कार की भरमार दिखती है। साक्षात्कार देने वाले को आग को आग और पानी को पानी कहने का अपार साहस चाहिए।' नामवर सिंह ऐसे विरल आलोचक हैं जिनमे यह साहस आपादमस्तक है। वे अपने साक्षात्कार में किसी को नहीं बकसते, स्वयं को भी नहीं।

लैबोको एकु न दैबेको दोऊ

नामवर सिंह अपने साक्षात्कार में अत्यंत निर्मम होते हैं। प्रिय से प्रिय व्यक्ति, बड़े से बड़े लोगों की आलोचना करने में हिचकते नहीं हैं, स्पष्ट और दो टूक क्योंकि उन्हें किसी से कुछ न लेना है न किसी को कुछ देना है। गुरु तुल्य आलोचक राम विलास शर्मा हों या अपने समय को सबसे बड़े कवि अज्ञेय, कद्दावर कथाकार कमलेश हों या मुंहफट कथाकार राजेन्द्र यादव, सहयोगी मित्र मैनेजर पाण्डेय हों या प्रिय शिष्य पुरुषोत्तम अग्रवाल, उनकी आलोचना की जद से कोई बच नहीं पाता। सबसे बड़ी बात है कि उनकी उंगली सही जगह चली ही जाती है। अज्ञेय की कविता में रूपवाद की अतिशयता को रेखांकित करते हुए कहते हैं 'उनके यहां तो यह समस्या बहुत उग्र रूप में है।... उनकी कविताओं को देखें, यहां तक कि उनकी सबसे अच्छी कविताओं को भी, तो आपको उनमें एक खास ढंग मिलेगा कविता लिखने का... यानी कविता लिखने का एक यांत्रिक तरीका है उनका आप कह सकते हैं कि उनकी ज्यादातर कविताओं का एक खास फार्मूला है मसलन उनकी यही कविता लीजिए, 'हम नदी के द्वीप हैं' तो पहले यह पंक्ति उनके दिमाग में आती है और फिर नदी के द्वीप के इस बिंब से जुड़ी हुई जितनी चीजें है, जितने दृश्य, जितना साजोसामान हैं, वह इस कविता में सजा लेते हैं और जब कविता पूरी होती है तो अंत की पंक्ति में जैसे यह बता रहे हैं कि यहां यही सिद्ध करना था और इस तरह कविता पूरी हो गयी।' नामवरजी की आलोचना में कइयों ने पूर्वाग्रह की नोटिस ली है, किंतु गंभीरता से देखें तो ऐसा नहीं है। प्रकाश मनु को दिए इसी साक्षात्कार में वे अज्ञेय के गद्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं, 'शेखर एक जीवनी' तो मास्टरपीस है। यहां तक

कि उनकी कुछ कहानियां इतनी अच्छी हैं कि आप उन्हें कभी भूल ही नहीं सकते। उनके कुछ चिंतापरक निबंध भी बहुत अच्छे हैं। आप उनके विचारों से असहमत हो सकते हैं, पर उनकी शक्ति का आपको कायल होना पड़ता है।' कमलेश्वर और राजेन्द्र यादव की कहानियों के बारे में उन्होंने बहुत सख्त टिप्पणी की है, 'कमलेश्वर तो तब भी घटिया लेखक थे, आज भी हैं। वे कहानीकार नहीं हैं, वे जर्नलिस्ट थे। तब भी वे जर्नलिस्ट और आज भी हैं। राजेन्द्र यादव की 'जहां लड़की कैद है' भी एकदम फार्मूले की कहानी है। नाम भी लक्ष्मी रखा है। 'श्लेष का चमत्कार, राजेन्द्र की, 'खेल खिलौने' में भी यही है। मैंने राजेन्द्र पर बड़ी सख्त टिप्पणी उस दौर में की है। बड़ी बात यह है कि इतनी सख्त टिप्पणियों के बावजूद दोनों घनिष्ठ मित्र रहे। राजेन्द्र यादव ने भी जब भी मौका मिला नामवर सिंह को क्या-क्या नहीं कहा। बजाप्ता 'हंस' में नामवर सिंह के विरोध में कई लेख प्रकाशित हुए। फिर भी उस पीढ़ी की उदारता कहनी चाहिए कि इस तरह के घात-प्रतिघात का व्यक्ति संबंधों पर असर नहीं पड़ता था। अशोक वाजपेयी को नामवर सिंह 'देह और गेह' का कवि कहते रहे, एक समय में भारत भवन का बहिष्कार किया, किंतु मित्रता की डोर कभी कमजोर नहीं पड़ी। राजेन्द्र यादव से ही बातचीत करते हुए उन्होंने उन्हीं की पुस्तक 'काश मैं राष्ट्रद्रोही होता' को बहुत खराब किताब कहा, 'अच्छी किताब का, सवाल नहीं है, वह किताब तो खराब ही है।'

नामवर सिंह राजेन्द्र यादव पर सर्वाधिक नाराज तब हुए थे जब उन्होंने अलका सरावगी के उपन्यास, 'कलिकथा वाया बाइपास' को साहित्य अकादेमी का पुरस्कार दिलवाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। इस पर राजेन्द्र यादव की टिप्पणी थी 'मध्यवर्गीय औपनिवेशिक मानसिकता के कलावाद के लिए ऑक्सीजन...' सामान्यतया वे संवाद में धैर्य नहीं खोते किंतु इस टिप्पणी पर राजकुमार राकेश को उन्होंने कहा, 'राजेन्द्र यादव अपनी समझ से बड़ा प्रसन्न होंगे कि एक चुस्त फिकरा लिख लिया है लेकिन यही चुस्त फिकरा उनकी चिर संचित मूर्खता और अज्ञानता का हिमालय है।' (सम्मुख, पृष्ठ-31)

आलोचक मैनेजर पाण्डेय के प्रति उनके मन में बहुत आदर है। 'आलोचना' में साहित्येतिहास पर कई विलक्षण निबंध उन्होंने पाण्डेयजी से लिखवाए। मैनेजर पाण्डेय को उन्होंने 'आलोचकों का आलोचक' कहा किंतु उनकी आलोचना दृष्टि की सीमाओं को बताते हुए परमानंद श्रीवास्तव, अरविंद त्रिपाठी और लीलाधर मंडलोई के साथ बातचीत करते हुए कहा है, 'रचनात्मक साहित्य की समीक्षा में उन्होंने अभी तक कोई विशिष्ट उदाहरण पेश नहीं किया है। छिटपुट कुछ लिख देना और बात है। मेरी जानकारी में उन्होंने अब तक मीमांसा ही की है। साहित्य का समाजशास्त्र लिखा है। व्यावहारिक आलोचना से भिड़ना उन्हें लगता है गवारा नहीं है।' इसी तरह उन्होंने पुरुषोतम अग्रवाल को अपने कई साक्षात्कारों में मेधावी शिष्य घोषित किया है, कहीं-कहीं संभावनाशील आलोचक भी। किंतु उनकी आलोचना की मूल सीमाओं को उद्घाटित करते हुए अपने इसी साक्षात्कार में कहा है, 'पुरुषोत्तम ने कुछ कृतियों पर भी समीक्षाएं लिखी हैं लेकिन पुरुषोत्तम आलोचकों की उस कोटि के हैं जो 'इंटलेक्चुअल' या 'बौद्धिक' कहलाना ज्यादा पसंद करते हैं। लगता है कि साहित्य उनके लिए बड़ी छोटी चीज है। वे संस्कृति पर विचार ज्यादा करते हैं। साहित्य पर कम.... इसलिए उन्हें टेक्स्ट में रमना, रस लेना और डूबना सुहाता नहीं (इन दोनों (मैनेजर पाण्डेय) आदमियों को देख-पढ़कर नहीं लगता कि ये लोग कभी कविताएं पढ़ते हैं, कभी कहानियां, उपन्यास भी पढ़ते हैं। हमेशा बौद्धिक

विमर्श में डूबे प्रतीत होते हैं। ये लोग भी सर्जनात्मक साहित्य पढ़ते हैं जब उन्हें उस पर कहीं लिखना हो। महज लिखने के लिए आलोचक की किताब पढ़ना और शेष को कभी न पढ़ना आलोचक की मजबूरी ही कही जाएगी।... एक अच्छा आलोचक वह है जो सबको देखता पढ़ता है। चुनकर पढ़ता है, उनमें से सबसे कम चुनकर लिखता है। जब आप साहित्य के अच्छे पाठक नहीं बन सकते तो फिर अच्छे आलोचक कैसे बन पाएंगे? कृतियों में डूबकर, रमकर रस लेना और न अच्छा लगे तो यह साफ-साफ लेखक, पाठक से कहना कि यह कमी है। यह तभी संभव है, जब आप रचनात्मक साहित्य को लगातार चौकन्ने होकर पढ़ेंगे।' यही कारण है शुक्ल, द्विवेदी और रामविलास शर्मा के बाद वे विजयदेव नारायण साही, मलयज, मुक्तिबोध और विष्णु खरे को ही महत्वपूर्ण आलोचक मानते हैं।

लिखतं को आगे बकतं की प्रतिष्ठा

नामवर सिंह से जितने लोगों ने बातचीत की हैं, उनमें लगभग सभी ने उन पर यह आरोप लगाया है कि अब आप लिखते नहीं केवल बोलते हैं। उन्हें खुद इस बात का मलाल रहा है लेकिन विलक्षण वक्तृत्व कला और बेहिसाब लोकप्रियता ने उनके लेखक रूप को ढंक सा दिया है।

अरविंद त्रिपाठी ने एक बातचीत में अशोक वाजपेयी, विष्णु खरे, राजेन्द्र यादव, कृष्ण बलदेव वैद के हवाले से उनसे कहा कि 'अनेक लोगों ने इस बात की शिकायत की है कि नामवरजी लिखने से बचने के लिए वाचिकता में चले गए हैं क्योंकि लिखने पर 'ऑन द रिकार्ड' आने के बाद कई मुसीबतें आ जाती हैं' इन सवालों का जवाब जिस तार्कितता से नामवर सिंह ने दिया है, वह प्रतिपक्षियों को लाजवाब कर जाता है।

सर्वप्रथम तो उन्होंने यह कहा कि 'हिंदी में लेखन का मतलब सिर्फ किताब लिखना लगाया जाता है। कई पश्चिमी देशों में, जहां आलोचना काफी समृद्ध है, श्रेष्ठ आलोचनात्मक लेखन पहले पत्रिकाओं में होता है। पिछले बीस वर्षों में आलोचना में साठ लेख लिखे हैं, (एक दूसरे साक्षात्कार में उन्होंने संपादकीय लगाकर 92 आलेखों की बात की है)' आगे उन्होंने अपने आलोचना कर्म के उद्देश्य को उद्घाटित करते हुए कहा, 'आलोचना मैंने हिंदी में हस्तक्षेप के रूप में की है। जहां जरूरी लगा साहित्य में जो चल रहा है, उसमें मैं हस्तक्षेप करूं, बदलूं, साहित्य की किसी धारा को या प्रवृत्ति को। कोई नई चीज उभर रही है, उसकी उपेक्षा हो रही है तो उस पर बल दूं। सार्थक आलोचना वही होगी, वरना केवल ग्रंथों को प्रकाशित करते जाने और लाइब्रेरी की शोभा बढ़ाने के लिए आलोचना नहीं की।

आलोचना की मौखिक परंपरा की सार्थकता पर उन्होंने नितांत नए सिरे से विचार किया है। आलोचना विधा तक सामान्य पाठकों की पहुंच अत्यल्प हो पाती है। आजकल तो सर्जनात्मक साहित्य भी आम पाठक से बहुत दूर हो चला है। ऐसे समय में प्रश्नों, समस्याओं और साहित्य विवेक के विस्तार में गोष्ठियों का महत्व असंदिग्ध है। नामवर सिंह ने अरविन्द त्रिपाठी को इस संदर्भ में बताया कि 'मेरे सामने इन सबके ऊपर जो तात्कालिक चुनौती है, जिस दौर से हम गुजर रहे हैं उसमें महज लिखकर लोगों तक पहुंचना कठिन हो गया है। मैं किताबों के जरिए कितने लोगों तक पहुंच सकता हूं, इस दौर में मैंने अकेले, पाठकों से कई गुना ज्यादा श्रोता तैयार किए हैं। भाषण या वार्तालाप के दौरान एक खास उपलब्धि यह होती है कि कई बार श्रोताओं से रूबरू होते हुए मेरी कई चीजें

अपने आप साफ हो जाती हैं जो पुस्तक लिखते वक्त हमें उलझाए रहती हैं। नामवर सिंह की समझ में हिंदी भाषा समाज में जहां साक्षरता और शिक्षा की स्थिति अच्छी न हो वहां लेखक का अधिसंख्य समूह तक पहुंच पाना आसान नहीं इसलिए दूसरों तक पहुंचने के लिए दूसरे रास्ते भी ढूंढ़ने पड़ेंगे।

नामवर सिंह ने अपने उक्त महत्वपूर्ण साक्षात्कार में विश्व में भाषणों, वार्तालापों की उपलब्धियों को बताते हुए कहा कि 'प्लेटो के डायलॉग्स' से भला कौन अपरिचित होगा? अनेक दार्शनिक हुए है जिन्होंने सिर्फ लेक्चर्स दिए हैं। ऐसे दार्शनिकों में बिटगेन्सटाइन का नाम बीसवीं शताब्दी के सबसे बड़े दार्शनिक के रूप में लिया जाता है। उनकी सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक 'फिलोसोफिकल इन्वेस्टीगेशन' में सिर्फ उनके दिए गए लेक्चर्स का संकलन है। नामवर सिंह इस संदर्भ में हमेशा कहते रहे हैं कि वे लोग भाग्यशाली थे जिनके भाषणों (और वर्ग कक्षाओं) के नोट्स लोगों ने तैयार किए और बाद में वे पुस्तकाकार प्रकाशित हुए।' जिस समय वे यह बात कह रहे होंगे कदाचित उन्हें यह मालूम न रहा हो कि भविष्य उन्हें भी 'भाग्यशाली' बनाने वाला है। खगेन्द्र ठाकुर (आलोचक के मुख से) और आशीष त्रिपाठी ने उनके भाषणों, संवादों और वार्तालापों का प्रकाशन करवाया है। निकट भविष्य में राजकमल प्रकाशन से ही उनके कक्षानोट्स (भारतीय काव्यशास्त्र) भी प्रकाशित होने वाले हैं। उनके अंतिम सत्र के विद्यार्थीद्वय मधुप कुमार और शैलेश कुमार इस महत्वपूर्ण कार्य को अंजाम देने में लगे हैं। अब यह भविष्य बताएगा कि उनके प्रकाशित कक्षा नोट्स और भाषण संवाद आदि कितने लोकप्रिय हो पाते हैं।

लाखों के बोल सहे सितमगर तेरे लिए

नामवर सिंह मुख्यतः कविता के आलोचक माने जाते हैं किंतु उनके अधिकांश संवाद, बातचीत अथवा साक्षात्कार कहानियों पर केंद्रित हैं। इसका कारण यह है कि यहां 'वाद-विवाद संवाद' की गुंजाइश अधिक है। साथ ही मसाला भी। नई कहानी के दौर में अकेले नामवर सिंह ने त्रिगुट कथाकार कमलेश्वर, मोहन राकेश और राजेन्द्र यादव के बरअक्स निर्मल वर्मा को स्थापित कर दिया था। कहानी पर हुए संवाद का अधिकांश हिस्सा इसी घोर विवादास्पद मुद्दे को लक्षित कर किया गया है। नामवर सिंह के इस स्टैंड के खिलाफ चौतरफा आक्रमण शुरू हो गया था जो आज तक जारी है। किंतु नामवर सिंह न उन दिनों हिले न बाद में टस्स से मस्स हुए। यद्यपि निर्मल वर्मा का रुझान जैसे-जैसे एक खास तरह की भारतीयता और अध्यात्म की तरफ होता गया, नामवरजी के विचार भी उनके प्रति बदले।

निर्मल की कहानियों पर मुख्यतः विदेशी परिवेश का आरोप लगता रहा है। कथा आलोचक विजय मोहन सिंह ने जब निर्मल वर्मा की कहानियों पर यही आरोप चस्पां किया तो सधे खिलाड़ी की तरह नामवर सिंह ने मोर्चा संभालते हुए कहा, 'मैं फिर कहूंगा कि परिवेश महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण वह मानवीय संवेदना है। फिर यह मानवीय संवेदना... चाहे जहां से भी आए। यह विडंबनापूर्ण स्थिति नहीं है कि निर्मल अपने लेखों में भारतीयता का जिक्र करते हैं और कहानियों में विदेशी परिवेश होता है। प्रश्न यह है कि कहानी के केंद्र में कौन मनुष्य है। भारतीय या अभारतीय। परिवेश नहीं भी हो, वह मन कौन सा है। वह मन यदि सचमुच आज के भारतीय मनुष्य की चिंताओं से, प्यार से, विसंगति से, विडंबना से... विंधा हुआ है... और वह कहानी में व्यक्त होता है तो मेरे निकट वहीं महत्वपूर्ण है। नितांत भारतीय परिवेश को लेकर लिखी और रची कहानी

अभारतीय हो सकती है।'

एक दूसरे साक्षात्कार में प्रकाश मनु ने निर्मल वर्मा की कहानियों में 'समय की अनुपस्थिति' का सवाल उठा दिया तो नामवर सिंह ने कहा कि, 'जो समय की बात आपने कही, यह इसलिए कोई कसौटी नहीं हो सकती कि कोई समय जरूरी नहीं कि सब पर एक जैसा असर डाले। यह लेखक के व्यक्तित्व पर बहुत कुछ निर्भर करता है। किसी पर हो सकता है कि ऊपर-ऊपर उसका असर हो और किसी दूसरे पर ऊपर से बिल्कुल न दिखाई देने वाला कोई ऐसा प्रभाव जो भीतर बिंदु की शक्ल में हो, लेकिन कहानी में कहीं ज्यादा मारक और प्रभावी रूप में चला आए तो निर्मल वर्मा की यह कोई कमजोरी है, मैं ऐसा नहीं मानता'[16] दरअसल नामवर सिंह के तूणीर में निर्मल वर्मा के खिलाफ बोलने वालों के लिए कई एक ब्रह्मास्त्र हैं और बचाव के लिए मजबूत ढाल। राजकुमार राकेश से बातचीत करते हुए उन्होंने यहां तक कहा कि हमें गर्व है कि हमारे बीच निर्मल वर्मा जैसा कहानीकार हुआ है। वे थोड़ा आवेशित होते हुए अपनी रौ में कहने लगे 'लाख कहें, मोहन राकेश, कमलेश्वर और राजेन्द्र यादव जैसे लोग-वह इनसे बड़ा और महत्वपूर्ण है। यह सब लोग उनके बराबर टिक नहीं सकते। यह मैं तब भी मानता था, और अब भी मानता हूं। 'परिन्दे' को नई कहानी का पहला संग्रह मैंने सोच समझकर कहा था, आवेश में नहीं। आज भी मैं मानता हूं कि यह त्रिगुट कहानी को हाइजैक करना चाहता था।'

मौसम की तरह तुम भी बदल तो न जाओगे

नामवर सिंह के बारे में उनके आलोचकों का एक बड़ा आरोप यह है कि उनके विचार बदलते रहते हैं। आज जिस मत की स्थापना डंके की चोट पर करते हैं, कुछ दिनों के बाद डंके की दुगुनी चोट से उसी मत का खंडन कर देते हैं। बनारसी ढब में आ गए तो मामूली और साधारण रचनाकारों को भी 'निराला' बना देंगे और अपने जादुई वक्तृत्व से अच्छी से अच्छी रचना को भी दो कौड़ी का सिद्ध कर देंगे-'राई को पर्वत करे पर्वत राई माहि' ही तो नामवरी है।

नामवर सिंह पर आरोप है कि उन्होंने एक समय रामविलास शर्मा को केवल जलती मशाल कहा तो बाद में उनकी 'शव साधना' भी कर दी। 'छायावाद' पुस्तक लिखते समय छायावादी कविता में गुण ही गुण नजर आए, किंतु 'कविता के नए प्रतिमान' तक आते-आते छायावादी कविता बेचारी हो गयी। एक समय में भारत भवन की कला संस्कृति की प्रशसां करते नहीं अघाते किंतु बाद में भारत भवन की पूरी संस्कृति पाखंडी नजर आने लगी। भारतीय उपन्यास को 'किसान जीवन की महागाथा' कहा किंतु उल्लेखनीय उपन्यासों के रूप में 'कसप' और 'नौकरी की कमीज' ही सामने आए। कभी कट्टर मार्क्सवादी तो सभी संशोधनवादी मार्क्सवादी आदि, आदि लेकिन नामवर सिंह जब अपने ऊपर लगे इन आरोपों पर बहस करने लगते हैं तो प्रतिपक्षी वकील के पास निरंतर होने के सिवाय कोई दूसरा चारा नहीं बचता। विस्तार भय से यहां एक दो खंडन को ही जगह मिल पाएगी।

विचार परिवर्तन 'चिंतन के क्षेत्र में, साहित्य के क्षेत्र में मैं समझता हूं कि ये गुण है। वे समझते हैं कि दोष है। रचनात्मक साहित्य को देखिए। सृजन का धर्म ही है- नवाचार, पुनर्नवता। कुछ नया करना। नहीं तो यह सृजन नहीं है और आप अपने को ही दोहराते चले जा रहे हैं। 'रामचंद्र शुक्ल संचयन' की भूमिका में मैंने लिखा है कि 'कविता क्या है' लेख उन्होंने 1909 में 'सरस्वती' में लिखा था, उसे विचार वीथी में 1930 में बदल दिया। रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' जिस

रूप में नागरी प्राचारिणी सभा से 1928 में छपवाया उसे 1941 में बदल दिया। रामविलासजी के बारे में मैंने उनकी प्रशंसा भी की है और उनकी आलोचना भी अभी मैंने की है और आगे भी उनकी प्रशंसा करूंगा और आलोचना भी। जो अच्छा है वह खोद-खोदकर निकालेंगे। और मुझे पूरा हक है कि जैसे यह दुनिया अच्छी भी लगती है, बुरी भी लगती है जो अच्छा लगेगा, उसे अच्छा कहूंगा, जो बुरा लगेगा बुरा कहूंगा। इस पर मुझे कोई अवसरवादी कहता है तो शौक से कहे।'

मार्क्सवाद संबंधी नामवर सिंह की दृष्टि भी लीक से हटकर है। यही वजह है कि उग्र मार्क्सवादियों को वे संशोधनवादी लगते हैं। नामवर सिंह के अनुसार 'मार्क्स ने खुद अपने जमाने के मार्क्सवादियों को पढ़कर कहा था कि अगर यही मार्क्सवाद है तो मैं मार्क्सवादी नहीं हूं इसलिए जो लोग मार्क्सवाद को धर्मग्रंथ समझते है, जो 'कैपिटल' को कुरान समझते हैं तो उनकी समझ होगी कि मार्क्सवाद की एक ही व्याख्या हो सकती है। मैं मार्क्स की रचनाओं को कुरान या बाइबिल नहीं समझता... मार्क्सवाद मेरे लिए नई संभावनाओं का 'टेक्स्ट' है। साहित्य की जैसी व्याख्या आप चाहे कर सकते हैं, वह पवित्र धर्मग्रंथ नहीं जिसकी एक ही व्याख्या हो। यही नहीं मार्क्स की 'क्रिटिक ऑफ क्रिटिकल क्रिटिक' एक बात बात में बात है। आलोचनात्मक आलोचना की आलोचना। इसलिए मैं तो स्वयं अपने विचारों की आलोचना लगातार करता हूं। जहां मैंने समझा कि यह ठीक नहीं, कल जो कहा था, आज मैं गलत काट सकता हूं और मुझे कोई संकोच नहीं होगा।'

अगर कीर्ति का फल चखना है आलोचक को खुश रखना है

नामवर सिंह साहित्य के आलोचक हैं, इसलिए उनकी आलोचना संबंधी मान्यताओं से साक्षात्कार करना जरूरी है। अब देंखे कि आलोचना जैसे गंभीर कर्म को व्याख्यायित करने के लिए उन्होंने फुटपाथ से शब्दावली का चयन किया। ऑटो रिक्शा के पीछे लिखा होता है, 'देखो मगर प्यार से'। महावीर अग्रवाल के साथ बातचीत करते हुए उन्होंने कहा, 'आलोचक का धर्म है- कृतियों को बहुत ध्यान से पढ़ना, डूबकर पढ़ना। सटीक विश्लेषण और व्याख्या करके रचना के अंतःकरण तक पहुंचना। अपने साथ पाठक को भी भीतर तक पहुंचाना। बुनियादी चीज है नई या पुरानी रचनाओं को रस लेकर पढ़ना। रचना को, पुस्तक को प्यार से देखना जरूरी है। यह बुनियादी चीज है, जिससे आलोचना पैदा होती है। प्रत्येक आलोचक अपने संघर्ष और अपनी साधना से ही अपने सच को अर्जित करता है।'

नामवर सिंह एक बड़े आलोचक का दायित्व प्रचलित कैनन (परंपरा) पर विचार करना और जरूरत हो तो उस कैनन को बदल देना मानते हैं। वीरेश चंद्र को दिए अपने साक्षात्कार में कहते हैं, इलियट ने ठीक ही कहा है कि युगों बाद किसी साहित्य में बड़ा आलोचक आता है जो उसके इतिहास को 'पुनर्व्यवस्थित' करता है। इलियट ने रिआर्डरिंग शब्द का प्रयोग किया है। व्याख्या करने वाले आलोचक तो आते ही रहते हैं, लेकिन इतिहास को बदल देने का काम करने वाले विरले ही आते हैं। मार्क्स ने भी यही कहा था 'दार्शनिकों ने अभी तक संसार की तरह-तरह से व्याख्या भर की है, जबकि असल काम तो है उसे बदलना। हिंदी में कैनन पर विचार करने वाले और उसे बदलने वालों में नामवर सिंह के अनुसार मिश्रबंधु (हिंदी नवरत्न), रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी और रामविलास शर्मा हैं। उन्होंने अपने साक्षात्कार में इन आलोचकों के कैनन निर्माण की प्रक्रिया को भी स्पष्ट किया है। अपने बारे में पूछने पर उन्होंने बताया कि 'फिलहाल अपनी भूमिका के बारे में

सिर्फ इतना ही कहना काफी है कि अभी तक मैंने कैनन निर्माण की प्रक्रिया में दो या तीन छोटे-छोटे हस्तक्षेप किए हैं। नई कविता के अंदर मुझे अज्ञेय और उनके मंडल के कवियों से भिन्न एक दूसरी परंपरा का अहसास तो 1956-57 से ही था और मैं यह महसूस करता था कि उस दूसरी परंपरा की सबसे समर्थ प्रतिभा मुक्तिबोध हैं। इस आशय के दो छोटे-छोटे लेख मैंने तभी लिखे थे लेकिन उसे व्यवस्थित रूप दिया 1968 में प्रकाशित 'कविता के नए प्रतिमान' में जिसके केंद्र में 'अँधेरे में' जैसे 'फंतासी' वाली लंबी कविताओं के रचयिता मुक्तिबोध थे। इसी क्रम में उन्होंने त्रिलोचन की तलाश और 'दूसरी परंपरा की खोज' को बताया,। 'इस पुस्तक के द्वारा सिर्फ यह कहने की कोशिश की गई है कि हमारे इतने लंबे इतिहास में अनेक परंपराएं हैं और उनके बीच टकराव और सामंजस्य की प्रक्रिया निरंतर चलती रही है। इसलिए किसी एक परंपरा को मुख्य धारा में स्थापित करने का अर्थ है अन्य परंपराओं का दमन। यद्यपि नामवर सिंह ने अपनी आरंभिक पुस्तक 'छायावाद' को कैनन निर्माण में नहीं रखा, किंतु उनका पहला कैनन निर्माण, 'छायावाद' से ही आरंभ हो गया था। उन्होंने दालित-विमर्श' और स्त्री-विमर्श को भी कैनन निर्माण की संज्ञा दी है।

नामवर सिंह के साक्षात्कार को हम 'ज्ञान का संचित कोश' कह सकते हैं। साहित्य के जटिल प्रश्न, राजनीति की उलझनें, संस्कृति के सुलगते सवाल, मार्क्सवाद की अवधारणा, प्रगतिशील साहित्य की सीमाएं और संभावनाएं, हिंदी और उर्दू के आंतरिक संबंध, संस्कृत साहित्य और काव्यशास्त्र के आतंरिक द्वंद्व, लोक साहित्य का मूल्य और महत्व, पूंजीवाद, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, रूप और वस्तु का मात्रात्मक औचित्य, फासीवाद, पेरिस्त्रोइका और ग्लासनोस्त का प्रभाव, विचारधारा, दलित-विमर्श, स्त्री विमर्श, आदिवासी विमर्श आदि सब कुछ इन संवादों में अटे पड़े हैं। इस सारी चिंताओं, सरोकारों से दो-दो हाथ करते नामवर सिंह। सभी मुद्दों पर अपना निजी विचार। भले ही ये निजी विचार, लोगों को विवास्पद लगें। नामवर सिंह की किस्मत में विवाद एक 'अनिवार्य प्रश्न' की तरह है। तभी तो उन्हें कहना पड़ा, 'जब मैं कुछ लिखता हूं तो विवाद, जब मैं बोलता हूं तो विवाद और यहां तक कि जब मैं खामोश रहता हूं तब भी विवाद।'

●

नब्बे के नामवर के नौ रत्न

बलराम

प्राचीन भारतीय साहित्य का ज्यादातर हिस्सा हमें वाचिक परंपरा से प्राप्त हुआ है। ताड़पत्र-भोजपत्र के बहुत बाद कागज और कलम युग शुरू हुआ और आज हम लिखने-पढ़ने के लिए कंप्यूटर युग में पहुंच गए हैं, जिसने हर छोटे-बड़े आदमी को लेखक-संपादक और अपने वेब पत्र का स्वामी तक होने का हुनर और अवसर प्रदान कर दिया है, लेकिन नामवर सिंह जैसे शिखर सर्जक वापस ऋषियों-मुनियों की वाचिक परंपरा की ओर मुड़ गए। हिंदी का बहुजन समाज नामवर के कागज-कलम छोड़ देने से निराश हुआ, उन पर तरह-तरह के फिकरे कसे और ताने भी मारे, लेकिन नामवर ने एक बार कागज-कलम को 'ना' बोल दिया तो फिर बोल ही दिया। उससे हिंदी साहित्य का कितना नुकसान हुआ, इसे कोई और तो क्या, शायद नामवर सिंह खुद भी नहीं जान पाए! वे नहीं जान पाए कि उनके जैसे लोग सदियों में कभी-कभी पैदा होते हैं।

जामिया मिल्लिया इस्लामिया में दिए गए उनके व्याख्यान का संक्षेपण हाउस मैगजीन में देखा तो चकित रह गया। मन में आया कि नामवर सिंह अगर इसे थोड़ा ठीक कर दें तो 'नवभारत टाइम्स' में छाप लूं। दिल्ली के त्रिवेणी सभागार में हुए एक आयोजन में भेंट हुई तो हमने अपनी मंशा जाहिर करते हुए निवेदन कर दिया। दैनिक अखबारों में छपने वाले ज्यादातर साहित्य के प्रति हिकारत का भाव रखने वाले नामवर न जाने किस भावना के वशीभूत 'हां' कर बैठे और हफ्ते भर बाद उस व्याख्यान का संपूर्ण रूप लिखकर हमें चमत्कृत कर दिया, जिसे हमने 'नवभारत टाइम्स' में अक्षरशः छापा तो उसने अखबार का आधा पृष्ठ घेर लिया यानी ढाई-तीन सौ शब्दों में छपे संक्षिप्त व्याख्यान को नामवर ने डेढ़ हजार शब्दों का बना दिया। काश! पत्र-पत्रिकाओं में छपे अपने सभी संक्षिप्त व्याख्यानों को वे इसी तरह विस्तार दे पाते! ऐसा हो पाता तो उनके जो व्याख्यान कई खंडों में छपे हैं, कम से कम दुगने खंडों में छपते। इन किताबों के संपादक आशीष त्रिपाठी के अनुसार 'साल भर तक पांडुलिपियां अपने पास रखने के बावजूद नामवरजी ने उनको हाथ तक नहीं लगाया और जस की तस हमें लौटा दीं'। पहली चार पुस्तकों के लोकार्पण कार्यक्रम में दिया गया नामवर का व्याख्यान संक्षिप्त और सारगर्भित तो था ही, थोड़ा-सा कहने और थोड़ा-सा पाठक को सोचने के लिए छोड़ देने वाले रचनात्मक सृजन जैसा मुग्धकारी भी। काशीनाथ सिंह की तरह हमारा भी मानना है कि 'आलोचना भी रचना (ही) है' और नामवरजी उसके उस्ताद सर्जक।

नामवर की किताब 'बकलम खुद' दरियागंज के फुटपाथी बाजार से खरीदी थी, जिसका दूसरा संस्करण देखने को नहीं मिला। पहला संस्करण हिमालय पॉकेट बुक्स, इलाहाबाद ने छापा था। वह

प्रति हमसे मोहन गुप्त ने ली। उनका इरादा राजकमल प्रकाशन से उसका नया संस्करण छापने का था, लेकिन वैसा वे कर नहीं सके। फिर वे राजकमल प्रकाशन से अलग हो गए। बाद में पता चला कि नामवर सिंह ने उसके लिए हामी नहीं भरी थी। खुशी की बात है कि भारत यायावर के संपादन में अब नामवर की 'प्रारंभिक रचनाएं' एक जिल्द में संग्रहीत हैं, जिसमें पूरी 'बकलम खुद' भी शामिल है।

आशीष त्रिपाठी द्वारा संपादित 'हिंदी का गद्यपर्व' नामवर की नई किताबों में संभवतः सबसे अच्छी कृति है, जिसके केंद्र में है आलोचना का राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय स्वरूप। इसके निबंधों में शामिल हैं- आलोचना की जरूरत और 'पूर्वग्रह', जार्ज लूकाच, लूसिएं गोल्डमान, रेमंड विलियम्स, परजीवी वर्ग और साहित्य, साहित्य की मुक्ति या कछुआ धर्म, नए साहित्य के मूल्यांकन की समस्याएं, हिंदी साहित्य के पषीस वर्ष, हिंदी नवजागरण, हिंदी नवजागरण की समस्याएं, भारतेंदु और भारत की उन्नति, (श्री) चंद्रधर शर्मा गुलेरी और हिंदी नवजागरण, हिंदी समीक्षा और आचार्य शुक्ल, एक अंतर्यात्रा के प्रदेश, महाजनो येन गतः, वस्तुमत्ता और लोकसामान्य, निबंध का छंद, द्वा सुपर्णा, पुनर्नवता की प्रतिमूर्ति, शिवदान सिंह चौहान : इतिहास के परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए, इतिहास की 'शव-साधना', एक और शिवपूजन सहाय, होगा कोई ऐसा भी कि भीष्म को न जाने, एक सौंदर्योपासक संत की षष्ठिपूर्ति पर संवाद, पंतजी का 'रूपाभ', सुमित्रानंदन पंत तथा आधुनिक हिंदी कविता, मित्र संवाद और गद्य की विलुप्त कला, रामकथा की उधेड़बुन और नई तारीख के काशी आदि। गुलेरीजी के नाम को नामवर ने भी लेकिन आधा अधूरा ही छपने दिया। गुलेरीजी 'चंद्रधर' नहीं, 'श्रीचंद्रधर शर्मा' रहे, जैसे श्रीकांत वर्मा। श्रीकांत वर्मा को अगर हम कांत वर्मा लिखें-बोलें तो कैसा लगेगा? बहरहाल, नामवर की नई किताबें- 'हिंदी का गद्यपर्व', 'जमाने से दो-दो हाथ', 'कविता की जमीन और जमीन की कविता', 'प्रेमचंद और भारतीय समाज', 'आलोचना और विचारधारा' तथा 'साहित्य की पहचान' आदि एक के बाद एक छपीं तो सुधी पाठकों को आश्चर्य मिश्रित खुशी हुई, क्योंकि नामवर सिंह समकालीन हिंदी के भीष्म पितामह हैं, जिनके मुकाबले में रखने लायक दूसरा बड़ा आलोचक हमारे पास नहीं, जबकि नामवर खुद कथाकार भीष्म साहनी को हिंदी का भीष्म पितामह मानते रहे। उनके निधन के बाद नामवरजी ने लिखा था : चिता सजी थी। चीरी लकडियों की शैया पर भीष्म लेटे थे। पितामह साहित्य के। इधर वेद मंत्रोच्चार और उधर पंक्तिबद्ध बौद्ध भिक्षुओं का समवेत मंत्र पाठ। गरज कि भीष्मजी के 'वांग्चू' भी इस मौके पर मौजूद थे। सेकुलर सपनों के लिए यह सब 'पिक्युलियर' था। कुछ-कुछ धर्म संकट-सा। भीष्म साहनी की अंत्येष्टि में ऐसा धार्मिक अनुष्ठान! वे भीष्म को सिर्फ 'तमस' उपन्यास के नाते जानते थे, लेकिन उन्हें पता न था कि यह 'तमस' शब्द आया कहां से है रू 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' पर उनका ध्यान शायद ही गया हो। चिता से आग की लपटें उठ रही थीं और मेरी आंखों के सामने ताजा-ताजा पढ़ी हुई 'आज के अतीत' (भीष्म साहनी की आत्मकथा) के आखिरी पन्ने फडफड़ा रहे थे, इसमें भीष्मजी लिखते हैं : वक्त बीतने पर शायद हर व्यक्ति अपने लिए एक छोटा-सा, निजी धर्म गढ़ लेता है। यह धर्म उन गिने-चुने छंदों, मंत्रों, दोहा-चौपाइयों आदि का समूह होता है, जिन्हें वह आजीवन संजोता रहता है, इसमें कभी कोई ऋचा, कभी कोई श्लोक, कभी कोई दोहा, शेर जुड़ते रहते हैं। यह छोटा-सा संग्रह निजी कोश होता है, जिनको गुनगुनाते हुए मुझे रस मिलता है, प्रेरणा मिलती है, त्राण मिलता है,

जिन्हें बुदबुदाते हुए मुझे किसी चमत्कार का-सा भान होता है, किसी छिपे हुए सत्य की झलक मिलने लगती है, मानो उसके रचयिता ने किसी गहरे रहस्य का उद्‌घाटन कर दिया है। इस संग्रह में गायत्री मंत्र का स्थान सबसे ऊपर है। इसलिए नहीं कि यह मंत्र महिमा मंडित है, इसलिए कि इसकी परिकल्पना अद्‌भुत है। विराट के परिप्रेक्ष्य में रचे गए इस मंत्र में केवल एक ही चीज की मांग की गई है : 'हमें रोशनी दो।'

यह है भीष्म साहनी के जीवन से पाया गया हिंदी के भीष्म पितामह नामवर का सच, जिसे पढकर वामपंथी मित्र भी चाहें तो भारतीय जीवन-जगत के मर्म को समझ सकते हैं। ऐसे लेखों के जरिए हम अपना ध्यान नामवर की सर्वोत्तम कृति 'हिंदी का गद्यपर्व' पर केंद्रित कर यह जानने की कोशिश कर सकते हैं कि हिंदी साहित्य के इस अपराजेय योद्धा की पुनर्नवता का रहस्य छिपा है? नामवर की अन्य पांच कृतियों में जहां ज्यादातर उनके व्याख्यान हैं, वहीं 'हिंदी का गद्यपर्व' में ज्यादातर उनके द्वारा लिखे गए निबंध संग्रहीत हैं, जिनमें से अधिकतर 'आलोचना' के संपादकीय हैं। कुछ लिखकर पढ़े गए व्याख्यान भी यहां हैं, जो दूसरी पत्रिकाओं-पुस्तकों में छपे हैं, लेकिन 'हिंदी का गद्यपर्व' में पहली बार एकत्र होकर पाठकों के सामने आए हैं। इसमें एक तरफ सन् 1950 में आचार्य रामचंद्र शुक्ल पर लिखा गया मात्र तेइस वर्ष के नामवर का पहला आलोचनात्मक निबंध है तो सन् 2008 में प्रकाशित निबंध 'पुनर्नवता की प्रतिमूर्ति' भी। इस तरह 'हिंदी का गद्यपर्व' नामवर की साठ बरस की साहित्य साधना का प्रतिनिधि संचयन बन गया है।

नामवर की इस कृति में एक तरफ वैश्विक पृष्ठभूमि वाले आलोचकों- जॉर्ज लूकाच, लूसिएं गोल्डमान और रेमंड विलियम्स पर विस्मयकारी निबंध हैं तो दूसरी तरफ आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ. रामविलास शर्मा पर लिखे गए विचारोत्तेजक आलेख भी। नामवर की दीर्घ साहित्य साधना में पुस्तक समीक्षाओं का स्थान लगभग नहीं के बराबर है, लेकिन 'हिंदी का गद्यपर्व' में उनकी लिखी पांच पुस्तक समीक्षाएं शामिल हैं सो, यह मनोरम कृति न सिर्फ पठनीय, बल्कि संग्रहणीय भी है।

बीबीसी से की गई वार्ता में नामवर ने कहा था कि 'हिंदी के बड़े रचनाकारों में कबीर अपने दौर में जो भूमिका अदा कर रहे थे, उसी का विकास पांच सौ वर्ष बाद प्रेमचंद ने किया। प्रेमचंद एक लंबी परंपरा को आगे ही नहीं बढ़ा रहे थे, बीसवीं सदी की भाषा में उसका विकास भी कर रहे थे। सन् 19-0 के आसपास उन्होंने कहा था कि वे जो कुछ लिख रहे हैं, उपनिवेशवादी शासन से भारत को मुक्त कराने और स्वराज प्राप्त करने के लिए लिख रहे हैं, लेकिन जॉन की जगह गोविंद को बिठा देना स्वराज नहीं है, बल्कि देश को सामाजिक स्वाधीनता भी चाहिए। सामाजिक स्वाधीनता से उनका तात्पर्य था- संप्रदायवाद, जातिवाद और छूआछूत से समाज की मुक्ति। स्त्रियों की स्वाधीनता भी उसमें शामिल थी। उनकी रचनाओं पर नजर डालें तो उसमें जमींदार के खिलाफ गरीब किसानों और जाति व्यवस्था के खिलाफ दबे-कुचले लोगों की लड़ाई है। लोग उन्हें गांधीवादी कहते हैं, लेकिन वे गांधी से भी दो कदम आगे बढकर आंदोलन और क्रांति की बात करते हैं। यशपाल यद्यपि भगत सिंह और चंद्रशेखर आजाद की पृष्ठभूमि से आए थे तो भी वे प्रेमचंद की परंपरा को आगे बढ़ाते हैं। प्रेमचंद से ही किसानों की लड़ाई वाला पहलू नागार्जुन लेते हैं। फणीश्वरनाथ रेणु समाजवादी विचारधारा के थे, लेकिन उनका 'मैला आंचल' प्रेमचंद के 'गोदान' के बाद सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास

है। बंटवारे के बाद राही मासूम रजा ने 'आधा गांव' लिखा तो शानी ने 'काला जल'। अमृतलाल नागर ने भी 'बूंद और समुद्र' लिखा, जो लखनऊ को आधार बनाकर भारतीय समाज में सांप्रदायिक सद्भाव को प्रकट करता है। कुल मिलाकर प्रेमचंद एक महासागर थे। उनकी जितनी व्यापक भूमि किसी अन्य हिंदी लेखक के पास नहीं।' नामवर का यह वार्ता लेख उनकी किताब 'प्रेमचंद और भारतीय समाज' की भूमिका जैसा बन गया है।

इसी किताब के लेख 'जीवन और विचारधारा' में नामवर ने प्रेमचंद का परिचय कुछ यों दिया है : '1 जुलाई, 1880 को डाक मुंशी अजायबलाल के घर जन्मे प्रेमचंद को पिता से जो नाम मिला, वह था धनपत राय और चाचा उन्हें नवाब राय कहते थे, लेकिन उनकी किस्मत में न धनपति होना लिखा था, न नवाब। सात साल के थे तो मां चल बसीं। पंद्रह के हुए तो बाप न रहे। शादी जरूर हो गई थी, लेकिन बीवी से न बनी। लिहाजा दूसरी शादी बाल विधवा शिवरानी देवी से की, जो उस जमाने को देखते हुए एक क्रांतिकारी कदम था। ट्यूशन कर और किताबें बेचकर किसी तरह इंट्रेंस पास किया। फिर स्कूल टीचर हो गए। सन् 1921 में असहयोग आंदोलन छिड़ा तो महात्मा गांधी के आह्वान पर सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया। सरकारी नौकरी का ज्यादातर समय गोरखपुर में बीता। फिर आठ-नौ साल बनारस, कानपुर और लखनऊ में छोटी-मोटी नौकरियां कीं। अंत में सन् 19-0 में बनारस आकर प्रेस और प्रकाशन शुरू किया। सन् 19-4 में एक फिल्म कंपनी के निमंत्रण पर बंबई गए, लेकिन साल भर में ही घबराकर लौट आए। शरीर टूट गया था। बीमार पड़े और 8 अक्टूबर, 19-6 को दिवंगत हो गए।' यह है नामवर की प्रतिभा का वह कमाल, जिसके जरिए वे सागर को गागर में भर लेने का करिश्मा तो कर ही दिखाते हैं, हिंदी साहित्य की 'दूसरी परंपरा की खोज' भी कर डालते हैं। इसी नाम से नामवर की बहुचर्चित किताब छपी है। बहरहाल, भारतीय समाज के संदर्भ में प्रेमचंद को रेखांकित करने वाले नामवर के उन्नीस आलेख और व्याख्यान 'प्रेमचंद और भारतीय समाज' में संग्रहीत हैं, जिनसे प्रेमचंद को नए तरीके से देखने-समझने की दृष्टि मिलती है।

'प्रेमचंद और भारतीय समाज' में संग्रहीत लेखों पर नजर डालते ही स्पष्ट हो जाता है कि इसमें क्या-क्या है : प्रेमचंद- हिंदी के पहले प्रगतिशील लेखक, जीवन और विचारधारा, स्वाधीनता संघर्ष और समाजवादी चेतना, विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता, भारत के आरंभिक उपन्यास : देश और उपन्यास का साथ-साथ जन्म, उपन्यास और राजनीति, अंग्रेजी ढंग का नॉवेल और भारतीय उपन्यास, भारतीय उपन्यास और प्रेमचंद, प्रेमचंद और भारतीय कथा साहित्य में भारतीयता की समस्या, प्रेमचंद : दृष्टि और कला रचना, सादगी का सौंदर्यशास्त्र, सांप्रदायिकता का सवाल, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन और प्रेमचंद, प्रेमचंद के वैचारिक अंतर्विरोध और गांधीवाद, स्वाधीनता संग्राम का वर्ग चरित्र और 'गोदान', 'गोदान' को फिर से पढ़ते हुए, दलित साहित्य और प्रेमचंद तथा प्रेमचंद और तोल्स्तोय।

बड़े और छोटे अनेक लेखकों की रचनावलियां प्रकाशित हो गईं, लेकिन 'प्रेमचंद रचनावली' का प्रकाशन न प्रेमचंद के पुत्र-पौत्र कर-करवा सके, न ही उत्तर प्रदेश अथवा भारत सरकार का कोई संस्थान। नामवर इससे काफी व्यथित रहते थे। बातों-बातों में एक बार उन्होंने अपनी यह व्यथा उजागर की तो फिर रामानंद के साथ हम लोगों ने 'प्रेमचंद रचनावली' संभव की, जिसका लोकार्पण बिहार विधानसभा सभागार, पटना में हुआ था।

समारोह की अध्यक्षता करते हुए नामवर ने कहा था कि 'कथा सम्राट प्रेमचंद बीसवीं सदी के व्यास हैं और उनका साहित्य भारत के किसानों का महाभारत। प्रेमचंद के निधन के साठ वर्ष बाद प्रेमचंद की संपूर्ण रचनाएं रचनावली के रूप में प्रकाशित हुई हैं, जिसके लोकार्पण का गौरव पाटलीपुत्र की ऐतिहासिक धरती को प्राप्त हुआ। यह एक ऐतिहासिक क्षण है। प्रेमचंद के देहांत के बाद साठ वर्षों में न जाने कितने नामी-बेनामी रचनाकारों की रचनावलियां प्रकाशित हुईं, लेकिन प्रेमचंद लगातार उपेक्षित होते रहे। कबीर की तरह प्रेमचंद ने भी अपनी रचनाओं में संप्रदायवाद के विरुद्ध हिंदू-मुसलमान दोनों को फटकारा और दोनों को जोड़ने का काम भी किया। उनका सपना आज भी भारत के करोड़ों गरीबों-दलितों और शोषितों की आंखों में जिंदा है। प्रेमचंद का साहित्य उनके सपनों को जिंदा रखने की प्रेरणा देता है। आजादी के संघर्ष में सम्प्रदायवाद एक बड़ा रोड़ा था और प्रेमचंद ने अपनी कृतियों में उस पर प्रहार करते हुए दलितों की पीड़ा और उनके संघर्ष को वाणी दी। इस संदर्भ में 'मंत्र', 'सद्गति', 'ठाकुर का कुआं' और 'दूध का दाम' जैसी कहानियां याद आती हैं।

प्रेमचंद के 'कर्बला' नाटक की हिंदू-मुसलमान दोनों ने बड़ी आलोचना की, लेकिन कबीर की परंपरा का निर्वाह करते हुए प्रेमचंद साहस से अपने मत पर कायम रहे। 'हिंसा परमो धर्मः' कहानी को भी याद किया जा सकता है, जिसका नायक पंडित और मुल्ला, दोनों से पिटता हुआ भी मनुष्यता की रक्षा करता है। शायद इसीलिए प्रेमचंद ने कहा था कि साहित्य राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई नहीं, आगे चलने वाली मशाल है। एक बार जब प्रेमचंद से पूछा गया कि आपकी सबसे अ'छी कृति कौन-सी है तो उन्होंने 'रंगभूमि' का नाम लिया था। 'रंगभूमि' प्रेमचंद का वह उपन्यास है, जिसका नायक सूरदास अंधा और दलित है। इसी तरह प्रेमचंद की रचनाओं में भारतीय स्त्रियों की व्यथा और उनकी तेजस्विता प्रकट हुई है। उनके उपन्यास 'निर्मला' की नायिका हो, 'गबन' की जालपा या 'गोदान' की धनिया, ये सब प्रेमचंद की ऐसी नायिकाएं हैं, जो भारतीय समाज में नारी व्यथा का मूर्तरूप हैं और तेजस्विनी भी। 'गोदान' की धनिया एक ऐसी नारी है, जो झुनिया जैसी दलित औरत को अपने घर में रखने का साहस करती है।' पटना में दिया गया नामवर का वह व्याख्यान लेकिन उनकी इस किताब में शामिल नहीं है। उसका पूर्ण रूप हासिल होना अभी शेष है। बहरहाल, प्रेमचंद के जीवन और साहित्य पर नामवर के ऐसे तमाम निष्कर्ष उनकी इस किताब में भरे पड़े हैं, जिनका पूरा आनंद उन्हें पढ़े बिना नहीं पाया जा सकता।

छह किताबों के अलावा अशीष ने नामवर की भेंटवार्ताओं की किताबें भी संपादित की हैं- 'सम्मुख' तथा 'साथ-साथ'। भारत यायावर के संपादन में नामवर की 'प्रारंभिक रचनाएं' भी अब उपलब्ध हैं। इस तरह नब्बे के बाद नामवर की नौ नई किताबें भी उनकी पुस्तक सूची में शामिल हो गई है, जिन्हें हम नब्बे पार के नामवर के नौ नए रत्न कह सकते हैं।

आठ पुस्तकों के संपादन-प्रकाशन पर आशीष त्रिपाठी नए 'साहित्य की पहचान' की भूमिका में लिखा है कि इन पुस्तकों में प्रकाशित सामग्री पिछले साठ बरस की दीर्घ अवधि में लिखित एवं प्रकाशित, किंतु पुस्तक रूप में असंकलित रही है। खोज का यह काम सन 2005 में प्रारंभ हुआ। प्राप्त सामग्री के लगभग दो हजार पृष्ठों में नामवर के आलेख, व्याख्यानों के लिप्यांतरित पाठ, वाचिक टिप्पणियां, व्यक्तिगत साक्षात्कार एवं सामूहिक परिसंवाद शामिल हैं। इसके बावजूद अनेक व्याख्यान और आलेख खोजे जाने अभी शेष हैं। इन आठ पुस्तकों में कुछ पुस्तकें विषयवार हैं तो लिखित और

वाचिक अलग-अलग पुस्तकें भी। इन आठ पुस्तकों के अलावा नवीं पुस्तक भारत यायावर ने संपादित की है- प्रारंभिक रचनाएं, जिसके पहले खंड में नामवर की कविताएं हैं तो दूसरे खंड में किसिम-किसिम की गद्य रचनाएं। पुस्तक के तीसरे खंड में उनकी प्रारंभिक पुस्तक 'बकलम खुद' संग्रहीत है। इस तरह नामवर की इन नौ पुस्तकों में उनके सृजन के नौ रंग देखे जा सकते हैं, जो उनके सर्जक को नव रूप प्रदान करते हैं। रामविलास शर्मा के मोटे-मोटे पोथों के समक्ष नामवर की चंद छोटी-छोटी पुस्तकें देखकर लोग नामवर के वाचिक परंपरा में चले जाने को लेकर उनका उपहास करते थे, लेकिन अब नब्बे के नामवर की प्रकाशित नौ नई कृतियां उनके उन निंदकों का उपहास कर रही है। इस संदर्भ में भेंटवार्ताओं की पुस्तक 'सम्मुख' में प्रियंवद के सवाल पर दिया गया नामवर का जवाब ध्यान देने योग्य है : 'कई योजनाएं मेरी हैं और वे नहीं हो पाईं। इसमें दोष किसी को नहीं देना है। इसको कहें जैसे... ऐसा संकल्प लेना है, जैसा रामविलासजी ने ले लिया था। संन्यास ले लिया था-किसी गोष्ठी में नहीं जाना है, कहीं भाषण करने नहीं जाना है, बैठ करके लिखना है। तो यह काम मैं नहीं कर सका। कमजोरी कह लीजिए। कोई आता है तो न करना नहीं जानता। इसलिए अब भी जो कुछ थोड़ा समय बचा है, मैं सोचता हूं कि कहीं से किसी प्रकार यह हो कि दिल्ली से बाहर जाना और दिल्ली में भी गोष्ठियों में जाना बंद करूं और जो कुछ इतने नोट्स बना करके रखे हुए हैं- ढेरों हैं... देखिए, रामविलासजी उस तरह का दृढ़ निश्चय कर सके। उन्होंने तय कर लिया था- नहीं जाना है। पर वे लिखते नहीं थे, वो बोलकर लिखवाया करते थे। मैं डिक्टेट नहीं कर सकता। नोट्स बने हुए हैं। मैं तो अपने हाथ से ही लिख सकता हूं, वह भी कलम से। टाइपराइटर या कंप्यूटर से मैं लिख नहीं सकता। पछतावा इसी चीज का है मुझे...जो कुछ चीज हैं मेरे दिमाग में, योजनाएं बनी हुई हैं, उनको पूरा करके मैं लिख जाना चाहता हूं। संकल्प करके रामविलासजी ने जो लिखा है, बस ऐसा ही लिखा है, वैसा मैं नहीं लिखना चाहता।'

बीसियों वर्ष पहले नामवर ने खुद को लिखते-पढ़ते मानुष की बजाए 'दुर्दम्य' वक्ता के रूप में ढाल लिया था और देश के कोने-कोने में वक्तृता की दुंदुभी बजाते रहे। काश! वह दुंदुभी वाणी की बजाय कलम से बजाते।

●

दूसरी परंपरा : विरोध नहीं विकल्प

मनोज कुमार सिंह

प्रत्येक समाज में प्रचलित व्यवहारों को ध्यान में रखकर ही सिद्धांतकार प्रायः सिद्धांत निर्माण करता है। बिना व्यवहार के सिद्धांत विश्वसनीय नहीं हो सकता। युग-विशेष अपने सिद्धांतकार को परिस्थितियों के बीच से पैदा करता है। सिद्धांतकार की पूंजी होती है, वर्तमान स्थिति और अतीत से संग्रहीत अनुभव। इन दोनों को आत्मसात करके वह अपने समय के मूल्य का निर्माण करता है। पहले से चले आ रहे सिद्धांत उसको अपने युग के लिए अपर्याप्त दिखते हैं, इसलिए वह तोड़ता और जोड़ता हुआ एक नई परंपरा का निर्माण करता है। समाज कभी भी 'समरस' नहीं रहा है। हमेशा वर्गभेद मौजूद रहा है। इसका प्रमाण आज तक का इतिहास है। एक वर्ग जो वर्चस्व की स्थिति में होता है वह बाकी समाज पर अपनी रुचि और विश्वास दोनों सिद्धांत रूप में लाद देता है। जाहिर है कि इसका प्रभाव कला और साहित्य पर भी समान रूप से पड़ता है। भारतीय साहित्य और कलाओं के संदर्भ में देखा जाए तो यहां अभिजन पर जन की कलाओं का प्रभाव अधिक है। भारतीय दर्शन के इतिहास में वर्चस्व तो हमेशा अभिजन का ही रहा है लेकिन जन का दर्शन असंगठित होते हुए भी कभी इतना कमजोर नहीं रहा कि उसे अभिजन का दर्शन आसानी से पचा सके।

आधुनिक युग में भौतिकवादी दर्शन का जब से वर्चस्व हुआ है, अभिजन पर जन का दबाव बढ़ा है। जन अपनी संपूर्ण रचनात्मक क्षमता के साथ विश्व-पटल पर उभरकर सामने आया है। आधुनिक युग में जन के विशृंखलित चिंतन और परंपराओं को मध्यवर्ग के बुद्धिजीवियों ने एक संगठित दर्शन के रूप में पेश किया। मार्क्स इसका सबसे बड़ा प्रवक्ता हुआ। आधुनिक विश्व का यह सबसे प्रभावशाली दर्शन है। इससे कला, साहित्य, संगीत सब प्रभावित हुए। राजनीति में इसका प्रभाव बहुत व्यापक हुआ। विश्व के तमाम गुलाम देश इस दर्शन में अपनी मुक्ति का मार्ग देखने लगे। भारतीय राजनीति और साहित्य भी इससे अप्रभावित नहीं रह सका। भारत एक प्राचीन देश है। यहां की परंपराएं इतनी गहरी हैं कि कोई भी नई चीज इसको उस तरह प्रभावित नहीं करती जैसे कि अन्य देशों को। फिर भी यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि भारतीय बुद्धिजीवियों पर इस वाद का भरपूर प्रभाव पड़ा। वे इस दर्शन के आलोक में अपनी कलाओं, साहित्यिक परंपराओं और सामाजिक रीति-रिवाजों का मूल्यांकन करने लगे। आधुनिक हिंदी साहित्य पर इस दर्शन का प्रभाव रचनाकारों और समीक्षकों दोनों वर्गों पर समान रूप से पड़ा। हिंदी साहित्य का आधुनिक काल अभिजन के स्थान पर जन का ही उभार है। यह बात स्पष्ट हो जाएगी जब हम रीतिकाल के सामने भारतेन्दु युग को रखकर देखेंगे। गद्य जो मूलतः हिंदी साहित्य में आधुनिक काल की उपज है, उसमें

जन का उभार और स्पष्ट है। गद्य में जन केन्द्रीय भूमिका में है। कविता में जो रीतिवादी चलन था वह भी भारतेन्दु काल तक आते-आते अपनी अंतिम सांसें ले रहा था। निराला तक आते-आते हिंदी कविता ने जन के माध्यम से अपना सौंदर्यशास्त्र विकसित कर लिया। छायावाद युग में आचार्य शुक्ल ने अपने युग के अनुरूप हिंदी काव्यशास्त्र का निर्माण किया। उन्होंने परंपरागत रस-सिद्धांत को जन से जोड़कर उसकी प्रासंगिकता को अपने समय तक विस्तार दे दिया। थोड़े ही दिनों बाद आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उस परंपरागत काव्यशास्त्र को और अधिक व्यापक, संभावनाशील और लचीला बनाया। ऊपर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि द्विवेदीजी ने परंपरागत काव्यशास्त्रीय ढांचे को उलट दिया है लेकिन जिन मूल्यों को केंद्र में रखकर उन्होंने आलोचना की है, वे शास्त्र समर्थित हैं। द्विवेदीजी की आलोचना को केन्द्र में रखकर डॉ. नामवर सिंह ने शास्त्र के विरुद्ध लोक के मूल्यों को केंद्र में रखकर यह प्रमाणित करने की कोशिश की है कि यह वर्चस्ववादी काव्यशास्त्र के ऊपर लोकवादी परंपरा की 'दूसरी परंपरा' है। इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए डॉ. नामवर सिंह ने 'दूसरी परंपरा की खोज' (1983 ई.) के अलावा सन् 1987 के अक्टूबर-दिसंबर 'आलोचना' अंक में 'कविता की दूसरी परंपरा' नाम से संपादकीय लिखा, जिसमें परंपरागत काव्यशास्त्र और दर्शन दोनों पर उनकी टिप्पणी है-

'सहृदय केंद्रीय रस-ध्वनि की काव्यशास्त्रीय परंपरा मूलतः अभिजात काव्य-दृष्टि की सृष्टि थी और व्यवहार में अभिजात अभिरुचि की पोषक भी। संस्कृत काव्यशास्त्र में इस रस-दृष्टि की क्रमिक प्रतिष्ठा और अंततः वर्चस्व अकारण और आकस्मिक घटना नहीं है। दर्शन में वेदांत और काव्यशास्त्र में रस सिद्धांत की विजय समानांतर घटनाएं हैं और परंपरा संबद्ध भी। लक्ष्य दोनों का एक है। लोकधर्मी परंपरा का दमक।'[1]

जबकि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मानना है - यह 'रस' ही भारतीय शिल्प और कला का प्राण है।[2] यहां आचार्य द्विवेदी जब 'भारतीय' का प्रयोग करते हैं तो वह लोक और शास्त्र का भेद न कर संपूर्ण भारतीयता की बात करते हैं। इसी क्रम में अगर हम रामचंद्र शुक्ल को देखें तो वे भी वेदांत और अद्वैत पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं - 'भेदों में अभेद' दृष्टि ही सच्ची तत्व दृष्टि है। इसी के द्वारा सत्ता का आभास मिल सकता है। यही अभेद ज्ञान और धर्म दोनों का लक्ष्य है। विज्ञान इसी अभेद की खोज में है, धर्म इसी की ओर दिखा रहा है।'[3]

निराला ने अपने निबंध 'साहित्य की समतल-भूमि' में लिखा है - 'ज्ञान का शिखर वेदांत है। विश्वमैत्री इसकी शिक्षा है। पूर्णता इसका प्राण है और हिंदुओं की शाखाएं इसके अंग-प्रत्यंग।' आगे निराला ने 'मीर' की गजल के चंद शेरों को उद्धृत किया है -

'वो क्या चीज है आह! जिस के लिए।
हर एक चीज से दिल उठाकर चले॥
दिखाई दिये 'यूं' कि बेखुद किया।
हमें आप से भी जुदा कर चले॥
परस्तिश की यां तक कि ऐ बुत! तुझे।
नजर में सबों की खुदा कर चले॥'

इस पर निराला की टिप्पणी है - 'वेदांत के चुने हुए भाव हैं। हर एक चीज से उठकर मीर का दिल खुदा पर लगता है। उन्हें नश्वर और अविनश्वर की सूझ हो गई है। अंतिम शेर में तो कमाल

कर दिया है। पूजा और अद्वैतवाद।'[4]

इससे तो यही साबित होता है कि उपरोक्त रचनाकार और आलोचक दोनों ही अभिजात वर्ग के हैं, क्योंकि सभी अद्वैत वेदांत और रस के समर्थक हैं। अगर रामचंद्र शुक्ल, निराला, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि सभी अभिजन हैं तो हिंदी की किस परंपरा को जन की परंपरा माना जाए? 'कविता की दूसरी परंपरा' वाले संपादकीय लेख में नामवर सिंह ने योगेश्वर और धर्मकीर्ति आदि संस्कृत के उपेक्षित कवियों की परंपरा से हिंदी कविता को जोड़ते हुए लिखा है - हिंदी में जैसी सुरुचि संपन्न कविता का वर्चस्व था उसकी चकाचौंध में इस ग्रामीण कविता का अदृश्य रहना आश्चर्य की बात नहीं। यदि नागार्जुन त्रिलोचन की कविता अपना तेज प्रकट न करती तो शायद अब भी हिंदी के लिए वह संस्कृत कविता अपरिचित ही रहती। और आज भी यदि कमलेश दत्त त्रिपाठी और राधा वल्लभ त्रिपाठी जैसे प्रबुद्ध पंडितों ने इस दिशा में पहल की तो उसका एक कारण यह भी है कि वे रंगकर्म से जुड़े हैं और भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के आधार पर विशेष रूप से लोकधर्मी काव्य-परंपरा को पुनर्जीवित करने का साहसिक प्रयास कर रहे हैं। नाट्यशास्त्र के संस्कारवश ही राधा वल्लभ ने कविता की इस दूसरी परंपरा को 'लोकधर्मी' कहा है। लोकधर्मी होने के कारण ही राधा वल्लभ के लिए यह कविता की 'दूसरी परंपरा' है और कमलेश दत्त के लिए 'दूसरी धारा' क्योंकि संस्कृत कविता की प्रमुख अभिजात धारा से यह अलग है।'[5]

आगे स्वभावोक्ति अलंकार को केंद्र बनाकर और इसी को जन के काव्यशास्त्र का सूत्र मानकर नामवर सिंह ने लिखा है -

'काव्यशास्त्र में प्रधानता वस्तुतः स्वभावोक्ति विरोधी परंपरा की ही है। आनंदवर्द्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ - जैसे प्रतापी आचार्य इसी परंपरा में आते हैं। काव्यशास्त्र में आचार्यों की यह महान परंपरा आपाततः तो स्वाभावोक्ति का विरोध अलंकार के शास्त्रीय स्तर पर ही कर रही थी, किन्तु वस्तुतः इस प्रक्रिया में स्वभावोक्ति की अंतर्वस्तु भी तिरस्कृत हो रही थी। यह अंतर्वस्तु है लोक जीवन का चित्रण। कविता का लोकधर्म। स्वभाव का अर्थ ही है लोकधर्म। भरतमुनि का भी कहना है - 'स्वभावो लोकधर्मी तु।' इसलिए स्वभावोक्ति संबंधी समूचा विवाद संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में प्रभुत्वशाली विचारधारा द्वारा 'दूसरी परंपरा' के दमन के उदाहरणों में से एक है।'[6]

उस संपादकीय लेख के माध्यम से नामवर सिंह ने संस्कृत काव्यशास्त्र में चली आ रही जनवादी परंपरा को रेखांकित करने की कोशिश की है जो वर्चस्ववादी आचार्यों द्वारा बार-बार उपेक्षित की जाती रही। ध्वन्याकार के संबंध में लेखक की यह टिप्पणी बड़े महत्व की है कि 'क्या रहा होगा उस अलंकार शास्त्र के ग्रंथ में जिसके कारण वह लोप की गति को प्राप्त हुआ? आनंदवर्द्धन ने 'ध्वन्यालोक' के तृतीय उद्योत का अंत जिस प्रकार धर्मकीर्ति के अनाख्येयवाद के खंडन के साथ किया है उससे स्पष्ट है कि धर्मकीर्ति का मत 'ध्वनि सिद्धांत' के लिए बहुत बड़ी चुनौती है- विशेषतः शब्दार्थ संबंध के दार्शनिक स्तर पर। तो क्या प्रभुत्वशाली अभिजात वर्ग के काव्य सिद्धांत को चुनौती देकर धर्मकीर्ति ने लोकधर्मी काव्य परंपरा का पथ प्रशस्त करने में परोक्षतः योग दिया था? कौन जाने।'[7]

जिस 'सुभाषितरत्नकोश' और 'सदुक्तिकर्णामृत' को संपादित कर डी.डी. कोसांबी ने सभी के लिए सुलभ किया उसी कोसाम्बी पर डॉ. नामवर सिंह की टिप्पणी है -

'कोसांबी की दृष्टि में भारतीय इतिहास की आठवीं शताब्दी के बाद की कम से कम तीन-चार शताब्दियां पतनकाल हैं - ऐसा पतनकाल जिसमें नये विकासमान वर्ग का उदय नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में किसी प्रकार की श्रेष्ठ काव्य रचना कोसांबी के कयास के बाहर की चीज है। दुर्भाग्य से 'सुभाषितरत्नकोश' और 'सदुक्तिकर्णामृत' के लोकधर्मी कवियों का रचना-काल यही 'पतनोन्मुख युग' है। युग की अपनी ऐतिहासिक 'परिकल्पना' अथवा 'पुनर्निर्मिति' और प्रस्तुत कविता में असामंजस्य देखकर इतिहासकार कोसाम्बी अपनी ऐतिहासिक परिकल्पना पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता नहीं समझते, उलटे उस कविता पर ही पफैसला दे डालते हैं। कितनी बड़ी विडम्बना है कि जिस विद्वान को 'सुभाषितरत्नकोश' की लोकधर्मी कविता के उद्धार का श्रेय है, उसी का ध्येय इस कविता का तिरस्कार है।'[8]

डॉ. नामवर सिंह हिंदी के मार्क्सवादी आलोचकों में अपने रूपवादी रुझान के लिए बदनाम हैं। शायद इसीलिए वे गैर बिरादरी में भी संभावना की दृष्टि से देखे जाते हैं। उनका मानना है कि विचारध ारा से कला और साहित्य इतने बद्धमूल नहीं हैं कि उसके साथ यांत्रिक ढंग से बर्ताव किया जाये। इसीलिए साहित्य और कला के मूल्यांकन में विचारधारा का महत्व होते हुए भी साहित्यिक परंपराओं और जन-संस्कृतियों का महत्व केंद्रीय है। अपनी इन्हीं प्रतिबद्धताओं के कारण नामवर सिंह की यह टिप्पणी जो मार्क्सवादियों पर की गई है, विश्वसनीय और महत्वपूर्ण है- 'जहां तक लोकधर्मी संस्कृत कविता की नियति का प्रश्न है, अतीत में यदि उसे अभिजात काव्यशास्त्र से क्षति पहुंची तो आधुनिक युग में जिस मार्क्सवाद से न्याय की उम्मीद थी उसने भी एक हद तक निराश ही किया। कवि धर्मकीर्ति को समानधर्मा न आनंदवर्द्धन में मिला न डी.डी. कोसांबी में। गनीमत इतनी है कि 'मार्क्सवादी' अभी अपने यहां प्रभुत्व की स्थिति में नहीं हैं। यही नहीं बल्कि वह कठमुल्लापन से क्रमशः मुक्त होता हुआ ठेठ भारतीय यथार्थ से जूझने का कठिन प्रयास कर रहा है। इसलिए आज के धर्मकीर्ति को निराश होकर 'कथंन्वहमेककः' कहने की आवश्यकता नहीं है। क्या हमारे नागार्जुन को कभी किसी ने ऐसा कहते सुना है? कवि नागार्जुन के सामने लोकधर्मी कवियों की लंबी परंपरा है। हिंदी में भी। संस्कृत में भी। धर्मकीर्ति को अपने पीछे आने वाले जिन कवियों का अहसास न था, वे कवि अब नागार्जुन के सामने प्रत्यक्ष हैं। 'सुभाषितरत्नकोश' और 'सदुक्तिकर्णामृत' के योगेश्वर, अभिनंद आदि एक दर्जन से अधिक कवि। इस काव्य परंपरा पर नये पैरों के भी निशान सापफ दिखायी पड़ रहे हैं। पीछे आने वाले युवा कवियों का भी एक सिलसिला जारी है। धर्मकीर्ति के शब्दों में 'स खलु वामः पन्था।' यह लोकधर्मी काव्य है। कविता की दूसरी परंपरा।'[9]

नामवर सिंह, अब तक ज्ञात सभी लोकवादी साहित्यिक परंपराओं के बीच से जो सूत्र निकाल पाये हैं उसे वे 'दूसरी परंपरा' नाम से अभिहित करते हैं। धर्मकीर्ति और योगेश्वर वाली संस्कृत कविता की दूसरी परंपरा से नामवर सिंह ने नागार्जुन और त्रिलोचन को जोड़कर यह साबित किया है कि निरंतर दबी कुचली हुई यह लोकवादी परंपरा हिंदी में अब अभय होकर फल-फूल रही है।

किसी भी रचनाकार के अंतर्विरोध बाद की पीढ़ियों के सामने स्पष्ट होते हैं और नई पीढ़ी की यह जिम्मेदारी है कि वह रचनाकार के प्रगतिशील पक्षों की प्रशंसा के साथ ही उस रचनाकार के अंतर्विरोधों को भी सामने लाये। तभी एक स्वस्थ व तर्कपूर्ण परंपरा का विकास संभव है। हिंदी के अनेक आलोचकों का मानना है कि नामवर सिंह ने 'दूसरी परंपरा की खोज' में द्विवेदीजी के

अंतर्विरोधों को उजागर नहीं किया है। कुछ लोगों का तो यहां तक कहना है कि वे द्विवेदीजी की धारणाओं को स्पष्ट करने के बजाय उसको अपनी विचारधारा की पुष्टि के लिए इस्तेमाल करते हैं। जिस लोक को नामवर सिंह 'दूसरी परंपरा' मानते हैं जो शास्त्र के विरोध में खड़ा किया गया है- उस लोक और शास्त्र के भेद को ही आलोचकों ने खारिज किया है। उनका मानना है कि भारतीय संदर्भ में यह लोक और शास्त्र का भेद ठीक नहीं। द्विवेदीजी के हवाले से ही उन आलोचकों ने साबित किया है कि भारतीय साहित्य और कलाओं में लोक और शास्त्र एक दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि पूरक हैं। कुछ लोगों का मानना है कि 'दूसरी परंपरा' की चर्चा मूलतः पश्चिमी चिंतन को केंद्र में रखकर उठाई गई है। इस बात को रमेश चंद्र शाह ने 'पूर्वग्रह' जुलाई-अक्टूबर 1987 अंक के 'आत्मबोध की परंपरा और उसका विकल्प' नामक अपने लेख में हेगेल को उद्धत कर स्पष्ट किया है -

'हेगेल का कहना था कि एक योरोपवासी की अस्मिता उसकी आत्म चेतना में वास करती है और वह आत्मचेतना हमेशा दूसरों के विरुद्ध होकर ही अपने को प्रतिष्ठित कर सकती है। किंतु जिस आत्मचेतना के द्वारा एक भारतीय बाहरी दुनिया से अपना रिश्ता जोड़ता है, उसकी अभिव्यक्ति कभी ऐसे अहम् में नहीं होती जो दूसरे व्यक्तियों के अहम् के विरुद्ध संघर्ष करने में ही अपना अर्थ पाता हो। इसके बिल्कुल विपरीत भारतीय चेतना दूसरों के विरुद्ध नहीं, दूसरे के साथ ऐसे अनुष्ठानों, मिथकों, प्रतीकों और विश्वासों के माध्यम से जुड़ी है जिसे वह समाज के अन्य लोगों के साथ एक स्मृति के द्वारा साझा करती है। समाज के लोगों की यह सामान्य स्मृति हर व्यक्ति के आत्म (सेल्फ) की सीमाओं को बढ़ा देती है। इसीलिए एक भारतीय का सेल्प (आत्फ) एक योरोपीय के अहम् से बहुत अलग है, उसमें दूसरे के प्रति विरोध नहीं, बल्कि दूसरे भी उसके अस्तित्व उसके 'मैं' में शामिल है।'[10]

इस कथन को आधार मानकर रमेशचंद्र शाह ने दूसरी परंपरा की आलोचना की है। उन्होंने निर्मल वर्मा को उद्धृत कर आगे लिखा है कि- 'परंपरा बोध और इतिहास बोध का हमारे लिए क्या अर्थ है? क्यो दोनों उसी तरह हमारे लिए पर्यायवाची हैं जिस तरह टी.एस. एलियट के लिए? कहां तक यह इतिहास बोध हमारे आत्मबोध का स्वाभाविक रूप से विकसित अंग है और कहां तक एक अध्यारोप? क्या यह सचमुच हमारे परंपरागत अवस्थिति बोध को विक्षत किये बिना उसमें कुछ गुणात्मक योगदान करने वाला है? 'दूसरी परंपरा की खोज' के पीछे जो प्रेरणा है वह क्या वास्तव में परंपरा के इस रचनात्मक आत्मबोध की जरूरतों में से उपजती है? या कि ऊपर वर्णित हेगेल के इतिहास-दर्शन और आत्म-दर्शन से।'[11]

आगे रमेशचंद्र शाह ने यीट्स और इलियट को दो परंपराओं के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत कर के यह साबित करने की कोशिश की है कि यह विभक्त ढांचा मूलतः पश्चिमी साहित्य और कलाओं के मूल्यांकन के लिए ही सार्थक है। इस द्वैत को रमेशचंद्र शाह ठीक न मानकर अद्वैत भाव की स्थापना पर बल देते हैं। द्विवेदीजी के कथन का उपयोग करते हुए उन्होंने लिखा हे कि 'अगर हम द्विवेदीजी पर विचार करें तो वे स्पष्ट रूप से वेद बाह्य परंपराओं का गहन अध्ययन करने वाले आचार्य हैं लेकिन उनका भी निष्कर्ष यही है- 'शैव और शाक्त आगमों की परिणति अद्वैत में हुई है और उनका मार्ग भी चिन्मय आनंद तत्व का ही अन्वेषक है।'[12]

अकारण भेद से द्विवेदीजी बहुत चिंतित थे। वे अनेक स्थलों पर खुलकर इसका विरोध करते हैं। मनुष्य पर द्विवेदीजी का अगाध विश्वास था। लेकिन वे व्यवहारवादी लोगों की आलोचना करते

हैं- 'मनुष्य ने एकत्व की अनुभूति की ओर दृढ़ता से कदम तो उठाया है, लेकिन यह अनुभूति अद्वैत अनुभूति की कोटि की नहीं है। आज केवल आवश्यकता की चोट खाकर मनुष्य ने बच निकलने के लिए एक रास्ता भर खोज निकाला है। विचारशील लोग अब भी चिंतित हैं कि इस मोड़ के अंतिम किनारे पर पहुंचने के बाद क्या होगा। व्यवहारवादी लोग कहते हैं अभी का अभी देख लेते हैं, बाद का बाद में देखेंगे। परन्तु यह उत्तर बहुत अच्छा नहीं हैं। अंतिम विश्लेषण के बाद यह आत्म-वंचना की कोटि में ही आता है।'[13]

'दूसरी परंपरा की खोज' की स्थापनाओं से असहमति जताते हुए वीरभारत तलवार ने सन् 1992 के 'इन्द्रप्रस्थ भारती' के अप्रैल-जून अंक में 'हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतिहास दृष्टि' नाम से एक लेख लिखा है जिसमें 'लोक' और 'शास्त्र' पर उनकी टिप्पणी है - 'जिस शास्त्र के विरुद्ध लोक को केंद्र बनाकर द्विवेदीजी को क्रांतिकारी बताया गया है वह तस्वीर उस रूप में है ही नहीं। द्विवेदीजी के जिस लोक की चर्चा नामवरजी करते हैं उससे बहुत अलग द्विवेदीजी का लोक है। वह लोकमत को आलोचनात्मक दृष्टि से देखते हैं और लोकधर्म को ज्यों का त्यों शास्त्र का विकल्प नहीं मान लेते। ... लोकधर्म में निहित कुछ तत्वों को वह सापफ तौर पर निकृष्ट समझते थे और उनकी यह धारणा लगातार बनी रही। उन्होंने लोकमत में निहित निकृष्ट कोटि के जादू-टोना-टोटका आदि की चर्चा तो की ही है, शुक्लजी की तरह योगियों की अद्भुत और आश्चर्यजनक करामातों की कहानियों को साधारण लोगों पर धाक जमाने के दांव पेंच के रूप में देखा है। खुद निर्गुण संतों का हवाला देकर उन्होंने कहा कि ये भक्त भी योग और तंत्र के कृच्छाचारों को व्यर्थ समझते थे। अपनी आलोचना को आगे बढ़ाते हुए द्विवेदीजी ने लिखा कि हठयोग और तंत्रवाद ने इस देश में गुरुवाद का जो विकृत रूप प्रचारित किया है, उसका बंधन अब भी भारतवर्ष काट नहीं सका है। गोरखनाथ के पदों और नाथपंथी साहित्य में जो रूखापन और गृहस्थ के प्रति अनादर का भाव मिलता है, उसके आधार पर द्विवेदीजी ने इस साहित्य को लोक-विद्विष्ट और क्षयिष्णु तक कहा। ब्राह्मण-मत के खिलापफ निचली जातियों का पक्ष लेने वाले नाथ-सिद्धों ने अपनी अक्खड़ शैली में बाह्यचार और निरर्थक रूढ़ियों का विरोध जरूर किया था, 'परंतु'- द्विवेदीजी लिखते हैं - 'उनके पास देने लायक कोई नई सामग्री नहीं थी। वे केवल अर्थहीन आचारों का विरोध भर करते थे।' (पृ. 60 उद्भव- विकास) विद्रोह की विचारधारा नहीं, विद्रोह भी नहीं, सिर्फ विरोध भर! कहा है शास्त्र का विकल्प?'[14]

आगे इनकी टिप्पणी है - इससे तो यहीं निष्कर्ष निकलता है कि द्विवेदीजी लोकमत के अंतर्गत सभी तत्वों की भूमिका को समान रूप से सार्थक नहीं मानते। 'दूसरी परंपरा की खोज' में जो बात सबसे खटकने वाली है वह है द्विवेदीजी के अंतर्विरोधों को नजरअंदाज करना। द्विवेदीजी का सबसे बड़ा अंतर्विरोध वहीं है जहां उनका सबसे मौलिक योगदान है। उन्होंने सब कुछ को अस्वीकार करके चलने का अपार साहस दिखाने वाले कबीर को क्रांतिकारी कहा। उनके कबीर समन्वयकारी नहीं थे। 'समस्त बाह्याचारों के जंगलों और संस्कारों का विध्वंस करने वाले क्रांतिकारी थे। समझौता उनका रास्ता नहीं था (पृ. 185 कबीर) इस मूल्यांकन की तर्ज पर द्विवेदीजी को भी ऐसा ही अपार साहसी बतलाया जाता है। पर वस्तुस्थिति क्या है? वस्तुस्थिति यह है कि ऊंच-नीच वाले वर्णाश्रम धर्म पर टिके समाज को नष्ट करने की जरूरत पर जोर देने वाले द्विवेदीजी एक वर्णाश्रम धर्म समर्थक कवि के सामने आते ही अपनी स्थिति से पीछे हट जाते हैं। द्विवेदीजी हिंदी के एकमात्र ऐसे प्रौढ़ आलोचक

हैं जिन्होंने तुलसीदास के साहित्य को एक ऐसा खतरा बताया जिसके कारण निर्गुण पंथियों को कबीर के नाम पर संप्रदाय बनाने में लगना पड़ा। किसी पक्के वामपंथी की तरह द्विवेदीजी ने तुलसीदास पर व्यंग्य किया है कि वे सामाजिक ढांचे को ज्यों का त्यों बनाए रखना चाहते थे, इसलिए उन्हें निर्गुण संतों की वाणी चिंताजनक मालूम होती थी। तुलसीदास को परंपरा से सुविधा भोगने वाली जातियों के हितों के प्रति चिंतित बताया। लेकिन इसी तुलसीदास की सबसे बड़ी महानता द्विवेदीजी ने उनकी समन्वयकारी भूमिका में देखी।'[15]

बावजूद इन तमाम वाद-विवादों के इतना तो जाहिर है कि हिंदी आलोचना में पहली बार परंपरा की बहुलता पर यह एक व्यवस्थित पुस्तक है। द्विवेदीजी के जिन अंतर्विरोधों को लेकर बात उठाई गई है उनमें सचाई जरूर है, परन्तु महज हजारीप्रसाद द्विवेदी के कुछ कथनों को उद्धत कर देने से 'दूसरी परंपरा' की स्थापना असिद्ध नहीं हो जाती। सुधीर रंजन सिंह से हुई बातचीत में नामवर सिंह ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि- 'दूसरी परंपरा दिखाने में मेरी बहस कुछ नामों को ले करके नहीं है। कोई आदमी यह कहे कि हजारीप्रसाद द्विवेदी दूसरी परंपरा में नहीं हैं, उसी परंपरा में हैं - इस पर बहस हो सकती है। इसलिए किसी नाम को लेकर मेरी ऐसी अगाध श्रद्धा नहीं है जैसी कि कुछ पहली परंपरा वाले लोगों में रही है।

. . . . दूसरी परंपरा के अंतर्गत उल्लेखित लोगों में कबीर से चल करके हजारीप्रसाद द्विवेदी में, मुक्तिबोध में, नागार्जुन में, त्रिलोचन में अंतर्विरोध के नाम पर कुछ दिखा देना बहुत आसान है। लेकिन हमारी समझ से देखना यह चाहिए कि जो दूसरी परंपरा के अंतर्गत आने वाले साहित्यकार हैं, उनका प्रधान स्वर क्या है, और उसमें संस्कार के रूप में खुद अपने ही देश की प्रभुत्वशाली विचारधारा के, जिसे कभी-कभी हम मोटे तौर पर सामंती विचारधारा कहते हैं, अंश कितने हैं और उसके विरुद्ध संघर्ष कितना है।'[16]

इसी बातचीत में उन्होंने स्पष्ट किया है कि दूसरी परंपरा की जरूरत क्यों है? और अगर है तो उसकी पहचान किन रचनाकारों के माध्यम से की जा सकती है?

'हिंदी में अब तक परंपरा शब्द का प्रयोग प्रायः एकवचन के रूप में ही किया जाता है- हमारी परंपरा, भारतीय परंपरा, हिंदी साहित्य की परंपरा। इसमें मार्क्सवादी आलोचकों की ओर से एक नई बात जोड़ी गई, वह यह थी- भारतेन्दु की परंपरा, प्रेमचंद की परंपरा, रामचंद्र शुक्ल की परंपरा। . . . . . इस क्रम में मुझे लगा कि वे लोग जो मार्क्सवादी आलोचक और विचारक हैं, उनके सामने परंपरा संबंधी एक प्रभुत्वशाली निकष या प्रतिमान के रूप में जिसे 'हेजेमोनिक' कहते हैं, प्रतिष्ठित है। जब तक कोई मार्क्सवादी आलोचक उस प्रभुत्वशाली-निकष या प्रतिमान को, जहां तक साहित्य का सवाल है, चुनौती नहीं देता है, तक तक आलोचना का सारा कर्म और सारी प्रक्रियाएं निष्फल हैं। इसके लिए आवश्यक है कि हम अपने इतिहास से ही इसका जवाब ढूंढें और देखें कि परंपरा इकहरी चीज नहीं है, कभी नहीं रही है, बल्कि परंपराएं रही हैं। बहुवचन के रूप में परंपरा को लिया जाय और देखा जाए कि जो मूल्य, जो मान्यताएं, जो प्रतिमान, जो निकष प्रभुत्वशाली रहे हैं, उनको अपने समय में भी चुनौतियां दी गई थीं। दर्शन के क्षेत्र में ऐसा नहीं है कि वेदांत ही भारत का मुख्य दर्शन रहा हो- वेदांत को चुनौती देने वाले दूसरे दार्शनिक-सिद्धांत भी भारत में रहे हैं। सामाजिक मान्यताओं को लें तो वर्ण-व्यवस्था प्रभुत्वशाली भले रही हो, लेकिन इस वर्ण व्यवस्था को और

जाति-व्यवस्था को चुनौती देने वाली भी परंपरा रही हैं - ऐसी कई परंपराएं हैं। मुझे ऐसा लगा कि साहित्य के क्षेत्र में हम लोग, खासतौर से मार्क्सवादी आलोचक, परंपरा का एक वचन में प्रयोग लगातार करते जा रहे हैं, उसके प्रति उतने जागरूक नहीं हैं। हम प्रभुत्वशाली परंपरागत को ही अपनी परंपरा कहते हैं, उसी की व्याख्या कुछ लोकोन्मुख बनाकर अपने अनुकूल उसमें थोड़ा सुधार और परिष्कार करते हुए - उसे अपनी परंपरा कहते जा रहे हैं। इस स्थिति में मुझे लगा कि दूसरी परंपरा का सवाल उठाना बहुत जरूरी है। 'दूसरी परंपरा' से मेरा तात्पर्य उस परंपरा से है जो प्रभुत्वशाली परंपरा को चुनौती देती हो।'[17]

हमें यह जरूर याद रखना चाहिए कि नामवर सिंह की पुस्तक 'दूसरी परंपरा की खोज' वह पुस्तक है जो हिंदी आलोचना में विमर्श और बहुलता को एक सिद्धांत की तरह पेश करती है। यह सोवियत विखंडन और मंडल कमीशन के पूर्व की पुस्तक है जब परंपरा और सिद्धांत की इकहरी और यांत्रिक व्याख्या की जा रही थी। हिंदी में फूको और देरिदा का दौर नहीं आया था। इस पुस्तक की तर्क पद्धति विखंडन वाली होकर भी खंडन-मंडन वाली ही है जो नामवर सिंह की आलोचना की विशेषता रही है। यह नामवर सिंह की आखिरी व्यवस्थित पुस्तक है। 20वीं सदी के अंतिम दशक में जो दलित, स्त्री, आदिवासी विमर्श हिंदी आलोचना के केंद्र में आए उसमें इस पुस्तक की प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष भूमिका जरूर है।

संदर्भ-सूची

1. आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर 1987, संपादक नामवर सिंह, संपादकीय, पृ. 126
2. रस क्या है? हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली भाग-7, पृ. 284
3. चिंतामणि भाग-3, संपादक नामवर सिंह, पृ. 185
4. साहित्य की समतल भूमि, सं. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', पृ. 85-91
5. आलोचना, अक्टूबर-दिसंबर 1987, संपादक नामवर सिंह, संपादकीय, पृ. 3-4
6. वही- पृ. 125
7. वही- पृ. 128
8. वही- पृ. 129
9. वही, पृ. 130
10. पूर्वग्रह - अंक 81-82 जुलाई-अक्टूबर 1987, आत्मबोध की परंपरा और उसका विकल्प, रमेशचंद्र शाह, पृ. 22
11. वही, पृ. 22
12. वही, पृ. 25
13. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली भाग 9, पृ. 423
14. इन्द्रप्रस्थ भारती, वीरभारत तलवार (अप्रैल-जून 1992), पृ. 6
15. वही, पृ. 7
16. कहना न होगा, संकलन-संपादन - समीक्षा ठाकुर, पृ. 189-190
17. वही, पृ. 181-182

‘दूसरी परंपरा की खोज’ से एक मुठभेड़

अमरेन्द्र कुमार शर्मा

‘छवियां आज वास्तविकता की सिर्फ नकल नहीं हैं। वे वास्तविकता से ज्यादा महत्वपूर्ण बन चुकी हैं। वे वास्तविकता को नष्ट कर देना चाहती हैं और हम निरंतर इन छवियों के संसार में रह रहे हैं।’ - सूसन सौंटैग (1933-2004)

‘अतीत के भग्नावशेष हमेशा हमारे वर्तमान में मौजूद रहते हैं और उन आद्य बिबों का अध्ययन करते हुए वर्तमान की शक्ल बनाई जा सकती है।’- वाल्टर बेंजामिन (1892-1940)

‘परंपरा एक सामंतवादी अवधारणा है।’ - थियोडोर एडोर्नो (1903-1969)

‘दूसरी परंपरा की खोज’ जिसे नामवर सिंह ने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की ‘बदल देने वाली दृष्टि के उन्मेष की खोज’ बताया है और यह कहा है कि, ‘संभव है, इसमें मेरी अपनी खोज भी मिल जाए’। दूसरी परंपरा के निर्माण में ‘बदल देने वाली दृष्टि’ और ‘अपनी खोज’ को बुनियादी तौर पर परखने के लिए उद्धृत सूसन सौंटैग, वाल्टर बेंजामिन, थियोडोर एडोर्नो के उद्धरणों को मैं पहले पढ़ने की अपील करता हूं।

लिखित परंपराओं से पूर्व मौखिक परंपराओं के ताने-बाने से हमारी दुनिया की निर्मिति रही है, समय-समय पर मनुष्यों की खोज ने इन निर्मितियों को ‘नया’ बनाए रखा है। दरअसल, कोई भी परंपरा इस यकीन पर आधारित या तय होती है कि किसी समाज या समूह की विशिष्ट पहचान निर्मित करने में उस समाज या समूह का अपने सांकेतिक संदर्भों में अतीत से क्या और कितना जुड़ाव रहा है और कितना अलग हुआ है। परंपरा हमेशा एक सांस्कृतिक, दार्शनिक, राजनीतिक विमर्श का हिस्सा रही है, तब जबकि यह स्पष्ट है कि परंपरा मुख्यतः कला माध्यमों की प्रस्तुतियों के जरिए अपने सर्वोत्तम रूप में अभिव्यक्त होती रही है। ‘परंपरा’ मुख्यतः रोमन कानून से जुड़ा हुआ शब्द रहा है। यूरोपीय चिंतन पद्धति में ‘ज्ञानोदय युग’ के चिंतकों और दार्शनिकों के साथ यह शब्द आधुनिकता की अवधारणा से ‘विकास’ के सवाल पर मुठभेड़ करते हुए आगे बढ़ा है। परंपराएं सचेत रूप से कभी नहीं बदलती है बल्कि इसमें बदलाव की निर्मिति धीरे-धीरे कई पीढ़ियों में रिसते हुए समय-अंतरालों और उस अंतराल में उभरती हुई प्रवृतियों के आधार पर निर्मित होती है।

परंपरा की खोज (Invention of Tradition) पदबंध का प्रयोग ब्रिटिश इतिहासकार एरिक जान हॉब्सबॉम (1917-2012) ने ‘नए उपायों या लक्ष्यों’ की खोज का अतीत से संबंध जोड़ते हुए किया जिसकी वर्तमान के साथ जुड़े रहने की अनिवार्यता न हो। हॉब्सबॉम ने औपनिवेशिक अफ्रीका की संरचना में निजी, वाणिज्यिक, राजनीतिक चिह्नों, ईसाई समुदाय में शादी के समय पहना जाने वाला सफेद गाउन जो निश्चित रूप से रानी विक्टोरिया द्वारा शादी में पहने जाने के बाद परंपरा में

शामिल हुआ, गोइथिक शैली के ब्रिटिश पार्लियामेंट और यूनाइटेड स्टेट्स के राजतंत्र के ढांचों को संदर्भित करते हुए 'परंपरा की खोज' जैसे पदबंध का प्रयोग किया। 1948 में विज्ञान-दार्शनिक कार्ल पापर (1902-1994) ने आधारभूत समाजशास्त्र के अध्ययन में विज्ञान को 'रेशनल थ्योरी ऑफ ट्रेडिशन' के साथ शामिल किया। कार्ल पापर यह मानते थे कि हर वैज्ञानिक में कुछ खास प्रवृत्तियां होती है जो विरासत में मिली होती हैं। यह विरासत कहीं न कहीं उनके अध्ययन,उनकी खोज में शामिल होती है और यह कभी-कभी आश्चर्यचकित भी कर जाती है। अकादमिक दुनिया में परंपरा मानवविज्ञान, पुरातत्व विज्ञान, जीवविज्ञान, इतिहास, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र आदि में अलग-अलग अर्थों, संदर्भों में अभिव्यक्त होती है। साहित्य में परंपरा का अर्थ भी संदर्भ के साथ ही अभिव्यक्त होता है।

क्या परंपरा संख्यावाची शब्द है? अगर है, तो फिर यह पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, पांचवीं होते हुए अनंत तक जा सकती है। यदि परंपरा दूसरी है, तो यह 'दूसरी' क्या है? 'पहली' किसे कहा जाए? क्या हर समय के साथ परंपरा अपना कलेवर बदलती रहती है? जब कलेवर बदलती है तो क्या उस कलेवर में 'पहली' परंपरा के तत्व शामिल नहीं होते? क्या इसे भी 'दूसरी' परंपरा कह सकते हैं, जब युधिष्ठिर यक्ष के प्रश्नों का जवाब देते हुए तर्क की एक दुनिया रच रहे थे या जब नचिकेता यमराज से सवाल पूछता हुआ प्रश्न पूछने की परंपरा का निर्माण कर रहा था या सावित्री यमराज से अपने पति के प्राण वापस ले आने के संकल्प में यमराज का पीछा नहीं छोड़ रही थी या फिर एकलव्य जो अपने कौशल का विकास एक वैकल्पिक व्यवस्था की निर्मिति करके कर रहा था? इस प्रकार के और भी उदाहरण हम अपने आख्यानों से निकाल सकते हैं। आख्यानों से बाहर यदि हम जाएं तो क्या हम पूछ सकते हैं कि 'दूसरी' परंपरा क्या वह हो सकती है जो गौतम बुद्ध, महावीर जैन ने निर्मित की या मोहम्मद पैगंबर ने या फिर ईसा मसीह ने। ईसा मसीह, गौतम बुद्ध, मोहम्मद पैगंबर से पहले की परंपरा को क्या 'पहली' परंपरा कहा जाना चाहिए?

दरअसल, इन सवालों की पृष्ठभूमि में नामवर सिंह की 1982 में लिखी किताब है 'दूसरी परंपरा की खोज'। आठ अध्यायों वाली इस किताब को नामवर सिंह पूरा करते हुए अपनी भूमिका में लिखते हैं 'आज उस खोज की अंतरिम रिपोर्ट पेश करते हुए मन थोड़ा हल्का लग रहा है'। जाहिर है, यह रिपोर्ट अंतिम नहीं है। किसी भी परंपरा की रिपोर्ट अंतिम हो भी नहीं सकती। यह रिपोर्ट दरअसल नामवरजी अपने गुरु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'बनने' और 'होने' को लेकर तैयार की है। इस किताब को आचार्य द्विवेदी के 'बनने' और 'होने' की दास्तान के रूप में पढ़ते हुए यह बार- बार लगता है कि नामवरजी का 'लक्ष्य' केवल अपने गुरु को याद करना या उनके संघर्षों का आरेख भर खींचना नहीं रहा है बल्कि 'लक्ष्य' कहीं और रहा है। भारतीय राजनीति में महात्मा गांधी जब-जब सामुदायिक कार्यों की तरफ लौटते थे तो उनका उद्देश्य केवल सामुदायिक कार्य नहीं होता था बल्कि वे इस कार्य के द्वारा राजनीति के ऊपर एक दबाब तंत्र, एक अंकुश विकसित करते थे। राजनीति के ऊपर राजनीति से बाहर निर्मित दबाब तंत्र गांधी की अपनी मौलिक विशेषता थी। नामवर सिंह का 'लक्ष्य' इस किताब को लिखते हुए क्या रहा होगा? इसके उत्तर में विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी के एक लेख 'नामवर सिंह : हक अदा न हुआ' के इस अंश को आपके सामने रखता हूं, '...'छायावाद' या 'कहानी-नई कहानी' के बाद आलोचक नामवर सिंह को लेखन-प्रेरणा के लिए कोई न कोई ऐसा

आलोचक या रचनाकार चाहिए जिसे वे खलनायक बना सकें। मूल्य का स्थान बेध्य ने ले लिया है। 'कविता के नए प्रतिमान' में खलनायक डॉ. नगेन्द्र थे। 'दूसरी परंपरा की खोज' में आचार्य रामचंद्र शुक्ल।' इस अंश को पढ़ते हुए यह बार-बार लगता है कि क्या नामवर सिंह अपनी इस 'खोज' में अपने गुरु आचार्य द्विवेदी के बहाने आचार्य शुक्ल को अपना लक्ष्य बेध्य बनाए हुए हैं? क्या उन्होंने आलोचना कर्म में अपने गुरु का इस्तेमाल तो नहीं किया?

आलोचना की क्या कोई परंपरा हो सकती है? अगर परंपरा हो सकती है तो फिर उसका 'फ्रेमवर्क' यानी कि रुपरेखा क्या होनी चाहिए? क्या नामवर सिंह ने अपनी 'खोज' में आलोचना की परंपरा का कोई 'फ्रेमवर्क' बनाया/बताया है? 1982 में जो नामवर सिंह ने 'दूसरी परंपरा की खोज' की और उसकी 'अंतरिम रिपोर्ट' प्रस्तुत की, उस अंतरिम रिपोर्ट का हिंदी आलोचना की परंपरा पर क्या प्रभाव रहा है? इस 'खोज' ने हिंदी आलोचना और समकालीन आलोचकों पर कोई प्रभाव छोड़ा? 'दूसरी परंपरा की खोज' के चौंतीस वर्ष बीतते-बीतते क्या यह सवाल बना हुआ नहीं है कि हिंदी की आलोचना पर उस खोजी हुई परंपरा का भविष्य क्या है? ऐसे कई सवाल मन में नामवर सिंह की इस किताब को पढ़ते हुए उभरते हैं, तब भी जबकि इस किताब की भूमिका में लिखा है 'कोशिश यही रही है कि न किंचित अमूल लिखा जाए, न अनपेक्षित'। हिंदी आलोचना की विकास परंपरा (यदि कोई परंपरा है तो) में यह 'न किंचित अमूल' और 'न अनपेक्षित' कहां है? जाहिर है 1982 में इस किताब के आने के बाद, इस किताब में 'खोजी हुई दूसरी परंपरा' का हिंदी आलोचना पर सीधा कोई प्रभाव या उस परंपरा का निर्वाह दिखलाई नहीं देता। यहां मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि नामवर सिंह की यह बात स्मरण है, '...यह प्रयास परंपरा की खोज का ही है, संप्रदाय निर्माण का नहीं'। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को हिंदी आलोचना में एक स्कूल (संप्रदाय) की तरह उपस्थित करने की कई कोशिशें रामविलास शर्मा और नामवर सिंह ने की हैं, कभी जान-बूझकर और कभी अनजाने में भी। नामवर सिंह की यह किताब भले ही किसी संप्रदाय निर्माण न करने की घोषणा के साथ हमारे सामने आती है, लेकिन किताब को पढ़ते हुए कई बार एक व्यक्तिवादी आलोचना को पढ़ने का अहसास होता है।

विष्णुचंद्र शर्मा अपने लेख ' 'वाद-विवाद' के केंद्र में नामवर सिंह' में एक महत्त्वपूर्ण बात करते हैं, 'नामवरजी 'दूसरी परंपरा की खोज' लिखकर 'साईंट्रिफक कल्चर' से च्युत होने लगे थे'। यह वाक्य पढ़ते हुए मेरे जैसे पाठक के लिए ठिठक जाना पड़ता है। इस वाक्य के सहारे यदि नामवरजी की इस किताब को देखा जाए तो कई बातें 'डायलेक्टिस' की विलोम लगती हैं, मसलन नामवरजी इस किताब की भूमिका में लिखते हैं, 'इसमें न पंडितजी की कृतियों की आलोचना है, न मूल्यांकन का प्रयास। अगर कुछ है तो बदल देनेवाली उस दृष्टि के उन्मेष की खोज, जिसमें एक तेजस्वी परंपरा बिजली की तरह कौंध गयी थी। उस कौंध को अपने अंदर से गुजरते हुए जिस तरह मैंने महसूस किया, उसी को पकड़ने की कोशिश की है।' मैं 'एक तेजस्वी परंपरा बिजली की तरह कौंध गयी थी' को अलग से रेखांकित करना चाहता हूं। विज्ञान और दर्शन में 'खोज' और 'दर्शन पद्धतियां' किसी 'कौंध' के साथ नहीं आती बल्कि अपनी द्वंद्वात्मक्ताओं के विकसनशील अवस्था के साथ आती है। परंपरा बिजली की तरह कौंधती नहीं है।

नामवर सिंह अपनी लिखत में बढ़त हासिल करते हैं या अपने वाचिक में, यह सवाल बहुतों

के मन में रहता है। उनके लिखे हुए को और उनके बोले हुए को अगर एक साथ देखा जाए तो एकबारगी यह कहना कठिन हो जाता है कि वे, 'मार्डन एज' के प्रखर बुद्धिजीवी हैं या फिर अपने समकालीन आलोचकों पर तीखे प्रहार करते हुए गंगा किनारे पीपल के पेड़ के नीचे पैंतरा सीखते-सिखाते कोई सिद्धहस्त अखाड़िया उस्ताद। नामवर सिंह 'व्यूह-रचना' में माहिर आलोचक माने जाते हैं, जब वे लिख रहे होते हैं तब भी और जब बोल रहे होते हैं तब भी। उनकी खामोशी का भाष्य करने की प्रतिभा कम से कम मुझमें तो नहीं है। 'दूसरी परंपरा की खोज' 1982 में प्रकाशित हुई थी और ठीक उसके एक साल बाद 1983 में टेरी ईग्लटन (1943) की बेस्ट सेलर किताब 'लिटरेरी थ्योरी : एन इंट्रोडक्शन' किताब आई। साठ और सत्तर के दशकों में उभरे विमर्श की तमाम पेचीदगियों और उसकी अंदरूनी गुत्थियों को यह किताब खोलती है। इन दो दशकों में लेंका, फूको, देरिदा, रोलां बार्थ, जूलिया क्रिस्तोवा आदि आलोचकों ने आलोचना में जो योगदान किया, वह परिवर्तनकारी साबित हुआ। हालांकि अमेरिकी पूंजी के नए उभार के बाद साहित्य और संस्कृति में जिस प्रकार के बदलाव आए उसको लेकर ईग्लटन ने 2003 में एक किताब 'आफ्टर थ्योरी' लिखी। पॉप-संस्कृति, प्रोनोग्राफी और फैशन-परेडों ने साठ और सत्तर के दशक के विमर्शों को आधारभूत ढंग से उसके आधारों को हिलाया है, 'आफ्टर थ्योरी' इन सब की पड़ताल करती है। ईग्लटन की इन दोनों किताबों के परिप्रेक्ष्य में 'दूसरी परंपरा की खोज' के विन्यास को हिंदी साहित्य और आलोचना की 'परंपरा' में हम देखते हैं तो लगता है कि नामवर सिंह की 'लिखत', 'वाचिक' और 'खामोशी' एक स्वीकार्य छवि के साथ उपस्थित नहीं होती है, बल्कि उसमें कई बार एक खास तरह की 'आलोचना की बुर्जुआ संस्कृति' दिखलाई देती है।

कोस-कोस पर पानी का स्वाद बदल जाता है और तीन कोस पर बोली का स्वरूप, बड़े ही धड़ल्ले से ऐसे वाक्यों को अनेक अवसरों पर हम सुनते आए हैं, कम से गंगा-यमुना के कछारों में तो यह सही ही है। तो क्या गंगा-यमुना के कछारों में विन्यस्त हिंदी के आलोचक आचार्य शुक्ल, आचार्य द्विवेदी, नामवर सिंह, रामविलास शर्मा आदि में हिंदी आलोचना का स्वाद और उसकी भाषा का स्वरूप भी बदल रहा था। हिंदी आलोचना का स्वाद क्या कोस-कोस पर पानी के स्वाद की तरह बदल जाना चाहिए, क्या इसे आलोचना की विविधता की खूबसूरती कहकर हमें सरलीकृत निष्कर्ष निकाल लेना चाहिए? यदि ऐसा है तो फिर गंगा-यमुना के कछारों में हिंदी साहित्य और आलोचना की कई परंपराएं है। इस आधार पर 'दूसरी परंपरा' का मिथ टूट जाना चाहिए।

'दूसरी परंपरा की खोज' को पढ़ते हुए और उसके विन्यास को समझने के लिए हमने यह जानने की कोशिश की, कि नामवर सिंह की 'दूसरी परंपरा की खोज' के सूत्र कहां-कहां बिखरे हो सकते हैं, और क्या ये ठीक-ठीक बिखरे ही हैं? यह भी संदेह बना रहा कि इस किताब को समझने के लिए यह कोशिश कितनी कारगर साबित हो सकती है। बहरहाल, हम इस कोशिश को आपके सामने रखना चाहते हैं। इस कोशिश में मुझे एक छोर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा शिवमंगल सिंह 'सुमन' को लिखे पत्र में मिलता है। मैं यहां उसे हू-ब-हू उद्धृत कर रहा हूं-

रविन्द्रपुरी
वाराणसी-5
18-6-70

प्रिय सुमन जी,

आशा करता हूं, सपरिवार सानंद होंगे। एक बात कई दिनों से मन में आ रही है। आप तक पहुंचा देना उचित समझता हूं। हिंदी में प्रोफेसर और डाइरेक्टर जैसे पदों के लिए अच्छे आदमी इसलिए भी नहीं मिलते कि हम लोगों ने योग्यता की कसौटी विशेष-विशेष पदों पर शिक्षक होने को मान लिया है। मुझे प्रसन्नता है कि आपने उपाध्यायजी को नियुक्त करके इस गलत कसौटी का प्रत्याख्यान किया है। भगवतशरण उपाध्याय वास्तव में पंडित हैं और सही व्यक्तियों का सही ढंग से सम्मान होना ही चाहिए। नहीं तो देश का भविष्य भगवान भरोसे ही रहेगा। इसी प्रकार डा. नामवर सिंह का भटकना अखरता है। यह आदमी अपनी योग्यता और परिश्रम से कहीं भी चमक सकता है पर उपेक्षित रह गया है। कभी अवसर देने का प्रयत्न करें। नामवर वामपंथी विचारधारा के हैं पर विद्या की दुनिया में विचारों की विविधता और नवीनता स्वागत योग्य समझी जानी चाहिए। इतनी सी बात आप तक पहुंचाकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। आपका समय नष्ट हुआ। उसकी कोई चिंता क्यों की जाए? परोपकाराय सतां विभूतयः। आशा है सानंद हैं।

आपका

हजारीप्रसाद द्विवेदी

हम जानते हैं कुछ बर्षों बाद जोधपुर विश्वविद्यालय में नामवर सिंह प्रोफेसर के पद पर नियुक्त हुए और शिवमंगल सिंह 'सुमन' उनके चयनकर्ताओं में थे। इस पूरी प्रक्रिया के बारे में हिंदी समाज वाकिफ है। गुरु आचार्य द्विवेदी का यह पत्र नामवर सिंह के लिए प्राण वायु की तरह साबित हुआ। कहना चाहिए, 'दूसरी परंपरा की खोज' का एक बीज धीरे से नामवर सिंह के जेहन में उतर आया। दूसरा सूत्र मुझे नामवरजी के लेख 'रचना और आलोचना के पथ पर' में मिला, ' मेरा पहला आलोचना लेख था : आचार्य रामचंद्र शुक्ल पर। 1949 की मासिक 'जनवाणी' में 'हिंदी समीक्षा और आचार्य शुक्ल' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। आचार्य की आलोचना से ही मैंने आलोचना कर्म का आरंभ किया था। क्यों? जाहिर है कि वे मेरी परंपरा हैं। एक परंपरा के रूप में मेरे अंदर हैं- अंदर रहे हैं। मुझे विरासत में सिर्फ मिले हैं- ऐसा भी नहीं। मैंने उन्हें साधना से अर्जित किया है। इसलिए मेरा उनसे टकराव भी है। एक प्रकार का 'आत्मसंघर्ष।' मुक्तिबोध का सा आत्मसंघर्ष। उस संघर्ष को सही शब्द मिला जब मैंने 'दूसरी परंपरा की खोज' नाम की पुस्तक लिखी 1982 में। जो यात्रा 1949 में शुरु की उसे सही नाम मिला 33 वर्ष बाद और तब यह प्रत्यभिज्ञान हुआ कि मैं इस दूसरी परंपरा के निर्माण के लिए कवि कर्म छोड़ कर आलोचना के पथ पर आ निकला।' नामवर सिंह के यहां आचार्य शुक्ल दो तरह से आते हैं 'एक परंपरा के रूप में मेरे अंदर हैं', 'मैंने उन्हें साधना से अर्जित किया है'। यानी विरासत भी हैं और साधना के द्वारा अर्जन भी, और 'इसलिए मेरा उनसे टकराव भी है'। नामवर सिंह अपने इस टकराव को मुक्तिबोध की तरह का 'आत्मसंघर्ष' बताते हैं। यह 'आत्मसंघर्ष' ही 'दूसरी परंपरा की खोज' है जिसमें आचार्य शुक्ल के स्थान पर आचार्य द्विवेदी नामवर सिंह के शब्दों में 'आकाशधर्मी गुरु' के रूप में मौजूद हैं, जो 'हर पौधे को बढ़ने के लिए उन्मुक्तता देने के विश्वासी' हैं, और 'यह उन्मुक्तता ही उनकी परंपरा का मूल स्वर है'। यानी, नामवर सिंह जिस 'परंपरा' की 'खोज' कर रहे हैं, उनमें 'उन्मुक्तता' एक केन्द्रीय शब्द है और जिसकी 'खोज' की जाए उसकी अर्हता 'आकाशधर्मी गुरु' होना है। जाहिर है, इससे किसी को कोई आपत्ति नहीं

हो सकती, होनी भी नहीं चाहिए हम इस 'नहीं होने' के लिए 'दूसरी परंपरा की खोज' किताब के थोड़े और निकट जाने की कोशिश करते हैं, और जानने की कोशिश करते हैं कि वह कौन सी बात है, जिसे 'दूसरी परंपरा की खोज' कहा जाय?

इस किताब के पहले अध्याय का शीर्षक है 'दूसरी परंपरा की खोज'। इस 'खोज' में नामवर सिंह ने आचार्य द्विवेदी के ऊपर पड़ने वाले प्रभाव और उनकी मौलिक स्थापनाओं का एक संक्षिप्त आरेख खींचा है। नामवरजी पहले आचार्य द्विवेदी को उद्धृत करते हैं, '...द्रविड़ तत्त्वज्ञानी नहीं थे। पर उनके पास कल्पना-शक्ति थी, वे संगीत और वास्तु . कला में कुशल थे। सभी कला-विद्याओं में वे निपुण थे,' और फिर इससे वे निष्कर्ष निकालते हैं, 'द्विवेदीजी ने इस रास्ते चलकर गंधर्वों,यक्षों और नागों जैसी आर्येतर जातियों के कलात्मक अवदान की खोज की,' (पृष्ठ 12)। द्विवेदीजी की इस खोज को नामवरजी एक मौलिक खोज बताते हैं। दूसरी बात नामवरजी कहते हैं, 'द्विवेदीजी को भारतीय संस्कृति और साहित्य की परंपरा रवीन्द्रनाथ के माध्यम से मिली।' (पृष्ठ 12) वे आगे कहते हैं, 'द्विवेदीजी ने कम-से-कम हिंदी को रवीन्द्रनाथ की प्रेरणा से वह दिया जो उनसे पहले किसी ने न दिया था।' (पृष्ठ 13) यह गौरतलब है कि 'भारतीय संस्कृति और साहित्य की परंपरा' आचार्य द्विवेदीजी को रवीन्द्रनाथ टैगोर के माध्यम से प्राप्त हुई, और इसी आधार पर द्विवेदीजी ने हिंदी को वह दिया जो 'उनसे पहले किसी ने न दिया था'। यानी, नामवर सिंह यहां इस बात को स्वीकार करते हैं कि द्विवेदीजी के भीतर जो परंपरा निःसृत हो रही है वह टैगोर के माध्यम से है। यह जानना बेहद दिलचस्प होगा कि यह परंपरा टैगोर के पास कहां से आई, किस परंपरा से आई। खुद टैगोर किस तरह के आत्मसंघर्ष और वैचारिक संघर्ष से गुजर रहे थे। इसे बताने के लिए 'वसुधा' में प्रकाशित स्वयं के लिखे लेख 'नवजागरण की यात्रा में रवीन्द्रनाथ टैगोर' के अंश को उद्धृत करना चाहता हूं, 'उन्नीसवीं शताब्दी के आखिर में लिखे उनके लेख और बीसवीं शताब्दी के आरंभिक समय में लिखे उनके लेख अगर देखे जाएं तो हमें रवीन्द्रनाथ के विचार में होते हुए परिवर्तन दिखलाई देते हैं, खास तौर से पूरब और पश्चिम; प्राच्य और पाश्चात्य चिंतन के मसलों पर। 1887 में 'ए करेस्पोंडेंस' नामक लेख में उन्होंने लिखा- 'जान पड़ता है कि आधुनिक विज्ञान के सारे अन्वेषण शांडिल्य, भृगु और गौतम ऋषियों को मालूम थे। दुःख है कि वेद-पुराण का युग बीत गया है।' 1888 में 'प्रीचिंग' नामक लेख में; 'ईसाई धर्म गिराकर हमें अपने हिंदू धर्म की रक्षा करनी है।' रवीन्द्रनाथ का यह विचार उनके 1901 के 'पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता' वाले लेख में और भी अधिक तीक्ष्ण होकर सामने आता है ; 'चाहे हम स्वतन्त्रता प्राप्त कर लें अथवा पराधीन ही रहें, किन्तु हमें अपने समाज में हिंदू सभ्यता को पुनर्जीवन देने की आशा कभी नहीं त्यागनी चाहिए। हमारे इतिहास, धर्म, समाज या गार्हस्थ्य जीवन में राष्ट्र निर्माण को स्वीकार नहीं किया है।' यह विचार सरणी 1907 के बाद से परिवर्तित होता हुआ दिखलाई पड़ता है। दरअसल प्राच्यवाद से पाश्चात्यवाद की ओर रवीन्द्रनाथ का आकर्षण प्राच्यवाद की प्रबल संकीर्णता और सामंती मूल्यबोधों के कारण कम हो रहा था और विज्ञान के विकास के साथ पाश्चात्यवाद ने तर्क की एक सरणी विकसित कर ली थी जिसमें रवीन्द्रनाथ को जनता की मुक्ति की आशा दिखलाई पड़ रही थी। दरअसल, रवीन्द्रनाथ के सामने एक बुनियादी समस्या थी कि, 'हमारा देश सर्वदा शास्त्रों और पंडों से निर्देशित हुआ है, इसलिए विदेश से आए हुए सिद्धांतों को वेदवाक्य समझने की ही प्रवृत्ति हममें है, क्योंकि हमारा मन आसानी

से मुग्ध हो जाता है। जिसे उन्हें अपनी रचनाओं के माध्यम से हल करना था।' इस लंबे उद्धरण के पीछे यह उद्देश्य है कि, जब स्वयं टैगोर के चिंतन में बदलाव और परिवर्धन के लिए संघर्ष चल रहा था, स्वयं टैगोर के प्रेरणास्रोत में प्राच्य और पाश्चात्य की अलग-अलग बहसें थीं तो फिर उनके प्रभाव से नामवरजी के अनुसार 'द्विवेदीजी ने कम-से-कम हिंदी को रवीन्द्रनाथ की प्रेरणा से वह दिया जो उनसे पहले किसी ने न दिया था।' वह कितना मौलिक और कितना किसी 'दूसरी परंपरा' की निर्मिति करने वाला होगा, सहज ही मन में प्रश्न उठता है। टैगोर के बाद नामवर सिंह कहते हैं 'कबीर के माध्यम से जाति-धर्म निरपेक्ष मानव की प्रतिष्ठा का श्रेय तो द्विवेदीजी को ही है। एक प्रकार से यह दूसरी परंपरा है।' (पृष्ठ 13) टैगोर में जाति और हिंदू धर्म को लेकर एक खास तरह श्रेष्ठता बोध रहा है, कबीर में यह नहीं है। यदि आचार्य द्विवेदी में भारतीय संस्कृति और साहित्य की समझ टैगोर से आई है और नामवरजी ऐसा मानते भी हैं तो फिर संस्कृति में शामिल धर्म और जाति का प्रश्न आचार्य द्विवेदी में टैगोर से क्यों नहीं आया होगा, इसके लिए कबीर को याद करना दरअसल आचार्य द्विदेदी को 'लेजिटिमेसी' प्रदान करना जैसा लगता है। नामवरजी लिखते हैं, 'सच कहें तो द्विवेदीजी उस तरह से हिंदीवाले थे भी नहीं' (पृष्ठ 13)। यदि आचार्य द्विवेदी 'उस तरह से हिंदीवाले' होते तो क्या, उनके संदर्भ में 'परंपरा की खोज' का आशय कुछ और निकलता। अध्यापन के विषय अलग हो जाने और अध्ययन के विषय अलग हो जाने से क्या विचारों की निर्मिति में अंतर आ जाता है, और इस प्रकार के अंतर को साहित्य की परंपरा निर्माण में छूट मिलनी चाहिए?

'ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत' इस शीर्षक वाले अध्याय के तहत नामवरजी ने आचार्य द्विवेदी के काशी में आने की दास्तान कही है। दास्तान कहने में उन्होंने तुलसीदास को बार-बार याद किया है। काशी ने जो पीड़ा तुलसीदास को दी वही पीड़ा आचार्य द्विवेदी को भी मिली। नामवरजी लिखते हैं 'हजारीप्रसाद द्विवेदी अपनी अंतिम पुस्तक तुलसीदास पर लिखना चाहते थे। महाकवि का जीवन-संघर्ष उन्हें अपने ही जीवन-संघर्ष जैसा लगता था। 'तुलसीदास का स्मरण' शीर्षक निबंध में उन्होंने इसकी और संकेत करते हुए लिखा है, 'मुझे तुलसीदास का स्मरण करने में विशेष आनंद आता है।' (पृष्ठ 20)। यह जानना बेहद दिलचस्प है कि आचार्य द्विवेदी अपने शुरुआती लेखन में 'कबीर' को रखते हैं और उनके फक्कड़पन को खुद से संदर्भित करते हैं, और अपनी अंतिम पुस्तक लिखने के लिए तुलसीदास को चुनते हैं और अपने जीवन-प्रणाली का साम्य तुलसीदास में ढूंढते हैं। हम जानते हैं कि जिनमें वे अपने जीवन का साम्य तलाश करना चाहते हैं उनकी भक्ति संबंधी अवधारणा से खुद को अलगाते भी हैं। नामवरजी दर्ज करते हैं, 'जो द्विवेदीजी को निकट से जानता है वही जानता है कि तुलसीदास की यह दुखद जीवन-कथा बहुत कुछ हजारीप्रसाद द्विवेदी की ही आत्मकथा है। बचपन की वही दरिद्रता, जवानी में काशी के पंडितों का वही घृणित विरोध और अंत में थोड़े दिनों की महंती भी वैसी ही।' (पृष्ठ 21) दरअसल, यह अध्याय आचार्य द्विवेदी की व्यक्तिगत पीड़ाओं से निर्मित है जिसमें उनके द्वारा ढेरों उदाहरण शिवमंगल सिंह सुमन को लिखे आचार्य द्विवेदी के पत्रों का है। मैं यहां नामवरजी के हवाले से आचार्य द्विवेदी द्वारा 30/05/1950 को शिवमंगल सिंह सुमन को लिखे पत्र का एक छोटा अंश उद्धृत करना चाहता हूं, 'रुपया तो मुझे चाहिए ही। आपको इस विषय में क्या बताऊं। शायद आपको यह बताने की जरूरत नहीं कि यदि बिना रुपये के काम चल जाता तो मैं रुपये-पैसे के लेन-देन के चक्कर में कभी नहीं पड़ता। पर गरीब का सबसे

भयंकर शत्रु उसका पेट होता है। गरीब का दूसरा दुश्मन उसका सर है जो झुकना नहीं चाहता। जो झुकना चाहता है वह भी शत्रु ही है।' (पृष्ठ 27) 'दूसरी परंपरा की खोज' के संदर्भ से इन प्रसंगों का कोई महत्त्व मुझे समझ में नहीं आता सिवाय इसके कि आचार्य द्विवेदी किस प्रकार के द्वंद्व में थे। निजी और सामाजिक जीवन में द्वंद्व तो सभी मनुष्यों में होते हैं, लेकिन इस प्रकार के द्वंद्व कोई परंपरा की निर्मिति नहीं करते। अपनी किताब के इस अध्याय में नामवरजी आचार्य द्विवेदी को, उद्धृत करते हैं, '1955 में अपनी पहली कृति 'सूर साहित्य' के पुनर्मुद्रण के अवसर पर 'निवेदन करते हुए लिखा रू 'पुरानी बातों को पढ़ता हूं तो हृदय में एक प्रकार की पीड़ा का अनुभव करता हूं। कहां से शुरू किया और कहां आ गिरा हूं। जो होना चाहा था वह नहीं हो सका; जो सोचा भी नहीं था, उसके चक्कर में फंस गया हूं।'

जाहिर है, आचार्य अपने काशी के कटु अनुभवों का स्मरण कर रहे हैं, और जैसा कि मैंने पहले कहा है यह अमूमन सभी मनुष्यों के जीवन में स्थान, काल और उसकी आवश्यकताओं के संदर्भ से कटु और मधुर अनुभव होता है। लेकिन, नामवरजी यहां 'दूसरी परंपरा की खोज' में इसे किस प्रयोजन से और क्यों क्यों शामिल कर रहे हैं? क्या व्यक्ति के 'होने', 'बनने' की दास्तान किसी परंपरा के निर्माण के लिए आवश्यक है? नामवरजी का 'परंपरा की खोज' के संदर्भ से दूसरा तर्क द्विवेदीजी द्वारा काशी के हिंदी विभाग की बनी-बनाई परंपरा को तोड़ने की घटना से जुड़ा हुआ दिखलाई देता है। एम.ए. के पाठ्यक्रम में निराला की कविता 'तुलसीदास' को शामिल करने और बी.ए. की कक्षाओं के सामान्य छात्रों को प्रेमचंद के पढ़ाए जाने की बात का नामवरजी उल्लेख करते हैं। आचार्य द्विवेदी, आचार्य शुक्ल के विरोधी थे, इस प्रकार के भ्रम फैलने की बात का भी उल्लेख नामवरजी करते हैं, नामवरजी शुक्लजी के समर्थक को 'रूढ़िवादी शुक्ल पूजक' (पृष्ठ 32) कहते हैं और रामविलास शर्मा की किताब 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना' को आड़े हाथ लेते हैं। हम नामवरजी के इस हेतु को समझ सकते हैं। 'परंपरा की खोज' की सार्थकता के संदर्भ से नामवरजी के इस उद्धरण को देखा जाना चाहिए जो उन्होंने आचार्य द्विवेदी द्वारा सुमनजी को लिखे पत्र के हवाले से उद्धृत किया है, 'मैं अच्छा आस्तिक कभी नहीं रहा हूं। परंतु बुरा नास्तिक भी नहीं रहा हूं। बुरा आस्तिक दंभी होता है और बुरा नास्तिक अहंकारी। मैं तो सुमनजी, एक अद्‌भुत मिश्रण हूं। मुझमे थोड़ा दंभ है, पर अहंकार कम है। कभी-कभी सोचता हूं कि अहंकारी होता तो अच्छा था। अहंकारी अच्छा, दंभी नहीं।' इस उद्धरण को पढ़ते हुए इतना ही कहा जा सकता है कि संभवतः अहंकार और दंभ के इस द्वैत में कोई परंपरा निसृत होती हो, मुझे तो नहीं पता।

'अस्वीकार का साहस' वाले अध्याय में नामवरजी आचार्य द्विवेदी की 'कबीर' पर लिखी किताब और उस किताब में कबीर के 'फक्कड़पन' को अपनी 'दूसरी परंपरा' के विश्लेषण में धुरी की तरह इस्तेमाल करते हैं। नामवरजी 'कबीर' के प्रकाशन वर्ष 1942 (चौथे दशक) के इर्द-गिर्द हिंदी साहित्य में बिखरे 'फक्कड़पन' और 'मस्ती' को बालकृष्ण शर्मा नवीन, भगवतीचरण वर्मा, हरिवंशराय बच्चन, रामधारी सिंह दिनकर की रचनाओं में रेखांकित करते हुए साबित करते हैं। नामवरजी लिखते हैं, 'कबीर की इस अभूतपूर्व और अभिनव कवि-प्रतिभा को ध्यान से देखे तो स्पष्ट हो जाएगा कि यह द्विवेदीजी के मनोवांछित विद्रोही कवि की अपनी कल्प-सृष्टि है, जिस पर बहुत हद तक चौथे दशक के फक्कड़पन की गहरी छाप है।' (पृष्ठ 47) नामवरजी अपनी 'फक्कड़पन' और 'मस्ती' वाली बात

को साबित करने के लिए आचार्य द्विवेदी के निबंधों, उपन्यासों की तरफ बार-बार जाते हैं। आचार्य द्विवेदी के निबंध 'प्रेमचंद्र का महत्त्व'(नवंबर 1939, वीणा) में गोदान के एक 'मौजी' पात्र 'मेहता' के संदर्भ के सहारे नामवरजी 'फक्कड़पन' और 'मस्ती' को साबित करते हैं। वे आचार्य द्विवेदीजी के बारे में दर्ज करते हैं, 'गोया वे प्रेमचंद के रूप में आधुनिक कबीर की प्रतिमा गढ़ रहे हों।' (पृष्ठ 49) आचार्य द्विवेदी के उपन्यासों के पात्र वाणभट्ट, 'चारु चंद्रलेख' के सीदी मौला 'पुनर्नवा' के माढव्य शर्मा और सुमेरु काका, 'अनामदास का पोथा' के गाड़ीवान रैक्व में 'फक्कड़पन' और 'मस्ती' के तमाम संदर्भ और उदाहरण देते हुए नामवरजी ने आचार्य द्विवेदी को 'दूसरी परंपरा' में शामिल किया है। आचार्य द्विवेदी ने अपने लेख 'मेरी जन्मभूमि' में अपने इलाके के निवासियों के फक्कड़ स्वभाव की चर्चा की है। आचार्य द्विवेदी के निबंधों में- 'अशोक', 'शिरीष', 'देवदारु', 'कुटज' आदि के मस्ती में झूमते स्वभाव को नामवरजी ने 'फक्कड़पन' और 'मस्ती' की धुरी पर कसा है। नामवरजी आचार्य द्विवेदी के लिए इस धुरी को समझाने के लिए निराला की 'कुकुरमुत्ता' (1940), राहुल सांकृत्यायन की 'वोल्गा से गंगा' (1942) को शामिल करते हुए दर्ज करते हैं, 'वस्तुत बीसवीं सदी के चौथे दशक में विद्रोह फक्कड़पन के ही किसी-न-किसी रूप को लेकर साहित्य में प्रकट हुआ था।'(पृष्ठ 53) नामवरजी आचार्य द्विवेदी के जीवन और रचना-कर्म के सहारे 'फक्कड़पन' को 'दूसरी परंपरा' की विशेषता मानते हुए लगते हैं। तो क्या साहित्य का यह फक्कड़पन 'दूसरी परंपरा' का निर्माण कर रहा था?

'दूसरी परंपरा की खोज' का चौथा अध्याय प्रेम के पुरुषार्थ का है, 'प्रेमा पुमर्थो महान'। आचार्य द्विवेदी का यह प्रेम कृष्ण भक्ति से ग्रहण किया हुआ है। आचार्य द्विवेदी की सूरदास संबंधी स्थापना को नामवरजी 'प्रेम' की धुरी पर घुमाते हुए उसे 'दूसरी परंपरा की खोज' की चाक पर चढ़ाते हैं। नामवरजी भक्तिकाव्य के सूरदास में कृष्ण के प्रति प्रेम को आचार्य द्विवेदी की रचनाधर्मिता में शामिल प्रेम के तत्व को तलाशते हैं और इस तलाश में जगह-जगह आचार्य शुक्ल को प्रश्नांकित करते चलते हैं। वे लिखते हैं, 'हिंदी भक्ति-काव्य के अनेक लोकवादी मूल्यों के प्रशंसक आचार्य शुक्ल ने भी भक्तिकाव्य के प्राण 'प्रेम' को अभारतीय कहा' (पृष्ठ 64) नामवरजी का मानना है कि ऐसा शुक्लजी प्रेम के माधुर्य भाव को फारसी परंपरा का मान लेने के कारण कहते हैं। शुक्लजी ऐसा इसलिए भी कहते है कि, '... तुलसीदास को छोड़कर प्रायः सभी भक्त कवियों का प्रेम 'एकांतिक' है।' (पृष्ठ 65) नामवरजी का मानना है कि आचार्य द्विवेदी ने प्रेम की 'लोकवादी' भूमिका को रेखांकित किया और, 'प्रेम के इसी लोक-आधार पर द्विवेदीजी ने हिंदी के भक्ति काव्य की स्वीकृतिपरक व्याख्या की है।' (पृष्ठ 67) इस तरह से आचार्य द्विवेदी एक 'दूसरी परंपरा' का निर्माण करते हैं। प्रेम का एक लोकवादी रूप। प्रेम पाप के अर्थों में नहीं बल्कि मनुष्य के स्वभाव के अर्थों में, इस स्वभाव की स्वीकृति से ही 'चरम लक्ष्य' को प्राप्त किया जा सकता है लेकिन यह 'चरम लक्ष्य' क्या है? कम से कम इस पुस्तक को पढ़ते हुए मालूम नहीं होता है।

'भारतीय साहित्य की प्राणधारा और लोकधर्म' में नामवरजी आचार्य द्विवेदी द्वारा भक्तिकाव्य की निर्मिति में शामिल प्राण तत्वों की 'खोज' को सामने लाने का काम करते हुए दिखलाई देते हैं। इस खोज के लिए नामवरजी दो धुरी आविष्कृत करते हैं, एक भारत में 'इस्लाम का प्रभाव' तथा दूसरा 'शास्त्र और लोक के बीच का द्वंध'। इस्लाम के प्रभाव के संदर्भ में नामवरजी आचार्य द्विवेदी

की किताब 'हिंदी साहित्य की भूमिका' से बहुप्रचलित/बहुउधृत तर्क को प्रस्तुत करते हैं, 'मैं जोर देकर कहां चाहता हूं कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस (हिंदी) साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।' (पृष्ठ 70) आचार्य द्विवेदी अपने इस तर्क को साबित करने के लिए तुलसीदास और सूरदास की कविता को आधार बनाते हैं (स्मरण रहे यहां वह अपने प्रिय कवि कबीर को सामने नहीं ला रहे हैं), नामवरजी ने इसे उद्धृत किया है, 'सूरदास और तुलसीदास आदि वैष्णव कवियों की समूची कविता में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव नहीं है।' (पृष्ठ 71)। आचार्य द्विवेदी इस्लाम को 'प्रभाव' की तरह तो स्वीकार करते हैं लेकिन 'प्रतिक्रिया' की तरह नहीं। नामवरजी आचार्य द्विवेदी के पक्ष में रामविलास शर्मा के तर्क को काटते हुए इरफान हबीब के लेख का हवाला देते हैं। रामविलास शर्मा का मानना रहा है कि तुर्कों ने भारत में आकर कोई युग परिवर्तन का काम नहीं किया, न उसने सामंतवाद को खत्म कर गण-व्यवस्था कायम की, न पूंजीवादी व्यवस्था। नामवरजी इसके लिए इरफान हबीब के 13 वीं और 14 वीं सदी के संदर्भ में ' प्रोद्योगिकीय परिवर्तन और समाज' शीर्षक शोध निबंध के ठोस तथ्यों को सामने रखते हैं, '...तुर्कों के शासन के समय भारत में वस्त्र उद्योग, सिंचाई, कागज, चुंबकीय कुतुबनुमा, समयसूचक उपकरण तथा घुड़सवार सेना-प्रोद्योगिकी आदि के क्षेत्रों में उल्लेखनीय विकास हुआ।' (पृष्ठ 75) नामवरजी आचार्य द्विवेदी की मान्यताओं को मजबूती से स्थापित करते हैं, वे कहते हैं, 'मध्ययुग के भारतीय इतिहास का मुख्य अंतर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वंद्व है, न कि इस्लाम और हिंदू धर्म का संघर्ष।' (पृष्ठ 78)। नामवरजी इस लोक संघर्ष को वर्ग-संघर्ष के रूप में देखे जाने के लिए जान इर्विन के लेख 'द क्लास स्ट्रिगल इन इंडियन हिस्ट्री एंड कल्चर' को देखे जाने की वकालत करते हैं। हम जानते हैं कि लोक-धर्म शब्द का प्रयोग आचार्य शुक्ल के बाद आचार्य द्विवेदी ने किया था, लेकिन नामवरजी आचार्य शुक्ल के लोक-धर्म को 'बहुत कुछ वर्णाश्रम धर्म' की तरह का मानते है और आचार्य द्विवेदी के लोक धर्म को साधारण जनों के विद्रोह की विचारधारा की तरह देखते हैं। नामवरजी अपने इस तर्क को पैना करने के लिए अंतोनियो ग्राम्शी के 'नोट बुक' का सहारा लेते हैं, वे ग्राम्शी के किसानों और कारीगरों जैसे परंपरित वर्गों की वैचारिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखने के आग्रह को स्वीकार करते हैं और इसे आचार्य द्विवेदी के तर्क के समर्थन में खड़े कर देते हैं। 'दूसरी परंपरा की खोज' के संदर्भ से यह एक महत्वपूर्ण तर्क है।

'दूसरी परंपरा की खोज' का छठा अध्याय 'संस्कृति और सौंदर्य' है। इस अध्याय के केंद्र में नामवरजी ने आचार्य द्विवेदी के निबंधों को रखा है। इसके माध्यम से नामवर सिंह 'सामासिक संस्कृति' अथवा 'मिश्र संस्कृति' की खोज को 'दूसरी परंपरा की खोज' में शामिल करते हैं। 'अशोक के फूल' के संदर्भ में आचार्य द्विवेदी को नामवरजी दर्ज करते हैं, 'एक-एक फूल, एक-एक पशु, एक-एक पक्षी न जाने कितनी स्मृतियों का भार लेकर हमारे सामने उपस्थित है। अशोक की भी अपनी स्मृति-परंपरा है। आम की भी है, बकुल की भी है, चंपे की भी है। सब क्या हमें मालूम है?' (पृष्ठ 86) नामवर सिंह इस निबंध के बारे में खुद कहते हैं कि 'यह निबंध द्विवेदीजी के शुद्ध पुष्प-प्रेम का प्रमाण नहीं, बल्कि संस्कृति-दृष्टि का अनूठा दस्तावेज है।' (पृष्ठ 87)। नामवरजी इस क्रम में दिनकर की 'संस्कृति के चार अध्याय', गोविन्दचंद्र पांडे की किताब 'भारतीय परंपरा के मूल स्वर', जयशंकर प्रसाद के निबंध 'रहस्यवाद' में सामासिक संस्कृति के तत्व की तलाश करते हुए उसे

आचार्य द्विवेदी की चिंतन परंपरा के विस्तार के रूप में देखते हैं। संस्कृति और सौंदर्य के सवाल पर नामवर सिंह आचार्य द्विवेदी के कुछ मौलिक निष्कर्षों को 'दूसरी परंपरा' के लिए दर्ज करते चलते हैं, वे अजंता, सांची, भरहुत के चित्रों को आर्येतर सभ्यता की समृद्धि के तौर पर देखते हैं। नामवरजी आचार्य द्विवेदी की किताब 'प्राचीन भारत का कला-विलास' (1940) का जिक्र करते हुए सौंदर्यबोध की संस्कृति का उल्लेख करते हैं साथ ही उनके उपन्यासों में आए हुए तमाम नारी पात्रों के सौंदर्य के वैभव, नृत्य-कला के रूप,उसकी शोभा, सुषमा, सौभाग्य, चारुता, लालित्य, लावण्य को सौंदर्य की परंपरा में अभिहित करने के तर्क को स्थापित करते हैं। नामवरजी अपने इस अध्याय में 'खोज' को पुष्ट करने के लिए आचार्य द्विवेदी के तर्कों की एक कड़ी निर्मित करते हैं कि कैसे आचार्य द्विवेदी 'सौंदर्य को सौंदर्य न कहकर 'लालित्य' कहना चाहते हैं।' लालित्य की धारणा को आचार्य द्विवेदी भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से ग्रहण करते हैं। नामवरजी ने अपनी इस किताब में बताया है कि आचार्य द्विवेदी अपने अंतिम दिनों में 'सौंदर्यशास्त्र' पर लालित्य-मीमांसा नाम से एक पूरी किताब लिखना चाहते थे, उस किताब के लिए केवल पांच ही निबंध पूरे हो सके थे। जाहिर है, आचार्य शुक्ल सौंदर्य और संस्कृति को लेकर एक लोकवादी धारणा लेकर चलना चाहते थे, यह उनकी लोकधर्मी परियोजना का हिस्सा था, जिसे नामवरजी 'दूसरी परंपरा' कह रहे हैं। जो लोग 'इतिहास को नीचे से देखने की दृष्टि' के संदर्भ से बात करते हैं या गायत्री स्पिवाक अपने निबंधों में 'सबाल्टर्न' को निरूपित करती हैं, क्या वे सभी एक भिन्न किस्म की परंपरा की बात नहीं कर रहे होते हैं।

साहित्य में 'विचारधारात्मक संघर्ष' को केंद्र में रखकर नामवरजी 'दूसरी परंपरा की खोज' करते हैं। त्वं खलु कृति वाले अध्याय में नामवरजी शिष्ट संप्रदाय की अलंकारशास्त्रीय चिंतन पद्धति को दर्शाते हुए इस बात की तरफ इशारा करते हैं कि कैसे प्रभुत्वशाली वर्ग साहित्यिक मान्यताओं को पूरे साहित्यिक समाज पर लागू करते हुए प्रभुत्व कायम कर लेता है। गौरतलब है कि इस अध्याय में नामवरजी आचार्य द्विवेदी की आत्म समीक्षा की 'क्रीड़ाशीलता' को 'परंपरा की खोज' के लिए धुरी की तरह इस्तेमाल करते हैं। नामवरजी कहते हैं, 'उनके (आचार्य द्विवेदी) हाथों शास्त्र भी साहित्य बन जाता है और समीक्षा सर्जना.... किसी छंद के साथ वे इस तरह खेलते हैं जैसे अर्थक्रीड़ा में उन्हें एक मजा मिल रहा हो।' (पृष्ठ 109)। आचार्य द्विवेदी की किताब 'मेघदूत-एक पुरानी कहानी' को इसी क्रीड़ा के तहत देखा जाना चाहिए। हम जानते हैं कि देरिदा ने भी 'अर्थक्रीड़ाओं' या 'अर्थलीला' की बात कही है, मैं यहां देरिदा के संदर्भ से विस्तार में जाना नहीं चाहूंगा, बस इतना कहना चाहूंगा कि साहित्य में शब्दों के खेल आचार्य द्विवेदी के आने से बहुत पहले से ही प्रचलन में रहा है। बस उसे कहने के तरीके और उसके संदर्भ बदलते रहे हैं। इस तरह यह कोई 'दूसरी परंपरा' का निर्माण नहीं करता है बल्कि अध्ययन और विचार की एक अलग दृष्टि देता है।

व्योमकेश शास्त्री उर्फ हजारी प्रसाद द्विवेदी, इस अध्याय में नामवरजी आचार्य द्विवेदी के शास्त्री बन जाने की प्रक्रिया का खुलासा करते हैं,और इसके लिए स्वयं आचार्य द्विवेदी की स्वीकारोक्तियों को उद्धृत करते चलते हैं। 'अपने ज्योतिष गुरु के मत की आलोचना में एक लेख लिखा। अपने नाम से छपाने की हिम्मत न थी। इसलिए नाम छिपाने के लिए एक छद्म नाम चुना- व्योमकेश शास्त्री।' (पृष्ठ 111)। कहते हैं कि इस लेख के बाद आचार्य द्विवेदी को एक शास्त्रार्थ के लिए बुलाया गया, भेद खुल जाने के भय से आचार्य द्विवेदी इसके समाधान के लिए रवीन्द्रनाथ टैगोर के

पास गए, 'गुरुदेव ने क्षण-भर आंखों में देखा, फिर सहज भाव से कहा- न जाओ। तुममें सत्य के प्रति जितनी आस्था है, उससे कहीं अधिक भय और संकोच। तुमने अपना नाम छिपाया, वहीं से गलत रस्ते पर चल पड़े।' (पृष्ठ 112)। नामवरजी बताते हैं कि इस घटना के बाद भी कुछ ललित लेख आचार्य द्विवेदी ने व्योमकेश शास्त्री के नाम से लिखे जो 'विचार और वितर्क' में संकलित है। हम जानते हैं कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारु चन्द्रलेख' उपन्यासों के साथ व्योमकेश शास्त्री का नाम आबद्ध है। आचार्य द्विवेदी के इस नाम के बचाव के पक्ष में नामवरजी एक महत्वपूर्ण तर्क प्रस्तुत करते हैं, जो गौरतलब है, 'जब अपने छद्म नाम की समस्या को लेकर द्विवेदीजी रवीन्द्रनाथ के पास गए तो उन्होंने उनसे क्यों नहीं पूछा कि आपने भानुसिंह नाम से अपनी आरंभिक रचनाए क्यों छपवायी? रवीन्द्रनाथ ने जिस भय और संकोच का जिक्र किया था, क्या वह स्वयं अपना अनुभव था?' (पृष्ठ 112) हम जानते हैं कि न केवल भारतीय साहित्य में बल्कि विश्व साहित्य में भी कई बार छद्म नाम से लिखने की परंपरा मिलती है। छद्म नाम से लेखक कई बार कई तरह की बात कहने की छूट ले लेता है जो वह सीधे-सीधे अपने नाम के साथ नहीं कह सकता। नामवरजी रेखांकित करते हैं कि, छद्म नाम का अगर आचार्य द्विवेदी के पास मुखौटा न होता तो क्या वे बाणभट्ट की आत्मकथा, अनामदास का पोथा, चारु चंद्रलेख जैसे उपन्यासों मे सुकुमार-संवेदना वाली साहसिक प्रेम कहानियां लिख पाते। दरअसल, समाज में मुखौटों का एक खास महत्त्व रहा है। भरतमुनि के नाटयशास्त्र में भी मुखौटों का जिक्र 'प्रतिशीर्षक' नाम से आया है। मुखौटों के संदर्भ में नामवरजी आस्कर वाइल्ड को याद करते हैं, 'किसी सभ्य समाज में लोगों के बारे में दिलचस्प चीज है वह मुखौटा है जो उनमें से प्रत्येक धारण करता है, न कि मुखौटे के पीछे की वास्तविकता। उनकी यह धारणा थी कि मनुष्य जब स्वयं बोलता है तो अपने असली रूप में नहीं होता।' (पृष्ठ 115) आचार्य द्विवेदी द्वारा छद्म नाम धारण करना दरअसल, हिंदी साहित्य में लेखन के औजारों का एक प्रतिसंसार रचता है, एक ऐसी दुनिया की निर्मिति जिसमें कहने की छूट का अवकाश हमेशा बना रहे, लेकिन यह यहां कहना जरुरी है कि मात्र इस आधार पर इसे 'दूसरी परंपरा' कहा जाए, एक सरलीकृत बयान भर होगा, और कुछ नहीं।

'दूसरी परंपरा की खोज' में आचार्य द्विवेदी के 'बदल देने वाली दृष्टि के उन्मेष की खोज' को साबित करने के लिए नामवरजी आठ अध्यायों की इस पुस्तक में हर अध्याय के लिए एक धुरी आविष्कृत करते हैं। धुरी पर नामवरजी अपने चिंतन के चक्र को आचार्य द्विवेदी के इर्द-गिर्द घुमाने की सुविधा अर्जित करते हंस। पहले अध्याय में आचार्य द्विवेदी के 'बनने', 'होने' में रवीन्द्रनाथ टैगोर के प्रभावों और शांति निकेतन के महत्त्व को धुरी की तरह रेखांकित किया है तो दूसरे अध्याय में आचार्य शुक्ल के निजी जीवन के संघर्षों, अनुभवों को (विशेषकर काशी के संदर्भ में) स्थापित करने के लिए नामवरजी तुलसीदास के संघर्षों को अपने विश्लेषण के लिए धुरी बनाते हैं। नामवरजी तीसरे अध्याय में आचार्य द्विवेदी की रचनाओं और उनके जीवन की दास्तान कहने के लिए कबीर को याद करते हैं; और कबीर के 'फक्कड़पन' को आचार्य द्विवेदी के 'फक्कड़पन' से जोड़ते हैं। नामवरजी के लिए 'फक्कड़पन' एक अगली धुरी है। आचार्य द्विवेदी की रचनाओं में प्रेम के लोकवादी स्वरूप को जिसका आधार वे कृष्ण के प्रेम का लेते हैं। यह प्रेम वह है जिसे सूरदास ने अपनी रचनाओं में दर्ज किया है। नामवरजी इसी 'प्रेम' को अपनी एक और धुरी बनाते हैं। आचार्य शुक्ल की भक्ति

काव्य की उद्भव सबंधी धारणाओं को समझाने के लिए नामवरजी दो धुरी बनाते हैं, एक इस्लाम के प्रभाव को और दूसरा शास्त्र तथा लोक के बीच के द्वंद्व को। द्विवेदीजी की रचनाओं में निसृत सामासिक संस्कृति की समझ को 'दूसरी परंपरा' की कोटि में लाने के लिए नामवरजी द्विवेदीजी के सौंदर्य/लालित्य को धुरी बनाते हैं। साहित्य और जीवन में विचारधारात्मक संघर्ष को द्विवेदी जी की रचना से जोड़ते हुए नामवरजी आचार्य द्विवेदी की 'क्रीड़ाशीलता' को 'दूसरी परंपरा' के विश्लेषण के लिए धुरी बनाते हैं। अपने अंतिम अध्याय में नामवरजी आचार्य द्विवेदी के व्योमकेश शास्त्री बन जाने की साहित्यिक मजबूरी और जरूरत को रेखांकित करने के लिए मुखौटे की धारणा को धुरी की तरह इस्तेमाल करते हैं। इन धुरियों का निर्माण नामवर सिंह की आलोचना का रण-कौशल है, व्यूह रचना है। तमाम सहमतियों और असहमतियों के बाद भी आलोचना में एक 'उस्ताद' की तरह नामवरजी का बर्ताव उनकी खासियत है और उनकी सीमा भी।

नामवरजी जब 'आलोचना' पत्रिका का पहली बार जुलाई-सितम्बर 1968 में संपादन कर रहे थे, तब उन्होंने अपने पहले संपादकीय में लिखा था 'दरअसल विरोध की राजनीति का भी क्रमशः एक अपना 'रेटारिक' बन जाता है- फिर वह विरोध चाहे जितना 'निजी' हो; और नहीं तो अपनी ही आवृति होने लगती है।' दरअसल, 'रेटारिक' का अपना एक वजूद होता है, मोटे तौर पर 'रेटारिक' को अठारहवीं सदी के बाद नकारात्मक ढंग से प्रस्तुत किया जाने लगा था। टेरी इग्लटन इसकी पुनर्स्थापना करते हैं, वे मानते हैं कि 'रेटारिक भाषा में अनुरोध, मनाने और बहस करने की गुणवत्ता का अध्ययन किया जाता था' उसे हमें एक नया संदर्भ देना होगा। 'हमें इस विश्वास की और लौटना होगा कि आधुनिक विमर्श मानवीय नियति के बदलाव की चिंताओं से जुड सकता है। तमाम तरह के विमर्श, संकेत-चिह्नों का अध्ययन और संरचनात्मक चीर-फाड़' एक जरूरी कार्य है। और यह कार्य बदलाव से जुड़ा है। इसलिए कोई भी विरोध और प्रतिरोध को इन्हीं बदलावों के संदर्भ से समझा जाना चाहिए न कि किसी प्रकार के हमले की तरह। आचार्य दिवेदी की 'कबीर' पर लिखी किताब निश्चित ही हिंदी साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, आचार्य शुक्ल से भिन्न यह कबीर पर सोचने और तक करने की नई दृष्टि देता है लेकिन इस आधार पर नामवर सिंह का यह कहना- 'कबीर' के साथ एक भिन्न परंपरा ही नहीं आती, साहित्य को जांचने-परखने का एक प्रतिमान भी प्रस्तुत होता है।' और यह भी कहते हैं- 'इस चिंतन क्रम में द्विवेदीजी जहां परंपरा से प्राप्त हिंदी साहित्य के इतिहास के मानचित्र को बदलकर एक दूसरा मानचित्र प्रस्तुत करते हैं।' (पृष्ठ-17) तो सहज ही मन में प्रश्न उठता है कि क्या हिंदी साहित्य की संपूर्ण विकसनशील पद्धति को किसी एक व्यक्ति के चिंतन-ढांचे के आधार पर संकुचित कर दिया जाना चाहिए, और यह भी सवाल उठता है कि यह 'दूसरा मानचित्र' क्या है? यह मानचित्र वही तो नहीं जो नामवरजी ने आठ अध्यायों में कही है। ऊपर आठ आध्यायों के बारे में लिखते हुए मन में यह विचार बार-बार आता रहा कि यह एक शिष्य का अपने गुरु के प्रति आदर दर्शाने का माध्यम मात्र है; जैसे 1980 के लगभग तीस वर्षों बाद 2010 में विश्वनाथ त्रिपाठी ने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का पुण्य स्मरण करते हुए 'व्योमकेश दरवेश' लिखी। नामवर सिंह और विश्वनाथ त्रिपाठी दोनों आचार्य द्विवेदी के शिष्य रहे हैं। भिन्न समय में लिखी 'दूसरी परंपरा की खोज' और 'व्योमकेश दरवेश' का तुलनात्मक अध्ययन करना संभव है हमें आचार्य द्विवेदी को लेकर एक भिन्न किस्म का निष्कर्ष प्रदान करे।

इस लेख को अंत करने से पहले मैं फिर से लौटना चाहता हूं इस किताब की भूमिका की तरफ, लेकिन इससे पहले टेरी ईग्लटन की इस बात की तरफ ध्यान दिलाना चाहता हूं, '...साहित्यिक अध्ययन में 'पद्धति' के बजाय 'वस्तु' महत्वपूर्ण होती है। वस्तु ही विमर्श को विशिष्ट और असीमित बनाती है। आज कृति में हम 'वस्तु' को स्थिर कर जीवन-वृत्त की पद्धति से मिथकों की पद्धति तक और वहां से वाक्य-संरचना की पद्धति तक आ-जा रहे हैं लेकिन हासिल कुछ नहीं होता।' भूमिका में नामवर सिंह अपनी इस किताब के बारे में लिखते हैं, कि 'इसमें न पंडितजी की कृतियों की आलोचना है, न मूल्यांकन का प्रयास।' तो इसमें क्या है, इसमें है एक व्यक्ति के 'बदल देने वाली उस दृष्टि के उन्मेष की खोज' यानी एक व्यक्ति का जीवन-वृत्त। जाहिर है इस कृति में 'वस्तु' आंशिक रूप में ही आया। कहा भी जाता है कि यदि किसी भी कला-रूप से/में 'वस्तु' और 'विचार' के स्थान पर 'ध्वनि' और 'विचार'अभिव्यक्त होने लगें तो ऐसे में वह कला-रूप चाहे जो कुछ भी रहे, 'एंटी डायलेक्टिकल' हो जाता है। कहते हुए थोड़ा भयभीत होता हूं कि क्या नामवरजी की 'दूसरी परंपरा की खोज' 'एंटी डायलेक्टिकल' है? क्या आचार्य द्विवेदी की ऐसी छवि प्रस्तुत की गई है जो वास्तविकता से दूर है। मैं एक बार फिर से सूसन सौंटैग, वाल्टर बेंजामिन, थियोडोर एडोर्नो के ऊपर दिए उद्धरणों को पढ़ने की अपील करता हूं।

माफ कीजिएगा यदि मेरा यह लेख नामवर सिंह की 'दूसरी परंपरा की खोज' के संदर्भ में 'आह-आह', 'वाह-वाह', 'अरे-अरे', 'अहो-अहो' की श्रेणी में न आ सका हो।

●

हिंदी क्षितिज के पार

- सीताकांत महापात्र
- भालचंद्र नेमाड़े
- कपिल कपूर
- प्रतिभा राय
- हरीश त्रिवेदी
- टी.आर. भट्ट

नई आलोचना के शिल्पकार

सीताकांत महापात्र

नामवर सिंह भारत के साहित्यिक आलोचना परिदृश्य के प्रतिनिधि हस्ताक्षर हैं। उनकी भूमिका को केवल हिंदी तक सीमित रखना ठीक नहीं होगा। एक आलोचक के रूप में उनका प्रभाव सभी भारतीय भाषाओं पर पड़ा है। अपने गहन कौशल से उन्होंने सौंदर्यशास्त्र एवं समाजशास्त्र का अननुकरणीय सम्मिश्रण किया। यह नया सौंदर्यशास्त्र था जो भरत के नाट्यशास्त्र, अभिनवगुप्त के 'लोचन', रस, ध्वनि, व्यंजना आदि अवधारणाओं से निष्पन्न था जिससे एक नए 'काव्यशास्त्र' की रचना हुई। जहां भरत और अरस्तू की दिलचस्पी मुख्यतः नाटक में थी, वहीं नामवर ने अपने को किसी एक विशिष्ट साहित्यिक विधा तक बांधे नहीं रखा। साहित्यिक रचनाशीलता का संपूर्ण परिदृश्य उनके सूक्ष्म निरीक्षण के दायरे में आया, जो सदैव सटीक भी था और संतुलित भी। उन्होंने नई आलोचना के अपने औजारों को खुद ही गढ़ा और इस तरह अपना एक अद्वितीय स्थान बनाया। जहां तक साहित्य की रचनाशीलता के समाजशास्त्र की बात है, उन्होंने उस ऐतिहासिक काल में जाकर जहां इस तरह की रचनाशीलता का उद्‌भव हुआ उसकी पृष्ठभूमि से स्वयं को परिचित कराने का अत्यंत श्रमसाध्य कार्य किया।

एक राष्ट्रीय संगोष्ठी में मैंने उन्हें आधुनिक ओडिया कथा साहित्य के जनक फकीरमोहन सेनापति और प्रेमचंद को साथ-साथ रखकर बोलते हुए सुना। उन्होंने सन 1866 ई. के ओडिशा के अकाल की चर्चा की जिसमें वहां की लगभग एक चौथाई जनसंख्या काल के गाल में समा गई। प्रेमचंद के 'गोदान' और फकीरमोहन के 'छमाण आठ गुंठ' (छः बीघा जमीन) के संदर्भ में व्यक्तिगत बातचीत के दौरान उन्होंने उद्‌घाटित किया कि फकीरमोहन प्रेमचंद के मुकाबले थोड़ा ज्यादा बड़े हैं क्योंकि जो समाज-आर्थिक पृष्ठभूमि और सुविधाएं प्रेमचंद को प्राप्त थीं उनका उनके यहां अभाव था।

गोपीनाथ महांति स्मृति व्याख्यान के दौरान उन्होंने महांति के सबसे स्मरणीय उपन्यास 'परजा' की चर्चा की करते हुए अपनी बहुमूल्य टिप्पणियां दीं जिनसे पता चला कि दक्षिणी ओडिशा के आदिवासियों, जिन पर महांति के 'परजा' सहित तीन उपन्यास आधारित हैं, से वे भलीभांति परिचित थे।

अंत में अपनी कुछ निजी बातों को आपसे साझा करने के लिए क्षमा चाहूंगा। जब 1993 में मुझे ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला तो उसके पदाधिकारियों ने पुरस्कार वितरण समारोह में मेरी कविताओं के संकलन के विमोचन की योजना बनाई। नामवर इसके लिए तैयार थे। उस समय मेरे पास ओडिया में मेरी कविताओं के चौदह अलग-अलग संकलन थे और सौभाग्य से मेरी कविताओं के हिंदी अनुवाद

के भी महत्वपूर्ण संग्रह उपलब्ध थे। इनमें अशोक वाजपेयी और विष्णु खरे द्वारा संपादित 'अपनी स्मृति की धरती' और 'अष्टपदी' जिसकी भूमिका रघुवीर सहाय ने लिखी थी, शामिल थीं। नामवर ने न केवल उस संकलन का संपादन किया बल्कि उसका नाम 'तीस कविता वर्ष' उपयुक्त ही रखा, क्योंकि ओडिया में मेरी कविताओं का पहला संकलन 1963 में छपा था और पुरस्कार का वर्ष 1993 था। इससे भी अधिक यह कि उन्होंने इस कृति की महत्वपूर्ण भूमिका लिखी, जिसका शीर्षक 'शब्द और समय के कवि' था। यह अंश डॉ. सूरा पी. रथ द्वारा संपादित कृति 'सीताकांत महापात्र : माइथोग्राफर ऑफ टाइम' में एक अध्याय के रूप में 'सीताकांत महापात्र : पोएट ऑफ वर्ड एंड टाइम' नाम से प्रकाशित हुआ।

निम्नलिखित अनुच्छेद आलोचना की उनकी स्पष्ट दृष्टि और शब्द और समय के समावेश की उनकी अपेक्षित रीति को अच्छी तरह स्पष्ट करता है-

'एक कवि से अधिक इस बात को कौन जानता है कि अंततः जो बचा रहता है वह है 'शब्द'? इसी कारण संस्कृत में शब्द को 'अक्षर' कहा गया है जिसका व्युत्पत्तिशास्त्रीय अर्थ है- 'वह जिसका क्षरण न होता हो'। समय तो आज है और कल नहीं रहेगा। उसे वापस लाने की सामर्थ्य किसमें है? क्या ऐसे ही एक कवि शब्द को समय में बदलने के लिए सतत प्रयास करता रहता है?'

डॉ. एल.एम. सिंघवी के बाद मैं ज्ञानपीठ की प्रवर परिषद का छः वर्षों तक अध्यक्ष रहा। मुझे उस समय अत्यंत प्रसन्नता हुई जब ज्ञानपीठ ने नामवर सिंह को नए अध्यक्ष के रूप में चुना। उनकी अध्यक्षता में ही भालचंद्र नेमाड़े और डॉ. रघुवीर चौधरी को ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला।

तीन दशकों से भी अधिक समय से वे मेरे आत्मीय मित्र हैं। अनगिनत साहित्यिक सम्मेलनों और संगोष्ठियों में हम लोग मिलते रहे हैं। मुझे आज भी पंडारा पार्क दिल्ली के अपने सरकारी निवास की वह खुशनुमा शाम याद है जो केदारनाथ सिंह सहित कई नामचीन लेखकों के साथ हमने बिताई।

(हिंदी अनुवाद : राम प्रकाश यादव, सहायक प्रोफेसर, अनुवाद अध्ययन विभाग, म.गं.अं.हि. वि., वर्धा)

●

नामवर सिंहजी को जोहार

भालचंद्र नेमाड़े

प्रो. नामवर सिंह मुझे सबसे पहले 1992 में दिल्ली के नेशनल बुक ट्रस्ट के सभागृह में मिले। मेरे उपन्याास 'कोसला' का हिंदी अनुवाद एन.बी.टी. के आदान-प्रदान कार्यक्रम के अंतर्गत हाल ही में प्रकाशित हुआ था। इस निमित्त संयोजकों ने हिंदी के साहित्यकारों के साथ बातचीतनुमा चर्चा आयोजित की थी। इन साहित्यकारों में एक नामवर सिंह थे। इससे पहले केवल हिंदी की लघु पत्रिकाओं के साहित्यवर्तुल से मेरा संबंध था। आवेश, लहर, जमीन, आवेग, रक्तबीज, अप्रतिबद्ध आदि में मेरी कविताएं, समीक्षाएं हिंदी में प्रकाशित हुई थीं। सुखद आश्चर्य यह था कि इनमें से काफी नामवरजी ने पढ़ा था। इतने सुविख्यात लेखक-लेखिकाओं के समक्ष बोलने का यह अवसर मेरे लिए उत्साहित करने वाला था : नामवर सिंह, मृदुला गर्ग, राजी सेठ, निर्मला जैन सहित कई प्रतिष्ठित लोग 'कोसला' का हिंदी अनुवाद पढ़कर आए थे। विशेष बात यह थी कि मैंने जहां-जहां अध्यापन किया, उन सभी विश्वविद्यालयों में- औरंगाबाद, लंदन, गोवा, मुंबई आदि में हिंदी विभाग मजबूत रूप में थे और वहां के हिंदी प्राध्यापकों से चर्चा करते समय हमेशा नामवर सिंह की समीक्षा का उल्लेख होता। इस कारण 'कोसला' पुस्तक में बुक मार्क डालकर सामने बैठे नामवर सिंह को देखकर मैं कुछ संकोच में पड़ गया। 'कोसला' का प्रकाशन विलंब से यानी लगभग तीस वर्ष के बाद हुआ, इसके लिए उन्होंने उपस्थित निदेशक से उल्टे-सीधे सवाल पूछे। ऐसी स्पष्टवादिता मुझे हमेशा आदर्श लगती रही है। बाद में, उन्होंने 'कोसला' के सूत्र पर बोलकर हिंदी के कुछ उपन्यासों से उसकी तुलना की। मराठी में 'कोसला' इतने वर्षों तक चर्चा में रहा, फिर भी किसी ने इस तरह प्रस्तुत नहीं किया था। बाद में, नामवर सिंह मुझे संबोधित करते हुए बोले, लेखक महोदय, आपका नायक पन्ने-पन्ने पर इतनी लुभावनी अराजकता मासूमियत से प्रस्तुत करता है, परंतु ठीक उत्कर्ष-बिंदु पर, अंत में, अचानक स्थापित व्यवस्था के सामने घुटने क्यों टेक देता है?

इस प्रश्न के कारण मेरी सारी सृजनशीलता हिल गई और मैं अंतर्मुखी हो गया। मैंने जो उत्तर दिया उन्होंने मान लिया। उस समय मैंने अनुभव किया कि नामवरजी की विद्वत्ता का और बहुमुखी पांडित्य का इतना दबदबा होने के बावजूद उनकी संवेदनशीलता भी उतनी ही प्रखर है। इसके बिना उनके मेरी सृजनशीलता पर अचूक प्रश्नचिह्न लगाना संभव नहीं था। गहरा नकार अंततः मेरे नायक को जीने से वंचित करना चाहता था, उसे वह किसी भी स्थिति में मान्य नहीं था। उसे यह कहना था कि जीना ही सर्वश्रेष्ठ मूल्य होता है। नामवरजी की ऐसी संवेदनशीलता की प्रतीति मुझे उनकी समीक्षा से भी होती है। इसलिए हिंदी साहित्य की परंपरा पर उनका भाष्य मुझे मौलिक लगता है।

उनकी समीक्षा-दृष्टि केवल किताबी-पांडित्य भरी न होकर उसमें कई आयाम होते हैं।

इस पहली औपचारिक मुलाकात के बाद नामवरजी मुझे मुंबई विश्वविद्यालय में मिले। मैं उसी समय गोवा विश्वविद्यालय से गुरुदेव टैगोर तुलनात्मक अध्यासन के लिए नियुक्त हुआ था। मेरा कार्यालय हिंदी विभाग से लगा होने के कारण हिंदी साहित्यवार्ता बढ़ गई थी। एक बार हिंदी के एक प्राध्यापक नामवरजी को लेकर विश्वविद्यालय के क्वार्टर में मेरे घर शाम को आए। हम पति-पत्नी को करीबी रिश्तेदार की तरह लगे, इतनी हमारी सारी गंवई बातें हुईं। उन्होंने बनारस की रोचक बातें तो सुनाई ही, साथ ही, हमारे बच्चों की, गांव की, खेती-बाड़ी की आदि सारी बातें घर के व्यक्ति की तरह पूछीं। अपनी जानकारी भी दी। मराठी और हिंदी साहित्य की विनोदपूर्ण चर्चाएं भी हुईं। मैं फिलहाल क्या लिख रहा हूं? पिछले बीस वर्षों में मैं कैसे कुछ भी नहीं लिख पाया? (मैं अपने दिमाग में एक उपन्यास को लेकर उलझ गया था, यह भी उन्हें मालूम था) यह 'हिंदू' उपन्यास तो तुरंत आना चाहिए, क्योंकि गलत हिंदुत्व फैल रहा है; जैसी बातें कहकर उन्होंने 'हिंदू' उपन्यास की मेरी संकल्पना का खाका पूरी तरह जान लिया। जल्दी छपवाइए और हमें पढ़ने दीजिए, कहकर उन्होंने विदा ली।

इसके बाद बीच-बीच में यहां-वहां चर्चा-सत्रों में, जे.एन.यू. दिल्ली में या रवींद्र भवन में मैं कहीं भी दिखूं तो उनके प्रश्न से मेरा स्वागत होता : -'हिंदू' कब आ रहा है? अरे और कितने वर्ष? 'हिंदू' की क्या प्रगति है? धीरे-धीरे 'हिंदू' लिखने के लिए चालीस साल लग गए... उनके प्रश्न उपहासात्मक होते गए। मुझे ही शर्म आने लगी कि उपन्यास छोड़कर मैं सेमिनार, भाषण, अनुसंधान, साहित्य अकादेमी, विश्वविद्यालयों में संबोधन बगैरह जैसे काम ही क्यों कर रहा हूं? ये सारी झंझटें छोड़कर मुझे 'हिंदू' लिखवाने के महत्वपूर्ण प्रेरकों में नामवरजी का दबाव था, मैं इस बात का आदर के साथ उल्लेख करता हूं। फिर सेवा-निवृत्त होने के बाद भी दस वर्षों में मैंने शिमला के भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान में 'हिंदू' पूरा किया और प्रकाशित होते ही 2010 के जुलाई में उसके पहले भाग की छपी प्रतियां मेरे पास आते ही सबसे पहले मैंने डाक से मराठी प्रति नामवरजी को सप्रेम भेंट भेजी। वह क्षण मेरे लिए अत्यंत गर्व का लगता है। उन्होंने उसे किससे पढ़वा लिया, यह भी मालूम हुआ।

नामवरजी के और मेरे ऐसे वैयक्तिक संबंधों को यदि अलग भी रखा जाए तो भी उनका और मेरा विचार-विश्व मुझे समांतर जाता दिखाई देता है। उनके साथ चर्चा करते समय हमें भी अपने पास कई विद्याशखाओं का परिचय रखना होता है। हिंदी और कई अर्थों में भारतीय साहित्य के वे चलते-फिरते विश्वकोश लगते हैं। उदाहरणार्थ- एक बार 'आधुनिक भारतीय कविता' के परिसंवाद में काव्य-प्रकारों पर परभाषा- प्रभाव पर मैं वक्तव्य दे रहा था, तभी उन्होंने मुझे सूचित किया कि उन्नीस सौ तीस के दशक में मराठी में कोई चितपावन कवि फारसी भाषा की गजल और रूबाई आदि विधा मराठी में ले आए। आगे इसकी क्या प्रगति हुई? मराठी में छंद रचना फारसी के साथ मेल न खाने का स्पष्टीकरण मेरे द्वारा दिए जाने पर उन्होंने यह भी पूछा कि किस कारण यह मेल नहीं खातीं। इसके उत्तर सांस्कृतिक होने के कारण, कार्यक्रम के अध्यक्ष ने समयाभाव के कारण यह बात चर्चा में शामिल नहीं की। पर बात यह है कि नामवरजी अपने संदेह, संशय, विरोध उसी समय व्यक्त करने में पीछे नहीं रहते। उनके लेखन में सामाजिक-सांस्कृतिक अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य के संदर्भों की व्याप्ति, समीक्षक के रूप में अत्यंत आदर्श लगती है। एक साथ पुराने की खोज और नए से

जुड़ना, ये जुड़वां भूमिका मुझे लगता है, सच्चे समीक्षक की नैतिकता सिद्ध करती है।

समीक्षा के क्षेत्र में हमारे देश में सभी भाषाओं में अराजकता दिखाई देती है। चौदहवीं शती तक-विश्वनाथ तक ऐसी अनुशासनहीनता नहीं थी। अंग्रेजी-यूरोपीय काव्यशास्त्र के कारण भारतीयता की बुनियाद पूर्णतः उखड़ गई। मराठी तक सीमित यदि कहना हो तो फार्मालिज्म, सौंदर्यशास्त्र आदि खोखली चर्चाओं के कारण मूल्यरहित, अनुत्पादक, अ-नैतिक, असामाजिक समीक्षा जरूरत से ज्यादा पसरती चली गई। कभी-किसी नामवर सिंह, गणेश देवी, नगेन साइकिया जैसे अलग-अलग भारतीय भाषाओं के समीक्षकों के कारण लगता है; राममनोहर लोहिया जिस बहुसांस्कृतिक राष्ट्रीयत्व की पैरवी करते थे, उसका क्या महत्व है। मुझ जैसा विचार करने वाले समीक्षक मेरी ही भाषा मराठी में मिलेंगे, यह कह नहीं सकते। हमारा देश ऐसा है कि यहां समानता में भी अंतर दिखाई देता है और भिन्नता भी एक जैसी नहीं होती। विविधता का भी फासला बहुत अधिक लगता है, इस कारण विसंगति में सुसंगति मिलती है। इसलिए हमारी प्रत्येक भाषा की वाङ्मयीन संस्कृति केवल उसी भाषा का हिस्सा नहीं हो सकती।

एक भाषा के समीक्षक को अपनी ही भाषा की साहित्य-कृति की तुलना में दूसरी भारतीय भाषा की साहित्य-कृति अधिक करीबी लगने की संभावना ज्यादा है। मुझे मराठी के फड़के, खांडकर या गाडगील की तुलना में मेघानी या प्रेमचंद या रेणु या बशीर अधिक करीबी लगने की वास्तविकता को स्वीकार करना होगा। इसी में ही उन बहुसांस्कृतिक संदर्भों की कद्र नामवर सिंह जैसों की समीक्षा के कारण टिकी हुई है। अनुभूतियां सामान्यतः सामाजिक और सांस्कृतिक होती हैं और हम सब प्रत्येक, एक अज्ञात भारतीय वाङ्मय में संस्कृति के, मधुमक्खी के छत्ते की मधुमक्खियां हैं; इसकी अनुभूति मुझे उनकी समीक्षा के कारण होती है।

पिछली तीन पीढ़ियों से नामवर सिंह ने अध्यापन, चर्चा-सत्र, इंटरव्यू, भाषण, समसामयिक लेखन, ग्रंथ, वाद विवाद जैसे विभिन्न माध्यमों द्वारा समीक्षा में एक व्रत के रूप में, भारतीयता की रक्षा की है। मैं उनके नब्बेवें के अवसर पर हार्दिक रूप से उन्हें जोहार करता हूं।

(लिप्यंतरण : दामोदर खड़से)

●

नामवरजी और मैं

कपिल कपूर

नामवरजी से मेरी पहचान 70 के दशक से हुई जब नामवरजी और मैं दोनों जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भाषा स्कूल में थे। 1977 के आसपास जब नामवरजी विश्वविद्यालय की कार्य परिषद् में कुलाध्यक्ष (Visitor) के द्वारा नामित प्रोफेसर थे, मैं कुलाध्यक्ष द्वारा नामित सहायक प्रोफेसर था और रहमतुल्लाह खानजी नामित एसोशिएट प्रोफेसर थे। उसी समय के आसपास नामवरजी डीन बने और मैं थोड़ा आगे-पीछे अपने अंग्रेजी तथा भाषा विज्ञान विभाग का कार्यवाहक अध्यक्ष बना। उन दो वर्षों में, मैं नामवरजी के नजदीक आया और उन्हें समझने का मौका मिला। नामवरजी विचार- भेद को व्यक्ति- विभेद तक कभी नहीं ले जाते, वे वैचारिक भेद को महत्व देते हैं। मेरे उनके संबंध का आधार नामवरजी का मेरे लिए हमेशा वयोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध होना तथा नामवरजी का मुझे एक अच्छे अध्यापक और छोटे भाई की तरह स्नेह देना है।

हमारी मनोविनोद रूपी नोक-झोंक होती रहती थी- जैसे वे हर नई अंग्रेजी आलोचना और आलोचना- स्कूल की किताबें पुस्तकालय में आते ही पढ़ लेते थे; मेरी रुचि संस्कृत बौद्धिक परंपरा में थी। मैं थोड़ी धृष्टता कर लेता था और कहता था- 'सर आपका लिबास देशी है पर आपका विचार-तंत्र विदेशी है; मेरा लिबास पश्चिमी है पर मेरा विचार-तंत्र देशी है'। नामवरजी सुनते थे और दांतों को टूथपिक से साफ करते हुए स्नेह से मुस्कुराते थे परंतु मेरी बातों का बुरा कभी नहीं माना। ये उनका बड़प्पन ही था।

नामवरजी अपने समय के हिंदी आलोचना के मुख्य विचारक ही नहीं, हिंदी आलोचना की धारा को बदलने वाले विद्वान हैं। अपभ्रंश के प्रकांड पंडित ने ये समझा कि हिंदी बौद्धिक जगत को उसकी दलदल से निकालने के लिए उसमें आधुनिकता लाना आवश्यक है और तदनुसार उन्होंने अध्ययन अध्यापन किया और उनकी सोच की छाप हिंदी जगत में प्रत्यक्ष है। कितना दूरगामी यह प्रभाव रहेगा, आने वाला समय ही बताएगा क्योंकि 'आधुनिकता', 'उत्तर-आधुनिकता', 'अस्मिता', 'समाज-परिवर्तन विकास' न कि 'व्यक्ति-विकास' इत्यादि का आतंक थोड़ा कम होता दिखता है। भारत एक प्राचीन देश है जिसने विचार-विभेद को ही सामाजिक और व्यक्तिगत उन्नति का मुख्य साधन माना है। समय इस विधा को भी प्रमुख बनाए। समय सब विचारधाराओं को भी संजोए रखता है। इसलिए नामवरजी का नाम और काम सर्वदा समाज की स्मृति में रहने वाला है।

ये मेरे लिए एक सौभाग्य की बात है कि आज जब वो नब्बे वर्ष के हो रहे हैं, मुझे उनके प्रति आभार, सम्मान एवं श्रद्धा प्रकट करने का अवसर मिला। जीवेम शरद : शतम्।

(अंग्रेजी से लिप्यंतरण : रामप्रकाश यादव)

नामश्रेष्ठ नामवर सिंह

प्रतिभा राय

ज्ञान, चिंतन, मनन किसी एक जाति या देश का नहीं होता। यह सार्वभौम है। यानी यह सबका होता है, सबके लिए होता है किंतु ज्ञान और चिंतन वांगमय न हो तो वह सबके पास पहुंच नहीं पाता। व्यक्ति की जातीय संस्कृति में ज्ञान और चिंतन पूर्णतः व्याख्यायित और संश्लेषित होकर एक अभिनव विचारधारा के जरिए मानवीय चेतना को जगाती है। व्यक्ति सुसंस्कृत न हो तो वह पूरी तरह गुणी नहीं हो सकता ना ही सृजन कर सकता है। संस्कृति-चिंतन के साथ साहित्य जुड़ जाने से साधारण इंसान भी असाधारण बन जाता है। ऐसे ही एक असाधारण मननशील व्यक्ति हैं प्रोफेसर नामवर सिंह-जो वास्तव में नामश्रेष्ठ हैं। अपने नाम की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने वाले व्यक्ति इस दुनिया में बिरले होते हैं। ऐसे ही एक बिरले व्यक्तित्व हैं विश्व-साहित्य के प्रकांड आलोचक, दिग्दर्शक प्रोफेसर नामवर सिंह। ऐसे प्रख्यात लेखक, आलोचक, वाग्मी नामवर सिंह की कृतियों का मूल्यांकन करना मुझ जैसी नाचीज के लिए संभव न होने पर भी उस विराट व्यक्तित्व को प्रणाम करने के महार्घ अवसर को मैं अपना सौभाग्य समझती हूं! हिंदी साहित्य के हर क्षेत्र में उन्होंने अपनी छाप छोड़ी है किंतु उनका अनन्य कृतित्व है भारतीय तथा विश्व साहित्य की निर्भीक, निरपेक्ष व्याख्या व आलोचना करना। मेरे लिए इस छोटे से लेख में उन सब पर विचार करना संभव नहीं। इस प्रणम्य व्यक्तित्व की मैं जितनी भक्ति करती हूं, उससे कहीं अधिक श्रद्धा करती हूं। वे अपने व्यक्तित्व में स्पष्ट और मृदुभाषी हैं।

उनसे मेरी पहली मुलाकात हुई थी भारतवर्ष के एक प्रख्यात अनुवादक और साहित्य प्रेमी राजेंद्र प्रसाद मिश्र के माध्यम से। प्रोफेसर नामवर सिंह का प्रिय पात्र होना आसान नहीं। राजेंद्र मिश्र अपने असाधारण उत्तम स्वभाव की वजह से प्रो. नामवर सिंह के प्रिय पात्र हैं। सन 1990 के पूर्वार्द्ध में मेरे छोटे भाई तुल्य राजेंद्र मिश्र ने प्रो. नामवर सिंह से मुझे परिचित कराया। तब तक मेरे अनेक उपन्यास हिंदी अनुवाद में प्रकाशित हो चुके थे। प्रो. सिंह की मेरे लेखन के बारे में क्या राय है यह जानने की जिज्ञासा मुझमें थी, पर पूछने में झिझक हो रही थी लेकिन पहली ही मुलाकात से वे मेरे प्रति अत्यंत स्नेहशील थे, इसका एहसास मुझे हो गया था। राजेंद्र मिश्र द्वारा मुझे दीदी कहकर बुलाने के कारण दिल्ली के लगभग सभी वरिष्ठ साहित्यकार मुझे दीदी कहकर बुलाते थे। प्रो. नामवर सिंह का मुस्कुराते हुए मुझे दीदी कहकर संबोधित करना मेरे लिए उनका आशीर्वाद लगता था। वे ओड़िआ भाषा से प्यार करते हैं, ओड़िआ साहित्य को सम्मान देते हैं और भारतीय साहित्य में ओड़िआ भाषा साहित्य को एक अनन्य स्थान देते हैं। वे कहते हैं, भारतीय साहित्य में पहला उपन्यास बांग्ला भाषा

में भले ही लिखा गया हो, पर ओड़िआ कथाकार फकीरमोहन सेनापति ने जिस वक्त माटी और मनुष्य को लेकर अपना उपन्यास 'छ : माण आठ गुंठ' लिखा, तब तक भारतीय साहित्य में वैसा कोई उपन्यास नहीं था।

जब कभी भी ओडिशा के सारस्वत जगत ने उन्हें याद किया, वे ओडिशा पहुंचे हैं। अपने सारगर्भी उद्‌बोधन से ओड़िशावासियों को प्रभावित किया है। मेरा परम सौभाग्य है कि उनके पवित्र चरणरज मेरे घर पर भी पड़े। मेरे लिए उनके दो सुझावों ने मेरे सारस्वत यात्रा-पथ के सभी अड़चनों को दूरकर मुझे सृजनशील रहने को प्रेरित किया है। सन् 2000 में ओड़िशा की आदिमतम जनजाति बोंडा आदिवासी की संस्कृति और जीवन पर आधारित मेरा उपन्यास ' आदिभूमि' हिंदी में अनूदित होकर भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुआ। उस उपन्यास की एक छोटी-सी समीक्षा लिखी थी प्रो. नामवर सिंह ने। मुझसे मुलाकात होने पर कहा, 'दीदी, 'आदिभूमि' उपन्यास लिखने के बाद अब आप और कुछ न भी लिखें तो चलेगा। पांच हजार की जनसंख्यावाली इस जनजाति को आप वन-जंगल से घिरे पहाड़ों से नीचे उतारकर जिस तरह महान बनाकर पेश किया है, वह अद्‌भुत है।' यह मेरे लिए एक बड़े पुरस्कार का 'प्रशस्तिःपत्र' था कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी और एक बार उन्होंने कहा था, 'दीदी, आप कहानियां काफी लिख चुकी हैं। हिंदी पाठकों द्वारा वे बेहद पंसद भी की जा रही हैं। किंतु मेरा सुझाव है कि अब आप कहानियां मत लिखिए, उपन्यास लिखने में ध्यान दीजिए क्योंकि इन दिनों भारतीय साहित्य में उपन्यास का अकाल पड़ गया है। उपन्यास के नाम पर जो कुछ लिखा जा रहा है, वह समय के प्रवाह में खो जाएगा। इसलिए अब से सिर्फ उपन्यास लिखिए।' उनके इन शब्दों ने वास्तव में मुझे उपन्यास लिखने को प्रेरित किया था। इससे धीरे-धीरे मेरा कहानी लिखना कम हो गया और मुझे उपन्यास लिखने की अतःप्रेरणा मिलने लगी।

प्रो. नामवर सिंह का एक और महान गुण है उनकी विनम्रता और मधुर व्यवहार। सबसे मुस्कराते हुए बातें करते हैं। उनकी ऊंची आवाज मैंने कभी नहीं सुनी। मेरे जीवन में उनसे संबंधित एक और बात लिखे बिना उनकी महानता के बारे में मेरी बात अधूरी रह जाएगी। सन् 2015 में साहित्य अकादेमी ने मेरी सारस्वत जीवन-यात्रा पर एक वृत्तचित्र की योजना तैयार की। मेरे बारे में कुछ विशिष्ट साहित्यकारों के विचार प्रकट करना उस वृत्तचित्र का एक हिस्सा था। मुझ पर अपने विचार रखने के लिए जिन साहित्यकारों की एक छोटी-सी सूची तैयार की गई थी, उसमें सबसे पहला नाम प्रो. नामवर सिंह का था। उन दिनों उनकी तबीयत ठीक नहीं थी। कुछ ही दिनों पहले अस्पताल से घर लौटे थे। मैं 19 नवंबर, 2015 को दिल्ली पहुंची। मुझ पर वृत्त चित्र बनानेवाली निर्देशिका डॉ. सुनीति देवी और कैमरा टीम पहले ही भुवनेश्वर से दिल्ली पहुंच चुकी थी। मैं कैमरा टीम से मिली। हमें प्रो. नामवर सिंह के घर जाना था। हालांकि इससे पहले प्रो. नामवर सिंह से संपर्क करके राजेंद्र मिश्र ने उनसे अनुमति ले ली थी। इसके बावजूद उनकी तबीयत की वजह से मैं झिझक रही थी लेकिन जब मैंने उन्हें फोन किया, उन्होंने हँसते-हँसते कहा, 'दीदी, मैं इंतजार कर रहा हूं, आइए।' हम सभी उनके घर पहुंच गए। एक स्वस्थ व्यक्ति की तरह वे दरवाजे तक आए और स्मित मुस्कान के साथ हमें अंदर बुला ले गए। उनकी तबीयत के बारे में पूछने पर वे उस बात को नजरअंदाज करके तैयार होकर कैमरे के सामने बैठ गए। मेरे सम्मुख बैठकर वे मरे बारे में बोलते समय मुझे अटपटा लगेगा सोचकर मैं बगलवाले कमरे में जाकर बैठ जाने पर उन्होंने मुझे बुलाया। कहा, 'दीदी,

मैं आपके बारे में क्या कहूंगा यह सुनने में कोई हर्ज नहीं है।' उन्होंने मेरी समग्र रचनाओं को महत्व देने के साथ ही 'आदिभूमि' उपन्यास पर अधिक जोर दिया। आशीर्वाद के रूप में कहा, 'अब मैं नब्बे साल का हो रहा हूं। प्रतिभा राय मुझसे बहुत छोटी हैं। उनके पास काफी समय है। इस समय भारतीय साहित्य में उनका काफी नाम हैं, मैं उन्हें आशीर्वाद देता हूं कि वे विश्व साहित्य में अपना नाम रोशन करें।' हमने सोचा था कि वे दो-तीन मिनट बातें करके हमें बिदा कर देंगे। दरअसल वृत्तचित्र के लिए दो-तीन मिनट काफी होते हैं। किंतु प्रो. नामवर सिंह आठ-नौ मिनट मन से बोले। सबको चाय वगैरह से आप्यायित किया और हम सभी उनके व्यवहार से मुग्ध-चकित हो लौट आए।

वैदिक साहित्य में लिखा है- साहित्य सत्य, शिव, सुंदर का प्रकाश है। इसकी वास्तविकता है प्राचीन कल्पना विलासी साहित्य को आधार बनाकर समकालीन परिप्रेक्ष्य में जीवन के कठोर यथार्थ का सम्यक विवेचन करके प्रस्तुत करना। समकालीन साहित्य में केवल कल्पना नहीं है, ना ही साहित्यकार कोई धर्म-प्रचारक या नीतिवादी है। उसके साहित्य में आदर्श, संस्कार, धर्म सब कुछ होते हुए भी उसका प्रथम लक्ष्य होता है आनंद प्रदान करना। यही था उस दिन प्रो. नामवर सिंह का मेरे प्रति व्यक्त उद्‌गार का सार।

ऐसे प्रणम्य सारस्वत पुरुष दीर्घजीवी हों, ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है।

(लिप्यंतरण : राजेंद्र प्रसाद मिश्र)

●

नामवर की महत्ता

हरीश त्रिवेदी

दूसरी परंपरा का इतिहास

नामवरजी नब्बे के हो रहे हैं यह हम सब के लिए न केवल हर्ष का विषय है बल्कि ऐसा अवसर है कि हम सोचें कि हम सबने पिछले पचास-साठ वर्षों में उनसे कितना सीखा है और क्या-क्या पाया है। हिंदी का एक ही युग है जो किसी आलोचक के नाम से अभिहित है 'द्विवेदी-युग', पर यदि नामकरण की पहले जैसी ही परंपरा चल रही होती तो सोचना पड़ता कि हमारे समवर्ती युग का नाम नामवर' ही पर हो क्या। चौबीस वर्ष पहले मैंने अंग्रेजी में एक लेख- लिखा था (जो नीचे पुनः प्रकाशित हो रहा है) जिसका उपशीर्षक था 'नामवर होने का महत्व' और जिसे पढ़ कर नामवरजी ने विनोद में ही एक मित्र से कहा था : 'हिंदी वाले कब से लगे हुए हैं और एक अंग्रेजी वाला आया और तुरंत समझ गया!' पर मुझे स्वयं नहीं लगता कि तब, या अब भी, मुझे नामवरजी की थाह मिली हो। वैसे भी पछले दो-तीन दशकों में नामवरजी का महत्व बढ़ता ही रहा है, दोनों अर्थों में, यानी स्वयं उनका बड़ा-पन, उनकी महत्ता, और हमारे लिए उनकी जरूरत, उनका स्थान।

इस उत्तरोत्तर बढ़ते कद के कई कारण हैं। प्रमुख तो यही है कि इस बीच उनके ग्रंथों की संख्या दूनी हो गयी है, और वह भी बिना उनके इस बारे में कुछ किए-धरे। आशीष त्रिपाठी द्वारा संपादित और राजकमल द्वारा 2010 में प्रकाशित नामवरजी के अब तक असंकलित लेखों, व्याख्यानों, वाद-विवादों और साक्षात्कारों की जो आठ जिल्दें आई हैं वह एक प्रकार से नामवरजी की दूसरी पारी है, और इस बार उन्होंने शायद पहली बार से भी अधिक रन बटोरे हैं, शतक की जगह दोहरा शतक लगाया है। इसलिए कि उनकी 'छायावाद' या 'नयी कविता' वाली पुस्तकें जब छपीं तब रुचि-प्रवर्त्तक थीं पर वे तत्कालीन बहसें अब चुक गयी हैं, जबकि इस नयी शृंखला के लेख ऐसे बड़े और सामान्य विषयों पर केन्द्रित हैं जिनका ऐतिहासिक ही नहीं बल्कि अधिक स्थायी महत्त्व है।

माना जाता रहा है कि नामवरजी की श्रेष्ठतम पुस्तक है 'दूसरी परंपरा की खोज'। मुझे अब देखकर स्वयं आश्चर्य हुआ कि अपने पहले वाले लेख में मैंने इसे जल्दी ही निपटा-सा दिया था। कारण यह याद आया कि तब, 1992 के आस-पास, हम सब को उम्मीद थी कि इस भूमिका या प्रस्तावना-रूपी कितबिया के बाद नामवरजी जल्दी ही वह मुख्य पुस्तक लिखेंगे जिसकी आस लगाए हम सब लोग बैठे थे और जो हिंदी या पूरे भारतीय साहित्य की जानी-मानी परंपरा के बरक्स ऐसी इतर या दूसरी परंपरा खड़ी करेगी कि उसके सामने पहली परंपरा सर्वथा धूसरित लगने लगे और गौण हो जाय। 'मगर ये हो न सका और अब ये आलम है' कि 'दूसरी परंपरा' की किसी राजनीतिक नारे

की तरह दुहाई देने वाले बुद्धिजीवी इस प्रस्तावना को ही पूजने लगे हैं।

हाल में ही मुझे इस पुस्तक को ध्यान से बार-बार पढ़ने का सुयोग मिला क्योंकि दिल्ली विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग के ही मेरे पूर्व छात्र श्री अखिलेश कुमार ने अपनी पी-एच.डी. थीसिस के रूप में 'दूसरी परंपरा की खोज' का अंग्रेजी में अनुवाद किया (2015)। (प्रसंगवश कहना आवश्यक है कि इस यज्ञ में प्रोफेसर अवधेश कुमार सिंह और डॉ अनामिका ने भी आहुति डाली अर्थात् अखिलेश की भरपूर सहायता की।) इस सतत पुनर्पाठ में मेरी जो धारणा बनी वह यह कि इस पुस्तक में नामवरजी का पहला उद्देश्य अपने 'गुरुदेव' हजारीप्रसाद द्विवेदीजी को श्रद्धांजलि देना था, उनके जीवन और कृतित्व की विशद विवेचना और सराहना के द्वारा, और दूसरा उद्देश्य दिनकर, अज्ञेय, गोविंदचन्द्र पांडे और अन्य 'सामासिक,' 'संग्राहक' या 'मिश्र' संस्कृति के प्रेमी आधुनिकतावादियों, और हजारीप्रसादजी से असहमत होने का दुस्साहस करने वाले आलोचकों, को धर पटकना था- फिर दूसरी परंपरा की रूपरेखा चाहे बने या जाय। कहा जा सकता है कि इस पुस्तिका में दूसरी परंपरा के मुख्य मानदंड व अवलंब हजारीप्रसादजी ही हैं, बल्कि दूसरी परंपरा उन्हीं से शुरू होकर उन्हीं पर समाप्त हो जाती है। यह भी लगता है कि इस प्रकार की दूसरी परंपरा की अवधारणा में स्वयं हजारीप्रसादजी का हाथ कम और नामवरजी का हाथ ज्यादा है, और इस अर्थ में यह गुरु के गुड़ रहने और चेले के शक्कर हो जाने की किताब है। वैसे नामवरजी की ख्याति हजारीप्रसादजी के आश्रय के बिना ही इस पुस्तक के पहले ही दूर-दूर तक फैल चुकी थी, यहां तक कि साहित्य अकादेमी पुरस्कार नामवरजी को 1971 में मिला और हजारीप्रसादजी को 1973 में।

अखिलेश कुमार को 2015 में दिए एक साक्षात्कार में नामवरजी ने कहा कि इस पुस्तक में उन्हें अब किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं लगती क्योंकि यह अपने-आप में 'मुकम्मल' है। बात सही भी है, भले ही उस पुस्तक की भूमिका में उन्होने स्वयं उसे केवल 'अंतरिम रिपोर्ट' ही कहा हो। पर बाद में दूसरी परंपरा को पूरे विस्तार में निरूपित करती वह बड़ी और कहीं ज्यादा मुकम्मल पुस्तक भी आ सकती तो बात ही अलग होती। याद आता है कि सन साठ या सत्तर के दशक में, उन 'गर्वीली गरीबी' के दिनों में, एक प्रकाशक ने नामवरजी को हिंदी साहित्य का एक नया इतिहास लिखने के लिए दो हजार रुपये अग्रिम दिए थे- जो तब बहुत बड़ी राशि थी, शायद आज के एक-दो लाख के बराबर। कुछ समय बाद संकेत-सा आया कि इतिहास कैसा चल रहा है तो नामवरजी गए, बक्से से वे दो हजार रुपये निकाले और तुरंत वापस दे आए- ज्यों की त्यों धर दीन्ही चदरिया। लेकिन वे लौटाए गए दो हजार रुपये हिंदी साहित्य को कितने भारी पड़े हैं, यह कौन आंक सकता है?

नामवर के नए प्रतिमान

नामवरजी की यह जो आठ ग्रंथों की नयी शृंखला निकली है उसका सबसे बड़ा महत्व तो यह है कि अब तक जो सिर्फ 'पैगाम-ए जुबानी' था वह अटल अक्षरों में लिखा हमारे समक्ष है, जो भी छूटा हुआ बिखरा हुआ था वह अब विधिवत् संयोजित-संकलित है। नामवरजी तथाकथित वाचिक परंपरा के मूर्तिमान स्वरूप हैं और वह भी आलस्यवश नहीं किंतु प्रकृतिवश। उनकी प्रतिभा सहज ही बोलते वक्त जैसी फहराती है और जो-जो छटा दिखाती है वह शायद उनके लेखन में भी हरदम नहीं मिलता। (देखिए मेरे पहले के लेख में उद्धृत भीष्म साहनी की फब्ती।) वैसे भी जब नामवरजी लिखते हैं तो प्रमाण के रूप में लगातार सटीक उद्धरण देते चलते हैं, जो कभी-कभी उनके तर्क का

तारतम्य बाधित करते से लगते हैं। स्वयं 'दूसरी परंपरा' की भूमिका में यह स्वीकार करते हुए उन्होंने अपनी इस प्रवृत्ति का अद्‌भुत औचित्य बताया है : 'कहते हैं, वाल्टर बेन्यामिन एक पुस्तक सिर्फ उद्धरणों की ही लिखना चाहते थे। काश मैं ऐसा कर पाया होता!' बहरहाल उनके अलिखित व्याख्यानों की एक खूबी यह भी है कि उनमें उद्धरणों की ऐसी घटा नहीं छाई रहती, उनका बिरले ही प्रयोग होता है क्योंकि उसके लिए नामवर-जी को कुरते की जेब से छोटी-सी पुर्जी निकालनी पड़ती है।

इन आठ ग्रंथों की एक और भी बड़ी विशेषता यह है कि इनमें संकलित अधिकांश सामग्री 'दूसरी परंपरा' के समय की ही या उसके बाद के बीस-पच्चीस वर्षों की है जब वे आलोचक के रूप में अपने चरमोत्कर्ष पर रहे हैं, अर्थात सबन के ऊपर ठाढ़े रहिबे के जोग, और वह उसी धाक और धड़ल्ले से बोले भी हैं। एक और खासियत यह है कि कई बार इन व्याख्यानों में नामवरजी का पूर्वपक्ष उनके सामने ही साक्षात विराजमान था, यानी नामवरजी की दृष्टि में आग में घी का काम कर रहा था। इन नए ग्रंथों में मेरा विशेष प्रिय है 'प्रेमचंद और भारतीय समाज' क्योंकि उसमें नामवरजी ने शायद अपने सबसे प्रिय आधुनिक हिंदी लेखक पर बोला-लिखा है, निराला और मुक्तिबोध से भी अधिक प्रेय और श्रेय। इसमें एक विषय-प्रवर्तक व्याख्यान है जो वात्स्यायनजी की अध्यक्षता में दिया गया था जिसका तेवर ही अलग है, और जिसमें नामवरजी शुरू में ही दोनों के कम-से-कम तीस साल पुराने अहि-नकुलम संबंध की ओर इशारा करते हुए कहते हैं कि एक बार फिर 'ऋत्विक' भी वही हैं और 'यजमान' भी वही! प्रसंगवश नामवरजी चिंतन और आलोचना के क्षेत्र में हमेशा 'वात्स्यायनजी' का उल्लेख करते हैं और उपन्यास के संदर्भ में ही 'अज्ञेय' का। कहना न होगा कि किसी भी भाषा के किसी भी शब्द का नामवरजी सदैव सर्वथा शुद्ध उच्चारण ही करते हैं, बस इसी एक शब्द की छोड़ कर जिसे दैव जाने क्यों वे हरदम 'अग्गें' कहते हैं।

प्रेमचंद वाले ग्रंथ में ही एक और भाषण है, 'राष्ट्रीय मुक्ति-आंदोलन और प्रेमचंद,' जिसकी शुरुआत ही नामवरजी की विद्वत्ता, दृष्टि और शैली की सुन्दर बानगी है :

प्रेमचंद के साहित्य से जिनका थोड़ा भी परिचय है वे और कुछ न जानते हों पर इतना जरूर जानते हैं कि प्रेमचन्द हमारे स्वाधीनता-संग्राम के अनूठे महागाथाकर थे और यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि इस क्षेत्र में प्रेमचंद समूचे भारतीय साहित्य में अपना बेजोड़ स्थान रखते हैं। 1905-1906 के बंग-भंग से लेकर 1936 तक, जब प्रेमचंद की मृत्यु हुई, इन तीस वर्षों के भारतीय जीवन की धड़कन, उसका संघर्ष, उसकी पराजय, उसका दुःख, उसका दर्द, अपनी समस्त गहराई के साथ और अपनी समस्त व्यापकता के साथ अगर किसी एक भारतीय लेखक में आप ढूंढना चाहें, तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर के रहते हुए, शरतचंद्र के रहते हुए, सुब्रह्मण्य भारती के रहते हुए, वि.स. खांडेलकर के रहते हुए, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के रहते हुए, डॉ. मुकम्मद इकबाल के रहते हुए भी मैं प्रेमचंद का नाम लेना चाहूंगा, क्योंकि यही वह एकमात्र साहित्यकार हैं जिनके साहित्य में स्वाधीनता-संग्राम की अमर गाथा अपने पूरे ब्योरे के साथ कही गयी है। (पृष्ठ 113)

हिंदी में ही नहीं पूरे भारत में कितने आलोचक हैं जो इन विविध भाषाओं के स्वाधीनता-संग्राम पर लिखने वाले मूर्धन्य लेखकों का नामोच्चार इतनी सहज विद्वत्ता के साथ करते चले जाएं; तभी तो नामवरजी की अतुलनीय अखिल भारतीय ख्याति है जो किसी भी भाषा के किसी और आलोचक

की नहीं है। अगर प्रेमचंद को इन सबसे बड़ा बताने वाला व्यक्ति इन सभी लेखकों से परिचित न लगे तो उसका प्रेमचंद को इन सबसे बड़ा मानना खोखला और बेमानी होगा; यह व्यापक संदर्भ इस निष्कर्ष का स्वयं ही प्रमाण है। फिर, कितने सहज प्रवाह में रवीन्द्र से लेकर इकबाल तक ये एक-से-एक बड़े नाम 120 शब्दों के इस महावाक्य में गुंथे हुए बरबस चले आते हैं, जैसे कि 'अमुक के रहते हुए, अमुक के रहते हुए, अमुक के रहते हुए' की आवृत्ति के साथ अनेक सोपान चढ़ता हुआ कोई गर्भगृह में दर्शनार्थ प्रवेश करने चला आ रहा हो। कथ्य और कथन-शैली कदम से कदम मिलाते हुए एक दूसरे को बल देते से चलते हैं और प्रेमचंद के चारों ओर एक अभेद्य किला सा खड़ा करते हैं।

इस सरल से लगते उद्धरण के क्रमशः और भी अनेक संश्लिष्ट अर्थ खुलते है, कई परतें उजागर होती हैं, कई अनुगूंजें सुनाई पड़ती हैं,। नामवरजी के ही बहुत पहले के एक निबंध में विवादित, साहित्य के दो वैकल्पिक मान-दंड, 'व्यापकता' या 'गहराई' दोनों ही यहां प्रेमचंद की सेवा में उपस्थित हैं। लग सकता है कि जब वे 'संघर्ष,' 'पराजय,' 'दुःख' और 'दर्द' तो गिनाते हैं पर स्वाधीनता-संग्राम में 'विजय' का नाम नहीं लेते तो शायद उनका मार्क्सवादी रूप झलक रहा हो और 'यह आजादी झूठी है' वाले पुराने कम्युनिस्ट नारे की कहीं दूर से प्रतिध्वनि आ रही हो, लेकिन ऐसा नहीं है, यह उनका अचूक इतिहास-बोध है, क्योंकि प्रेमचंद के जीवन-काल में तो स्वतंत्रता-संग्राम में विजय नहीं मिल पाई थी। हां, एक और प्रतिध्वनि अवश्य आ रही है, किसी दूसरी ही दिशा से। नामवरजी के गुरुदेव हजारीप्रसादजी ने प्रेमचंद पर लिखा था : 'अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुःख-सुख, और सूझ-बूझ को जानना चाहते हैं तो प्रेमचंद से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता।' उसी तर्ज पर और उसी जमीन पर प्रेमचंद की तारीफ करते हुए नामवर जैसे अपने गुरु को मन-ही-मन प्रणाम कर रहे हैं, और अपना सार्थक शिष्यत्व दिखाते हुए अपनी ओर से 'पराजय' भी जोड़े दे रहे हैं। नामवरजी ने हंसते हुए मुझे एक बार बताया कि बनारस में जब वे छात्र थे तो हजारीप्रसादजी ने उनसे कहा था कि अभी मुझे तुम्हारी कुछ angularities दूर करनी हैं- लेकिन स्पष्ट है कि वे पेंच-ओ-खम अभी-भी बाकी हैं। (पूछने पर नामवरजी ने बताया कि हजारीप्रसादजी ने इस सटीक अंग्रेजी शब्द का ही स्वयं प्रयोग किया था।) छोटे-से उद्धरण के इस बड़े भाष्य में बस एक बात और जोड़नी है, कि इसी ग्रंथ में संकलित और ठीक उसी समय (1979-80 में) लिखित एक निबंध में नामवरजी ने उन आलोचकों का उपहास किया था और उन्हें चुनौती दी थी जो प्रेमचंद को 'भारतीय स्वाधीनता-संग्राम का महागाथाकार साबित' करते घूमते हैं!

दुधारी तलवार

नामवरजी के बारे में यह लोकापवाद पुराना है कि वे किसी भी स्थापना के पक्ष या विपक्ष में समान अधिकार से बोल सकते हैं। इस कौशल के एकाधिक अर्थ निकाले जाते हैं जिनमें मुझे तो यह मानना अच्छा लगता है कि उनके मन में पूर्व-पक्ष के प्रति भी लगभग उतना ही सम्मान रहता है जितना उत्तर-पक्ष के प्रति, और उनमें वह कट्टरता नहीं है जो उनके कुछ निंदकों में जल्दी ही दिखने लगती है। एक और बात हो सकती है कि नामवरजी में प्रतिभा का ऐसा अतिरेक है कि वह एक पक्ष की ही व्याख्या में चुकने में नहीं आता। और कई बार तो यह भी लगता है की यह नामवरजी

का खिलंदड़ापन है या विनोद-प्रवृत्ति है, जिसका एक चश्मदीद सबूत मेरे पास है। शायद 15 या 20 साल पहले की बात होगी कि दिल्ली विश्वविद्यालय के दक्षिण परिसर के हिंदी विभाग में 'उत्तर-आधुनिकता' पर एक-दिवसीय गोष्ठी आयोजित की गयी जिसमें नामवरजी की बोलना था और प्रो. निर्मला जैन, प्रो. अभय मौर्य, मुझे और शायद एक-दो और लोगों को भी। विषय नया और किंचित भ्रांतिकारी था तो सब तैयारी से आए थे। नामवरजी शुरू में ही बोले और सदा की तरह बहुत अच्छा बोले। फिर हम सब बोले और लंच के बाद मैंने नामवरजी से विदा ली कि अब मुझे उत्तर परिसर जाकर एक एम.फिल. क्लास पढ़ानी है जो टल नहीं सकती। वे हंसे और बोले कि अरे, आप रुक नहीं सकते, क्योंकि जो मैंने सुबह शुरू में बोला है अब शाम को अंत में मैं उसका ठीक उल्टा बोलूंगा! कहना न होगा कि उनकी यह योजना उस विषय के सर्वथा अनुकूल थी जिसमें कई बार उल्टा-सीधा एक समान माना जाता है।

इसी प्रसंग का एक और पक्ष भी उल्लेखनीय है। अपने भाषण में मैंने तभी छपी एक पुस्तक से 'उत्तर-आधुनिकता की वर्णमाला' जैसी सूची से (जिसमें, इ, ब इत्यादि क्रम से शुरू होने वाले एक-एक शब्द में उत्तर-आधुनिकता के 26 गुण गिनाए गए थे) एक छोटा सा उद्धरण दिया। नामवरजी मंच पर बगल में ही बैठे थे तो मेरा भाषण समाप्त होते ही उन्होंने वह सूची अपनी ओर खिसका कर वहीं पढ़ी। बोले, 'हरीशजी, यह फोटोकॉपी मुझे रख लेने दीजिए, आप तो उस पुस्तक से एक और बनवा लेंगे!' मुझे लगा कि अहोभाग्य, कि मेरा पाया हुआ उनको भी कुछ काम का लगा। इसी तरह एक बार अमेरिका से लौट कर मैंने नामवरजी को 'न्यू योर्कर' पत्रिका का एक विशेषांक दिया (वही जिसमें रुश्दी ने भारतीय साहित्य का अपमान किया था) तो कुछ दिन बाद कृष्ण बलदेव वैद मुझसे मजाक में ही बिगड़े कि उदयपुर में एक गोष्ठी में मैं भी वही बोलने वाला था पर तुम्हारी बदमाशी से नामवर पहले-से ही वही लेख पढ़े हुए तैयार थे और वही सब बोल चुके थे! तात्पर्य यह कि नामवरजी से अधिक पढ़ा-लिखा और 'अपटूडेट' शायद ही कोई लेखक या आलोचक हिंदी में रहा हो। हिंदी और संस्कृत का उनका ज्ञान अगाध है तो अंग्रेजी, उर्दू और बांगला साहित्य की उनकी समझ भी किसी से उन्नीस नहीं है। कहा जाता है की वे अच्छा बोलते हैं पर यह प्रशंसा सतही है। देखने की बात यह है कि वे हरदम कुछ नयी बात बोलते हैं, विषय चाहे जितना पुराना हो। उनकी वाग्मिता लफ्फाजी नहीं है जैसी कुछ औरों की होती है। उनके अच्छा बोलने का सदा बहुश्रुत और बहुयामी विद्वत्ता से पुष्ट आधार रहा है जो केवल बहुत-कुछ पढ़ने से नहीं लेकिन उस पर सतत मनन और गंभीर चिंतन करने से बनता है।

सदसि वाक्पटुता युधि विक्रम

नामवरजी सदैव मंद स्वर में बोलते हैं, कभी आवाज ऊंची नहीं करते, पर इसी अनाक्रामक लहजे में जिसे चाहते हैं अनायास ही चित कर देते हैं। उनकी वाक्पटुता किसी भी सभा की शोभा है, और मेरे मन में तो बात स्पष्ट है कि सभाएं और गोष्ठियां दो प्रकार की होती रही हैं, एक जिनमें नामवरजी जाते और बोलते हैं और दूसरी जिनमें वे नहीं जाते। पर उनकी वाक्पटुता केवल माध्यम है, लक्ष्य नहीं। उनका लक्ष्य है किसी भी विषय के मूल तक पहुंच कर दूध का दूध और पानी का पानी करना, सबसे महत्वपूर्ण बातें सीधे-सादे शब्दों में श्रोता या पाठक तक पहुंचाना, इस विवेचन या विवेक में किसी भी पूर्वग्रह या विचारधारा को आड़े न आने देना, और जो कोई अन्य आलोचक इस प्रकार की

अर्थ-निष्पत्ति में अवरोध उत्पन्न करे उसको आड़े हाथों लेना। उनके जैसा तीक्ष्ण-बुद्धि और निर्भीक आलोचक कोई दूसरा नहीं दीखता और नामवरजी की 'परसु मोर अति घोर' वाली मुद्रा देख कर सामने भी नहीं आता, खास कर जब वह पाता है कि इस परशु की धार सूक्ष्म व्यंग-विनोद की सान पर चढ़ी हुई है।

सामान्य रूप से माना जाता है नामवरजी ने दो वर्गों के लोगों को विशेषतः रास्ता दिखाया किंवा राह लगाया है। एक तो आधुनिकतावादी, कलावादी, रूपवादी, अस्तित्ववादी इत्यादि दक्षिणपंथी लोग, जिस सूची में आते हैं मुख्यतः अज्ञेय, निर्मल वर्मा, और रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि। दूसरे हुए वामपंथ के ही उनकी दृष्टि में उद्‌भ्रांत और पथच्युत लोग, जिनमें मुख्य हैं रामबिलास शर्मा और अमृत राय। पर बहुतों को दृष्टिगोचर नहीं होता कि एक तीसरा वर्ग भी है जिस पर भी नामवरजी की कृपादृष्टि पड़ी है और अनुग्रह हुआ है। ये हैं कट्टर और लीक के फकीर ऐसे मार्क्सवादी जिनके बारे में मंटो ने लिखा था : 'तरक्की-पसंद लोग सोचा नहीं करते।' मार्क्सवाद को ऐसे अति-आचारी मार्क्सवादियों से बचा कर भी नामवरजी ने हिंदी जगत का महान उपकार किया है।

इसके अनेक उदहारण दिए जा सकते हैं। उस 'प्रेमचंद और भारतीय समाज' नाम की पुस्तक पर ही लौटें क्योंकि उसमें पहले से लगातार उठाया जाने वाला एक प्रमुख विषय बार-बार आता है जिसे नामवरजी की ही अनूठी व्यंगात्मक शैली में कहें तो 'प्रेमचंद गांधीवादी थे या मार्क्सवादी? गांधीवादी थे तो कितने और कब तक? मार्क्सवादी हुए तो कब और कितनी दूर तक?' (पृष्ठ 34)। इसी पुस्तक के एक भाषण 'प्रेमचंद के वैचारिक अंतर्विरोध और गांधीवाद' (पृष्ठ 131-149) में इस प्रश्न की विस्तार से चर्चा है, और कई लोगों को नामवरजी से उम्मीद रही होगी कि वे खुद प्रेमचंद को मार्क्सवादी सिद्ध करने की ओर ही झुकेंगे। लेकिन होता क्या है कि नामवरजी इन दोनों वादियों-प्रतिवादियों को एक ही कटघरे में खड़ा करते हैं :

विचारकों का, लेखकों का ऐसा एक दल है जो प्रेमचंद पर गांधीवाद की गहरी छाप देखता है और जिसका कहना है की प्रेमचंद अंत तक गांधीवाद के प्रभाव से मुक्त नहीं हुए थे। दूसरी ओर कुछ प्रगतिशील लेखकों का ऐसा दावा है और ऐसा प्रयत्न भी है कि प्रेमचंद को सोलहो आने मार्क्सवादी साबित किया जाए। (पृष्ठ 138)

तेल की धार देखें तो लग सकता है कि 'दावा' करने और 'प्रयत्न' करके कुछ 'साबित' करना चाहने वालों का पलड़ा कुछ हल्का है क्या? अस्तु, शीघ्र ही नामवरजी का फैसला आता है जो यदि गांधीवादियों के पक्ष में नहीं है तो मार्क्सवादियों के पक्ष में भी नहीं है, वह है बस प्रेमचंद के पक्ष में और उनको एक दुराग्रह-मुक्त दिमाग से और 'खुली वैज्ञानिक दृष्टि से' पढ़ने के पक्ष में : '... इसलिए प्रेमचंद को गांधीवाद और मार्क्सवाद, इन दोनों वादों के बीच बांधने का प्रयत्न करना उन वादों के साथ तो अत्याचार है ही, प्रेमचंद के साथ भी ज्यादती है।' (पृष्ठ 140) शेष भाषण में भी अगर इन दोनों वादों में किसी की किंचित भी प्रधानता है तो शायद गांधीवादियों की ही।

यहां मैं सावधान करना चाहूंगा कि इधर कुछ लोगों ने जो प्रगतिशील विचारों के मार्क्सवादी लेखक रहे हैं, उन्होंने भारतीय स्वाधीनता संग्राम में गांधीजी के महत्व को ठीक-ठीक नहीं आंका है। उनके महत्व को प्रायः कम करके देखा गया....स्वाधीनता संग्राम में किसानों की भूमिका निर्णायक है, यह समझना, अकेले गांधीजी का इतना बड़ा कार्य है कि बहुत दिनों तक कम्युनिस्ट पार्टी भी

नहीं समझती थी....भारत में कम्युनिस्ट पार्टी बहुत दिनों तक इस चीज को नहीं समझ सकी थी। गांधीजी का महत्व यह है कि उन्होंने किसानों की भूमिका को समझा और चंपारण से अपना आंदोलन शुरू किया। भारतीय आजादी की लड़ाई में अगर किसानों की भूमिका को किसीने समझा तो राजनीति में गांधीजी ने और साहित्य में प्रेमचंद ने। (पृष्ठ 144)

नामवरजी की खुली दृष्टि का यह अकेला उदाहरण नहीं है। हाल का ही प्रसंग है कि अज्ञेय के जन्म-शताब्दी वर्ष 2011 में दिल्ली के हिंदू कॉलेज में बोलते हुए नामवरजी ने अज्ञेय की लंबी कविताओं की विस्तार में प्रशंसात्मक व्याख्या की और कहा कि आधुनिक हिंदी में सफल लंबी कविताएं या तो मुक्तिबोध ने लिखी हैं या अज्ञेय ने। सभा में उपस्थित कई लोगों को अज्ञेय की प्रशंसा शायद उतनी नहीं अखरी जितनी कि प्रगतिशील आलोचकों के मानक कवि मुक्तिबोध से अज्ञेय की समकक्षता। उसी सभा के उसी सत्र में हिंदी के एक धुरंधर प्रगतिशील प्रोफेसर ने कहा कि अज्ञेय से तो अच्छे कवि बद्री नारायण हैं। (हां, जरूर पूछिए कि यह बद्री नारायण कौन हैं।) इसी तरह कबीर को हिंदी साहित्य में अपेक्षाकृत उपेक्षा से निकाल कर उचित ऊंचे स्थान पर प्रतिष्ठित करनेवाले आलोचकों में नामवरजी का योगदान हजारीप्रसादजी से शायद थोड़ा ही कम हो, पर जिसने भी नामवरजी को तुलसीदास की चर्चा करते या सहज रूप से पग-पग पर साधारण बातचीत में 'मानस' को उद्धृत करते सुना है वे जानते हैं कि वे किस कदर 'बाबा' के रस में पगे हुए हैं। जबकि कई नए कबीरवादी ऐसे भी हैं जिन्हें तुलसी का नाम लेते भी छूत लगती है।

पिछले दो-तीन दशकों के इस तरह के माहौल में और प्रगतिशील संघ व आन्दोलन के सर्व-सम्मानित नेता होते हुए भी नामवरजी बार-बार जिस निष्पक्ष, खुली व वैज्ञानिक आलोचनात्मक दृष्टि का प्रमाण देते रहे हैं वह सर्वथा श्लाघ्य है। ऐसी तलवार की धार पर धावने वाली बहादुरी सिर्फ नामवरजी की बुलंदी पर पहुंचा हुआ कोई व्यक्ति ही कर सकता था। दूसरे खेमे के लोगों को बढ़ कर ललकारना, या अपने ही खेमे के भूले-भटकों को सही रास्ता दिखाना भी कम बहादुरी के काम नहीं हैं, पर कट्टर और लीकपंथी प्रगतिशीलों के गुर्राते शेर पर इस शान से सवारी गांठना शायद नामवरजी का सबसे बड़ा पराक्रम है। हिंदी आलोचना की मुख्यधारा निश्चय ही प्रगतिशील है और होनी भी चाहिए पर वह विचारधारा और विचारों की तानाशाही का दर्जा अख्तियार कर ले यह नौबत आने से यथासंभव रोकने का काम नामवरजी ने किया है, किसी को मना करके नहीं पर स्वयं अपनी सद्बुद्धि, अपने अडिग विवेक और संयत स्वर, और अपने रसिक साहित्य-प्रेम का ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करके, और यह तब जबकि पता नहीं कितने लोग मिखाइल बाख्तीन के शब्द में 'unfinalizable' साहित्य को सपाट इतिहास या निरे समाजशास्त्र के रूप में पढ़ने को उतारू हैं। नामवरजी हैं तो बहुत कुछ उन्हीं की दृश्य व अदृश्य प्रेरणा से चलता रहता है। इस अर्थ में वे सच ही हिंदी आलोचना के युग-पुरुष हैं।

व्यक्ति-समष्टि

फिराक साहेब के शब्दों में 'आने वाली नस्लें' पता नहीं नामवरजी की क्या छवि बनाएंगी लेकिन हम लोग जिन्होंने नामवरजी को साक्षात् देखा है और उनके साथ उठे-बैठे हैं और कुछ कदम ही सही, और अभिधा में ही सही, साथ-साथ चले हैं वे भाग्यशाली हैं। नामवरजी की बात ही कुछ और है। हिंदी में कम ही लेखक हुए होंगे जिनका पूरा आना-बाना और आचरण इतना गरिमामय रहा है।

इस गरिमा और आभिजात्य में वे अज्ञेय से ही तुलनीय हैं पर इसलिए नहीं कि वे कदापि उनके जैसे हैं, बल्कि इसलिए कि उन्होंने सिद्ध किया है कि कुर्ते-धोती-बंडी की भी एक सहज गरिमा हो सकती है। अज्ञेय की ही तरह नामवरजी भी मितभाषी हैं, पर इस हद तक नहीं कि सन्नाटा बुनने लगें। फोन पर 'जी...?' से शुरू होने वाला उनके साथ का वार्त्तालाप जिस किसी का पांच-सात मिनट से लंबा चलता हो वे सामने आएं और एक पदक पाएं। साक्षात् भी वे छा-जाकर सबको चुप करा कर बोलने वाले महापुरुषों में नहीं हैं; वहां भी कम बोलते हैं और बस वीच-बीच में सर्वथा संगत या चुटीला या विनोदपूर्ण कुछ कह देते हैं। यह वाणी की कृपणता और भी कुछ क्षेत्रों में दिखती है ऐसा लोग कहते हैं पर इसका मुझे अनुभव नहीं है।

पर यह नामवरजी का पूर्व-पक्ष है। उनका एक और पक्ष है जिसमें उनकी उदारता देखते बनती है। वे सबका ऐसा सहज सम्मान करते हैं कि सभी को विस्मय हो सकता है कि वे इस योग्य कैसे समझे गए। जब नामवरजी का 75 वर्ष पूरे करने का समारोह मनाया गया तो हिंदी के विशाल दस प्रदेशों में फैले समुदाय के बारह नगरों में हर माह एक समारोह हुआ जैसे कि एक प्रकार का आधुनिक अश्वमेध हो और जैसा किसी आलोचक तो क्या उपन्यासकार या कवि का भी न भूतो न भविष्यति। उनके साथ हर समारोह में एक और वक्ता चुना गया और मुझे गर्व है कि इस सूची में मेरी भी बारी आई, जोधपुर वाले समारोह में जहां नामवरजी को जिंदगी की पहली प्रोफेसरी मिली थी और जहां जाकर उन्होंने कहा कि धान जब उखाड़ कर कहीं और रोपा जाता है तभी पनपता है। वे वहां उसी घर में कई महीने एक और प्रोफेसर के साथ रहे थे, जो संयोग से वात्स्यायनजी थे (!), और फिर इस्तीफा देने को भी बाध्य हुए जब उन्होंने राही मासूम रजा का तभी प्रकाशित उपन्यास 'आधा गांव' पाठ्यक्रम में लगाया जिस पर अश्लीलता का आरोप लगा और जब नामवरजी ने अनेक हिदी साहित्यकारों से समर्थन मांगा तो उन्हीं के दुखी शब्दों में जिसकी पूंछ उठायी वही मादा निकला।

नामवरजी के बारे में यह भी विख्यात है कि वे जल्दी किसी की तारीफ नहीं करते। ठीक भी है, होना भी ऐसा ही चाहिए, खास कर हमारे हिंदी जगत में जहां 'परस्परं प्रशंसन्ति' का ही सिक्का चलता है। लेकिन यह शायद सर्व-विदित नहीं है कि नामवरजी जब तारीफ करते है तो सर्वथा उन्मुक्त कंठ से। अभी कुछ ही महीने पहले छोटा सा ही एक लेख छपा तो नामवरजी ने उसी दिन पढ़ कर लेखक को फोन किया और कहारू 'मन होता है कि लेखक को गले लगा लूं और उसकी कलम चूम लूं!' नामवरजी कुछ भी कहते हैं तो होता है अंदाज-ए बयां और। इसी तरह नामवरजी में जितना दो-टूक अक्खड़पन है उतनी ही गहरी विनम्रता भी। मैंने उनको एक बड़ा व्याख्यान देने के पहले प्रोफेसर शिशिर कुमार दास से कहते सुना है कि आप जैसे लोग सामने बैठे होते हैं तो बोलते वक्त हमारी धुकधुकी तेज हो जाती है। यह होता तो सभी के साथ होगा पर अपना यह राज हम सब अपने से भी छुपाए रखते हैं, कहते नहीं फिरते।

और सबसे बड़ी बात कि वाद-विवाद के अनुरागी नामवरजी से सहज ही मतान्तर व्यक्त किया जा सकता है और अगर अपना माद्दा हो तो बहस भी की जा सकती है। इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। जब निर्मल वर्मा को अंततः ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला और वह भी आधा, पंजाबी लेखक गुरदयाल सिंह के साथ, तो हिंदी के अनेक पाठक अत्यंत क्षुब्ध हुए जिनमें मैं भी था। कुछ ही समय बाद संयोग बना कि नामवरजी और मैं बंबई से कालीकट की फ्लाइट में अगल-बगल बैठे और मैंने

शिकायत की तो नामवरजी ने घंटे भर बड़े धैर्यपूर्वक समझाया कि उनकी इस निर्णय में क्या भूमिका थी और अगर वे न होते तो निर्मल को शायद आधा पुरस्कार भी न मिलता। अब मैं भी ज्ञानपीठ पुरस्कार की प्रवर-परिषद् में आया हूं तो मुझे देखने का अवसर मिला है कि उस प्रक्रिया में नामवरजी की क्या भूमिका रहती है और वे किस प्रकार 'लोक-धर्म' और 'शास्त्र-धर्म' का नाजुक संतुलन बना कर वह बड़ा उत्तरदायित्व निभाते हैं।

अभी कुछ ही समय पहले मुझे सुनने को मिला कि जब नामवर बनारस के स्कूल में पढ़ते थे तो उनके एक अध्यापक ने कहा कि इस बालक में तो शंकराचार्य की प्रतिभा है। यह सुनकर कोई विस्मय करे तो करे पर एकदम अविश्वास शायद न कर पाए। अंतर बहुत से हैं और बड़े-बड़े हैं पर दोनों में उसी तरह की तीक्ष्ण बुद्धि है, विशद विद्वत्ता है, टीका-टिप्पणी और औरों के लिखे पाठ व उद्धरणों से स्वयं अपनी बात आगे बढ़ाने की रुचि और प्रवृत्ति है, और वही सर्वोपरि स्थान सहज ही ग्रहण करने की असंदिग्ध क्षमता। मैं शकंराचार्य की तो नहीं जानता पर आजकल पूरे विश्व के अनेक महान आलोचकों से मुझे मिलने-जुलने, उठने-बैठने और बहस-मुबाहिसे का संयोग मिला है और मुझे लगता रहा है कि गायत्री स्पिवाक हों या होमी भाभा या टेरी ईगलटन, हमारे अपने नामवरजी अपने वृत्त और अपने अधिकार-क्षेत्र में उनसे उन्नीस नहीं ठहरेंगे। हजारीप्रसादजी ने प्रेमचंद के बारे में कहा था कि जब हम उनके श्रेष्ठ उपन्यास किसी दूसरे को दिखाते हैं तो 'मन-ही-मन गर्वपूर्वक पूछा करते हैं 'है तुम्हारे पास कोई ऐसी चीज!' (26 मार्च 1935) हम भी नामवरजी के बारे में जहां-तहां पूछ सकते हैं : है तुम्हारे पास कोई ऐसा व्यक्ति!

अंत में यही कहना है कि नामवरजी शतायु हों। उनसे हम सबको बहुत कुछ सीखना और पाना बाकी है।

●

In Search of the Other Tradition or the Importance of being Namvar

HarishTrivedi

Not only is Namvar Singh the most important literary critic in Hindi today but he is also perhaps, with Nirmal Varma, the most articulate and influential of all living Hindi writers whether critical or creative. Over the last decade or so, he has acquired a pan-Indian reputation as one of the tallest literary and cultural critics writing in any Indian language. He was one of the first critics in the country-as distinct from poets, novelists and dramatics-to win a Sahitya Akademi award (1971), and the invitation to him to deliver the keynote address at the Sahitya Akademi Festival of Letters in 1991 was again the kind of honour usually accorded only to the most eminent of our creative writers.

For those who do not know the Hindi literary world from the inside, it may be difficult to imagine the awe that Namvar Singh inspires far and wide and the holy terror he strikes in the hearts of all his foes and some of his friends alike. For many years now, no major book can be deemed to have been properly published in Hindi until Namvar Singh has pronounced on it, and what he says about it often forms the basis of much subsequent discussion. The most recent example of it is his finely discriminating and balanced review of a highly original post-Babri Masjid Hindi novel Apane Apane Rama (To each his own Rama) by Bhagvan Singh: "Ramakatha ki Udherbun" {Hans, August 1992; "Deconstructing the Rama Story"). As soon as the editor of the journal, Rajendra Yadav, sensed that he had here a major and potentially controversial work, his best bet was to get Namvar Singh to write on it, and so he did, achieving a little coup, for Namvar Singh doesn't really agree to write a review whenever asked!

For someone with such a formidable and even daunting reputation, Namvar Singh is mild to look at and milder to talk to. There is a soft-spoken courtesy about him and also a homespun grace. Significantly, he may prove to be the last major Hindi writer always to wear kurta-dhoti and habitually to chew pan. The making of Namvar Singh, namely the early personal circumstances and the chosen intellectual process by which he has become what he is, is of inter-

est not merely for biographical reasons but, given our rapidly changing society, also as part of our cultural history. He was born in a village near Banaras, where his father farmed a patch of twelve bighas and was a schoolmaster. Namvar Singh's early lucky break came when he was able to go the Banaras Hindu University to study. He got his M.A. and Ph.D. degrees there and also taught there from 1953 onwards, until he was sacked in 1959 for having fought, without the permission of the university, a parliamentary bye-election as the Communist candidate. There is evidently a high-minded unbending streak in Namvar Singh, due to which one finds strewn through his career a number of jobs which he was relieved of or which he himself abandoned as untenable-in Banaras, Saugor, Agra and Jodhpur. In between, he knew a long spell of unemployment and days of "proud poverty." On the other hand, he has also had sustained and entrenched periods lasting decades in capacities which he has found congenial: as literary consultant to the biggest publishing house in Hindi, Rajkamal (since 1965); as editor of the critical quarterly Alochana (1967-91); and as Professor of Hindi at the Jawaharlal Nehru University,' New Delhi (1974-92).

As a student and young teacher in Banaras, Namvar Singh came under the influence of his great guru, Acharya Hazari Prasad Dwivedi, medievalist, literary historian and critic, belle-lettrist, novelist, and generous and humorous man. Dwivedi had just returned to his native grounds after having taught Hindi for two decades at Tagore's Santiniketan. From him, Namvar Singh imbibed not only a deep scholarly interest in medieval literature, specially in Apabhransha which was the subject of both his M.A. and his Ph. D. dissertations, but also an integrated multi-lingual perspective on Indian Literature, and a whole system of literary values and a world-view. It is as an exposition and further exploration of Acharya Dwivedi's seminal ideas and insights that Namvar Singh has projected much of his own work which still remains an on-going concern; a search for an 'other' or alternative tradition in literature and culture which would put at its centre the popular and the indigenous, the non-Sanskritic and the non-Aryan, and the hitherto oppressed and the marginalized, instead of the courtly, the brahminical, the elitist and the esoteric.

The other major impulse behind Namvar Singh's development has been the Marxist ideology. The 1940s and the '50s in Hindi were rather like the celebrated '30s in England, in terms of the wide influence that the Marxist ideology exercised on bright young men, and Namvar Singh has emerged as perhaps the finest and the most illuminating proponent in Hindi of that ideology from that generation. An elder critic Ramvilas Sharma has probably made a

more comprehensive and more dogmatic contribution to Marxist Hindi criticism, but it is part of Namvar Singh's particular strength that his own no less acute insights have always had more of an air of glasnost about him.

Not only do Dwivedi and Marx blend without contradiction in Namvar Singh but he has also succeeded in cross-fertilizing in his critical practices an astounding range of seminal ideas. He is as well read in the tradition of Sanskrit literature and poetics as probably anyone writing in Hindi today (with the possible exception of Vidyanivas Mishra), and he can add to it at will and with some flair the spice of epigrammatic Urdu. On this wide indigenous base, he has assiduously superimposed a searching knowledge of modern Anglo-American and European literatures and literary criticism, especially of the Marxist kind. In his dazzlingly un-'dissociated' sensibility, Matthew Arnold, F.R. Leavis and R.P. Blackmuir jostle for space with Ramachandra Shukla, Ajneya and Muktibodh, while the precepts and theories of Anandavardhana and Lenin, Abhinavagupta and Lukacs, Jagannath and Benjamin, and Bharata Muni and Gramsci shine alike beacon lights.

The remarkable width and scope of Namvar Singh's intellectual make-up should not be taken to mean that he is "catholic in taste" or promiscuously pluralistic in an old-style liberal or a new-style post-modernist sense. Yet he has time and again shown a robust independence to praise where he judged praise to be due, rather than toe some given or notional Party line. His early positive responses to Nirmal Varma and Kunwar Narain for example, both among the most eminent Hindi writers now, and still seen by some hardline Marxist critics as a millstone round his ideological neck, while his reluctance automatically to applaud everything that is janavaid, jujdharu or pragatisheel (populist, engaged and progressive), just because it wears those labels, has been alleged to be an aberration. But the evolution of Namvar Singh's own writing career as well as of those he blamed or praised has vindicated him and so have, one might add, some recent developments in world history.

The earliest published works of Namvar Singh date from the 1950s and were an outcome of his research for the master's and the doctoral degrees: Hindi ke Vikas men Apabhransha ka Yog (1952; The Role of Apabhransha in the Development of Hindi) an edition, with Hazari Prasad Dwivedi, of the 12th century bardic epic Prithviraj Raso (1953); and then a detailed study of the language of the epic, Prithviraj Raso ki Bhasha (1956). Such recondite medievalist-philological scholarship may appear to have not much in common with Namvar Singh's later work which is mostly on modern poetry and fiction, but

there is a vital underlying connection here represented by his abiding concern with the concept of literary tradition. In these studies of Apabhransh a loka-bhasha or a people's language which prevailed in North and West India between the 7th and the 13th centuries, before Hindi was born, Namvar Singh picked out those like between Apabhransha and Hindi which were to play a part in determining the linguistic nature of Hindi as also many of its literary conventions. Further, he highlighted the popular, the desi (indigenous), non-Sanskritic and "corrupted", and what may now altogether be termed as the "subaltern" features of Apabhransha, and valorized them rather than make the usual apology for them.

Namvar Singh also published during this period a monograph on Chhayavada (1954), the romantic movement in Hindi poetry which flourished in the 1920s and '30s, and which he now reinterpreted as being not escapist at all but rather as "the womb from which the new and vital progressive poetry was born. If Suryakanta Tripathi "Nirala", who made a smooth transition from chhayavada to pragativada is now seen as probably the greatest Hindi poet of the twentieth century, this is no small measure due to the radical reassessment of chhayavada inaugurated by Namvar Singh. (The other major Marxist critic in Hindi Ramvilas Sharma, later made the definitive contribution here with his three-volume study of the life and works of Nirala).

Itihas aur Alochana (1957; History and Literary Criticism), a collection of Namvar Singh's essays, displayed fully his trenchant polemical brilliance as well as the extent of his ideological affiliation. One of the better known pieces in this volume-as indeed in contemporary Hindi criticism-is "Vyapakata aur Gaharai" (Breadth and Depth, or The Extensive and the Intensive) which begins: "It is often the case that if a writer is clear as a running brook he is called shallow and if he is turgid, profound." Premchand is promptly cited as an example of the former kind, and defended against the more modernistically complex Jainendra Kumar and Ajneya. A preference for the complex is attributed to the influence of "decadent Western writers," for whom the simple and the purposeful or the propagandist are synonymous, Anna Karenina is cited as an example of a work both broad and deep in contrast with the more superficial Madame Bovary, for the former the love-affair is fully integrated into the wider social life of the times. The concept from Sanskrit poetics of sadharanikarana (universalization or generalization) is brought in, the critic Ramachandra Shukla is adduced to explain how Tulsi Das has at once both breadth and depth, dicta by Sartre and the satirical Urdu poet Akbar Allahabadi are quoted in passing,

and in conclusion, Nirala and Premchand are seen as writers exemplifying a fine balance of both breadth and depth. In the process, another debate has been won by the progressive line of thinking in literature over the modernist, not through crude ideological bludgeoning but by the sophisticated conduct of an argument both broad in its scope and allusiveness and deep in its sensitivity of textual interpretation.

The next two works by Namvar Singh represented him at the height of his critical powers and redefined the very grounds of their respective discussions. In Kahani: Nai Kahani(1964; Short Story; the New Short Story), a collection of critical pieces from the years 1956 to 1964, Namvar Singh subjected the emergent "New" short story in Hindi to the same kind of close textual analysis as the Anglo-American "New Critics" had practised on works of lyrical poetry since the 1920s, and which the English novelist critic David Lodge was to advocate and demonstrate as being equally applicable to the form of the novel in his Language of Fiction (1961). Through this book, Namvar Singh also made a major contribution to rescuing the genre of the short story from the margins of literature and according it a centrality which it continues to occupy in Hindi literature (as in many other Indian literatures, incidentally), in a development clearly independent of the Anglo-American model.

Kavita ke Naye Pratiman (1968; New Patterns of Poetry), Namvar Singh's next book, is regarded by many of his admirers as his best yet. It is also perhaps the most characteristic, for it illustrates on each of its exciting and packed pages the cardinal critical qualities that have made Namvar Singh the chief arbiter of modern Hindi literature. We witness here his vast erudition in half a dozen literary and critical traditions, an intimacy with Hindi literature of all ages which sets up a field of allusive resonance within which the discussion of any particular work is conducted, an ability to come with quotations so apt and persuasive as to facilitate a terse economy of explicit commentary, a similar sure sense of what is central and what merely peripheral, an unhurried and apparently undogmatic procedure in which a point of view that is not Namvar Singh's own-the purvapaksha, as it were-is first given a long shrift and then elaborately, even lovingly, put to sword, a polemical drive broadly oriented by the north star of tactfully deployed Marxism, and last but not least, an unflagging elicity and wit that are not only fine instruments of critical discrimination but a source of high relish in themselves. As Shelley said of Peacock: "His fine wit/Makes such a wound, the knife is lost in it."

In this complex and cpmbatively engaged discussion of the New Poetry in

Hindi, that uniquely Indian amalgam of modernism and progressivism which succeeded chhayavada, Namvar Singh took a clear and firm stand in favour of modern progressivism and against non-progressive modernism. He argued that the sustained, iterative, and symbolically dense exploration of the dualistic self-exiled and yet engaged at the same time-which ultimately represented the revolutionary possibility of the "negation of negation", as expressed for example in the works of Gajanan Madhav Muktibodh, was superior and preferable to the lyrical, indvidualistic and ultimately narcissistic self represented for him by Ajneya, the founding figure of Hindi modernism. So comprehensively uncompromising was Namvar Singh's adopted position here that he readily took on not only Ajneya and his Tara Saptaka school of poets (who had incidentally included Muktibodh himself to start with) but indeed all comers: Nagendra, Vijayadevanarayana Sahi, Devraj, Ramvilas Sharma and many others including the presiding political deity of that whole era, Jawaharlal Nehru, all arrayed in a kind of unavailing chakravyuha around him. But such is the intellectual resourcefulness and force of the book that it remains an indispensable and absorbing guide for readers of modern Hindi poetry of all persuasions.

It has often been said that Namvar the critic is at his best as Namvar Agonistes, and that his preferred mode of discourse is the polemical and the improptu. (It is a pity that one of his most roused and rousing polemical performances, an unscripted lecture on Premchand delivered at a centenary celebration in Allahabad under the chairmanship of-who else?-Ajenya has not been reprinted in any of his own books). This proclivity has been acknowledged by Namvar Singh himself in his latest book which is a collection of critical essays, Vada Vivada Samvada (1989; Dogma Debate Dialogue, or less alliteratively and somewhat more accurately, Statement Controversy Discussion). This slim volume (144 pages) comprising seventeen essays selected from over a quarter of a century is emblematic of Namvar Singh, fastidiously sparse output while it is, right from the title onwards also characteristic of his favoured critical stance and procedure in preface, he asks: "What kind of a dialogue is that in there isn't at least a dash of debate and controversy? But in Hindi culture, debate and controversy are regarded as not nice." Against this oppressive hegemony of convention and decorous acquiscence, Namvar Singh cites the contrary model of the poet Kabir who controverted and called into question just about everything as well as the traditional Sanskrit procedure of scholastic khandana-mandana, i.e., a dialectical interplay of pro and con.

In so defining his own critical mode, which is compulseively dialogic if not

for preference polyphonic, Namvar Singh also adverts to the one theme dearest to his critical heart, his fondest life-time project. Through mentioning Kabir, he harks back to the agenda of constituting an alternative literary tradition in Hindi, a subject to which he had in fact devoted a book immediately preceding Vada Vivada Samvada-Doosri Parampara ki Khoj (1982; In search of the Other/Alternative Tradition). This far too slender, partly anecdotal and largely fragmentary book is asNamvar Singh himself acknowledged, merely an "interim report on his ongoing (re)search, a kind of blueprint for a whole parallel History of Hindi Literature, an aperitif which leaves one in tantalized anticipation of the feast to follow. Now at sixtyfive years of age, still very much in the prime of his powers, just retired from his teaching job and free at last to employ his time just as he wishes, Namvar Singh owes it to his countless admirers no less than to himself to produce that magnum opus for which his whole professional life seems to have been a systematic and comprehensive preparation. One understands that he is at it, and that the Other Tradition will begin to be adumbrated not only from Apabhransha and Kabir but indeed from Ashvaghosha and Bhasha and any number of other Sanskrit and Prakrit works. When completed, this work is bound to alter radically our understanding not only of Indian and Hindi literature but also of the very concept of tradition, and of the whole syndrome of what has now come to be called the subaltern.

It is not as if Namvar Singh has not enough to show for himself already by way of achievement and influence. He is, to sum up, the soundest scholar as well as the acutest and the most insightful critic in Hindi of our post-colonial (if not quite decolonised times. He is, besides, the most eminent exponent in Hindi of what may be called "cultured Marxism" (as distinguished from vulgar Marxism"), the one who combines best a New Criticismic sensitivity to textual detail and the "literariness" of literature with a clear-cut ideological framework. He has helped set the basic terms and parameters for discussion in Hindi of both poetry and the short story though, incidentally, he has written comparatively little on the predominant genre of our age, the novel. He has been instrumental in modernizing Hindi literary criticism by making it clean beyond the sanskar bound anti-Western bias of Ramchandra Shukla, the essentially Sanskritist-medievalist range of Hazari Prasad Dwivedi, and the project of reviving Sanskrit poetics, especially the rasa theory, by Nagendra.

And if Namvar Singh's own sympathies are less than universal and if he is the constant champion of the more enlightened manifestations of progressivism, and the only too predictable and dreaded foe of the more "self" centred

forms of modernism (even more rigorously so perhaps than Raymond Williams, with whom he invites comparison in many respects), he is so quite openly, deliberately and self-avowedly. He is, furthermore, a writer of Hindi prose more precise, pungent and persuasive than any other discursive writer in Hindi today, and what is even more remarkable is that he speaks quite as wonderfully well as he writes, wit the same coherence and cogency of thought and the same elegance and wit of formulation. This perhaps has something to do with his refusal to use English, in which he reads copiously and with subtle discrimination, in public speech or writing, or to cepper his Hindi with English words or phrases, so that he has been able to avoid the slacker and sloppier implications of unrelective bilingualism. (Significantly, both Mahadevi Varma and Ajneya, in their own different ways probably the finest speakers of Hindi in our times before Namvar Singh, had also as a matter of faith spoken a Hindi untinctured and untainted by the occasional intrusion of English.)

In fact, many believe that nearly as substantial a part of Namvar Singh's contribution to Hindi criticism has been made through speech as through writing: through lectures, talks, seminars, symposia, discussions and even conversations-through literally speaking, vada, vivada and samvada (and that "literally speaking" is an oxymoron perhaps apt in the context). Indeed the felicity and fluency of Namvar Singh's tongue has possibly proved to be a curse in disguise for, as some say, it is his unequalled exploitation of our traditional vachik parampara (oral tradition) which keeps him from writing his great work! The cruel *mot* on the subject belongs to the otherwise unfailingly genial Bhisham Sahni, who has proclaimed that if he were given a choice between sitting at home and reading the most interesting book in world, and listening to Namvar speak at a seminar, he would promptly throw the book down and set off for the seminar even if that book had been written by Namvar himself The growing complaint against Namvar Singh for some time now has been that he has published far too little, a complaint which of course can equally well be taken as a compliment in these too facile times. Namvar Singh's own self-deprecating response to the charge is that in so doing, he has merely helped to lessen the load that already lies heavy upon literature. And yet, as he also knows only too well, the world of Hindi literature awaits from him a grand masterpiece which will be an apt fulfilment of his whole critical pursuit, and whose very idea and prolegomenon, as enunciated by him, have already been exercising a considerable influence of their own.

Bibliography

Namvar Singh. Baqalam Khud, 1951; Hindi ke Vikas men Apabhransha ka yog. 1952; (co-ed.) Prithviraj Raso, 1953; Chhayavada, 1954; Adhunik Sahitya ki Pravrittiyan, 1954; Prithviraj Raso ki Bhasha, 1956; Itihas aur Alochana 1957; Kahani: Nai Kahani, 1964; (ed) Alochana (critical quarterly) 1967-91; Kavita ke Naye Pratiman, 1968; Doosri Parampara ki Khoj, 1982; Vada Vivada Samvada, 1989; "Ramakatha ki Udherbun", Hans, August 1992.

Ranadhir Sinha (ed.) Alochak Namvar Singh, 1977.

Gyanranjan & Kamala Prasad (eds.) Namvar Singh: Vyakti aur Alochak, 1988

●

कन्नड़ पाठकों की दृष्टि में नामवर सिंह

टी.आर. भट्ट

हिंदी के वरिष्ठ आलोचक नामवर सिंह कन्नड़-प्रदेश के हिंदी पाठकों के लिए चिर परिचित लेखक हैं। यहां तक कि कन्नड के कुछ लेखकों के साथ उनका संपर्क रहा है और उन्हें वे गौरव से देखने आए हैं। कर्नाटक के कई हिंदी अध्यापक उनके उदार व्यक्तित्व, वाक्पटुता एवं रचना-कौशल से प्रभावित रहे हैं। यहां के बहुत कम हिंदी शिक्षकों ने उन्हें देखा है। लेकिन उनकी रचनाओं 'दूसरी परंपरा की खोज', 'कविता के नए प्रतिमान' से प्रभावित रहे हैं।

सन 1967-70 के बीच मैं धारवाड़ विश्वविद्यालय में एम.ए. हिंदी का छात्र था। उन दिनों मैंने नामवर सिंहजी का नाम अपने गुरुदेव प्रो. रामचंद्रजी से सुना था। सन 1949 में मैसूर के प्रो. रामचंद्रजी एम.ए. करने काशी गए थे। उन दिनों नामवर भी काशी के बी.एच.यू. में एम.ए. की कक्षा में पढ़ रहे थे, रामचंद्रजी सीनियर कक्षा में थे। एम.ए. के बाद प्रो. रामचंद्रजी काशी के एनी बेसेंट कॉलेज में हिंदी का अध्यापन कुछ साल तक करते रहे। उन्हीं दिनों प्रो. रामचंद्रजी काशी में नामवरजी के संपर्क में आए। फिर कुछ वर्षों के बाद प्रो. रामचंद्रजी ने बनारस छोड़ दिया और वे धारवाड़ के कर्नाटक कॉलेज में अध्यापक के रूप में नियुक्त हुए। मुझे उनका शिष्य बनने का अवसर मिला। उन दिनों प्रो. रामचंद्रजी बीच-बीच में कक्षा में प्रो. नामवर और कवि तरुण (कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के पूर्व प्रोफेसर) का उल्लेख किया करते थे और सात-आठ साल के अपने काशी अनुभव बताया करते थे। इस तरह करीब 1967-70 के बीच हम छात्रों के सामने प्रो. रामचंद्रजी नामवरजी का नाम लिया करते थे। लगता है कि प्रो. रामचंद्रजी नामवरजी की तेजबुद्धि, वैचारिक चिंतन, वाक्पटुता आदि गुणों से प्रभावित थे। उन दिनों इसका असर धारवाड़ के छात्रों पर पड़ा था। उस समय तक नामवरजी की ख्याति दक्षिण में पहुंची नहीं थी।

मैसूर के प्रो. नागप्पा सन 1933 में एम.ए. करने काशी गए थे। वे नामवरजी से करीब पंद्रह साल बड़े थे। उन्होंने एक बार मुझसे कहा था कि 'मैं करीब तीन से नामवरजी के बारे में सुनता आया हूं। बाद में उनसे कई बार भेंट हुई।' सेना-निवृत्ति के बाद नागप्पाजी बेंगलूर में बस गए थे। सन 1995 के करीब एक बैठक में नामवरजी बेंगलूर पधारे थे। उसी समय एक दिन वे नागप्पाजी से मिलने उनके निवास 'साकेत' में पहुंचे। अगले दिन मैं नागप्पाजी से मिलने गया था। मुझे देखते ही हंसते हुए नागप्पाजी बोल उठे- 'भट्टजी, आप कल मेरे घर आ जाते तो अच्छा था, मैं नामवरजी से आसानी से भेंट कराता।' आगे वे कह रहे थे कि 'नामवरजी और मैं काशी में एक ही विभाग के छात्र रहे हैं। पहले उनसे मेरा परिचय नहीं था। मैं पंद्रह साल उनसे बड़ा हूं। बहुत बाद में उनके

संपर्क में मैं आ पाया।' उस समय नागप्पाजी नामवरजी की बहुत प्रशंसा कर रहे थे। वे कह रहे थे कि 'मेरे प्रति नामवरजी का बड़ा स्नेह रहा है, मुझे वे बहुत इज्जत देते हैं, दिल से वे बहुत बड़े हैं। हिंदीतर विद्वानों को वे गौरव की दृष्टि से देखते हैं। उन्हीं दिनों एक बार नामवरजी मैसूर के भारतीय भाषा-संस्थान में किसी बैठक में भाग लेने गए थे। उस समय मैसूर के कुछ हिंदी अध्यापक नामवर सिंहजी से मिलने गए थे। संवाद के अंतर्गत नामवरजी ने उन अध्यापकों को संबोधित करते हुए कहा था- 'आप लोग हिंदीतर भाषी विद्वान हैं। आप लोग बहुत फायदे में हैं। आपके पास दो भाषाएं हैं। हिंदी के साथ अपनी मातृभाषा कन्नड़। आप लोग अनुवाद के माध्यम से हिंदी साहित्य को संपन्न बनाने में योगदान दे सकते हैं। असल में यही भारतीय साहित्य है। हिंदी प्रांत के लोग एक भाषा के जानकार होने के कारण उन्हें यह लाभ नहीं मिलता।' इस संवाद में मैसूर विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रो. वी.डी. हेगड़ेजी उपस्थित थे। प्रो. हेगड़ेजी का नामवरजी से कोई व्यक्तिगत संबंध आज तक नहीं है। लेकिन वे कई वर्षों से उनकी रचना के प्रामाणिक पाठक रहे हैं। वे कहते हैं 'दूसरी परंपरा की खोज' भारतीय साहित्य का अनमोल रत्न है। कई बार मैंने इसे पढ़ डाला है। मुझे चिंतन के क्षेत्र में नई दृष्टि से सोचने की दिशा इस पुस्तक ने दी है।' साथ ही डॉ. हेगड़ेजी 'कविता के नए प्रतिमान' का उल्लेख करते हैं। इस पुस्तक को लेकर कन्नड़ में अनुवाद करने की कोशिश की थी। लेकिन यह काम उनसे हुआ नहीं। इस तरह उन दिनों मैसूर के हिंदी-कन्नड़ साहित्यिक जगत में नामवर सिंह चर्चा के केंद्र में रहे। इन विद्वानों ने नामवरजी को एक वामपंथी आलोचक के रूप में न पहचान कर समकालीन हिंदी के वरिष्ठ आलोचक के रूप में परखा है। नामवरजी के योगदान को परख कर सन 2014 में कन्नड़ के महाकवि कुवेंपु प्रतिष्ठान की ओर से कुवेंपु की जन्मभूमि कुप्पळिळ में आयोजित एक भव्य समारोह में नामवरजी को 'विश्व मानव प्रशस्ति' (पांच लाख रुपए की राशि) प्रदान की गई। यह पुरस्कार हर साल भारतीय साहित्य के सर्वश्रेष्ठ लेखक को दिया जाता है। कुवेंपु प्रतिष्ठान ने यह सम्मान नामवरजी को किसी वादी के रूप में न परख कर उनके कार्य, प्रतिभा एवं योगदान को लेकर दिया है। वास्तव में कन्नड़ में वामपंथी, राष्ट्रवादी धारा में कोई खास भेद नहीं है। हिंदी में यह विभाजन रेखा स्पष्ट गोचर होती है। कन्नड़ के प्रतिष्ठित कवि समुतींद्र कहते हैं 'मैं नामवरजी को अच्छी तरह से जानता हूं, वे अद्‌भुत व्यक्ति हैं।' यह उल्लेखनीय है कि सुमतींद्र नाडिग कन्नड़ की राष्ट्रवादी धारा के श्रेष्ठ कवि हैं। उन्हें नामवरजी के विचारों से कोई मतभेद नहीं है। कन्नड़ के एक युवा समीक्षक मडिकेरी कॉलेज के प्राध्यापक डॉ. श्रीधर हेगडे नामवरजी के प्रशंसकों में एक हैं। उनका नामवरजी के साथ कोई व्यक्तिगत संबंध नहीं। उन्होंने 'कविता के नए प्रतिमान' का पाठक बनकर, उसमें अभिव्यक्त विचारों को सराहा है। इसी तरह कन्नड़ के प्रतिष्ठित आलोचक अंग्रेजी के सेवानिवृत्त प्रोफेसर डॉ. जी.एस. आमूर नामवरजी से दो साल बड़े हैं। इनका हिंदी, अंग्रेजी और अन्य भारतीय भाषाओं में साहित्यकारों से संपर्क रहा है। आमूरजी नामवरजी से मिल भी चुके हैं और उन्होंने नामवरजी को हिंदी के श्रेष्ठ आलोचक के रूप में देखा है। कन्नड़ के श्रेष्ठ कथाकार यू.आर. अनंतमूर्तिजी नामवरजी के निकट संपर्क में रहे। अनंतमूर्ति का झुकाव वामपंथ की ओर है। इन्होंने भी नामवरजी को भारतीय साहित्य के प्रति योगदान को स्वीकार किया था। इस प्रकार कन्नड़ के कई लेखकों ने नामवरजी के योगदान के महत्व को जाना है। कर्नाटक विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के पूर्व प्रोफेसर शरेशचंद्र चुलकीमठ नामवरजी के बड़े

प्रशंसकों में से एक हैं, जो चार-पांच जगहों पर आयोजित संगोष्ठियों में नामवरजी के साथ रहे और उन्हें उनके वक्तव्य को सुनने का अवसर मिला था। वे नामवरजी की चिंतन-प्रणाली को बहुत पसंद करते हैं। उनकी दृष्टि में नामवरजी शुक्लजी के बाद एक उत्कृष्ट आलोचक हैं। वे उनकी विद्वत्ता के प्रति आदर रखते हैं। कर्नाटक विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के और एक सेवानिवृत्त प्रोफेसर नंदिनी उनके आलोचना-कर्म से प्रभावित होकर लिखती हैं- 'इस नामवर लेखक को देखने की बड़ी इच्छा थी। वह सन 1989 में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित रिफ्रेशर कोर्स में पूरी हो गई। नामवर सिंह का भाषण सुनकर ऐसा लगा कि वह शब्दों का जादूगर अपने विचारों के मोहिनी मंत्र से श्रोताओं को ऐसे अभिभूत कर देता है कि उसकी सारी की सारी बात जस की तस मानने के अलावा और कोई उपाय बचता ही नहीं। ऐसे मंत्रमुग्ध कर देनेवालो वक्ता आजकल बिरले ही हैं।'

बेंगलूर के प्रो. अश्वत्थनारायण हिंदी के जनप्रिय अध्यापक हैं जिन्होंने सन 1964 के करीब सागर विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी के सान्निध्य में अध्ययन किया था। वे नामवरजी से मिल चुके हैं। वे नामवरजी की वैचारिक कट्टरता को पसंद नहीं करते। लेकिन एक बुद्धिमान चिंतक के रूप में उनकी प्रशंसा करते हैं। उनकी दृष्टि में नामवरजी बड़े पढंता हैं।

करीब 1980 के बाद दक्षिण में नामवरजी की प्रसिद्धि फैल रही थी। हिंदी पाठकों ने उनको सुनना और उनकी रचनाओं को पढ़ना आरंभ किया। मुक्तिबोध की कविताओं पर उनके अभिमत को पढ़कर उनकी ओर आकर्षित हुए। यहां के कुछ हिंदी प्रेमियों को राज्य के बाहर नामवरजी के भाषण को सुनने का अवसर मिला। इस संदर्भ में धारवाड़ के सेवा-निवृत्त हिंदी प्रोफेसर डॉ. सुमंगला मुम्मिगट्टी कहती हैं 'मुझे हैदराबाद, कोचीन में नामवरजी के भाषण सुनने का अवसर मिला। उनकी वाक्पटुता देखकर मैं बहुत प्रभावित थी। उनके विचारों को मैंने स्वीकार किया था।' उन्होंने अपने हिंदी विभाग में आयोजित एक संगोष्ठी में उनको बुलाने की खूब कोशिश की थी। लेकिन इस दिशा में वह असफल रहीं। यह है नामवरजी के प्रति यहां के हिंदी प्रेमियों का प्रेम!

इस तरह कर्नाटक के हिंदी प्रेमियों ने, विद्वानों ने एवं कन्नड़ के लेखकों ने नामवर सिंहजी को स्नेह एवं गौरव से स्वीकार किया है। उनकी प्रखर प्रतिभा एवं चिंतन की शैली को खूब सराहा है।

●

जीवन क्या जिया

- भारत यायावर
- नामवर सिंह से शशिकांत की बातचीत
- नामवरजी की डायरी के पन्ने
- पुत्री समीक्षा को लिखे पत्र
- छायाचित्रों में नामवर

नामवर सिंह : अब तक क्या किया, जीवन क्या जिया

भारत यायावर

नामवर सिंह हिंदी की आचार्य परंपरा के अंतिम आलोचक हैं। आचार्य परंपरा में महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामविलास शम्म के बाद नामवर सिंह ही ऐसे आलोचक हैं, जिन्होंने भारतीय परंपरा और आधुनिक विचारों से स्वयं को संपन्न कर हिंदी आलोचना को आगे बढ़ाया है। हिंदी के तो वे वाचिक परंपरा के सर्वाधिक चर्चित आलोचक हैं।

नामवर सिंह का जन्म 28 जुलाई, 1926 में बनारस जिले के चंदौली अंचल के एक पिछड़े गांव जीयनपुर में हुआ। आज चंदौली बनारस जिले से अलग होकर स्वयं जिला बन गया है और उनका गांव जीयनपुर से बदल कर अंबेडकरनगर हो गया है। नामवर सिंह ने अपने हिस्से की सारी जमीन उत्तर प्रदेश सरकार को दान कर दी थी, जिस पर आज जीयनपुर अर्थात् अंबडेरकरनगर में सरकारी अस्पताल और स्कूल का निर्माण किया गया है। उनके बचपन के गांव का पूरी तरह कायाकल्प हो गया है। जब नामवर का जन्म हुआ, उस समय यह एक अत्यंत पिछड़ा गांव था। इस बात का पता इससे भी चलता है कि पूरे गांव में एकलौते मिडिल पास नामवरजी के पिताजी नागर सिंह थे, जो पास के गांव आवाजापुर के प्राथमिक विद्यालय में शिक्षक थे। पूरे गांव के लोगों के लिए वे 'मास्टर साहब' थे।

जब नामवरजी का जन्म हुआ, तब उनके पिताजी ने उनका नाम 'रामजी' रखा। पड़ोस की उनकी चाची ने उनका नाम 'नामवर' रखा। जब बालक नामवर को रामजी कहकर पुकारा जाता तब वे रोने लगते और जब नामवर कहकर पुकारा जाता तब चुप हो जाते और मुस्कुराने लगते। इस तरह पिता के दिए नाम को अस्वीकार कर बचपन में ही नामवर नाम पसंद किया। जब वे पांच वर्ष के हुए तब उनकी जंघा में उलटे मुंह वाला एक घाव निकल आया। इस घाव को चीरा लगाकर मवाद निकाला गया फिर भी ठीक नहीं हुआ।

जोंक से उस घाव को चुसवाया गया। लंबे समय के बाद वे ठीक हुए, किंतु जांघ पर उसका निशान बराबर के लिए रह गया। तब उनके पिता के अभिन्न मित्र कामताप्रसाद विद्यार्थी 'नमक सत्याग्रह' कर रहे थे। जीयनपुर के पास में हेतमपुर गांव था, जहां के वे रहने वाले थे। नामवरजी के छोटे चाचा बाबूनंदन सिंह उन्हें कंधे पर बिठाकर हेतमपुर ले गए थे। गांधीवादी विद्यार्थीजी का नमक बनाकर नमक कानून तोड़ना और जेल जाना नामवरजी को अब भी याद है। नामवरजी के

प्रथम आदर्श पुरुष स्वयं उनके पिता नागर सिंह थे, जो एकांतप्रिय, मितभाषी, अनुशासनप्रिय, चरित्रवान और गंभीर व्यक्तित्व के स्वामी थे एवं दूसरे आदर्श व्यक्तित्व कामता प्रसाद विद्यार्थी थे, जो अध्ययनशील, स्वाधीन चेतना और प्रगतिशील स्वभाव के थे। उनकी बेटी सरोज नामवरजी की धर्म-बहन और विद्यार्थीजी धर्मपिता थे। सात साल की उम्र में पास के एक बड़े गांव आवाजापुर की प्राथमिक पाठशाला में उनका नामांकन हुआ, जहां उनके पिता शिक्षक थे। स्कूल में प्रवेश के समय हेडमास्टर ने अपने मन से उनकी जन्मतिथि 1 मई, 1927 लिखी, जो जीवनभर उनके साथ अंकित रही। साथ में, उनके बड़े पिताजी अर्थात नागर सिंह के बड़े भाई सागर सिंह के बेटे जो नामवर से उम्र में बड़े थे, स्कूल जाते। रास्ते में सुनसान जगह में एक बंसवाड़ी थी, जहां से गुजरते हुए डर लगता। उनके चचेरे बड़े भाई ने 'हनुमान चालीसा' खरीदा और स्कूल आते-जाते समय उसका पाठ जोर-जोर से करते। नामवर उसको दुहराते। कुछ ही दिनों में 'हनुमान चालीसा' बालक नामवर को कंठाग्र हो गया। इस तरह नामवर के लिए कविता की यह पहली पुस्तक थी, जो उनके अंदर समाहित हो गई।

बचपन से ही नामवर में पढ़ाई के प्रति बेहद रुझान था। पाठ्य पुस्तकों को वे बहुत ही शीघ्र याद कर लेते। आवाजापुर में काव्य-गोष्ठियां होतीं, जिनमें भाग लेते। वहां के पुस्तकालय में उपलब्ध पुस्तकों का अध्ययन करते। बारह वर्ष की उम्र में ही कविता और सैवेया छंद में लिखने का उन्होंने अभ्यास किया और ब्रजभाषा में कविताएं लिखने लगे। उन्होंने अपना कवि उपनाम 'पुनीत' रखा। 1939 में वे छठी कक्षा में पढ़ रहे थे। द्वितीय विश्वयुद्ध चल रहा था। हिटलर ने युद्ध में इंगलैंड पर भीषण आक्रमण किया था। अंग्रेज विरोधी बालक नामवर का कवि जाग्रत हुआ और उसने लिखा-

चढ्यौ बरतानिया पर हिटलर 'पुनीत' ऐसे
जैसे गढ़ लंक पर पवनसुत कूदि गौ।

छोटे-से कवि 'पुनीत' ने यह कविता सर्किल टूर्नामेंट में सुनाई और पुरस्कृत हुए। फिर कविता लिखने का यह अभ्यास तेजी से आगे बढ़ा। दर्जा सात में वीरगाथा की इस संवेदना ने रीतिकालीन शृंगारिक मानसिकता का भी स्पर्श किया। कवि 'पुनीत' ने लिखा-

आस दुई मास प्रिय मिलन अवधि की है
उमगे उरोज रहे कंचुकी मसकि मसकि।

तब नामवर भारत के वीर पुरुषों की गाथा को भी विस्तार से पढ़ते रहते थे। 1940ई. में मिडिल की परीक्षा में इतिहास के पत्र में शिवाजी के चरित्र पर ही तीन घंटे लिखते रहे। परिणाम यह हुआ कि परीक्षा में फेल हो गए। इसका परिणाम यह भी हुआ कि वे सजग हो गए और जीवन में जितनी भी परीक्षाएं दीं, उनमें सभी प्रश्नों के बीच संतुलन बनाकर अपने गहन ज्ञान का अद्‌भुत परिचय दिया और एम.ए. तक की पढ़ाई में प्रथम स्थान में प्रथम आए।

1941 में उन्होंने मिडिल की परीक्षा पास की और बनारस के भोजूडीह में स्थित हीवेट क्षत्रिय स्कूल में प्रवेश लिया। यह अंग्रेजी माध्यम का स्कूल था। गांव में पढ़े नामवर की अंग्रेजी आठवीं कक्षा के स्तर की नहीं थी, मगर बनारस आकर उनके जीवन का एक नया अध्याय शुरू हो रहा था। ब्रजभाषा में प्रतिदिन कविता लिखते। एक दिन त्रिलोचन शास्त्री से अनायास उनकी भेंट हो गई। वे नामवर के छात्रावास में गए और उनकी पुस्तिका में लिखी हुई कविताओं का मनोयोग से वाचन

किया। त्रिलोचन ने नामवर को पहली दीक्षा यह दी कि खड़ी बोली में कविताएं लिखें तथा नए कवियों को पढ़ें। उन्हीं की प्रेरणा से नामवर ने आधुनिक कविता की पहली पुस्तक 'अनामिका' खरीदी और निराला की कविता को पढ़ना और याद करना शुरू किया। जहां नहीं समझ पाते, त्रिलोचन से पूछते। फिर लगातार छायावादी कवियों की कविता से अंतरंग होते चले गए।

हीवेट क्षत्रिय स्कूल के छात्रसंघ के दफ्तर से 'क्षत्रिय मित्र' नामक मासिक पत्रिका निकलती थी, जिसके संपादक सरस्वती प्रसाद सिंह थे। विद्यार्थी नामवर की उसमें खड़ी बोली में लिखित पहली कविता का शीर्षक था- 'दीवाली' और दूसरी कविता का 'सुमन को मत, छेड़ गाना। 1941 के अंतिम दिनों में बनारस के एक साहित्यिक सागर सिंह के घर शाम को एक गोष्ठी थी, जिसमें त्रिलोचन अपने नए शिष्य-मित्र नामवर को लेकर गए। इसी गोष्ठी में शिवदान सिंह चौहान और शमशेर बहादुर सिंह से प्रथम परिचय हुआ।

नामवर को अपने स्कूल में मार्कण्डेय सिंह जैसे हिंदी शिक्षक और जगदीश प्रसाद सिंह जैसे अंग्रेजी शिक्षक मिले। इन तीनों ने इन तीनों भाषाओं में उन्हें पारंगत किया। 1942ई. में नामवर ने एक सवैया लिखा- 'तान के सोता रहा जल चादर, वायु-सा खींच जगा गया कोई!' उनके प्राचार्य और गुरु जगदीश प्रसाद सिंह उनसे बार-बार यह सवैया सुनते और साथ-साथ गुनगुनाते। तब नामवर सुमधुर कंठ से अपनी छंदोबद्ध कविता का गायन करते थे। तभी से वे हिंदी के साथ-साथ संस्कृत और अंग्रेजी कविता का मनोयोग से अध्ययन कर रहे थे। उनके कोर्स में कीट्स की एक कविता 'ला बेल दाम सां मर्सी' थी जिसे वे बार-बार दुहराते रहे। धीरे-धीरे यह पूरी कविता उन्हें आत्मस्थ हो गई। उन्होंने इसका हिंदी अनुवाद सवैया छंद में किया। इस कविता का एक सवैया इस तरह है-

सिरमाल कुसुम कंगन सुरभित, करघनी उसे मैंने रच दी
मुझ पर ज्यों डाल प्रणय चितवन उसने मीठी उसांस भर ली।
गतिमय तुरंग पर बिठा उसे, देखा मैंने कुछ नहीं अन्य।
अल्हड़ वह गाती रही झूम, झुक-झुक परियों के गान धन्य।

सितंबर, 1943 के 'क्षत्रिय मित्र' में उनका 'बादल' शीर्षक एक लंबा गीत छपा, जिसकी अंतिम पंक्तियां हैं-

मंह-मंह फूलों के सौरभ में
उड़ जाती है भ्रमर-कहानी
रह-रह सो जाते श्यामल खेतों
पर घन-दुनिया दीवानी
अहरह जीवन के सागर में
उड़ते हैं बुद-बुद तूफानी
लह-लह लहराती घासों पर
छम-छम नाच रहा है पानी

यही वह समय था, जब त्रिलोचन ने नामवर को बंगला सीखने की ओर उत्प्रेरित किया। शरतचंद्र का लघु उपन्यास 'अरक्खनीय' पहला बंगला उपन्यास था, जिसे उन्होंने मूल भाषा में पढ़ा।

फिर रवींद्रनाथ की कविताएं पढ़ीं। उनकी 'उर्वशी' का उन्होंने हिंदी अनुवाद किया।

उस समय बनारस से अमृत राय के संपादन में प्रगतिशील लेखक संघ के मुखपत्र के रूप में 'हंस' का प्रकाशन हो रहा था। 'हंस' के जनवरी-फरवरी, 1945 के संयुक्तांक में नामवर की एक ओजस्वी कविता छपी, इसकी कुछ पंक्तियां-

युग का प्रवाह क्रांति-सिंधु ओर मोड़ दो
यह वर्ण-शृंखला दलित मनुष्य तोड़ दो
शिव-मुंडमाल में न एक शीश जोड़ दो
इस सूखते महान विश्व-वृक्ष के लिए
तुम रक्त-दान दो, जवान रक्त-दान दो।

1945 में नामवर ने मैट्रिक की परीक्षा दी और पास की। खरपत्तू नामक पात्र पर एक प्रयोगशील कहानी लिखी और उसका शीर्षक रखा 'कहानी की कहानी' और एक आलोचनात्मक निबंध लिखा- 'समाज के अग्रचेता : तुलसी' तब तक वे तुलसी को ही समग्रता में नहीं पढ़ चुके थे, अपितु मार्क्स लेनिन के चिंतन से भी परिचित हो चुके थे। उनका एक विचार निर्मित हो चुका था। 1945 ई. में आलोचक नामवर के सुचिंतित गद्य का यह नमूना देखिए-

'पाश्चात्य विचारों से प्रभावित कुछ नए विचारकों का आक्षेप है कि गोस्वामीजी सामंत युग में पले हुए थे इसलिए ऊंच-नीच का भेद, स्त्री-स्वतंत्रता की निंदा, कठोर वर्ण-व्यवस्था आदि बातों की परिधि से निकल नहीं सके, जो आज किसी प्रकार ग्राह्य नहीं है। यह सत्य है कि युग के प्रभाव से कोई भी कवि वंचित नहीं रह सकता। किंतु उपर्युक्त आक्षेप गोस्वामीजी के ऊपर ही नहीं आते, वर्तमान भारतीय संस्कृति के ऊपर भी आते हैं क्योंकि वर्तमान भारतीय समाज का निर्माण शंकराचार्य, स्वामी दयानंद तथा राजा राममोहन राय से कहीं अधिक गोस्वामी तुलसीदासजी ने किया है। यह सही है कि उन्होंने रामराज्य के स्वर्णिम स्वप्न में चातुर्वर्ण व्यवस्था को भी भारत के लिए कल्याणप्रद बताया। साथ ही सोशल डिसप्लीम पर प्रधानतया जोर दिया उन्होंने मार्क्स और लेनिन की तरह इतिहास की आर्थिक व्यवस्था करके साम्यवाद के सिद्धांतों को नहीं दिया। किंतु यह भी सही है कि चाहे कोई वाद क्यों न हो, उसकी अवधारणा एवं अवस्थिति भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि पर ही होगी और उसमें गोस्वामीजी के रामराज्य का हाथ अवश्य रहेगा।'

यह निबंध नामवर के परिपक्व और मंजे हुए गद्य का उदाहरण है। तब तक वे 'तार सप्तक' पढ़ चुके थे। अज्ञेय के प्रति उनका तीव्र आकर्षण था। 1945 के दिसंबर में उन्होंने अपने स्कूल में अज्ञेय का व्याख्यान करवाया। अज्ञेयजी ने 'शेखर : एक जीवनी' एवं अन्य रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियां उन्हें दीं, जिसे स्कूल की प्रदर्शनी में रखा। 1945 ई. में त्रिलोचन की 'धरती (कविता संग्रह) का प्रकाशन हुआ, जिसकी पहली प्रति उन्होंने नामवर को दी, जिसे वे आज भी संभाल कर रखे हुए हैं। 1946 ई. में अज्ञेय का 'इत्यलम्' प्रकाशित हुआ, जिसे उन्होंने त्रिलोचन की सहायता से मनोयोगपूर्वक पढ़ा। 1946 ई. में वे इंटर के अन्य छात्रों एवं कुछ शिक्षकों के साथ पुरी की यात्रा पर गए। उन्होंने इस यात्रा का संस्मरण लिखा, जो 'क्षत्रिय मित्र' में छपा एवं एक कविता 'पुरी तट पर' लिखी, जिसका प्रकाशन 'समाज' पत्रिका के 19 सितंबर 1946 अंक में हुआ- 'सिंधु-तीर का वह स्वर्णिम विहान!/स्वर के धागे में गूंथ प्राण!' उस समय को याद करते हुए नामवर कहते हैं- 'वह

ऐसा समय था जब मैं कविता की दुनिया में जीता था। प्रसादजी का 'आंसू' मुझे पूरा याद हो गया था। महादेवी और प्रसाद मेरे प्रिय कवि थे तब। बाद में जब मैं बी.ए. में आया तब निराला की तरफ मेरा ध्यान आकृष्ट हुआ। प्रसादजी, प्रेमचंदजी, रामचंद्र शुक्ल- तीनों मेरे काशी आने के पहले ही दिवंगत हो चुके थे। फिर भी काशी के साहित्यिक आकाश पर जैसे उनकी छाया थी।

नामवर प्रायः अपने गांव जाते रहते। गांव में उनके दोनों छोटे भाई रामजी सिंह और काशीनाथ सिंह को बेहद स्नेह करते। 1945 ई. के अप्रैल में उनके पिताजी ने उनकी शादी कर दी। पत्नी शांति सिंह सुंदर-सुशील घर-गृहस्थी संभालने वाली थीं। इस तरह जीयनपुर में उनका भरा-पूरा गृहस्थ संसार था अर्थात एक सुखमय जीवन। बनारस में वे घर-परिवार से दूर अकेले रहते थे। दिन भर अध्ययन, चिंतन-मनन, सत्संग चलता रहता। शाम को उन्हें अकेलापन बेहद खलता। उन्होंने एक गीत लिखा-

दिन बीता, पर नहीं बीतती, नहीं बीतती सांझ।
नहीं बीतती, नहीं बीतती, नहीं बीतती सांझ।

बनारस में तब लगातार गोष्ठियां होती थीं। कभी ठाकुर प्रसाद सिंह के घर, कभी विजयदेवनारायण साही के घर। कभी नव संस्कृति संघ की गोष्ठी, तो कभी प्रगतिशील लेखक संघ की गोष्ठी। तब प्र.ले.संघ की बनारस इकाई के अध्यक्ष नंददुलारे वाजपेयी थे।

हीवेट क्षत्रिय स्कूल इंटर में उदय प्रताप कॉलेज कहा जाता था। अभी यह पी.जी. कॉलेज है। तभी से इसे संक्षेप में यू.पी. कॉलेज कहते हैं। नामवर ने 1947 ई. में यहां से आई.ए. पास किया और बी.ए. में बी.एच.यू. के आर्ट्स कॉलेज में दाखिला लिया। नामवर तब एक कवि के रूप में ख्यात हो चुके थे और गद्य लेखन भी कभी-कभार करते। बनारस से प्रकाशित दैनिक पत्र 'आज' के दिसंबर, 1947 के अंक में वर्ष भर के प्रकाशित साहित्य का लेखा-जोखा करते हुए उनका लेख प्रकाशित हुआ। इसे बेहद पसंद किया गया। फिर हर साल के दिसंबर में उनका इस क्रम का लेख छपता। यह सिलसिला दस वर्षों तक चलता रहा।

1948 ई. में उनके पुत्र का जन्म हुआ। नाम उनके पिताजी ने रखा विजय। बी.ए. में पढ़ते हुए उन्होंने अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबंधकार चार्ल्स लैंब के 'एसेज ऑफ इलिया' के निबंध पढ़े और इसका गहरा असर उन पर हुआ। 1949 ई. में उन्होंने बी.ए. की परीक्षा पास की और एम.ए. में प्रवेश किया। तब हिंदी विभाग के अध्यक्ष थे आचार्य केशव प्रसाद मिश्र। वे संस्कृत, अपभ्रंश और अंग्रेजी में भी लिखते थे। कहते हैं नामवर की सादगी, सुव्यवस्थित एवं गंभीर व्यक्तित्व के निर्माण में केशवप्रसाद मिश्र का गहरा प्रभाव है। उन्होंने ही नामवर को अपभ्रंश साहित्य पर एम.ए. के लिए लघु शोध प्रबंध के रूप में काम करने को कहा। नामवर इस विषय पर बाद में एक पुस्तक ही लिख गए जो 1952 ई. में 'हिंदी के विकासमें अपभ्रंश का योग' नाम से छपा। 1950 के 18 फरवरी को उन्होंने अवकाश ग्रहण किया। नामवर ने अपने गुरु का अभिनंदन समारोह किया और उनके व्यक्तित्व पर एक लेख लिखा- 'हिंदी साहित्य की- काशी की विभूति आचार्य केशव प्रसाद मिश्र'। यह लेख 'आज' के 7 दिसंबर 1950 के अंक में छपा।

1950 में नामवर का कविता-लेखन कम हो गया और वे पूरी तैयारी के साथ आलोचना के क्षेत्र में उतर आए। जनवरी, 1950 की 'जनवाणी' पत्रिका में प्रकाशित आलोचनात्मक निबंध 'आचार्य शुक्ल और हिंदी समीक्षा' इसका उदाहरण है। इसी वर्ष उन्होंने विविध रंग-ढंग के इक्यावन निबंध

लिखे। इनमें सत्रह निबंधों का संग्रह 'बकलमखुद' नाम से जनवरी, 1951 में छपा। इसी महीने उन्होंने अपनी कविताओं का संग्रह 'नीम के फूल' छपने के लिए दिया, जो प्रकाशक के यहां ही रह गया।

1950 के जुलाई महीने में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी बी.एच.यू. के हिंदी विभाग के अध्यक्ष बनाए गए। वे नामवर के परम गुरु के रूप में उनके हृदय में समाहित हुए। तभी से नामवर अपनी वक्तृता के लिए भी प्रसिद्ध हुए। वे बनारस के साहित्यिक माहौल में सक्रियता के साथ-साथ इलाहाबाद की साहित्यिक संगोष्ठियों में भी भाग लेते। तब इलाहाबाद हिंदी साहित्य का साहित्यिक केंद्र था। धीरे-धीरे नामवर की पहचान प्रखर आलोचक के रूप में बन गई। वे सभी से प्रेम से मिलते, किंतु साहित्यिक संगोष्ठियों में बेहद सारगर्भित एवं तीखे विचार प्रकट करते।

1951 ई. में उन्होंने एम.ए. में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त किया और उन्हें रिसर्च फेलोशिप मिला। उन्हें आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' पर शोध-कार्य करने का दायित्व दिया। इसी वर्ष वे 7 अगस्त को डे-छात्रावास में रहने आए। शोध-छात्र के रूप में वे बी.एच.यू. की हिंदी की कक्षाएं भी लेते।

1951 ई. में ही राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली के द्वारा 'आलोचना' पत्रिका की शुरुआत हुई। इसके संपादक बनाए गए शिवदान सिंह चौहान। इसके पहले अंक (अक्टूबर 1951 में प्रकाशित युवा आलोचक नामवर सिंह द्वारा लिखित 'उत्तरी भारत की संत-परंपरा' (लेखक परशुराम चतुर्वेदी) शीर्षक समीक्षा प्रकाशित हुई। 'आलोचना' के दूसरे अंक में उनकी शचीरानी गुर्टू द्वारा संपादित महादेवी वर्मा पर विभिन्न लेखकों के आलोचनात्मक लेखों के संकलन पर समीक्षा प्रकाशित हुई- 'महादेवी वर्मा : काव्य-कला और जीवन-दर्शन' शीर्षक से। 'हंस' के जनवरी, 1952 अंक में उनकी 'दूसरा सप्तक' (संपादक : अज्ञेय) की समीक्षा प्रकाशित हुई। इस समीक्षा में उन्होंने निष्कर्ष दिया- 'जहां तक समूचे संग्रह की देन का संबंध है, वह हिंदी कविता के शैली-शिल्प में अनेक नए मार्ग खोलता है। 'तार सप्तक' की भूमि पर काम करते हुए भी इस 'सप्तक' के कई कवियों ने उन अनगढ़ और प्रारंभिक स्वरों को संवारने-निखारने की कोशिश की है। शब्द-गठन में सरलता तथा काव्य-गठन में क्षिप्रता आई। नेमि, भारत-भूषण तथा गिरिजाकुमार की चित्रात्मकता को विशेष वस्तु-सत्य में पिरोया। हरि व्यास ने मुक्तिबोध को सुबोध तथा सशक्त रूप दिया। भारती तथा रघुवीर सहाय ने प्राचीन कुंठाओं पर और अधिक पाउडर मला। शेष रहे अज्ञेय, माचवे और रामविलास शर्मा। न माचवे का व्यंग्य आगे बढ़ा और न अज्ञेय का अहं। रामविलास शर्मा का भदेसपन बढ़ाया तो केदार, नागार्जुन और त्रिलोचन ने। अगर ये कवि भी इस सप्तक में आ गए होते तो शायद यह हिंदी कविता के नवीन चरण का पूर्ण प्रतिनिधित्व कर देता।' यह है उस समय के नामवर की तीक्ष्ण आलोचनात्मक दृष्टि। 'दूसरा सप्तक' की समीक्षा खूब पढ़ी गई और चर्चित हुई। जब इलाहाबाद में डॉ. रघुवंश से नामवर की भेंट हुई तो उन्होंने इसे 'थ्रेसिंग' होने का रिमार्क दिया। 'आलोचना' के चौथे अंक अर्थात् जुलाई-सितंबर 1952 में उनका लंबा आलोचनात्मक लेख 'हिंदी कविता के पिछले दस वर्ष' प्रकाशित हुआ। यह उनका अब तक का लिखा सबसे लंबा लेख था, जो 'आलोचना' के दस पृष्ठों में छपा था। इस लेख के प्रारंभ में उन्होंने प्रसाद, निराला, पंत की कविताओं की विशेषताओं को रेखांकित करने के बाद केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, त्रिलोचन आदि पर पहली बार विस्तार से विचार किया

है।

नामवर ने काशी में 9-10 मार्च, 1952 को एक बड़ा समारोह करवाया जिसमें इलाहाबाद और स्थानीय सभी साहित्यकारों ने शिरकत की थी। इसमें केदारनाथ अग्रवाल भी पधारे थे। ढेर सारे साहित्यकारों के बीच नामवर ने पहली बार व्याख्यान दिया था जिसे काफी सराहा गया था।

अप्रैल, 1952 में शांति-सम्मेलन में भाग लेने वे कलकत्ता गए जिसमें हिंदी-उर्दू के तमाम प्रसिद्ध लेखक उपस्थित थे। इस सम्मेलन में रामविलास शर्मा ने अपने भावी लेखन की योजना के बारे में बताया कि वे प्राचीन कवियों, हिंदी साहित्य की परंपरा और वेदों पर विचार करना चाहते हैं। खासकर उन्होंने अपनी परंपरा के स्वस्थ तत्वों को उभारने पर भी जोर दिया। इस कलकत्ता-प्रवास में ही उन्होंने सुनीति कुमार चटर्जी से मिलकर अपने शोध-प्रबंध के लिए आवश्यक विचार-विमर्श किया।

1950 तक नामवर कवि-सम्मेलनों में जाकर सुमधुर कंठ से अपने गीत सुनाते। इन कवि-सम्मेलनों में कवियों को सामूहिक रूप से ले जाने का काम शंभूनाथ सिंह करते। नामवर ने निर्णय लिया कि अब वे कवि-सम्मेलनों में नहीं जाएंगे। वे गंभीर साहित्य-विवेचन के कार्य में जुटे हुए थे। धीरे-धीरे उनकी कविताई कम हो रही थी और गद्य-लेखन बढ़ रहा था। शिवदान सिंह चौहान ने 'आलोचना' का इतिहास अंक निकालने की योजना बनाई। इसका पांचवां एवं छठा अंक 'इतिहास विशेषांक' के रूप में निकला। इसके दोनों अंकों के लिए बहुत सारी सामग्री जुटाकर वे पहली बार दिल्ली गए और राजकमल प्रकाशन में चौहानजी से भेंट कर सामग्री सौंपी। इन दोनों अंकों में सह-संपादक के रूप में नामवर सिंह का नाम छपा। फिर वे अपने शोध-कार्य की सामग्री संकलन के लिए बीकानेर गए। इसी यात्रा के दौरान वे पहली बार रघुवीर सहाय के अंतरंग हुए।

यह वह समय था जब त्रिलोचन का संग-साथ उनके कवि को जीवित रखे था और हजारी प्रसाद द्विवेदी उन्हें शोध-अनुसंधान की ओर खींच रहे थे। पत्र-पत्रिकाओं में उनके आलोचनात्मक लेख छप रहे थे और साहित्यिक गोष्ठियों एवं समारोहों में बहस करना, व्याख्यान देना भी जारी था। 1953 ई. में उन्होंने आचार्य द्विवेदी के निर्देशानुसार 'पृथ्वीराज रासो' के महत्वपूर्ण काव्यांशों का चयन किया और वह पुस्तक आचार्य द्विवेदी एवं नामवर सिंह के संयुक्त संपादन में साहित्य भवन प्रयाग से छपी, जिसकी विस्तृत भूमिका नामवर सिंह ने लिखी।

1953 में एक व्याख्याता के रूप में उनकी बहाली बी.एच.यू. में हो गई। उन्होंने लोलार्क कुंड में बी.-2/32 नंबर का मकान किराए पर लिया और अपने परिवार अर्थात मां, छोटे भाई काशीनाथ सिंह, पत्नी शांति सिंह एवं बेटे विजय प्रताप सिंह के साथ रहने लगे। इसी मकान में रहकर उन्होंने 'छायावाद' नामक पुस्तक लिखी, 1955 के अंत में सरस्वती प्रेस, बनारस से छपी। तभी 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां' नामक पुस्तक किताब महल, हलाहाबाद से छपी। 1956 ई. में उन्होंने अपना शोध-प्रबंध पूरा किया और डॉक्टर की उपाधि उन्हें मिली। 1956 ई. में यह 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' नाम से सरस्वती प्रेस से प्रकाशित हुआ। 1957 में उन्होंने बहुत सारे लेख लिखे थे, जिनमें से कुछ चुनिंदा लेखों का संग्रह 'इतिहास और आलोचना' नाम से 1957 ई. में नया साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद से छपा। इसी दौर में इनकी अनूदित पुस्तक 'पुरानी राजस्थानी' नागरी प्रचारिणी सभा से छपी।

1957 में विष्णुचंद्र शर्मा ने 'कवि' नामक एक लघु पत्रिका निकाली थी। इसके जनवरी एवं जुलाई, 1957 अंकों में नामवर के दो सॉनेट छपे। इस पत्रिका के विशिष्ट कवि स्तंभ में अप्रैल, 57 में मुक्तिबोध और मई, 57 में केदारनाथ सिंह की कविताएं छपीं, जिन पर नामवर ने सारगर्भित टिप्पणी लिखीं। मार्च अंक में आठ कविताएं विशिष्ट कवि स्तंभ में नामवर सिंह की भी छपीं। इन कविताओं पर टिप्पणी त्रिलोचन ने लिखी। इसी टिप्पणी में त्रिलोचन ने 'नामवर की पुस्तक पकी आंखें कहा है। 1957 में ही आकाशवाणी, इलाहाबाद के 'स्वर बेला' कार्यक्रम में नामवर सिंह की आवाज में उनकी कविताएं अंतिम बार सुनी गईं।

1959 ई. में नामवर के जीवन में तीन घटनाएं घटीं। वे कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से चकिया-चंदौली लोकसभा क्षेत्र से उप चुनाव लड़े और हार गए, फिर बी.एच.यू. से निकाल दिए गए और बेरोजगार हो गए। इसी वर्ष उनकी नियुक्ति सागर विश्वविद्यालय में हुई। 1960 में वहां से फिर काशी आकर बेरोजगार हो गए। सागर प्रवास के दौरान ही अशोक वाजपेयी से उनकी घनिष्ठता बढ़ी। यही वहां की सबसे बड़ी उपलब्धि थी।

1960 ई. से ही राजकमल प्रकाशन से 'नई कहानियां' पत्रिका निकलनी शुरू हुई। इसके संपादक भैरव प्रसाद गुप्त बनाए गए। इसके पहले भैरवजी श्रीपत राय की 'कहानी' पत्रिका में सहयोगी संपादक थे। वे 1955 ई. से लगातार हर वर्ष जनवरी अंक को नव वर्षांक के रूप में निकालते थे, जिसमें नामवर सिंह से कहानियों पर लेख लिखवाते थे। कहानियों पर गंभीर आलोचनात्मक विवेचन की यह शुरुआत थी। 1960 से 'नई कहानियां' पत्रिका में 'हाशिए पर' स्तंभ में नामवर सिंह का विवेचनात्मक लेख नियमित छपने लगा। कहानियों पर लिखे गए उनके सभी मूल्यांकनपरक निबंध 'कहानी : नई कहानी' में संकलित हैं, जिसका प्रकाशन 1966 ई. में पहली बार लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद से हुआ।

1963ई. में 'ज्ञानोदय' पत्रिका में उनकी एक लेखमाला छपी- 'नई कविता पर क्षण भर' इसमें उनके पांच लेख छपे। इस लेखमाला में उन्होंने अशोक वाजपेयी, धूमिल और कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह को पहली बार एक रचनाकार के रूप में महत्व दिया।

1965 ई. में वे हमेशा के लिए बनारस छोड़कर दिल्ली आ गए। वे 1965 से 67 तक 'जनयुग' के संपादक और राजकमल प्रकाशन के सलाहकार के रूप में काम करते रहे। 1967 ई. में ये दोनों काम छोड़कर 'आलोचना' पत्रिका के संपादक हुए। 1968 ई. में उनकी पुत्री समीक्षा का जन्म हुआ। 1970 ई. में उनकी नियुक्ति जोधपुर विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष रूप में हो गई। 1974 में वे जे.एन.यू. के भारतीय भाषा केंद्र के पहले प्रोफेसर एवं अध्यक्ष के रूप में नियुक्त हुए। बाद में उन्होंने केदारनाथ सिंह एवं मैनेजर पाण्डेय को भी जे.एन.यू. में पदस्थापित करवाया। 1967 से 1991 तक 'आलोचना' पत्रिका का निरंतर संपादन करते रहे। इस पत्रिका में अनेक-अनेक विषयों पर लिखे आलोचनात्मक लेख प्रकाशित हुए।

1974 ई. में अशोक वाजपेयी ने भोपाल से 'पूर्वग्रह' निकालना शुरू किया, साथ-ही-साथ लगातार आयोजन भी करते रहे। 1980 के बाद तो अशोक वाजपेयी ने भोपाल को हिंदी साहित्य के केंद्र में ला खड़ा किया। 1981 में 'पूर्वग्रह' का नामवर सिंह पर केंद्रित अंक निकाला। 1987 तक अनेक आयोजन किए, जिनमें नामवर सिंह ने भाग लिया। 'आलोचना' के बाद सबसे अधिक

वे 'पूर्वग्रह' में छपे। उस समय अशोक वाजपेयी से हुए वाद-विवाद की कुछ झलक उनकी 'वाद-विवाद-संवाद' (1989) नामक पुस्तक में है। धीरे-धीरे वे वाचिक परंपरा के आलोचक के रूप में विख्यात हुए।

1988 ई. में 'पहल' ने उन पर विशेषांक निकाला। वे तब 'पूर्वग्रह', भारत भवन और प्रगतिशील लेखक संघ तीनों को साधे हुए थे। यह साधना तनी हुई रस्सी पर चलने के समान थी। प्रगतिशील लेखक संघ की बनारस इकाई ने 1988 में उनको सम्मानित करने हेतु एक बड़ा आयोजन किया।

1982 में प्रकाशित उनकी पुस्तक 'दूसरी परंपरा की खोज' पर बेहद वाद-विवाद हुए। परिणामस्वरूप यह उनकी सबसे चर्चित पुस्तक हुई। 1968 में लिखित 'कविता के नए प्रतिमान' उनकी सबसे सुगठित पुस्तक है। उनकी साहित्य साधना और साहित्य-दृष्टि का पूर्ण उन्मेष इस पुस्तक में है। मुक्तिबोध को केंद्रीयता देते हुए उन्होंने इस पुस्तक में प्रगतिशीलता और रूपवाद के समन्वय की प्रस्तावना की है। 1970 ई. में इस पुस्तक पर उन्हें साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

1992 ई. में वे जे.एन.यू. से अवकाश ग्रहण करने के बाद 1993 में राजाराम मोहन राय फाउंडेशन के अध्यक्ष बने और 1996 ई. तक इस पद पर रहे। 2000 ई. से 'आलोचना' का प्रकाशन नए ढंग से शुरू हुआ। इसके 2001 ई. में रामविलास शर्मा पर उन्होंने सुनियोजित रूप से (उनकी बरसी पर) विशेषांक निकालकर असहमति जताने वाले लेख छापे। स्वयं 'इतिहास की शव-साधना' नामक एक तीखा लेख लिखा। इससे रामविलास शर्मा के समर्थक लेखकों का एक बड़ा समूह उनसे नाराज हो गया। कई आलोचकों ने उन पर तीखा हमला किया। नामवर सिंह से नाराज लेखकों का एक बड़ा हुजूम तैयार होता गया। साहित्य में उनके परम प्रशंसक अशोक वाजपेयी भी उनसे नाराज चल रहे थे। ऐसे में वे अकेले पड़ गए। पर टूटे नहीं। थमे नहीं। देश भर से उन्हें निमंत्रण मिलते रहे। वे वहां जाते रहे। विभिन्न विषयों पर अपना व्याख्यान देते रहे।

नामवर सिंह का साहित्य विवेक लगातार बदलता रहा है। वे कभी एक खूंटे से नहीं बंधे। किसी के भी नहीं हुए। उन्हें सबसे प्यारा है अपना अकेलापन। इसलिए वे जिससे भी जुड़े, फिर उससे विलग हुए। निराला के शब्दों में कहें- हटा था जो सटा रहकर। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के वे दो बार कुलाधिपति रहे यानी दस वर्षों तक। जे.एन.यू. ने अब तक उन्हें अपने से जोड़कर रखा है।

नामवर सिंह की बहुत सारी छपी हुई सामग्री बिखरी पड़ी थी। खगेंद्र ठाकुर के संपादन में उनके कुछ व्याख्यानों की पुस्तक 'आलोचना के मुख से' 2007 में प्रकाशित हुई। भारत यायावर अर्थात मैंने उन पर 'आलोचना के रचना-पुरुष' नामक पुस्तक 2003 में संपादित कर वाणी प्रकाशन से छपवाई। उन पर दो पुस्तकें किताबघर प्रकाशन से छपीं- 'नामवर होने का अर्थ' तथा 'नामवर का आलोचना-कर्म।' उनकी 'प्रारंभिक रचनाएं' नामक पुस्तक 2013 में राजकमल प्रकाशन से छपी, जिसमें उनकी कविताएं, कहानी, समीक्षा, ललित निबंध, आलोचनात्मक निबंधों के अलावा 'बकलमखुद' भी संकलित है। आशीष त्रिपाठी के संपादन में राजकमल प्रकाशन से नामवर सिंह के लेखों की पुस्तकें प्रकाशित हुईं- हिंदी का गद्य-पर्व, जमाने से दो-दो हाथ, कविता की जमीन और जमीन की कविता, प्रेमचंद और भारतीय समाज (2010ई.) साहित्य की पहचान, साथ-साथ, सम्मुख, आलोचना और विचारधारा (2012ई.)। ज्ञानेंद्र कुमार संतोष के संपादन में प्रकाशित पुस्तक है 'हिंदी समीक्षा

और आचार्य शुक्ल' (2015)।

काशीनाथ सिंह को नामवर सिंह ने सबसे अधिक पत्र लिखे हैं जो 'काशी के नाम' नामक पुस्तक में संकलित हैं। श्रीनारायण पांडेय ने नामवर सिंह के पत्रों को अलग पुस्तक में संकलित किया है। नामवर सिंह के जीवन पर काशीनाथ सिंह की पुस्तक 'घर का जोगी जोगड़ा' संस्मरण की दिलचस्प पुस्तक है। सुमन केशरी के संपादन में प्रकाशित पुस्तक 'जे.एन.यू. में नामवर सिंह' उनके इस विश्वविद्यालय में दिए योगदान को रेखांकित करती है। सुधीश पचौरी द्वारा संपादित 'नामवर विमर्श' (1994), प्रेम भारद्वाज द्वारा 'पाखी' के नामवर सिंह पर केंद्रित अंक एवं बाद में 'नामवर सिंह : एक मूल्यांकन' नामक पुस्तक में उस सामग्री का संकलन भी महत्वपूर्ण है। 'कहना न होगा' और 'बात-बात में बात' समीक्षा ठाकुर द्वारा संपादित नामवर सिंह की बातचीत का संकलन है। यहां यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि 'आलोचक नामवर सिंह' नामक पुस्तक उन पर प्रकाशित आलोचना की पहली पुस्तक है, जो रणधीर सिनहा के संपादन में प्रकाशित हुई थी। महेंद्र राजा जैन ने 'नामवर-विचार-कोश' का निर्माण किया है।

नामवर सिंह नब्बे वर्ष के हो चुके हैं। अब सभा-समारोहों में कम ही जाते हैं। अपने घर में रहते हैं। पढ़ते रहते हैं। महावीर अग्रवाल ने मुक्तिबोध पर कई बैठकों में उनसे बात कर 'सापेक्ष' का एक अंक निकाला है। यह उनकी अद्यतन बड़ी उपलब्धि है। अब वे वीतराग हो गए हैं। यदि उनसे मिलने और बात करने की इच्छा हो तो कोई भी उनके आवास (32, शिवालिक अपार्टमेंट्स, अलकनंदा, नई दिल्ली-110019) पर जा सकता है। वे सबसे आत्मीयता से मिलते हैं। साहित्य के किसी भी विषय पर उनसे बात करके बहुत-कुछ सीखा जा सकता है।

●

हिंदी रचनाशीलता की दुनिया व्यापक है : नामवर सिंह

शशिकांत से संवाद

उम्र के इस मुकाम पर (90 साल की उम्र में) आप कैसा महसूस कर रहे हैं और आपकी दिनचर्या क्या है?

देखो, अब याददाश्त कमजोर हो गई है। सेहत भी ठीक नहीं रहती। 28 जुलाई के आयोजन के लिए राय साहब ने मुझसे कुछ लिखने का आग्रह किया है। लेखक और साहित्यकार लोग मिलने आते हैं और कविता, कहानी को लेकर अपनी शंका प्रकट करते हैं। इन सभी विषयों पर मैं पहले बहुत कुछ लिख-बोल चुका हूं। अब मैं खुद कुछ भी लिखने में असमर्थ हूं। छोटे भाई काशीनाथ सिंह ने मेरे बारे में बहुत कुछ लिखा है। और लोगों ने भी लिखा है। आजकल समय मिलने पर किताबें और पत्रिकाएं पढ़ता हूं।

बतौर अध्यापक, रचनाकार और सलाहकार आपकी एक लंबी पारी रही है। उस संदर्भ में कुछ बताएं। हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में जो सक्रियता रही है उसे किस नजरिए से देखते हैं?

हिंदी साहित्य या हिंदी रचनाशीलता की व्यापक दुनिया है। हिंदी भाषा और साहित्य का काफी विस्तार हुआ है। बहुत से लोगों ने अपनी रचनाशीलता से इसको समृद्ध किया है। इसमें संदेह नहीं कि हिंदी के कुछ महत्वपूर्ण लेखकों ने साहित्य जगत को कुछ विश्वस्तरीय रचनाएं दी हैं।

हिंदीभाषी समाज का अपने साहित्यकारों के प्रति जो नजरिया है उससे आप कितना संतुष्ट हैं?

हिंदीभाषी समाज या हिंदी पाठक का अपना महत्व है। इसमें संदेह नहीं कि रचनाकार व पाठक के बीच जो रिश्ता होता है उससे कुछ नया उभरकर सामने आता है। लेकिन मैं यह कहना चाहूंगा कि अभी भी हिंदीभाषी समाज को अपने साहित्यकार से बहुत प्यार या लगाव नहीं है। विदेशों में मैं देखता हूं कि जब दो लोग बात करते हैं तो पांच-सात मिनट के अंदर उनकी बातचीत में मिल्टन, हेमिंग्वे, शेक्सपियर, ब्रेख्त, चेखव आदि का उद्धरण सामने आने लगता है लेकिन यहां ऐसा नहीं दिखता। हिंदी में बहुत से जनकवि हैं लेकिन हिंदी जगत में उनकी रचनाएं उस रूप में प्रचारित नहीं होतीं।

आपने हिंदी के जनकवियों का उल्लेख किया है। हिंदी में आपके प्रिय जनकवि या कवि कौन है?

बहुत हैं। किन-किन का नाम लूं?

आप खुद को त्रिलोचन के सहयात्री ही नहीं बल्कि अग्रश्रवा भी मानते रहे हैं। उनका व्यक्तित्व पक्ष हिंदी समाज में काफी रोचक रहा है। आप उन्हें कब से और किस रूप में जानते

हैं तथा उनकी किस काव्य कृति ने आपको सबसे ज्यादा प्रभावित किया?

यह सच है कि त्रिलोचनजी अपने जीवन में ही किंवदंती बन गए थे। ऐसी किंवदंती कि लोग उनके बारे में बहुत नहीं जानते। उनसे मेरी पहली मुलाकात 1941 की जुलाई में काशी में हुई। वे शिवपुर में रहते थे, सेंट्रल जेल के सामने एक लॉज में और मैं पास ही के उदयप्रताप कॉलेज में पढ़ता था। और ये पहली मुलाकात धीरे-धीरे साहचर्य में बदल गई, जो 1965 तक अटूट चलता रहा। वे नियमित रूप से मेरे छात्रावास में आया करते थे, 1947 तक उदयप्रताप कॉलेज में और उसके बाद 1953 तक काशी हिंदू विश्वविद्यालय में। उसके बाद 1965 तक बनारस छूटने के बाद भी दूसरे-तीसरे दिन मिलते रहने का मौका मिलता रहा। अक्सर ही मिलना होता था। उन दिनों की हजारों यादें हैं।

मैं 'धरती' को आज भी त्रिलोचन की सर्वश्रेष्ठ काव्यकृति मानता हूं। वैसे आधुनिक हिंदी कविता की परंपरा में 'धरती' का ऐतिहासिक महत्त्व है। चालीस के दशक की प्रयोगशील और प्रगतिशील दोनों ढंग की कविताओं के बीच 'धरती' को रखकर देखें तो त्रिलोचन की कविताओं का ऐतिहासिक महत्व सूरज की रोशनी की तरह खुलकर सामने आ जाएगा। यह कहते हुए मेरे सामने पंतजी की 'ग्राम्या' भी है और 'तारसप्तक' की कविताएं भी। वैसे तब तक न केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं का संग्रह 'युग की गंगा' छपा था और न नागार्जुन का पहला काव्य-संग्रह 'युगधारा'। 'धरती' की पहली समीक्षा मुक्तिबोध ने लिखी थी, जो जुलाई 1946 में 'हंस' में छपी थी। मुक्तिबोध की समीक्षा का भी ऐतिहासिक महत्व है। उसी समीक्षा में मुक्तिबोध का यह उल्लेखनीय वाक्य था- 'केदारनाथ अग्रवाल, गिरिजा कुमार माथुर, भवानी प्रसाद मिश्र आदि नए उठते हुए कवियों में त्रिलोचन का स्थान महत्वपूर्ण है, भाव की दृष्टि से और टेकनीक की दृष्टि से।'

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र ने महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के साथ आगामी 28 जुलाई को आपका जन्मोत्सव मनाने का फैसला किया है। आप कैसा महसूस कर रहे हैं?

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र का अध्यक्ष बनने के बाद रामबहादुर राय आए थे। उन्होंने 28 जुलाई को दिल्ली में एक आयोजन करने की इच्छा प्रकट की।

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय ने इस अवसर पर 'बहुवचन' पत्रिका का एक अंक आप पर केंद्रित करने का फैसला किया है।

(मुस्कराते हुए) अच्छा! मैं तीन विश्वविद्यालयों को अपना करीबी मानता हूं। एक, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, दो, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय और तीसरा, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय। इन तीनों विश्वविद्यालयों ने मुझे बहुत प्यार और सम्मान दिया है।

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय बहुत अच्छा विश्वविद्यालय है। विश्वविद्यालय के वर्तमान कुलपति प्रो. गिरीश्वर मिश्र लिखने-पढ़नेवाले व्यक्ति हैं। जब से वे विश्वविद्यालय के कुलपति बने हैं बहुत अच्छा काम कर रहे हैं। मैं उनको शुभकामनाएं देता हूं।

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं के बारे में आपकी क्या राय है?

विमल झा 'पुस्तक वार्ता' अच्छा निकाल रहे हैं। 'बहुवचन' के पिछले कुछ अंक भी अच्छे हैं।

अंक के रचनाकार

- **कृष्ण कुमार सिंह-** प्रोफेसर-अधिष्ठाता, साहित्य विद्यापीठ, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा-442001 (महा.) 9404354261
- **रामदरश मिश्र-** आर-38, वाणी विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली-110059 9211387210
- **निर्मला जैन-** ए-20/17 डीएलएफ, फेस-1, कुतुब एनक्लेव, गुड़गांव-110757, 9810146375
- **विश्वनाथ त्रिपाठी-** बी-5, एफ-2, दिलशाद गार्डन, दिल्ली-110095 9871479790
- **गिरीश्वर मिश्र-** कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महा.), 07152-230907
- **खगेंद्र ठाकुर-** क्षितिज, जनशक्ति कॉलोनी, पथ सं.-24, राजीव नगर, पटना-800024 (बिहार) 9431102736
- **नंदकिशोर नवल-** 301, राजप्रिया अपार्टमेंट, बुद्धा कॉलोनी, पटना-800 001 (बिहार) 9334343483
- **विश्वनाथ प्रसाद तिवारी-** संपादक, दस्तावेज, बेतियाहाता, गोरखपुर-273001 (उ.प्र.) 9415691378
- **मैनेजर पाण्डेय-** बी.बी./8 ए, डी.डी.ए. फ्लैट्स, मुनीरका, नई दिल्ली-110067 9868511770
- **प्रयाग शुक्ल-** एच-416 पार्श्वनाथ प्रेस्टीज, सेक्टर 93 ए, नोएडा-201301 09810973590
- **वागीश शुक्ल-** स्वस्तिक, दक्षिण दरवाजा, पुरानी बस्ती, बस्ती-272001 (उ.प्र.), 8765934624
- **रामबहादुर राय-** इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र, जनपथ, नई दिल्ली-110001, 9350972403
- **राजेन्द्र राजन-** 'सुचितायन', चाणक्य नगर, विष्णुपुर बेगूसराय (बिहार), 9471456304
- **रणजीत साहा-** एम.जी. 1/26, विकासपुरी, नई दिल्ली 110 018 09811262257
- **हरिवंश-** प्रधान संपादक, प्रभात खबर, 15-पी, कोकर इंडस्ट्रियल एरिया, रांची-834001 (झारखंड) 0651-3053101
- **संतोष भारतीय-** संपादक, चौथी दुनिया, एफ-2, सेक्टर-11, नोएडा-201301 (उ.प्र.) मो-
- **अरुण कमल-** 4 शांति मैत्री भवन, बी.एम.दास रोड, पटना-800004 (बिहार) 9931443866
- **लीलाधर मंडलोई-** संपादक- नया ज्ञानोदय, 3 इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003 9818291188
- **अनामिका-** डी/2/83 किदवई नगर वेस्ट, नई दिल्ली-110023 9810737469
- **रामबक्ष-** प्रोफेसर, भारतीय भाषा केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067 9868429470
- **राजेंद्र प्रसाद मिश्र-** कुलसचिव, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001(महा.) 9422905573
- **सदानंद शाही-** प्रोफेसर, हिंदी विभाग, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी- 221005(उ.प्र.) 9450091420
- **अरुण कुमार त्रिपाठी-** डी-104, जनसत्ता अपार्टमेंट, सेक्टर-9, वसुंधरा गाजियाबाद-201012(उ.प्र.) 9818801766
- **मुकेश कुमार-** सी-1302, एपेक्स ग्रीन वैली, सेक्टर-9, वैशाली, गाजियाबाद, (उ.प्र.), पिन-201010, 09811818858

- **अनंत विजय-** आरटी-222, रॉयल टॉवर, शिप्रा सनसिटी, इंदिरापुरम, गाजियाबाद-201014 (उ.प्र.) 9871697248
- **कृपाशंकर चौबे-** एसोसिएट प्रोफेसर व प्रभारी, क्षेत्रीय केंद्र कोलकाता, ई.जेड.सीसी, आईए-290 सेक्टर-3, साल्ट लेक, कोलकाता-700097, (प.बं.) 9836219078
- **प्रियदर्शन-** ई-4, जनसत्ता हाउसिंग सोसाइटी, सेक्टर-9, वसुंधरा, गाजियाबाद-12 (उ.प्र.) 9811901398
- **अशोक मिश्र-** संपादक, बहुवचन, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001 (महा.), 7888048765
- **अशोक वाजपेयी-** सी-60, अनुपम हाउसिंग सोसाइटी, बी-13, वसुंधरा इनक्लेव, दिल्ली-110096 9811525653
- **पी.एन. सिंह-** गौतमबुद्ध कालोनी, मालगोदाम रोड़, गाजीपुर-233001,(उ.प्र.) मो.- 09451316529
- **रविभूषण-** 204 रामेश्वरम् साउथ ऑफिस फरा डोरंडा, रांची (झारखंड) मो.-9431103960
- **बलराज पांडेय-** एन-1/165, ई-48, शिवप्रसाद गुप्त कॉलोनी, सामने घाट, वाराणसी-221005 (उ.प्र.), 9473663348
- **रामशरण जोशी-** 105, समाचार अपार्टमेंट, मयूर विहार, फेस-एक, दिल्ली-110091, मो.-9810525019
- **गौतम सान्याल-** क्वार्टर नं. पी-6, ताराबाग, बर्दवान विश्वविद्यालय, बर्दवान, 713104, (पं.बं.), 9434182184
- **रामाज्ञा शशिधर-** सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005 (उ.प्र.) 9454820750
- **राजेश जोशी-** 11 निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल-462003 (म.प्र.) 09424579277
- **दयाशंकर-** प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, सरदार पटेल विश्वविद्यालय, विद्यानगर-388120 (गुजरात) -9427549364
- **ए. अरविंदाक्षन-** 279/सांद्रम, मावेलिपुरम, काक्कनाड़, कोचीन-682030 (केरल), 9895018088
- **रघुवीर चौधरी-** ए-6, पूर्णाक्षर, गुभाषाई टेकरा, अहमदाबाद-380015, (गुजरात), 7926303132
- **कमलानंद झा-** हिंदी विभाग, सी.एम. कॉलेज, दरभंगा-846004 8521912909
- **बलराम-** सी-69, उपकार अपार्टमेंट, मयूर विहार फेस-1, दिल्ली-110091 9810333933
- **मनोज कुमार सिंह-** मकान नं.-4618, सेक्टर-23 ए, गुड़गांव-122017, (हरियाणा) 9810584409
- **अमरेन्द्र कुमार शर्मा-** सहायक प्रोफेसर, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001, (महाराष्ट्र) 09422905755
- **सीताकांत महापात्र-** 21, सत्यनगर, भुवनेश्वर-751007, (ओडिशा), 6742570988
- **भालचंद्र नेमाड़े-** 202, विजयश्री दुर्गा, 6वां रास्ता, सांताक्रूज (पूर्व) मुंबई-400055 (महा.)
- **कपिल कपूर-** बी-2/332, एकता गार्डन, पटपडगंज, नजदीक मदर डेयरी, दिल्ली-110092
- **प्रतिभा राय-** आख्यायिका, 27 गजपतिनगर, भुवनेश्वर (ओड़िशा) 9937052251
- **हरीश त्रिवेदी-** डी-203, विदिशा अपार्टमेंट 79 आई.पी. एक्सटेंशन, दिल्ली-110092 9...
- **टी.आर. भट्ट-** छठा क्रास, कल्याण नगर, धारवाड़-580007 (कर्नाटक) 9449634716
- **भारत यायावर-** यशवंत नगर, मार्खम कॉलेज के निकट, हजारीबाग-825 301 (झारखंड) 9835312665

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सदस्यता आवेदन-पत्र

बिक्री एवं प्रसार कार्यालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

'बहुवचन' वार्षिक सदस्यता शुल्क : बैंक ड्राफ्ट से रु. 300/- व्यक्तिगत
रु. 400/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए

'बहुवचन' द्विवार्षिक सदस्यता शुल्क : बैंक ड्राफ्ट से रु. 600/- व्यक्तिगत
रु. 800/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए

'पुस्तक-वार्ता' वार्षिक सदस्यता शुल्क : बैंक ड्राफ्ट से रु. 120/- व्यक्तिगत
रु. 180/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए

'पुस्तक-वार्ता' द्विवार्षिक सदस्यता शुल्क : बैंक ड्राफ्ट से रु. 240/- व्यक्तिगत
रु. 360/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए

बहुवचन/पुस्तक वार्ता का संयुक्त एक वर्षीय शुल्क रु. 420/- व्यक्तिगत
रु. 580/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए

(कृपया मनीऑर्डर एवं चेक नहीं भेजें।)

ड्राफ्ट **'महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा'** के नाम देय होगा और उसे निम्नलिखित पते पर भेजने की कृपा करें। किसी भी राष्ट्रीयकृत बैंक का ड्राफ्ट स्वीकार्य होगा।

प्रकाशन प्रभारी
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)
पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स
वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)
फोन नं. : 07152-232943

'बहुवचन/पुस्तक-वार्ता' पत्रिका के एक वर्षीय/द्विवर्षीय/संयुक्त सदस्यता के लिए रुपये .....
का बैंक ड्राफ्ट संख्या ..... दिनांक ..... संलग्न
कर रहा हूं/कर रही हूं, कृपया मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएं :

नाम : ----------

पता : ----------

----------**पिन कोड :** ----------

दूरभाष : ----------**ई-मेल :** ----------

दिनांक : ..... (सदस्य के हस्ताक्षर)